आर्यशूरकृत-

जातकमाला—एक अध्ययन

लखक

डॉ० कमलाकान्त मिश्र

एम्० ए०, पी-एच्० डी०, व्याकरण-साहित्याचार्य

अनुसन्धान अधिकारी

गङ्गानाथ झा केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ,

इलाहाबाद



गङ्गानाथ झा केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ

मोतीलाल नेहरू पार्क

इलाहाबाद

१९७७

प्रथम संस्करण
जुलाई, १९७७ ई०

प्रकाशक
प्राचार्य,
गङ्गानाथ झा केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ
मोतीलाल नेहरू पार्क,
इलाहाबाद—२११००२
(भारत)
कृते
राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान,
नयी दिल्ली

मूल्य······

मुद्रक :
नागरी प्रेस, दारागंज, इलाहाबाद।

A STUDY

OF

THE JATAKAMALA

OF

ARYASHURA

By

Dr K K MISHRA

M. A , Ph D., Vyakarana-Sahıtyacharya

RESEARCH OFFICER

G. N Jha Kendriya Sanskrit Vidyapeetha,

ALLAHABAD



THE

G N JHA KENDRIYA SANSKRIT VIDYAPEETHA

ALLAHABAD

1977

July, 1977

Published by
The Principal,
Ganga Nath Jha Kendriya Sanskrit Vidyapeetha,
Moti Lal Nehru Park,
ALLAHABAD—211002
(India)
For
RASHTRIYA SANSKRIT SANSTHAN,
NEW DELHI

Price Rs .

Printed by .
Nagari Press, Daraganj, Allahabad



प्रकाशकीय

'जातकमाला—एक अध्ययन' के प्रकाशन की योजना 'राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान' के द्वारा 'विद्यापीठ' को प्राप्त हुई। इसे प्रकाशित रूप मे प्रस्तुत करते हुए हमे हार्दिक प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है। ग्रन्थकार डॉ० कमलाकान्त मिश्र की प्रथम सारस्वत-साधना की लतिका मे प्रसूत प्रथम पुष्प के रूप मे हम प्रस्तुत ग्रन्थ का स्वागत करते है और आशा करते है कि इसके द्वारा डॉ० मिश्र साहित्य आलोचन के क्षेत्र मे व्यापक प्रतिष्ठा के भाजन होगे। डॉ० मिश्र एक उत्साही, श्रमशील एवं विनम्र नवयुवक है और उनका उत्साह अदम्य है।

ग्रन्थ के सम्बन्ध मे केवल हम इतना ही कहना चाहेंगे कि इससे मेधावी ग्रन्थकार की व्यापक शोध-क्षमता का सहज अनुभव किया जा सकता है।

जातक-साहित्य बौद्ध धर्म का एक 'कान्तिमत् रत्नखण्ड' है। आर्यशूर ने उस रत्नखण्ड से जातकमाला की अनुपम सृष्टि की है जो अपने दिगन्तव्यापी यश-प्रसार के कारण किसी भी सस्कृत काव्य-ग्रन्थ से पीछे नही है। 'जातकमाला' के प्रस्तुत 'अध्ययन' के माध्यम से सहृदय पाठक-वर्ग को आर्यशूर और उसके यश पूत कृतित्व के विषय मे जिज्ञासा का अविकल समाधान प्राप्त हो सकेगा।

अन्त मे हम 'संस्थान' के माननीय अधिकारियो को धन्यवाद देते है जिन्होने विद्यापीठ को प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रकाशन की अनुमति देने की कृपा की। विद्यापीठ की शोध-प्रकाशन समिति तथा परमादरणीय अध्यक्ष डॉ० बाबू राम सक्सेना के हम बहुत कृतज्ञ है, जिनके आशीर्वाद से यह प्रकाशन संपन्न हो सका है। सकुशल तथा सत्वर प्रकाशन सम्पन्न कर देने के लिए नागरी प्रेस, दारागंज, इलाहाबाद भी प्रशंसा का पात्र है।

डॉ० हरिहर झा
का० प्राचार्य
गङ्गानाथ झा केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ

इलाहाबाद
तिथि २२-७-१९७७ ई०

प्रस्तावना

डॉ० कमलाकान्त मिश्र इस विद्यापीठ मे अनुसन्धान अधिकारी हैं। चार वर्ष पूर्व इन्होने पटना विश्वविद्यालय मे "**जातकमाला—एक अध्ययन**" विषय पर शोध-प्रबन्ध प्रस्तुत कर पी-एच्० डी० उपाधि प्राप्त की थी। हमारा सौभाग्य है कि राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान की अनुमति से इस ग्रन्थ को यह विद्यापीठ प्रकाशित कर रहा है।

भारतीय चिन्तन की तीन प्रमुख परम्पराएं है—वैदिक, बौद्ध और जैन। इनमे से बौद्ध धारा ने जितना प्रचार प्रसार और गौरव भारत से बाहर प्राप्त किया उतना शेष दो ने नही। बौद्ध चिन्तन पुरातन मूल रूप मे पालि भाषा मे प्राप्त है। इसका रूप ईसा पूर्व तीसरी शती मे सुनिश्चित हो गया था। कई सौ वर्ष बाद बौद्ध धर्म ग्रन्थ संस्कृत मे प्रणीत हुए। जातकमाला संस्कृत का ग्रन्थ है।

पालि मे ५४७ जातक है। **सुत्तपिटक** के **संयुत्त-निकाय** का एक ग्रन्थ **जातक** है। जातक का मूल रूप गाथाओ मे है। आज प्राप्त जातको का गद्य भाग **'अट्ठकथा'** (भाष्य) के रूप मे कई सौ वर्षो बाद बना। प्राचीन बौद्ध परम्परा मे जीवात्मा नाम का तत्व अग्राह्य है, पर पुनर्जन्म है। कोई जीव कितने बोधिसत्त्वो की स्थिति मे रह कर अन्त मे बुद्ध होता है। जातको मे इन्ही बोधिसत्त्वो की कहानी है। जातकमाला के रचयिता ने कुछ जातक चुन कर संस्कृत मे प्रस्तुत किए है। मूल पालि पाठ से तुलना करने पर पता चलेगा कि संस्कृत रूप किस बात मे पालि से भिन्न है।

डॉ० कमलाकान्त मिश्र ने जातकमाला का अध्ययन अनेक दृष्टियो से किया है और विषय पर प्रचुर प्रकाश डाला है। आशा है यह 'अध्ययन' हमारे ज्ञान मे यथेष्ट वृद्धि करेगा। निश्चय ही डॉ० मिश्र साधुवाद के पात्र है।

डा० बाबू राम सक्सेना
एम्० ए०, डी० लिट्०
सभापति, स्थानीय प्रबन्धक समिति
गङ्गानाथ झा केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ
भूतपूर्व कुलपति
इलाहाबाद विश्वविद्यालय

इलाहाबाद
दिनाक २१-७-७७

सम्मति

डॉ० कमलाकान्त मिश्र, एम्० ए०, पी-एच्० डी० द्वारा लिखित "**जातकमाला—एक अध्ययन**" नामक ग्रन्थ को प्रकाशित होते देख प्रसन्नता हुई। डॉ० मिश्र ने इस पुस्तक को लिख कर संस्कृत तथा हिन्दी की बडी सेवा की है। सरल संस्कृत ग्रन्थो का भी आदर कम होता जा रहा है। अत संस्कृत ग्रन्थो के तथ्यो तथा दार्शनिक ज्ञान का सहज हिन्दी माध्यम से प्रचार बहुत अपेक्षित है।

आर्यशूर की जातकमाला अतिप्रसिद्ध ग्रन्थ है। मूल जातक पालि भाषा मे है, जिनकी प्रामाणिक सख्या ५४७ है। आर्यशूर ने ३४ जातको को सरल कोमल संस्कृत भाषा मे लिख कर संस्कृत साहित्य की अभिवृद्धि की है। इसमे बौद्ध-धर्म तथा उपदेशो का कथाच्छलेन प्रतिपादन परम उपयोगी तथा हृदयग्राही हुआ है। संस्कृत साहित्य मे यह परम्परा पुरानी है। बोधगम्य कथाओ के माध्यम से गंभीर विषयो का प्रतिपादन तथा नीतिशास्त्र के दुरूह तत्त्वो को सर्वसाधारण करने की प्रथा पुरानी है। इनके उदाहरण छान्दोग्योपनिषद्, वृहदारण्यकोपनिषद् तथा ब्राह्मण साहित्य मे भरे पडे है, जिनके निदर्शन रामायण तथा महाभारत मे भी मिलते है। जीव-जन्तुओ की कथा द्वारा उपदेश का परम प्रसिद्ध ग्रन्थ पञ्चतन्त्र आज भी सर्वत्र पढ़ा जाता है और मान्य है। आर्यशूर ने भी इसी परम्परा मे दुरूह बौद्ध दार्शनिक सिद्धान्तो का संस्कृतीकरण कर उन्हें जन-साधारण के लिए सुलभ बनाया है।

अत मेरा विश्वास है कि जिज्ञासुओ के लिए यह ग्रन्थ परम उपादेय होगा।

डॉ० बेचन झा
एम्० ए०, डी० लिट्०, साहित्याचार्य, व्याकरणतीर्थ
प्रोफेसर एवं अध्यक्ष
संस्कृत विभाग, पटना विश्वविद्यालय

पटना
तिथि १८-६-१९७७ ई०

"नायं प्रयत्न सुगतिं ममाप्तुं
नैकातपत्रां मनुजेन्द्रलक्ष्मीम् ।
सुखप्रकर्षैकरसां न च द्यां
ब्राह्मीं श्रियं नैव न मोक्षसौख्यम् ।।
यत्त्वस्ति पुण्यं मम किञ्चिदेवं
कान्तारमग्नं जनमुज्जिहीर्षोः ।
संसारकान्तारगतस्य तेन
लोकस्य निस्तारयिता भवेयम् ।।"

—जातकमाला (हस्ति-जातक २१,२२)

आमुख

"एवं सर्वमिद कृत्वा यन्मयाऽऽसादितं शुभम् ।
तेन स्या सर्वसत्त्वाना सर्वदुःखप्रशान्तिकृत् ॥"
"मुच्यमानेषु सत्त्वेषु ये ते प्रामोद्यसागरा. ।
तैरेव ननु पर्याप्त मोक्षेणारसिकेन किम् ॥"

(बोधिचर्यावतार ३।६, ८।१०८)

मानव-हृदय मे इतिहास के किसी अज्ञात क्षण मे प्रस्फुटित करुणा की उदात्त भावना से आप्लावित उपर्युक्त पद्यो को सुनने के उपरान्त मेरे मन मे उस उत्स को ढूँढ़ निकालने का निश्चय हुआ, जो अब **'जातकमाला—एक अध्ययन'** के रूप मे प्रस्तुत हो रहा है। बोधिसत्त्व की महाकरुणा से उद्दीप्त बौद्ध-साहित्य (विशेषत जातक-साहित्य) ने मानव-हृदय की सबसे निगूढ, विलक्षण निधि—करुणा को अनेक कथाओ के माध्यम से व्यञ्जित कर जगत् का जो हित किया ह, वह अपने आप मे अद्वितीय है। आज स्वार्थ एव हिसा की भावनाओ से व्याप्त मानव-हृदय को परिवर्तित करने तथा ससार को आध्यात्मिक सुख एवं शान्ति की ओर अग्रसर करने के लिए बोधिसत्त्व की करुणा से उल्लसित जातकमाला जैसे ग्रन्थो के परिशीलन की अपेक्षा है। यही कारण था कि मैं इस ग्रन्थ के अध्ययन मे प्रवृत्त हुआ तथा अपनी सामर्थ्य और सीमा मे रहते हुए मैंने जो कुछ प्रयास किया वह अब सहृदय पाठको के समक्ष प्रस्तुत है।

मेरे इस विनम्र प्रयास मे गुरु-जनो के आशीर्वाद एव मित्रो की शुभ-कामनाओ का भी योगदान रहा है, जिसके लिए मैं हृदय से उन सबो का आभारी हूँ।

प्रस्तुत ग्रन्थ श्रद्धेय गुरुवर डॉ० बेचन झा जी (एम् ए, डी. लिट्, साहित्याचार्य, व्याकरणतीर्थ), प्रोफेसर एवं संस्कृत-विभागाध्यक्ष, पटना विश्वविद्यालय के अमूल्य निर्देशन मे लिखा गया तथा सन् १९७३ ई० मे पटना विश्वविद्यालय की पी-एच् डी उपाधि के लिए स्वीकृत हुआ। ग्रन्थ के यथासमय सफलतापूर्वक सम्पन्न होने मे सर्वाधिक श्रेय परम पूजनीय गुरुवर के समुचित निर्देशन एवं अच्छी 'संभावना' को है, जिसके कारण मेरे जैसा साधारण व्यक्ति भी इस कठिन कार्य को पूरा करने मे सफल हो सका है। जैसा कि कहा गया है .—

"सिध्यन्ति कर्मसु महत्स्वपि यन्नियोज्या
सभावनागुणमवेहि तमीश्वराणाम् ।"

(अभिज्ञानशाकुन्तलम् ७।४)

यद्यपि मेरे इस प्रबन्ध के प्रस्तुत होने मे पर्याप्त सामग्री की अनुपलब्धि जैसी नाना कठिनाइयाँ आती रही, तथापि पूज्य गुरुदेव के व्यक्तिगत सहयोग एवं पथ-प्रदर्शन की दीपशिखा के आलोक मे वे स्वत दूर होती गयी। उनके सहानुभूतिपूर्ण वात्सल्य की छत्र-छाया मे ही मेरा यह शोधकार्य संपन्न हुआ है। अत मात्र कृतज्ञता ज्ञापित कर उनसे उऋण होना कदापि संभव नही।

प्रस्तुत विषय पर शोधग्रन्थ लिखने मे मुझे अपने गुरुवर डॉ० उमाशङ्कर शर्मा 'ऋषि', व्याख्याता, सस्कृत विभाग, पटना विश्वविद्यालय से पर्याप्त उत्साह मिला। उन्होने अपना अमूल्य समय देकर प्रारम्भ से ही मेरे इस कार्य मे रुचि ली, अनेक बार आवश्यक सुझाव देने की कृपा की एवं आद्योपान्त इस प्रबन्ध का अवलोकन कर अपना स्नेह सौजन्य प्रदर्शित किया। मेरी हार्दिक कृतज्ञता उन्हे समर्पित है।

विश्वविद्यालय अनुदान आयोग, नयी दिल्ली के प्रति आभार प्रकट करना मैं अपना कर्तव्य समझता हूँ, जिसने अपनी रिसर्च फेलोशिप' (१९७०-७३ वर्ष) प्रदान कर मुझे इस शोधकार्य को यथासमय पूरा करने मे आर्थिक संबल प्रदान किया है।

इस ग्रन्थ को प्रकाश मे लाने का श्रेय राष्ट्रिय सस्कृत सस्थान, नयी दिल्ली को है, जिसने अपनी प्रकाशन समिति की अनुशसा पर (जनवरी १९७६ ई०) मे इसे अपने प्रकाशन कार्यक्रम के अन्तर्गत प्रकाशित करने का निर्णय लिया। किन्तु कतिपय व्यावहारिक कठिनाइयो के परिणाम-स्वरूप मुद्रण-कार्य प्रारम्भ होने मे विलम्ब होता रहा। अन्तत मेरे अनुरोध पर संस्थान ने फरवरी १९७७ ई० मे इस पुस्तक को गङ्गानाथ झा केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, इलाहाबाद द्वारा प्रकाशित करने की अनुमति दे दी, जिससे मुद्रण एव प्रकाशन कार्य अल्पकाल मे तथा समुचित रूप से संभव हो सका है। इसके लिए संस्थान के निदेशक एवं अन्य अधिकारियो के प्रति मै हृदय से कृतज्ञ हूँ।

इस सन्दर्भ मे मै विद्यापीठ के स्थानीय प्रबन्धक समिति के अध्यक्ष माननीय डॉ० बाबू राम सक्सेना जी के प्रति किन शब्दो मे अपनी हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करूँ, जिन्होने 'विद्यापीठ' से इस 'अध्ययन' को प्रकाशित करने की अनुमति प्रदान की तथा अपने अमूल्य आशीर्वाद से मुझे कृतार्थ किया। प्रकाशन की अनुमति मिलते ही ग्रन्थ को यथाशीघ्र तथा सुचारु रूप से मुद्रित करने के लिए प्रेस आदि की समुचित व्यवस्था कर तथा समय-समय पर अपने अनुभवपूर्ण परामर्श से लाभान्वित कर विद्यापीठ के का० प्राचार्य आदरणीय डॉ० हरिहर झा जी ने जो अपना सहज स्नेह भाव व्यक्त किया है, इसके लिए मै उनका आभारी हूँ।

मुख पृष्ठ का चित्र विश्वन्तर (वेस्सन्तर) जातक की कथा पर आधारित अति प्राचीन (द्वितीय शताब्दी ई० पू० की) भरहुत की इलाहाबाद संग्रहालय

मे सुरक्षित प्रस्तरमूर्त्ति (सं० ५५) का है एवं आवरण पृष्ठ के पिछले भाग का चित्र शश-जातक के दृश्य पर आधारित उसी समय की प्रस्तरमूर्त्ति (इलाहाबाद संग्रहालय संख्या २७) का है, जो संग्रहालय के निदेशक, डॉ० सतीशचन्द्र कालाके सौजन्य से 'अमेरिकन इन्स्टीच्यूट ऑफ इण्डियन स्टडीज', वाराणसी द्वारा सुलभ हुए हैं। इसके लिए मै उनका कृतज्ञ हूँ।

स्नातक कक्षा मे मेरे गुरु प्रो० श्री सूर्यनारायण चौधरी, भू० पू० संस्कृत विभागाध्यक्ष, पूर्णियाँ कालेज, पूर्णियाँ (बिहार) के प्रति आभार प्रकट करना भी मेरा पुनीत कर्तव्य है, जिनकी पुस्तक 'जातकमाला' (का हिन्दी अनुवाद) से मुझे पर्याप्त सहायता मिली है।

समय-समय पर अमूल्य सुझाव देने के लिए अपने अनुभवी मित्र डॉ० किशोर-नाथ झा जी एवं प्रूफ सशोधन, आवश्यक परामर्श आदि के द्वारा ग्रंथ के मुद्रण मे प्रारम्भ से अन्त तक अभिरुचि लेने के लिए अपने सहृदय मित्र डॉ० जगन्नाथ पाठक जी के प्रति जितनी भी कृतज्ञता ज्ञापित की जाय, वह थोडी है।

नागरी प्रेस, दारागंज के अधिपति, श्रीयुत् सरयू प्रसाद पाण्डेय जी ने, जिस तत्परता के साथ अल्प समय मे इस ग्रन्थ को मुद्रित कर अपने सहज सौजन्य का परिचय दिया है, इसके लिए वे धन्यवाद के पात्र हैं।

अपने जिस किसी रूप मे यह 'अध्ययन' मुझ जैसे 'अल्पविषया मति' वाले लेखक के माध्यम से 'सदसद्व्यक्तिसमर्थ' सुजनो के हाथो मे जा रहा है, बस, इतना ही मेरे लिए परितोष का विषय है, क्योकि इसमे यदि कोई वैशिष्ट्य उदित होगा तो उसका सम्पूर्ण श्रेय उन्ही सुजनो को प्राप्त होगा जो अपने सहज सौजन्य से इसे अङ्गीकार करेंगे और त्रुटियो के परिमार्जन के लिए अपेक्षित परामर्श से लेखक को अनुगृहीत करेंगे—

एतावत्सरसिजकुड्मलस्य कृत्य
भित्वाऽम्भ सरसि विनिर्गमो बहिर्यत्।
आमोदो विकसनमिन्दिरानिवास—
स्तत्सर्वं दिनकरकृत्यमामनन्ति ॥

गुरु पूर्णिमा,
प्रयाग
३०, जुलाई १९७७ ई०

कमलाकान्त मिश्र

विषय-सूची

द्वितीय अध्याय

तृतीय अध्याय

चतुर्थ अध्याय

———

संकेत-विवरण

सा० द०	—	साहित्यदर्पणम्
का० प्र०	—	काव्यप्रकाश
अभि०	—	अभिज्ञानशाकुन्तलम्
का० सू० वृ०	—	काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति
वृत्त०	—	वृत्तरत्नाकर
काव्या०	—	काव्यादर्श
जातक०	—	जातकमाला
अभिधान०	—	अभिधानचिन्तामणि
ध्वन्या०	—	ध्वन्यालोक
ना० शा०	—	नाट्यशास्त्र
भू०	—	भूमिका
पृ०	—	पृष्ठ
साख्य०	—	साख्यकारिका
बृहदा०	—	बृहदारण्यकोपनिषत्
छान्दो०	—	छान्दोग्योपनिषत्
मं०	—	मंगनाचरण
तुल०	—	तुलनीय
भामह०	—	भामहकृत काव्यालङ्कार
सदुक्ति०	—	सदुक्तिकर्णामृतम् ।
सुभाषित०	—	सुभाषितरत्नकोष
श्रीमद्भग०	—	श्रीमद्भगवद्गीता
रामा०	—	रामायणम्-वाल्मीकि सं० श्री वासुदेव लक्ष्मण शास्त्री, पणशीकर, १९३० ।
श्रीमद्वाल्मीकिरामा०	—	श्रीमद्वाल्मीकिरामायणम्, आर० नारायण स्वामी, मद्रास लॉ जर्नल प्रेस, १९३३ ।
महायानसूत्र०	—	महायानसूत्रसंग्रह-सं० डॉ० परशुराम वैद्य, मिथिला विद्यापीठ, दरभगा, १९६१ ।
म० भा०	—	महाभारत
शा० प०	—	शान्तिपर्व

ललित०	—	Lalitavistara—Ed. by Dr. P. L. Vaidya, Mithila Institute, Darbhanga. 1958.
Speyer	—	Jatakamala, tr by J. S. Speyer, Motilal Banarsidass, Delhi–7, 1971.
K. P J.	—	Kashi Prasad Jayasawal "Hindu Polity" Bangalore Printing & Publishing Co Ltd , Bangalore City, 1943
G D. De	—	Gokul Das De—Significance & Importance of Jatakas, Calcutta University, 1951
P. E A.	—	Pillar Edicts of Ashoka, Dr. U. S. Sharma, April-1960.
P. T. S	—	Pali Text Society
M W.	—	Monier Williams—Sanskrit-English Dictionary
Feer	—	M. L. Feer—A Study of the Jatakas—Analytical and critical, Calcutta—1963.
J. R A. S.	—	Journal of Royal Asiatic Society.
S. B. E.	—	Sacred Books of the East.
B. B.	—	Bibliothica Buddhica, Petrograd
Pt.	—	Part.
Ed.	—	Edited
Tr.	—	Translated
Intr	—	Introduction
P.	—	Page.

जातकमाला—एक अध्ययन

विषय-प्रवेश

वेदादिशास्त्रो मे मानवमात्र के प्रथम ज्ञान का आदर्श मिलता है। अत्यन्त मौलिक तथा स्थूलरूप मे प्रदर्शित वैदिकज्ञान को उपनिषदो मे सूक्ष्मतर बताया गया है। इसके अनन्तर भी उन सूक्ष्म कल्पनाओ को विद्वानो ने मानवमात्र के कल्याण तथा सरलबोध के लिए कथा का रूप दिया, जिससे पुराण-साहित्य का विकास हुआ। पुराणो मे समस्त कर्मकाण्डो का प्रतीकात्मक वर्णन हटाकर रूपक दिये गये है। स्वर्ग-नरक की विलक्षण कल्पना ने मानव के नैतिक मूल्यो को सुरक्षित रखने मे बडा योगदान दिया है। इतिहास, पुराण तथा वेद के सम्बन्ध पर महाभारत (१।१।२६७) मे कहा गया है—

"इतिहासपुराणाभ्या वेद समुपबृ हयेत् ॥
बिभेत्यल्पश्रु ताद् वेदो मामय प्रहरिष्यति ॥"

किन्तु ये पुराण एवं इतिहास के वाक्य भी सुहृत्सम्मित वाक्य के समान ही कर्त्तव्य की सूचना देने मे समर्थ हुए। माधुर्य एव रसोद्गिरण करते हुए वाणियो मे कर्त्तव्यनिर्देश अब भी शेष ही रहा। यह सर्वविदित है कि बाल्यावस्था मे गुरुजन का हितोपदेश आज्ञा के रूप मे कार्य का निर्देश करता है। कुछ प्रौढ़ता प्राप्ति के अनन्तर सुहृद्-वाक्यो की प्रेरणा से मनुष्य अपने कर्त्तव्य पथ की ओर अग्रसर होता है। अनन्तर जब मनुष्य •गृहस्थधर्म मे सर्वथा आबद्ध हो जाता है, तब उसे अपने कर्त्तव्य-मार्ग पर सञ्चरण करने के लिए कान्तासम्मित वाक्य की आवश्यकता होती है। इसी तरह उपदेश के क्षेत्र मे भी सुहृत्सम्मित उपदेश के अनन्तर आचरण की शिक्षा के लिए कान्तासम्मित उपदेश की आवश्यकता को अनुभूत कर काव्य इस अभाव की पूर्ति मे सचेष्ट हुए। कवि अपनी अमर सहस्र वाणियो द्वारा सहृदयजनो के मानस-पटल पर उपदेश के तत्त्वो को अकित करने मे पूर्ण सफल होने लगे। फलत काव्य की सृष्टि सर्वतोमुखी होकर सभी दार्शनिक सिद्धान्तो को परिस्फुट करने के लिए एकान्तत आधार हो गयी। शब्दालंकार का आश्रयण कर कोमलकान्त पदावली सहृदय-हृदय को सदुपदेश सुनने के लिए सर्वथा आवर्जित करने लगी तथा अर्थालकार अभिप्रेत अर्थों की अभिव्यक्ति मे सहायक होने लगे और सरस वाक्य अपने अर्थो की अमिट छाप अन्त पटल पर अंकित कर उचित कार्य की ओर एकान्तत संलग्न करने लगे। परिणामत अश्वघोष जैसे प्रबुद्ध बौद्ध दार्शनिक को भी अपने सिद्धान्त के प्रचार मे इसी कोमलकान्त पद-शय्या का अवलम्बन करना पडा और बुद्धचरित तथा सौन्दरनन्द जैसे अमर महाकाव्यो के द्वारा वह जन-मन रञ्जन कर बौद्ध सिद्धान्त को कान्तासम्मित उपदेश के द्वारा हृदय-पटल पर अंकित करने मे समर्थ हुए।

'जातकमाला' मे एक ऐसी संस्कृति उपनिबद्ध है, जो मात्र भारतीय सस्कृति नही, वरन् एक सनातन प्राणि-मात्र की संस्कृति है। इसकी कथाओ का मूलाधार, करुणा और मैत्री है। यह उस ज्योति की अमर वाणी से सम्बद्ध है, जिसने भोग-विलास के अन्तस्तल मे करुणा का उद्भावन किया। कनक-कामिनी और कीर्ति रूप दृढतम बन्धन-शृखलाओ को तोडने वाले ज्ञान, करुणा, प्रेम आदि तत्त्वो को जन-मन मे स्थिर करने के लिए जातकमाला की कथाएँ सामाजिक द्वन्द्वो (जैसे-धनी-निर्धन, ऊँच-नीच) से ऊपर उठकर सरल सुबोध भाषा मे लिखी गयी। इन कथाओ की शिक्षा से दीक्षित संसार आज भी श्रद्धा, आदर और गौरव के साथ बुद्ध को स्मरण करता है। भगवान् बुद्ध जिन आर्यसत्यो की ज्ञान-रश्मि से देदीप्यमान थे, उसी का प्रबल प्रकाश इन जातको को प्रभाव-भास्वर करता है। संसार के करोडो प्राणियो की मगलमय कामना से महाकवि आर्यशूर ने बुद्ध के सदेशो को सामान्य कथाओ के द्वारा मानव-हृदयपटल पर अकित करने का प्रयास किया। कठिन विषयो को सरल शब्दो मे इतिहास एवं कथाओ के द्वारा प्रदर्शित कर कर्त्तव्य-मार्ग के निर्देशन की परम्परा हमारे यहाँ अति प्राचीन काल से चली आ रही है। महाभारत एव उपलब्ध पुराण इसी तथ्य के पोषक है। उनमे अनेक पुण्यात्मा राजाओ के चरित्रो को सरल भाषा मे उपनिबद्ध कर सुपथ पर चलने का उपदेश दिया गया है। इसी प्रकार बौद्ध-सिद्धान्त को जन-मन मे अकित करने के लिए कोमल-कान्त पदावली की शय्या देकर अश्वघोष तथा आर्यशूर ने भी इसी मार्ग को प्रशस्त किया है।

बौद्ध-धर्म तथा दर्शन पर आश्रित संस्कृत मे काव्यरूप मे लिखे गये ग्रन्थो मे अश्वघोष के बुद्धचरित तथा सौन्दरनन्द एवम् आर्यशूर-रचित जातकमाला अत्यन्त प्रसिद्ध तथा उल्लेखनीय है। इन तीनो मे जातकमाला की कुछ विशेषताये है। अश्वघोष के काव्यो मे एक सूत्र मे निबद्ध कथा आद्योपान्त प्रवाहित होती रहती है, जिससे महाकाव्यत्व के निर्वाह का अधिक अनुकूल अवसर प्राप्त हुआ है एवं विषय-वर्णन मे भी कोई प्रतिबन्ध नही है। दूसरी ओर जातकमाला, बोधिसत्त्व की विभिन्न कथाओ का उनके अवदानो पर आश्रित निरूपण करने के कारण, अपनी विषय-वस्तु मे बँधी हुई है। प्रत्येक जातक अपना स्वतन्त्र अस्तित्व रखता है, जिसकी कथा आर्यशूर को अधिकाशतया पालि जातको मे उपजीव्य विषय-वस्तु के रूप मे प्राप्त हुई है। उस कथावस्तु का अतिक्रमण आर्यशूर के लिये न तो उचित था और न अपेक्षित ही। स्पेयर ने जातकमाला के अपने अंग्रेजी अनुवाद के अन्त मे (पृ० ३३७-४०) जातकमाला के ऐसे श्लोको की सूची दी है, जो पालि-जातको की गाथाओ के प्राय अनुवाद है। यही कारण है कि जातकमाला अपनी साहित्यिक सम्पत्ति मे अश्वघोष के काव्यो के समकक्ष नही रखी जा सकती।

जातकमाला की दूसरी विशेषता यह है कि इसमे गद्य और पद्य, दोनो का सन्निवेश हुआ है। अपने पूर्ववर्ती ग्रन्थ 'पंचतन्त्र' के आदर्श पर लिखी गयी इस जातकमाला पर उक्त ग्रथ का बहुत अधिक प्रभाव है। पंचतंत्र के बाद क्रमश

विकसित होनेवाली संस्कृत गद्य-शैली के ऐतिहासिक पर्यालोचन के लिये जातक-माला मे प्रयुक्त गद्य का तो महत्त्वपूर्ण स्थान है ही, नीति के उपदेश के रूप मे काव्यात्मक पद्यो का भी अपना विलक्षण सौन्दर्य है। दोनो दृष्टियो से आर्यशूर की यह कृति साहित्यिक अध्ययन की अपेक्षा रखती है।

इतना महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ होते हुए भी इसकी ओर परवर्ती समालोचको की दृष्टि नही पडी, जिसके परिणाम स्वरूप सस्कृत मे इस पर कोई भी टीका नही मिलती। जोन्स्टन ने जिन दो टीकाओ का उल्लेख किया है[1] वे तिब्बती भाषा मे है। प्रथम टीका के लेखक धर्मकीर्ति कहे जाते है और दूसरी टीका "पञ्चिका" है। इन टीकाओ की प्राप्ति के अभाव मे जातकमाला का अर्थ केवल भाषा-ज्ञान के बल पर ही समझा जा सकता है। जातकमाला विशेष रूप से बौद्धो के बीच ही प्रचलित थी। अत सस्कृत के समालोचको की दृष्टि इस पर नही पडी तो इसमे कोई आश्चर्य की बात नही है। एकमात्र 'अभिनन्द' की ही एक उक्ति—

"सुबन्धौ भक्तिर्न क इह रघुकारे न रमते
धृतिर्दाक्षीपुत्रे हरति हरिचन्द्रोऽपि हृदयम्।
विशुद्धोक्ति शूर. प्रकृतिसुभगा भारविगिर
तथाप्यन्तर्मोद कमपि भवभूतिर्वितनुते॥[2]

आर्यशूर की विशेषता प्रकट करती है कि शूर (=आर्यशूर) विशुद्ध अर्थात् स्वाभाविक उक्तियो से परिपूर्ण भाषा-शैली का लेखक था। सचमुच यह आश्चर्य का विषय है कि इतने सुन्दर साहित्यिक ग्रन्थ के विषय मे किसी समालोचक ने कुछ नही लिखा, जबकि अन्य कवियो और लेखको के विषय मे अनेक सूक्तियाँ प्रचलित है।

जातकमाला ग्रन्थ के अब तक निम्नलिखित सस्करण प्रकाश मे आ चुके है—

जातकमाला का प्रथम संस्करण हालैण्ड निवासी डॉ० हेन्ड्रिक कर्न (Dr Hendrik Kern) ने सम्पादित कर अमेरिका के हार्बर्ड प्राच्यमाला (Harvard Oriental Series) के प्रथम ग्रन्थ के रूप मे सन् १८९० मे हार्बर्ड विश्वविद्यालय प्रेस मे मुद्रित तथा प्रकाशित किया। इनके सम्पादन के आधार है—कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय की दो पाण्डुलिपियाँ (संख्या १३२८ तथा १४१५) एवं पेरिस के राष्ट्रिय ग्रन्थागार की एक पाण्डुलिपि (संख्या ८९५)। इस सस्करण के विषय मे

1. The Buddhacharita—tr ed by E H Johnston, Pt II P. XXXVII—

"No commentary was ever written either on it or on the 'Saundarananda', where as two exist for the Jatakamala, which offers far fewer difficulties of interpretation"

२ सुभाषितरत्नकोष, १६९८, सदुक्तिकर्णामृत ५।२६।४।

मैक्समूलर ने कहा है कि डच विद्वान् कर्न द्वारा प्रस्तुत जातकमाला का सस्करण उत्कृष्ट है और संभवत उसमे परिवर्तन न हो सकेगा। "The edition of the Sanskrit text by Prof Kern is not only an 'editio princeps' but the text as restored by him, will probably remain the final text"[1] वस्तुत प्रो० कर्न प्रशसा के पात्र है, क्योकि उन्होने श्लाघनीय संस्कृत पाठ प्रस्तुत किया है। उन्होने सक्षिप्त भूमिका के साथ जातकमाला का मूल मात्र प्रकाशित किया है। उपर्युक्त ग्रन्थमाला के प्रधान सम्पादक Charles Rockwell Lanman थे।

रायल एशियाटिक सोसाइटी, कलकत्ता के पुस्तकालय मे जातकमाला की दो पाण्डुलिपियाँ है, जो नेपाल से आयी है। ये दोनो नेवारी लिपि मे लिखित है। उनमे से एक (जी० ८८८८०) खण्डित है तथा ११वी शती की नेवारी लिपि मे तालपत्र पर लिखी हुई है। इसमे अविषह्य जातक से प्रारम्भ होनेवाले पाच जातक है। दूसरी पाण्डुलिपि (बी० १३) १८वी शती की नेवारी लिपि मे कागज पर लिखी हुई है। इसमे "सुभाषराज" नामक एक अधिक जातक है। दोनो पाण्डुलिपियाँ कर्न के सस्करण से प्राय मिलती है। पहली का पाठ अधिक अच्छा है, दूसरी का पाठ कुछ अशुद्ध है।

जातकमाला का चीनी भाषा मे अनुवाद सन् ८६० और ११२७ ई० के बीच हुआ, जिसमे १४ जातक ही है।

जातकमाला का अंग्रेजी अनुवाद प्रो० जे० एस० स्पेयर द्वारा किया गया और ऑक्सफोर्ड की बौद्ध-धर्म ग्रन्थमाला (Sacred Books of the Buddhist) के प्रथम ग्रन्थ के रूप मे सन् १८९५ ई० मे ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय प्रेस मे छपकर प्रकाशित हुआ। इस ग्रन्थमाला के प्रधान सम्पादक एफ० मैक्समूलर थे। स्पेयर ने ही सर्वप्रथम विद्वानो का ध्यान जातकमाला की साहित्यिक विशेषताओ की ओर आकृष्ट किया है। पूरे एक अनुच्छेद मे उन्होने इसकी साहित्यिक समालोचना दी है। (Speyer Inter P. XXIII IV) उन्होने प्राय गद्गद् होकर लिखा है कि यह अपने प्रकार की सबसे पूर्ण कृति रही है तथा न केवल अपनी शैली की उत्तमता के कारण, प्रत्युत विचारो की उदात्तता के लिये भी यह एक विशिष्ट कृति मानी जायगी। जातक रूपी पुष्पो की यह सचमुच माला है ("It has perhaps been the most perfact writing of its kind It is distinguished no less by the superiority of its style than by the loftiness of its thoughts Above all, I admire his moderation Unlike so many other Indian mastery in the art of literary composition

1 Speyer—preface P XI.

he do s not allow himself the use of embellishing apparel."[1])
इसी प्रकार के भावोच्छ्वासो से स्पेयर ने आर्यशूर का वर्णन किया है। यह दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति है कि स्पेयर के बाद इस विषय की चर्चा ही समाप्त हो गयी कि जातकमाला मे साहित्यिक सम्पत्ति भी है तथा इसका अध्ययन साहित्य के इतिहास मे महत्त्वपूर्ण स्थान रख सकता है।

उक्त सस्करणो के अनन्तर भारतवर्ष मे भी जब विश्वविद्यालयो के पाठ्य-क्रम मे जातकमाला का सन्निवेश हुआ, तब चुने हुए जातको के कतिपय सस्करण प्रकाशित हुए। इनमे प० बटुकनाथ शास्त्री के सस्करण मे चुने हुए ११ जातक उनकी "बाला" नामक सस्कृत टीका के साथ प्रकाशित है। प्रो० श्री सूर्यनारायण चौधरी ने भी क्रमश प्रथम २० जातको का हिन्दी अनुवाद के साथ प्रथम सस्करण तथा शेष जातको को पूरा कर द्वितीय सस्करण प्रकाशित किया है। इन सस्करणो मे जातक-माला का वही पाठ स्वीकृत है जो हार्वर्ड से कर्न ने प्रकाशित किया था।

जातकमाला का एक सस्करण मिथिला विद्यापीठ, दरभगा से बौद्ध सस्कृत-ग्रन्थावली (सख्या २१) के अन्तर्गत डॉ० पी० एल० वैद्य के सम्पादन मे सन् १९५९ ई० मे प्रकाशित हुआ है। इसमे आर्यशूर के नाम से प्राप्त "सुभाषित-रत्न-करण्डक-कथा" परिशिष्ट के रूप मे पहली बार प्रकाशित है। जातकमाला के पद्यो मे प्रयुक्त वृत्तो की सूची भी सर्वप्रथम इसी संस्करण मे दी गयी है। वैद्य महोदय ने भी इसकी भूमिका मे इसकी साहित्यिक सम्पत्ति की चर्चा मात्र की है।

इन उत्तम संस्करणो के होने पर भी अभी तक इसका साहित्यिक अध्ययन नही हो सका था। साहित्यिक अध्ययन से मेरा तात्पर्य भारतीय साहित्यशास्त्र के उपादानो के प्रकाश मे जातकमाला का अध्ययन किये जाने से है। साहित्य-शास्त्रियो ने जो साहित्यालोचन के सिद्धान्त रखे है, उन्हे आधार मानकर यदि हम जातकमाला की गद्य-पद्यमयी शैली का अनुशीलन करे तो अनेक रोचक तथ्यो के प्रकाशित होने की संभावना है। विशेषत बौद्ध-ग्रन्थो मे साहित्यिक दृष्टि से विलक्षण होने के कारण इसका काव्यात्मक परिशीलन अत्यन्त आवश्यक है। स्वय आर्यशूर ने जातकमाला के मगलाचरण मे यह स्पष्ट किया है कि इसे वे काव्य का रूप दे रहे है जिससे—

"स्यादेव रूक्षमनसामपि च प्रसादो
धर्म्या कथाश्च रमणीयतरत्वमीयुः।" (—जातक० म० २)

अर्थात् धर्म-कार्य से उखडे हुए चित्त वाले व्यक्तियो को भी प्रसन्नता हो

---

1. Speyer–Intr P XXIII-IV

तथा धर्म की कथाये और भी रमणीय हो जॉय। अश्वघोष के समान[1] आर्यशूर का भी उद्देश्य धर्मच्युत व्यक्तियो को काव्य के व्याज से नैतिक उपदेश प्रदान करना है। कालिदास, भवभूति, बाण इत्यादि कवियो से भिन्न आर्यशूर साक्षात् धर्मोपदेश मे विश्वास करते है, काव्य का सौन्दर्य-ग्रहण या चित्त-चमत्कार मात्र इनका उद्देश्य नही है। इस प्रकार काव्यरूपता एक साधनमात्र है जैसा कि वे कहते है कि अपनी काव्य-कुसुमाञ्जलि के द्वारा बोधिसत्त्व के अद्भुत कर्मो की हम अर्चना कर रहे है —

"पूर्वप्रजन्मसु मुनेश्चरिताद्भुतानि
भक्त्या स्वकाव्यकुसुमाञ्जलिनार्चयिष्ये।" (जातक॰ मं॰ १)

काव्य की साधनरूपता और साध्यरूपता मे बहुत अन्तर होता है। संस्कृत-साहित्य के इतिहास मे साध्यरूप काव्यो पर अनेक सूक्तियाँ तो है ही, आधुनिक युग मे उन पर अनुशीलनात्मक शोधप्रबन्ध भी अनेकानेक लिखे गये है। किन्तु जो काव्य किसी विशेष उद्देश्य से लिखे गये है, जहाँ कविता व्याजमात्र है, उनके अनुशीलन का समय आ गया है। प्रस्तुत ग्रन्थ इसी दिशा मे किया गया एक विनम्र प्रयास है।

———

१—सौन्दरनन्द —

(क) "इत्येषा व्युपशान्तये न रतये मोक्षार्थगर्भा कृति
श्रोतॄणा ग्रहणार्थमन्यमनसा काव्योपचारात्कृता।
यन्मोक्षात्कृतमन्यदत्र हि मया तत्काव्यधर्मात्कृत
पातु तिक्तमिवौषध मधुयुत हृद्यं कथ स्यादिति ॥—१८/६३

(ख) "प्रायेणालोक्य लोक विषयरतिपर मोक्षात्प्रतिहत
काव्यव्याजेन तत्त्व कथितमिह मया मोक्ष परमिति।—१८/६४

प्रथम अध्याय

१. बौद्ध-संस्कृत-साहित्य का परिचय

बौद्धसाहित्य के ग्रन्थ दो भाषाओ—पालि एव सस्कृत मे लिपिबद्ध है। धर्मविषयक ग्रन्थ पालि मे लिखे गये है तथा दर्शनविषयक ग्रन्थ संस्कृत मे। संस्कृत ग्रन्थो मे से कुछ हीनयान सम्प्रदाय के है और शेष महायान सम्प्रदाय के। महायान के प्राय सभी ग्रन्थ सस्कृत मे ही है। प्रथमत हीनयान के प्रमुख संस्कृत ग्रन्थो का परिचय प्रस्तुत है—

"ज्ञानप्रस्थानशास्त्र"

यह सर्वास्तिवाद का प्रधान ग्रन्थ है। सर्वास्तिवाद बौद्धधर्म के अठारह निकायो मे से एक है[1]। इसके अनुसार बाह्य वस्तुजात तथा आध्यात्मिक वस्तुजात, दोनो का अस्तित्व है। इसके रचयिता कात्यायनीपुत्र थे। ज्ञानप्रस्थानग्रथ की वृत्ति का नाम "विभाषा" है। इसमे सर्वास्तिवादनिकाय के विभिन्न आचार्यो का मत उपनिबद्ध है, जिसमे पाठक अपनी रुचि के अनुरूप मत का ग्रहण कर सकते है। इसी कारण इसका नाम "विभाषा" है। इसकी रचना कनिष्क के राज्यकाल के बाद हुई थी। इसके रचयिता के रूप मे वसुमित्र का नाम लिया जाता है। इस ग्रंथ का पूरा नाम "महाविभाषाशास्त्र" था। "विभाषा" ग्रन्थ अपने असली रूप मे उपलब्ध नही है। इसका कुछ अश ही प्राप्त हुआ है, जिसके अवलोकन से इसकी उत्कृष्टता तथा इसके विस्तार का ज्ञान होता है। इसकी दार्शनिक पद्धति प्रौढ़ है। परमार्थ (४९९ ई०—५६९ ई०) के अनुसार छठी शताब्दी मे यह ग्रन्थ शास्त्रार्थ का प्रधान विषय था, जबकि बौद्धो एवं साख्यो के बीच विवाद चल रहा था।

ज्ञान-प्रस्थान के अतिरिक्त सर्वास्तिवाद के अन्य अभिधर्म ग्रन्थो का उल्लेख भी मिलता है।[2]

१—बौद्धधर्मदर्शन—आचार्य नरेन्द्रदेवकृत, पृ० ३६

२—"श्रूयन्ते ह्यभिधर्मशास्त्राणा कर्त्तार । तद्यथा ज्ञानप्रस्थानस्य आर्यकात्यायनीपुत्र कर्त्ता । प्रकरणपादस्य स्थविरवसुमित्र । विज्ञानकायस्य स्थविरदेवशर्मा। धर्मस्कन्धस्य आर्यशारिपुत्र । प्रज्ञप्तिशास्त्रस्य आर्यमौद्गल्यायन. । धातुकायस्य पूर्ण । सगीतिपर्यायस्य महाकौष्ठिल ।"

—"अभिधर्मकोशव्याख्या कारिका—३,
बिब्लिओथिका, २१, पृ० १२ ।

"अभिधर्मकोश"[1]

सर्वास्तिवाद का यह एक प्रौढ़ ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ मे आठ कोशस्थान या अध्याय है, जिनके विषय इस प्रकार हैं—

१—धातु, २—इन्द्रिय, ३—लोकधातु, ४—कर्म, ५—अनुशय, ६—आर्य-पुद्गल, ७—ज्ञान, ८—ध्यान। वसुबन्धु ने इसकी रचना कारिका रूप मे की थी और उन्होने इस पर भाष्य भी लिखा था। उस भाष्य पर यशोमित्र ने "स्फुटार्था" टीका लिखी थी। वसुबन्धु का समय ताकाकुसू के अनुसार ४२० ई० और ५०० ई० के बीच का है। बोगिहारा इनका समय ३९० ई० के बीच निर्धारित करते है। एन० पेरी इनका समय ३५० ई० के लगभग सिद्ध करने का यत्न करते है। विन्टरनिट्ज इन्हे चौथी शताब्दी का मानते है। "अभिधर्मकोश" के तिब्बती और चीनी अनुवाद उपलब्ध है। बौद्धसाहित्य और दर्शन के प्रसिद्ध विद्वान् लुई द वाले पूसे (Loue's dela valle Pou ın) ने इसका चीनी से फ्रेन्च मे अनुवाद किया। राहुल साकृत्यायनजी तिब्बत से मूल संस्कृत ग्रन्थ का फोटो लाये और पटना के काशी प्रसाद जायसवाल अनुसंधान-सस्थान के द्वारा इसके प्रकाशन की व्यवस्था हुई। चीनी भाषा मे इसके दो अनुवाद है—

२—परमार्थ (५६३ ई०) का। २—शुआन च्वाङ का।

इस ग्रन्थ का प्रथम सम्पादन बोगिहारा द्वारा जापान से हुआ है। वसुबन्धु ने इसके अतिरिक्त कई ग्रन्थो का प्रणयन किया था, किन्तु उनमे से अनेक प्राय विनष्ट हो चुके। तिब्बत, चीन आदि बौद्ध देशो मे जो ग्रन्थ सुरक्षित रह सके वे है —"परमार्थसप्तति", "तर्कशास्त्र", "वादविधि" और "गाथा-संग्रह"। ये सभी हीनयान के ग्रन्थ है।

कहा जाता है कि महायान के कुछ ग्रन्थो का प्रणयन भी वसुबन्धु ने किया था। उनके नाम है —"सद्धर्मपुण्डरीकटीका", "महापरिनिर्वाणसूत्रटीका", "वज्रच्छेदिका-प्रज्ञापारमिताटीका" और "विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि"।

महावस्तु[2]

महावस्तु या "महावत्थु अवदान" हीनयान का एक प्रसिद्ध ग्रन्थ है। यह लोकोत्तरवादी महासाधिको का विनय ग्रन्थ है। महावस्तु का अर्थ है —"महान विषय या कथा अर्थात् उपसम्पदा आदि बौद्ध विनय सम्बन्धी कथा। इस ग्रन्थ मे भगवान बुद्ध के जीवन-चरित तथा संघ-स्थापना का वर्णन है। प्रारम्भ मे ही चार

१—अनुवादक एव सम्पादक
आचार्य नरेन्द्रदेव, हिन्दुस्तानी एकेडमी, इलाहाबाद, १९५८ ई०।

2. Ed by E Senert, Paies, 1882-97

बोधिसत्त्व-चर्याओ का वर्णन दिया गया है—प्रकृतिचर्या, प्रणिधानचर्या, अनुलोमचर्या और अनिवर्त्तनचर्या। इन चर्यायो की पूर्ति से बोधिसत्त्व बुद्धत्व की प्राप्ति करते है। इन चर्याओ का उल्लेख कर ग्रन्थ का नाम दिया गया है —

"आर्यमहासाघिकाना लोकोत्तरवादिना मध्यदेशिकाना विनयपिटकस्य महावस्तुनो " आदि। इस परिचय के बाद चतुर्विध उपसम्पदाओ का वर्णन है—स्वाम उपसम्पदा, एहि भिक्षुकाय उपसम्पदा, दशवर्गेण गणेन उपसम्पदा, तथा पचवर्णेण गणेन उपसम्पदा।

महावस्तु मे बुद्धानुस्मृति नाम का बुद्धस्तोत्र है, जिसमे कहा गया है कि दीपकर भगवान के पास जब बोधिसत्त्व ने अनिवर्त्तनचर्या का प्रारम्भ किया तभी से वे वीतराग है—

"दीपकरमुपादाय वीतरागस्तथागत.।
राहुल पुत्र देशेन्ति एषा लोकानुवत्तना॥"[1]

इस ग्रन्थ मे भगवान को 'लोकोत्तर' माना गया है। हीनयान से महायान की ओर संक्रमण की यह अवस्था है। हीनयान मे समाधि का महत्त्व था। महावस्तु मे भक्ति प्रधान स्थान ले लेती है। स्तूप की परिक्रमा करने अथवा पुष्पोपहार के द्वारा भगवान की आराधना करने से अमित पुण्य होता है।

बोधिसत्त्व की दश भूमियाँ है—पुरारोहा, बद्धमाना, पुष्पमण्डिता, रुचिरा, चित्तविस्तार, रूपवती, दुर्जया, जन्मनिदेश, योवराज ओर अभिषेक। इनका सर्वप्रथम उल्लेख तथा विस्तृत वर्णन महावस्तु मे ही मिलता है। इन्ही को महायान ग्रन्थो मे आगे चलकर पल्लवित किया गया। बुद्ध के जीवनचरित का वर्णन करना महावस्तु का प्रधान उद्देश्य है। इस कारण इसे महावस्तु अवदान भी कहते है। इसका लगभग आधा से अधिक भाग जातक तथा अन्य कथाओ से भरा है जो सामान्यत पालि जातको का अनुसरण करते है।

इसका रचनाकाल अनुमानत २०० ई० पू० माना जाता है। इसी समय इसके मूल रूप की रचना हुई होगी। किन्तु समय-समय पर ग्रन्थ का विस्तार हुआ होगा, लोगो की ऐसी धारणा है। सम्पूर्ण ग्रन्थ मिश्र-सस्कृत मे है। महावस्तु का प्रथम सम्पादन इ० सेना ने तीन भागो मे, सन् १८८२-१८९७ ई० मे किया है।

अश्वघोष-साहित्य

अश्वघोष ने अपने काव्यो द्वारा बौद्धधर्म के गूढ रहस्यो को काव्यमयी भाषा मे साधारण जनता के समक्ष प्रकट करने का स्तुत्य कार्य किया। उनकी कृतियो मे

१—आचार्य नरेन्द्रदेव-बौद्धधर्मदर्शन, पृ० १२० मे उद्धृत।

हीनयान तथा महायान दोनो सम्प्रदायो के विचार मिलते है। वे हीनयानी सर्वास्तिवादी विद्वान् थे, साथ ही महायान के योगाचार सम्प्रदाय के विज्ञानवादी दार्शनिक भी। हीनयान की कुछ त्रुटियो के परिमार्जन के लिए उन्होने "महायानश्रद्धोत्पादशास्त्र" की रचना की थी।

अश्वघोष को कनिष्क का समकालीन या उससे कुछ पूर्व का समझा जाता है। उनकी काव्यशैली से भी यह प्रतीत होता है कि वे कालिदास से पूर्व के थे। भास उनका अनुकरण करते है। उनके शब्दभंडार से प्रतीत होता है कि वे कौटिल्य के निकटवर्ती है। इस प्रकार अश्वघोष का समय प्रथम शताब्दी समझा जाता है। अश्वघोष अपने को "साकेतक" (अयोध्या के रहनेवाले) कहते है और माता का नाम सुवर्णाक्षी बतलाते है—

"आर्यसुवर्णाक्षीपुत्रस्य साकेतकस्य भिक्षोराचार्य-
भदन्ताश्वघोषस्य महाकवेर्महावादिन कृतिरियम्।"[1]

ये वेद तथा शास्त्रो के ज्ञाता थे। ये ब्राह्मणकुल मे उत्पन्न हुए थे। युवावस्था मे ही अश्वघोष ने महाकवि, सगीतज्ञ, नाटककार तथा अभिनेता के रूप मे ख्याति प्राप्त कर ली थी।

अश्वघोष की तीन कृतियो के सम्बन्ध मे सभी विद्वान् एकमत है। वे है—क—बुद्धचरित, ख—सौन्दरनन्द, तथा ग—शारिपुत्रप्रकरण। प्रथम दो महाकाव्य तथा तृतीय नाटक है। इनके अतिरिक्त चीनी परम्परा के अनुसार इत्सिग ने सातवी शताब्दी मे अश्वघोष की निम्नलिखित कृतियो की सूची दी है—

१—महायानश्रद्धोत्पादसग्रह २—वज्रसूची ३—गाण्डीस्तोत्रव्याख्या ४—सूत्रालंकार।

उनके नाम से "राष्ट्रपाल" ओर "उर्वशी-वियोग" नामक दो नाटको का भी उल्लेख मिलता है।

बुद्धचरित[2]—

निर्विवादरूप से यह अश्वघोष की रचना हे। यह महाकाव्य है। इसमे गौतम-बुद्ध का सर्वाङ्गीण चरित्र निबद्ध हुआ है। इसमे २८ सर्ग थे, किन्तु मूलरूप मे सम्प्रति इसके प्रथम सर्ग का ३/४ भाग, २ से १३ सर्ग तथा चौदहवे सर्ग का १/४ भाग ही मिलते है। ग्रन्थ का प्रारम्भ भगवान बुद्ध की स्तुति से होता है तथा सम्वेगोत्पत्ति, अभिनिष्क्रमण, मारविजय, संबोधि, धर्मचक्रप्रवर्त्तन, परिनिर्वाण आदि घटनाओ के

---

[1]—सौन्दरनन्द, बुद्धचरित तथा शारिपुत्रप्रकरण का अन्तिम वाक्य।

2 Ed Cowell, Oxford, 1898 Formichi, Bari, Translation-S B E XLIX, ii, 1912,

वर्णन के उपरान्त इसका अन्त प्रथम धर्मसगीति और अशोक के राज्यकाल के वर्णन से होता है। बुद्धचरित के उपलब्ध सस्करण मे सत्रह सर्ग है। इसके अन्तिम चार सर्ग अमृतानन्द नामक (१८०० ई०) किसी व्यक्ति के द्वारा जोडे गए समझे जाते है। इसका एक अट्ठाइस सर्गो का हिन्दी सस्करण प्रो० श्री सूर्यनारायण चौधरीजी (भू० पू० अध्यक्ष, सस्कृत विभाग, पूर्णिया कॉलेज, पूर्णिया) ने तैयार किया है, जिसके चौदहवें सर्ग तक संस्कृत के श्लोक भी दिये गए हैं। जोन्स्टन का अग्रेजी सस्करण इसका आधार है। बुद्धचरित के सम्बन्ध मे इत्सिंग ने लिखा है कि उस समय भारतवर्ष, जावा, सुमात्रा तथा उनके आसपास के द्वीपो मे इसका पाठ तथा गायन होता था।

सौन्दरनन्द—

"सौन्दरनन्द" महाकाव्य मे अठारह सर्ग है। यह समग्र ग्रन्थ सुरक्षित है। इसमे भगवान् बुद्ध के उपदेशो से प्रभावित होकर नन्द के, अपनी पत्नी सुन्दरी और सासारिक विषयो से विरक्त होकर प्रवज्या लेने की कथा का वर्णन है। महाकाव्य के प्रथम तीन सर्गो मे सिद्धार्थ के जन्म से लेकर उसके बुद्धत्व प्राप्त करने तथा कपिलवस्तु लौटने तक का वर्णन है। चौथे सर्ग मे नन्द और उसकी पत्नी सुन्दरी के विवाह और उनकी गहरी अन्योन्यासक्ति तथा भिक्षाटन के लिए उनके द्वार पर आए बुद्ध के खाली हाथ लौट जाने का वर्णन है। पाँचवे सर्ग मे पश्चात्ताप करता हुआ नन्द बुद्ध के समीप जाता है। बुद्ध उसे बौद्धधर्म मे दीक्षित कर लेते है। छठे सर्ग मे पतिवियुक्ता सुन्दरी का करुण विलाप है। सातवे सर्ग मे नन्द की अपनी नवोढ़ा पत्नी के प्रति आसक्ति और उसके पास लौट आने की प्रबल उत्कंठा का वर्णन है। आठवें और नवें सर्ग मे एक श्रमण के द्वारा नन्द को उपदेश देने का वर्णन है। दशवे तथा ग्यारहवें सर्ग मे नन्द की आसक्ति दूर करने के उद्देश्य से बुद्ध योगविद्या के बल पर उसको आकाशमार्ग से उडाकर स्वर्ग ले जाते है। वहाँ की अप्सराओ को देखकर नन्द पत्नी-वियोग भूल बैठता है। बुद्ध उसे अप्सराओ को प्राप्त करने के लिए तपस्या का मार्ग बतलाते है। बारहवे सर्ग मे तपस्यारत नन्द को एक भिक्षु बताता है कि उसकी तपस्या के उद्देश्य की सर्वत्र निन्दा हो रही है। अनन्तर उसका कामुक मन बुद्धत्व की ओर उन्मुख होता है। उसके बाद तेरहवे सर्ग तक नन्द के प्रति बुद्ध के उपदेश का वर्णन है। अन्तिम दो सर्गो मे शान्त-प्रकृतिस्थ नन्द के समाधिस्थ स्वरूप का वर्णन हुआ है।

सौन्दरनन्द की पुष्पिका मे अश्वघोष ने कहा है कि उनका यह ग्रन्थ स्वान्त-सुखाय न होकर सासारिक विषय-भोगो मे आसक्त लोगो का ध्यान बौद्धधर्मानुकूल मोक्षमार्ग की ओर प्रेरित करने के लिए लिखा गया है—

"इत्येषा व्युपशान्तये न रतये मोक्षार्थगर्भा कृति
श्रोतॄणा ग्रहणार्थमन्यमनसा काव्योपचारात्कृता।

यन्मोक्षात्कृतमन्यदत्र हि मया तत्काव्यधर्मात्कृत
पातु तिक्तमिवौषध मधुयुत हृद्य कथ स्यादिति ।।"१

सौन्दरनन्द मे पूर्ववर्ती किसी काव्य का संकेत नही मिलता। अत प्रो० कीथ का मत है कि सौन्दरनन्द अश्वघोष की प्रथम रचना है, किन्तु अन्य विद्वान् इस मत के विरोध मे अनेक पुष्ट प्रमाण देते है। "सूत्रालकार" ग्रन्थ मे बुद्धचरित का नाम आया है, किन्तु सौन्दरनन्द का नाम नही मिलता। बुद्धचरित मे महायान का एक भी सिद्धान्त उपलब्ध नही होता, किन्तु सौन्दरनन्द के अन्तिम भाग मे कवि का महायान सिद्धान्तो से परिचित होना लक्षित होता है। शैली की दृष्टि से भी सौन्दरनन्द बाद की रचना जान पडता है। क्योकि इस महाकाव्य मे अश्वघोष के अत्यन्त परिष्कृत एवं प्राञ्जल शैली के दर्शन होते है।

शारिपुत्रप्रकरण—

यह नाटकग्रन्थ है। इसमे ९ अंक है। इसमे शारिपुत्र और मौद्गल्यायन के बौद्धधर्म मे दीक्षित होने की कथा वर्णित है। इसके कुछ अश ही प्राप्त है। प्रो० लूडर्स ने इसका उद्धार किया है। नाट्यशात्र के नियमानुसार प्रकरण के सभी अको से यह सुसज्जित है। यह "मृच्छकटिक" तथा "मालतीमाधव" की भाँति लिखा गया है। बुद्ध तथा उनके शिष्य सस्कृत मे बोलते है तथा विदूषक और अन्य हीन कोटि के पात्र प्राकृत भाषा का प्रयोग करते है।

महायानश्रद्धोत्पादसंग्रह[२]—

इसमे विज्ञानवाद और शून्यवाद का विकसित विवेचन है। अत तकाकुसु, विन्टरनिट्ज, राहुल साकृत्यायन, डॉ० राधाकृष्णन् आदि विद्वानो के अनुसार यह ग्रन्थ शून्यवाद के प्रथम आचार्य नागार्जुन (२०० ई०) तथा विज्ञानवाद के प्रथम आचार्य असग एव वसुबन्धु के पहले का नही हो सकता है। अतएव इस ग्रन्थ का रचयिता अश्वघोष दूसरा है, जो ४०० ई० के बाद हुआ होगा। इसके विपरीत डॉ० टी० सुजुकी आदि कुछ विद्वान् एक ही अश्वघोष को मानते है। उनके अनुसार नागार्जुन से भी पहले प्रथम शताब्दी ई० पूर्व मे विरचित शून्यवादी विचारधारा की प्रथम कृति—"अष्टसाहस्रिकाप्रज्ञापारमिता" के आधार पर महाकवि अश्वघोष ने "महायानश्रद्धोत्पादशास्त्र" की रचना की थी। चीनी परम्परा भी इसी मत का समर्थन करती है। यह ग्रन्थ अश्वघोष की महायान सम्बन्धी विचारधारा का प्रेरक रहा है।

---

१ सौन्दरनन्द १८/६२

2 "Discourse on the Avokening of Faith in the Mahayana", by T Suzuki, Chicago, 1900

वज्रसूची—

या "वज्रछेदिका" अथवा वज्रसूचिकोपनिषद्" मे वज्र की सूई की भाँति पैनी दृष्टि से वर्णभेद की समीक्षा की गई है। इसमे श्रुति, स्मृति, एव महाभारत के उद्धरणो को देकर वर्णव्यवस्था की कटु आलोचना की गई है। चीनी परम्परा के अनुसार यह अश्वघोषकृत नही, अपितु धर्मकीर्तिरचित है। इसकी शैली भी अश्वघोष की शैली से सर्वथा भिन्न है। तथापि राहुल जी इसे अश्वघोष की रचना मानते है।

गाण्डीस्तोद्र—

यह २६ श्लोकों की एक लघुकृति है। अधिकाश श्लोको का छन्द स्रग्धरा है। इत्सिंग (७०० ई०) तथा विन्टरनिट्ज के अनुसार यह अश्वघोष की रचना है, किन्तु अधिकाश विद्वान् इस मत को नही मानते है। शैली की दृष्टि से इसका अश्वघोष की कृतियो से कोई साम्य नही है। २०वें श्लोक के अनुसार यह ग्रथ कश्मीर मे लिखा गया, जबकि वहाँ का प्रबन्ध बिगड गया था।

सूत्रालकार[1]—

इस ग्रंथ के रचयिता के रूप मे अश्वघोष का नाम इत्सिग ने लिया है। किन्तु अब सामान्यत विद्वान् इस पर सहमत है कि यह अश्वघोष की रचना नही है। जातक की कोटि की कथाओ का सकलन इसमे है, जिसमे अश्वघोष की काव्य-शक्ति के दर्शन होते है।[2]

जातकमालाकार श्री आर्यशूर अश्वघोष के ऋणी है। जातकमाला मे ३४ जातको का सग्रह है। लगभग सभी कथाये पालिजातक पर आधारित है। इत्सिंग जातकमाला की प्रशसा करता है कि इसका उस समय बडा आदर था। अजन्ता की गुफाओ मे जातकमाला के दृश्य खचित है। आर्यशूर का समय चौथी शताब्दी है।

अवदान-साहित्य

अवदान (पालि=अपदान) शब्द की व्युत्पत्ति अज्ञात एव विवादयुक्त है। इसका प्रारम्भिक अर्थ असाधारण अद्भुत कार्य समझा गया। अनन्तर उदारचरित भी अवदान का अर्थ किया गया। महावस्तु को भी अवदान कहा गया है। अवदान-कथाओ का सबसे प्राचीन संग्रह "अवदानशतक" है। उसका चीनी अनुवाद तीसरी शताब्दी मे हुआ था। प्रत्येक कथा के अन्त मे यह निष्कर्ष दिया गया है कि शुक्ल

1—Trans Ed, Huees, Paris, 1908

2—' It is a collection of edifying legends of the Jataka type in which Ashwaghosh applies the resources of his poetic sprit to adorn the teachings of the faith "—Keith

—Buddhist Philosophy p 227

कर्म का शुक्ल फल, कृष्ण का कृष्ण तथा व्यामिश्र का व्यामिश्र फल होता है। अनेक अवदानो मे पिछले जन्म की कथा का वर्णन है जिसका फल प्रत्युत्पन्न काल मे मिला। किसी-किसी अवदान मे बोधिसत्त्व की कथा है, जिसे जातक भी कहा जा सकता है। कुछ अवदानो मे प्रत्युत्पन्न की कथा वर्णित कर भविष्यकाल का व्याकरण किया गया है।

अवदानशतक—

हीनयान का एक ग्रंथ है। सर्वास्तिवाद आगम के परिनिर्वाणसूत्र तथा अन्य सूत्रो के उद्धरण इसमे पाये जाते है। इसकी कथाओ मे ब्रह्मपूजा की प्रधानता है, किन्तु बोधिसत्त्व का उल्लेख नही मिलता है। अवदानशतक की कथाये अवदान के अन्य सग्रहो तथा कुछ पालि अवदानो मे भी मिलते है।

दिव्यावदान—

मूलत हीनयान का ग्रंथ है। यद्यपि इसके कुछ ग्रथ महायान से सम्बन्ध रखते है। इसकी विषयवस्तु मूल सर्वास्तिवाद के विनय से बहुत कुछ मिलती है। दिव्यावदान मे दीर्घागम, उदान, स्थविरगाथा आदि के उद्धरण प्राय मिलते है। इसमे विनय से अनेक अवदान शब्दश उद्धृत हुए है। कही-कही बौद्ध भिक्षुओ की चर्या के विषय भी दिये गए है। अधिकाश कथा सरल सस्कृत गद्य मे है। कुछ मे समासान्त पदो का प्रयोग-बाहुल्य है। दिव्यावदान की कई कथाये अत्यन्त रोचक है, जैसे उपगुप्त एव मार की कथा और कुणालावदान।

अवदानशतक की सहायता से अनेक अवदानमालाओ की रचना हुई है, यथा—"कल्पद्रुमावदानमाला," "अशोकावदानमाला"। "द्वाविंशत्यवदानमाला" भी अवदानशतक का ऋणी है। अवदानो के अन्य सग्रह "भद्रकल्पावदान" और "विचित्रकर्णिकावदान" है। इनमे से अधिकाश प्राय अप्रकाशित है। कुछ के केवल तिब्बती और चीनी अनुवाद मिलते है। क्षेमेन्द्र की "अवदानकल्पलता" भी उल्लेखनीय है। इस ग्रथ की समाप्ति १०५२ ई० मे हुई। इसमे १०७ कथाओ का सग्रह है। तिब्बत मे इस ग्रथ का बडा आदर है। क्षेमेन्द्र के पुत्र सोमेन्द्र ने ग्रन्थ की भूमिका तथा "जीमूतवाहन अवदान" नामक एक कथा अपनी ओर से जोड दी है।

महायानसूत्र

महायानसूत्र यद्यपि अनेक है, किन्तु उनमे महत्वपूर्ण नौ है—अष्टसाहस्रिका-प्रज्ञापारमिता, सद्धर्मपुण्डरीक, ललितविस्तर, लंकावतार, सुवर्णप्रभास, गण्डव्यूह, तथागतगुह्यक, समाधिकरण और दशभूमीश्वर। इन्हे नेपाल मे नवधर्म (धर्मपर्याय) कहते हैं। नेपाल मे इसकी पूजा होती है। इन्हे वैपुल्यसूत्र भी कहा गया है।

महायान के वैपुल्यसूत्रो मे दो प्रकार के ग्रन्थ पाये जाते है एक मे बुद्ध, बोधिसत्त्व तथा बुद्धयान की महत्ता का प्रतिपादन हुआ है। सद्धर्मपुण्डरीक, ललित-

विस्तर आदि ग्रन्थ इस प्रकार के है। दूसरे प्रकार के ग्रन्थ वे है जिनमे महायान के मुख्य सिद्धान्त "शून्यता" या प्रज्ञा की महत्ता बतलायी गई है। इस प्रकार का ग्रन्थ है—प्रज्ञापारमितासूत्र। इसमे एक ओर शून्यता तथा दूसरी ओर महाकरुणा—इन दो सत्यो के समन्वय का प्रयत्न किया गया है।

महायानसाहित्य मे प्रज्ञापारमितासूत्रो का महत्त्वपूर्व स्थान है। इन्हे आगमग्रन्थ भी कहा जाता है। इनकी सम्वादशैली प्राचीन है। अन्य महायानग्रन्थो मे बुद्ध प्राय किसी बोधिसत्त्व से सम्वाद करते है, किन्तु यहाँ सुभूति नामक स्थविर से उनकी बातचीत होती है। शून्यता के विषय मे प्रज्ञापारमितासूत्र ग्रन्थ मे सुभूति और शारिपुत्र—इन दो स्थविरो का सम्वाद बहुत ही तात्त्विक और गम्भीर है। सन् १७९ ई० मे उसका चीनी भाषान्तर हुआ था। अत ऐसा समझा जाता है कि ई० पूर्व मे इनकी रचना हुई होगी। नेपाली परम्परा के अनुसार मूल प्रज्ञापारमिता-सूत्र सवा लाख श्लोको का था, जो क्रमश घटकर लाख, पचीस हजार, दश हजार और आठ हजार श्लोको का सूत्र-ग्रन्थ बना। दूसरी परम्परा के अनुसार मूलग्रन्थ आठ हजार श्लोको का था, जिसे अष्टसाहस्रिकाप्रज्ञापारमिता कहा जाता है। उसी को बढाकर अनेक पारमिता ग्रन्थ बनाये गए। यह परम्परा अधिक ठीक प्रतीत होती है। सस्कृत मे निम्नलिखित प्रज्ञापारमितासूत्र ग्रन्थ उपलब्ध है—

१—शतसाहस्रिकाप्रज्ञापारमिता, ५—सप्तशतिकाप्रज्ञापारमिता,
२—पञ्चविंशतिप्रज्ञापारमिता, ६—वज्रच्छेदिकाप्रज्ञापारमिता,
३—अष्टसाहस्रिकाप्रज्ञापारमिता, ७—अल्पाक्षराप्रज्ञापारमिता,
४—सार्द्धद्विसाहस्रिकाप्रज्ञापारमिता, ८—प्रज्ञापारमिता हृदयसूत्र।

इन सबो मे अष्टसाहस्रिकाप्रज्ञापारमितासूत्र प्राचीनतम है।

अष्टसाहस्रिकाप्रज्ञापारमिता—

इस ग्रथ मे कुल बत्तीस 'परिवर्त्त' है। प्रथम परिवर्त्त का नाम "सर्वाकार-ज्ञताचर्या परिवर्त्त" है। "विराटप्रज्ञापारमिता" मे जिन विषयो की चर्चा बार-बार आती है, उनका साराश इसी परिवर्त्त मे आ गया है। व्यवहारसत्य और परमार्थ-सत्य के एकत्र निरूपण करने मे उत्पन्न कठिनाइयो का प्रत्यय यहाँ शारिपुत्र और सुभूति के संवाद मे मिलता है। बोधिसत्त्व, महासत्त्व, महायान आदि शब्दो के विभिन्न अर्थ इस परिवर्त्त मे बताये गए है। अद्वय-ज्ञान मे प्रतिष्ठित होना ही बोधिचर्या है तथा अद्वयज्ञान ही प्रज्ञा है—इस सिद्धान्त का प्रथम दर्शन स्पष्टत यहाँ होता है।

सद्धर्मपुण्डरीक[1]—

सद्धर्मपुण्डरीक महायान के वैपुल्यसूत्रग्रन्थो मे सर्वोत्कृष्ट है। इसके निदान-परिवर्त्त मे कहा गया है—

---

1 Ed. by H Kern and B Nanjio, B B X Petrograd, 1908 H, trans, S. B E XXX, ct J R A S 1916, P 269ff

"वैपुल्यसूत्रराज परमार्थनयावतारनिर्देशम् ।
सद्धर्मपुण्डरीक सत्त्वाय महापथं वक्ष्ये ॥"[1]

महायान की पूर्ण प्रतिष्ठा होने के बाद ही सम्भवत इस ग्रंथ की रचना हुई। सद्धर्मपुण्डरीक के नाम के विषय मे एम० अनिसाकी ने कहा है कि "पुण्डरीक" अर्थात् "कमल" शुद्धता और पूर्णता का चिह्न है। पक मे उत्पन्न होने पर भी जिस प्रकार कमल उससे लिप्त नही होता, उसी प्रकार इस लोक मे उत्पन्न होने पर भी बुद्ध उससे निर्लिप्त रहते है। इस ग्रंथ मे २७ अध्याय हैं, जिन्हे परिवर्त्त कहा गया है। इस ग्रंथ मे महायान धर्म के विशेष सिद्धान्तो का सामान्य विवेचन हुआ है। साहित्य की दृष्टि से भी यह एक उच्चकोटि का ग्रंथ है। इसमे अतिशयोक्ति का बाहुल्य है। इसकी शैली सक्षिप्त न होकर विस्तृत है। एक ही बात बार-बार दुहरायी गई है। यह ग्रंथ चीन, जापान आदि महायानधर्मी देशो मे बहुत पवित्र माना जाता है। चीनी भाषा मे मूल-ग्रथ के छ अनुवाद हुए। सबसे पहला अनुवाद सन् २२३ ई० मे हुआ। चीनी परम्परा के अनुसार इस ग्रंथ पर बोधिसत्त्व वसुबन्धु ने "सद्धर्मपुण्डरीकसूत्रशास्त्र" नाम की टीका लिखी थी, जिसका चीनी भाषा मे अनुवाद लगभग ५०८ ई० मे बोधिरुचि और रत्नमति ने किया था। चीन और जापान मे इसका कुमारजीवकृत अनुवाद अधिक लोकप्रिय है। सन् ६१५ ई० मे जापान के एक राजपुत्र शी-तोकु-ताय-शि ने इस पर एक टीका लिखी थी, जो आज भी बडे आदर से पढ़ी जाती है। सद्धर्मपुण्डरीक मे मिश्र-संस्कृत भाषा, स्तूपपूजा, बुद्धभक्ति का विशेष वर्णन देखकर यह अनुमान किया जाता है कि महावस्तु और ललितविस्तर के बाद प्रथम शताब्दी के आरम्भ मे इसकी रचना हुई है।

ललितविस्तर[2]—

महायानसूत्र ग्रंथो मे बहुत पवित्र माना जाता है। आरम्भ मे यह हीनयान के अन्तर्गत सर्वास्तिवादी निकाय का ग्रथ था। पीछे महायान के रूप मे परिणत और परिवर्द्धित हुआ। भूमण्डल पर भगवान् बुद्ध ने जो क्रीडा (ललित) की उसका वर्णन होने के कारण ग्रन्थ का नाम ललितविस्तर पडा। इसको महाव्यूह भी कहते हैं। भगवान् का तुषित लोक मे निवास, गर्भावक्रान्ति, जन्म, बालचर्या, सर्वमार-मण्डलविध्वसन इत्यादि विषयो का इसमे अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन है। २७वें परिवर्त्त मे महायान ग्रन्थो की परिपाटी के अनुसार ग्रन्थ के माहात्म्य का वर्णन है। यह ग्रंथ गद्यमय है। बीच-बीच मे गाथाएँ है, जो वस्तुत सुन्दर ग्राम्यगीत है। ललित-विस्तर मे पुरानी परम्परा के अनुसार बुद्धकथा वर्णित है। इससे बुद्धकथा के विकास का इतिहास ज्ञात होता है। साहित्य की दृष्टि से भी इसका बडा महत्त्व है। ललित-विस्तर मे सुरक्षित गाथा और उसके कथाशा के आधार पर ही अश्वघोष ने बुद्ध-

---

१. आचार्य नरेन्द्रदेव-बौद्धधर्म-दर्शन, पृ० १४२ मे उद्धृत।

2. Ed S Lalnam Halle a. s. 1902-8.

चरित नामक अनुपम महाकाव्य की रचना की थी। डॉ० एस० लेफमान ने ललित-विस्तर के प्रारम्भिक कुछ अध्यायो का अनुवाद सन् १८७५ मे र्वलिन से प्रकाशित किया था।

"बिब्लिओथिका इण्डिका" नामक ग्रंथमाला के लिए डॉ० राजेन्द्रलाल मित्र ने ललितविस्तर का अंग्रेजी अनुवाद तैयार किया था, जिनमे से १५ अध्यायो का अनुवाद सन् १८८१ से १८८६ ई० के बीच प्रकाशित हो सका। इन्होने मूल ग्रन्थ का भी एक सस्करण निकाला था। सम्पूर्ण मूल ग्रन्थ का सम्पादन डॉ० एस० लेफमान ने किया। इसका फ्रेच-अनुवाद फूको ने "एनल द मूसे गिमे"[1] मे प्रकाशित किया। तिब्बती भाषा मे इस ग्रन्थ का अनुवाद पाँचवी शताब्दी मे हुआ था। चीनी भाषा मे इसका अनुवाद ३०० ई० मे हुआ था।

लङ्कावतारसूत्र—

महायान बौद्धधर्म मुख्यत शून्यवाद और विज्ञानवाद नामक दो निकायो मे विभक्त है। लकावतारसूत्र विज्ञानवाद का मूल ग्रन्थ है। विज्ञान ही सत्य है। विज्ञान से भिन्न वस्तु की सत्ता नही है, यह इस वाद की मान्यता है। लकावतारसूत्र मे लकाधीश रावण को सद्धर्म का उपदेश वर्णित है। इस ग्रन्थ मे दस परिवर्त्त है। प्रथम परिवर्त्त मे राक्षसाधिपति रावण का बुद्ध से सम्भाषण है। बोधिसत्त्व महामति के कहने पर रावण भगवान् से धर्म और अधर्म के विषय मे प्रश्न करता है। द्वितीय परिवर्त्त मे बोधिसत्त्व महामति स्वय भगवान् से एक सौ प्रश्न पूछता है। प्राय सभी प्रश्न मूलसिद्धान्त से सम्बद्ध है। निर्वाण, ससार-बन्धन, मुक्ति, आलयविज्ञान, शून्यता आदि गम्भीर विषयो के बारे मे तथा चक्रवर्ती माण्डलिक, शाक्यवश आदि के बारे मे भी ये प्रश्न है। तृतीय परिवर्त मे कहा गया है कि बुद्ध के असख्य नाम है, कोई उन्हे तथागत कहते है, तो कोई स्वयंभू, नायक, विनायक, परिणायक, बुद्ध, ऋषि , वृषभ, ब्राह्मण, विष्णु, ईश्वर, प्रधान, कपिल, भूताक, भास्कर, अरिष्टनेमि, राम, व्यास, शुक, इन्द्र, बालि, वरुण आदि नामो से पुकारते है। उन्हे ही अनिरोधानुत्पाद, शून्यता, तथता, सत्य, धर्मधातु और निर्वाण की संज्ञा भी दी गई है। सातवें परिवर्त्त तक विज्ञानवाद के सूक्ष्म सिद्धान्तो की चर्चा है। अष्टम परिवर्त्त मे मास-भक्षण का निषेध है। हीनयान के विनयपिटक मे त्रिकोटि-परिशुद्ध मास का विधान है, किन्तु महायान मे मास-भक्षण वर्जित है। नवम परिवर्त्त मे अनेक धारणियो का वर्णन है। दशम परिवर्त्त मे ८८४ श्लोको मे विज्ञानवाद का विवेचन है, जो आगे के दार्शनिक विज्ञानवाद के लिए आधार स्वरूप है।

लकावतारसूत्र के तीन चीनी-अनुवाद हुए है—४३४ ई० मे गुणभद्र के द्वारा, ५१३ ई० बोधिरुचि के द्वारा एव ७००-७०४ ई० मे शिक्षानन्द के द्वारा।

---

१ जिल्द ६ और १६, पेरिस, सन् १८८४-१८९२ ई०।

इस ग्रथ का सम्पादन "बेनयिड नजिओ" ने क्वीटो (जापान) से १९२३ ई० में किया है। डॉ० सुजूकी ने इस पर विशेष अध्ययनपूर्ण ग्रन्थ लिखा है।

सुवर्णप्रभाससूत्र[1]

इसमे भगवान् के धर्मकाय की प्रतिष्ठा है अर्थात् बुद्ध का रूपकाय नही है और इसलिए भगवान् के धातु की वस्तुत उत्पत्ति नही है। इसके तीन चीनी अनुवाद उपलब्ध है—धर्मक्षेम (सन् ४१४-४३३ ई०) परमार्थ तथा उनके शिष्य (सन् ५५२-५५७ ई०) और इत्सिग (सन् ७०३ ई०), के द्वारा कृत अनुवाद। महायान देशो मे इस ग्रन्थ का वडा आदर है।

गण्डव्यूह—

वोधिसत्त्व की उपासना के अध्ययन मे इसका महत्त्वपूर्ण स्थान है। यह ग्रन्थ संस्कृत मे प्राप्य है। इसका प्रकाशन डॉ० सुजूकी ने सन् १९३४ ई० मे क्वीटो से किया था। यह ग्रन्थ चीनी अवतंसक से मिलता-जुलता है। भाषा, वर्णन-शैली और कथा की दृष्टि से यह ग्रन्थ अद्भुत है।

समाधिराजसूत्र—

इस सूत्र ग्रन्थ मे योगाचार की अनेक समाधियो का वर्णन है।[2] इसका दूसरा नाम चन्द्रप्रदीपसूत्र है।

दशभूमीश्वर—

इस महायानसूत्रग्रन्थ मे दश भूमियो का वर्णन है, जिनसे बुद्धत्व की प्राप्ति होती है। इस सिद्धान्त का पूर्वरूप महावस्तु मे मिलता है। दशभूमक इस सिद्धान्त का सबसे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ का चीनी अनुवाद धर्मरक्ष ने सन्२९७ ई० मे किया था।

अन्य सूत्रग्रन्थ

"कारण्डव्यूह" नामक महायानसूत्र मे बोधिसत्त्व की महिमा का वर्णन है। इसे गुणकारण्डव्यूह भी कहा जाता है। यह ग्रन्थ गद्य तथा पद्य दोनो मे मिलता है। पद्यकारण्डव्यूह मे आदिबुद्ध की कल्पना मिलती है। योगदर्शन की नित्यमुक्ति तथा सर्वज्ञ ईश्वर की कल्पना से यह मिलती-जुलती है। यह आदिबुद्ध जगत् का कर्ता है। प्रारम्भ मे "स्वयम्भू" या आदित्यनाथ नामक आदिबुद्ध प्रकट हुए और उन्होने समाधि से विश्व का निर्माण किया। उनके सत्त्व से अवलोकितेश्वर की उत्पत्ति हुई, जिसके शरीर मे देवो की सृष्टि हुई। कारण्डव्यूह मे अवलोकितेश्वर की महाकरुणा

1—Ed by Sarad Chandra, Calcutta, 1898.

के अनेक वर्णन है। वह सृष्टि का स्रष्टा भी है। उनका रूप विराट् है। उनकी आँखो से सूर्य और चन्द्र, भ्रू से महेश्वर, भुजाओ मे ब्रह्मा आदि देव, हृदय से नारायण, दन्त से सरस्वती, मुख से मरुत्, पैरो मे पृथ्वी और पेट से वरुण उत्पन्न हुए है। उसकी उपासना मे स्वर्ग की प्राप्ति होती है। इसमे तन्त्र एव मन्त्रो की भी चर्चा है।

"ॐ मणिपद्मे हुँ"—यह षडक्षर मन्त्र सर्वप्रथम कारण्डव्यूह मे मिलता है। इस मन्त्र को तिब्बत मे आज भी पूर्ण प्रतिष्ठा प्राप्त है। इस प्रकार इस ग्रन्थ मे आदिबुद्ध, स्रष्टा-बुद्ध तथा मन्त्र-तन्त्रों से सम्बन्धित बौद्ध-धर्म का और भक्तिमार्ग का दर्शन होता है। गद्यकारण्डव्यूह—सन् १८७३ ई० मे सत्यव्रत सामश्रमी के द्वारा प्रकाशित हुआ था। इसका तिब्बती अनुवाद सन् ६१६ ई० मे हुआ था।

"अक्षोभ्यव्यूह" एवं "करुणापुण्डरीक"—दो सूत्रग्रन्थो मे अनुक्रम से बुद्ध, अक्षोभ्य और पद्मोत्तर के लोको का वर्णन है। चतुर्थ शताब्दी के पहले इन दोनो ग्रन्थो का चीनी भाषा मे अनुवाद हुआ था।

"सुखावतीव्यूह" नामक महायानसूत्र मे बुद्ध-अभिताभ के सुखावतीलोक का वर्णन है। सुखावती बौद्धो का नन्दन-वन है। वहाँ बुद्ध-अमिताभ का राज्य है। जो व्यक्ति पुण्य-सम्भार का अर्जन कर मृत्यु के समय बुद्ध अमिताभ का चिन्तन करता है, वह इस लोक को (बुद्धलोक को) प्राप्त होता है। यहाँ नरक प्रेत, असुर आदि का अभाव है। यहाँ सदा दिन ही रहता है। यहाँ गर्भज-जन्म नही है। सभी सत्त्व कमलदल से उद्भूत है, पाप से सर्वथा विरत और प्रज्ञा से सयुक्त है।

संस्कृत मे इसके दो ग्रन्थ उपलब्ध है—एक दीर्घ, दूसरा संक्षिप्त। पहले का प्रकाशन और अंग्रेजी-भाषान्तर मैक्समूलर ने और दूसरे का फ्रेंच भाषान्तर जापानी विद्वानो ने किया।

"दीर्घसुखावतीव्यूह" के चीनी भाषा मे बारह अनुवाद हुए थे। इनमे से केवल पाँच आज चीनी त्रिपिटक मे प्राप्त होते है। सबसे पुराना भाषान्तर सन् १४७-१८६ ई० के बीच का है। सक्षिप्त सुखावतीव्यूह का चीनी भाषा मे अनुवाद कुमार-जीव, गुणभद्र आदि ने किया था।

"आर्यबुद्धावतंसक" मे बोधिसत्त्व की उपासना का परम प्रकर्ष मिलता है। इस नाम का एक बौद्धनिकाय छठी शताब्दी मे हुआ था। उसी का यह पवित्र ग्रन्थ है। अवतसकसूत्र मूल संस्कृत मे अब उपलब्ध नही है। चीनी परम्परा के अनुसार छ भिन्न-भिन्न अवतंसकसूत्र थे, जिनमे छत्तीस हजार से लेकर एक लाख गाथाओ का संग्रह है। इनमे से छत्तीस हजार गाथाओ का चीनी अनुवाद बुद्धभद्र ने अन्य भिक्षुओ के सहयोग से सन् ४१८ ई० मे किया था।

"काश्यप-परिवर्त्त" मे भगवान् बुद्ध का भिक्षुमहाकाश्यप से सम्बन्ध का वर्णन है। इसमे बोधिसत्त्वयान और शून्य का उल्लेख हुआ है। एक स्थल पर कहा

गया है कि तथागत से भी बोधिसत्त्व की पूजा अधिक फलदायक है। "हे काश्यप! जिस प्रकार प्रतिपदा के चन्द्र की विशेष पूजा होती है, पूर्णिमा के चन्द्र की विशेष पूजा नही होती, उसी प्रकार मेरे अनुयायियो को चाहिए कि वे तथागत से भी अधिक पूजा बोधिसत्त्वो की करे क्योकि तथागत बोधिसत्त्वो से ही उत्पन्न होते है।" काश्यप-परिवर्त्त का चीनी अनुवाद सन् १७८-१८४ ई० के बीच हुआ था।

परिपृच्छा ग्रन्थ

परिपृच्छा ग्रन्थ अनेक है जैसे, राष्ट्रपालपरिपृच्छा, उरगपरिपृच्छा, उदयन-वत्सराजपरिपृच्छा, चन्द्रोत्तरादारिकापरिपृच्छा, नैरात्म्यपरिपृच्छा आदि। इनका उल्लेख "शिक्षासमुच्चय" मे मिलता है। राष्ट्रपालपरिपृच्छा इन ग्रन्थो मे मुख्य है। इसमे दो परिवर्त्त हैं। पहला निदान-परिवर्त्त है, जिसमे आयुष्मान् राष्ट्रपाल को भगवान् बुद्ध का उपदेश मुख्यतया वर्णित है। द्वितीय परिवर्त्त मे पुण्यरश्मि नाम के राजकुमार की जातक कथा है। राष्ट्रपालपरिपृच्छा का चीनी अनुवाद सन् ५८५ और ५९५ ई० के बीच हुआ था। इसका प्रकाशन एल० फिनो ने सन् १९०१ ई० मे किया है।

नागार्जुन की कृतियाँ

नागार्जुन का समय लगभग १५० ई० माना जाता है। ये ब्राह्मण से बौद्ध हुए थे। अत बौद्ध-साहित्य के गम्भीर ज्ञान के साथ ब्राह्मण-साहित्य मे भी इनकी असाधारण गति थी। निम्नलिखित कृतिया आचार्य नागार्जुन की है—

१ माध्यमिककारिका, २ दशभूमिविभाषाशास्त्र, ३ महाप्रज्ञापारमिता-सूत्रकारिका, ४ उपायकौशल, ५ प्रमाणविध्वंसक, ६ विग्रहव्यावर्त्तिनी, ७ चतु स्तव, ८ युक्तिषष्ठिका, ९ शून्यतासप्तति, १० प्रतीत्यसमुत्पादहृदय, ११ महायानविंशक, १२ सुहृल्लेख।

इनमे विग्रहव्यावर्तिनी और माध्यमिककारिका ही मूल संस्कृत मे उपलब्ध है। शेष कृतियाँ चीनी तथा तिब्बती अनुवादो मे मिलती हे।

असङ्गविरचित ग्रन्थ

राहुलजी के अनुसार निम्नलिखित ग्रन्थ असंग के द्वारा रचित है—

१ महायानोत्तरतन्त्र, २ महायानसूत्रालंकार, ३ योगाचारभूमिशास्त्र, ४ वस्तुसंग्रहणी, ५ वज्रच्छेदिका-टीका।

ये ग्रन्थ राहुलजी को तिब्बती, चीनी और जापानी अनुवादो तथा वहाँ के हस्तलिखित ग्रन्थसंग्रहो मे प्राप्त हुए है। योगाचार भूमिशास्त्र और महायानोत्तरतन्त्र मूल संस्कृत मे भी तिब्बत मे मिले है। महायानसूत्रालंकार असंग और उनके गुरु मैत्रेयनाथ की संयुक्त रचना समझी जाती है। इनकी कारिकाये मैत्रेयनाथ की और

व्याख्या असग की है। बौद्धदर्शन मे असग की योगाचारभूमि को इतना महत्त्व प्राप्त हुआ कि तबसे विज्ञानवाद को योगाचार-दर्शन के नाम से कहा गया।

दिङ्नाग बौद्धन्याय के प्रतिष्ठापक माने जाते है। इन्होने लगभग एक सौ ग्रन्थो की रचना की, किन्तु उनमे से कुछ ही उपलब्ध है। उनके महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ हैं—प्रमाणसमुच्चयवृत्ति, न्यायप्रवेश, हेतुचक्रनिर्णय और प्रमाणशास्त्र-न्यायप्रवेश।

धर्मकीर्त्ति (सन ६७५-७०० ई०) के निम्नलिखित ग्रन्थ बतलाये जाते है। प्रमाणवार्त्तिक, प्रमाणविनिश्चय, न्यायबिन्दु, हेतुबिन्दु, सम्बन्धपरीक्षा, वादन्याय और सन्तानान्तरसूत्रसिद्धि। इनमे न्यायबिन्दु, हेतुबिन्दु और प्रमाणवार्त्तिक सस्कृत मे उपलब्ध है। इनके अतिरिक्त इन्होने प्रमाणवार्त्तिक और सम्बन्धपरीक्षा पर वृत्तियाँ भी लिखी थीं।

"चतु शतक' आर्यदेव का प्रसिद्ध ग्रन्थ है। ये नागार्जुन के शिष्य थे। इसमे चार सौ कारिकाये है। "चित्तशुद्धिप्रकरण" इनका दूसरा ग्रन्थ बताया जाता है। इसके कुछ ही अश मिले है। "सृष्टिप्रकरण" नामक एक ग्रन्थ भी आर्यदेवरचित ही समझा जाता है जिसके सस्कृत पाठ का निर्माण टामस ने चीनी और तिब्बती अनुवादो की सहायता से किया।

"बोधिचर्यावतार", "शिक्षासमुच्चय" तथा "सूत्रसमुच्चय" के रचयिता के रूप मे शान्तिदेव (७वी शताब्दी) का नाम तारानाथ ने दिया है। बोधिचर्यावतार निर्विवादरूप मे शान्तिदेव की कृति है। इसका सर्वप्रथम प्रकाशन रूसी विद्वान् आई० पी० मिनाएव ने जापेस्की मे किया था। बाद मे हरप्रसाद शास्त्री ने बुद्धिस्ट टेक्स्ट सोसाइटी के जर्नल मे प्रकाशित किया था। प्रज्ञाकरमति ने बोधिचर्यावतार पर "पञ्जिका" नामक टीका लिखी है, जिसका प्रकाशन फ्रेच अनुवाद के साथ लावली पूसे के द्वारा बिब्लिओथिका इन्डिका मे सन् १९०२ ई० मे हुआ था। "शिक्षासमुच्चय" की जो हस्तलिखित प्रति प्राप्त हुई है, उसमे ग्रन्थकार का नामोल्लेख नही है। किन्तु तंजोर-इन्डेक्स ३१ मे इसके रचयिता के रूप मे शान्तिदेव का नाम आया है। महायान धर्म के विद्वान् दीपकर श्री ज्ञान (अतीश) भी इस ग्रन्थ को शान्तिदेव की ही कृति समझते थे। "बोधिचर्यावतारपञ्जिका" मे प्रज्ञाकरमति ने भी शिक्षासमुच्चय का कर्त्ता शान्तिदेव को ही माना है।[1] इसका तिब्बती भाषा मे अनुवाद सन् ८१६ और ८३८ ई० के बीच जिनमित्र और एक तिब्बती पण्डित ज्ञानसेन के द्वारा हुआ था। इससे प्रतीत होता है कि मूलपुस्तक सन् ८०० ई० से पूर्व लिखी गई।" शिक्षा-समुच्चय" का प्रकाशन सी० वेण्डल द्वारा सेण्ट पीटर्स बर्ग

१—"शिक्षासमुच्चयोऽपि स्वयमेभिरेव कृत। तदा नानासूत्रैकदेशाना वा समुच्चय एभिरेव कृत ॥

—बोधिचर्यावतारपञ्जिका—५/१०५, १०६।

की रूसी बिब्लिओथिका बुद्धिका ग्रन्थमाला मे सन् १८८७ ई० मे हुआ। इसका दूसरा सस्करण सन् १९०२ ई० मे हुआ। सी० वेण्डल तथा डब्ल्यू० एच० डी० राउज द्वारा इसका अंग्रेजी अनुवाद सन् १९२२ ई० मे इण्डियन टेक्स्ट सीरिज मे प्रकाशित हुआ है।

"सूत्रसमुच्चय" ग्रन्थ शान्तिदेव की रचना है अथवा नागार्जुन की, इस विषय मे पर्याप्त विवाद है, किन्तु वास्तविकता यह है कि इस ग्रन्थ की कोई प्रति उपलब्ध नही है, जिसके आधार पर सही निर्णय किया जा सके।

आठवी शताब्दी मे शान्तरक्षित ने "तत्त्वसंग्रह" नामक ग्रन्थ की रचना की थी। इस ग्रन्थ मे स्वातान्त्रिक योगाचार की दृष्टि से बौद्ध तथा अन्य दार्शनिक मतो का खण्डन है। इस ग्रन्थ का प्रकाशन कमलशील की टीका के साथ बडौदा से हुआ है।

---

२. त्रिपिटक और जातक

बौद्धो के आगम ग्रन्थ पालि एवं सस्कृत दोनो ही भापाओ मे प्राप्त होते है। पालि भाषा मे लिखित ग्रन्थ अपेक्षाकृत अधिक प्राचीन एवं प्रामाणिक माने जाते है। इन्हे "बुद्धवचन" भी कहा गया है। इन ग्रन्थो को दो वर्गो मे रखा जा सकता है — धर्मविपयक ग्रन्थ और व्याकरण आदि शास्त्रीय विषयक ग्रन्थ। धर्मग्रन्थो को त्रिपिटक (तिपिटक) शब्द से अभिहित किया जाता है।

त्रिपिटको मे भगवान् बुद्ध के बुद्धत्व (ज्ञान) प्राप्त करने मे लेकर निर्वाण (मोक्ष) प्राप्त करने तक के समस्त उपदेशो का सग्रह है।

भगवान् बुद्ध के उपदेश लिखित एव सगृहीत नही थे। उनके परिनिर्वाण के पश्चात् उनके प्रधान शिष्य महाकश्यप ने इस आवश्यकता का अनुभव किया कि प्रमुख भिक्षुओ की एक बैठक आयोजित हो, जिसमे बुद्धवचन का प्रामाणिक सग्रह कर लिया जाय। इससे धर्म की सुरक्षा हो सकेगी तथा भविष्य मे उसकी परम्परा अबाधगति से चलती रहेगी।[1] तदनुसार उन्होने उक्त बैठक मे भाग लेने के लिए पाँच सौ श्रेष्ठ भिक्षुओ को आमन्त्रित किया। तत्कालीन मगध सम्राट अजातशत्रु ने सभा की सारी व्यवस्था की। राजगृह के "बेभार" पर्वत के उत्तरपार्श्व मे स्थित "सत्तपण्णी" गुहा के द्वार पर निर्मित विस्तृत रम्य-मण्डप मे सभा का कार्य सम्पन्न हुआ। बुद्ध के तीन मुख्य शिष्य थे, जिन्होने उनके उपदेशो को यथावत् स्मरण रखा था। वे शिष्य थे—उपालि, आनन्द और महाकश्यप। उक्त सभा मे उपालि से पूछ कर विनय सम्बन्धी नियमो का, आनन्द से पूछकर अभिधम्म का तथा महाकश्यप से पूछकर सुत्तपिटक का सग्रह किया गया।

भगवान् बुद्ध के महापरिनिर्वाण के लगभग एक सौ वर्ष बाद विनय के कुछ नियमो को लेकर भिक्षुओ मे महान विवाद उठ खडा हुआ, जिसके परिणामस्वरूप एक दूसरी संगीति का आयोजन वैशाली मे हुआ। देश के सुदूर प्रान्तो के सात सौ विख्यात भिक्षु इसमे सम्मिलित हुए। इसी कारण यह सगीति "सप्तशतिका" नाम से प्रसिद्ध हुई। इसमे पिटको, निकायो, अगो तथा धम्मखन्ध आदि के नवीन संस्करण किए गए।

1—B J K,—Khuddaka Vol VI—Introduction—P. V 6

"The venerable Maha Kassapa felt an urgent need for convening a Grand Council of leading Elders of the sangh to make a full collection of the teachings, and also to adopt maans for their right preservation and transmission to Posterity"

इसके एक सौ वर्ष बाद सम्राट् अशोक का आश्रय पाकर बौद्ध धर्म अत्यन्त आदरणीय बन गया। फलत अनेक अन्य धर्मावलम्बी लोग या तो अन्त करण से या आदर पाने की अभिलाषा से पीला वस्त्र धारण कर भिक्षु बन गए, किन्तु अपने पुराने सस्कार और विचारो से छुटकारा पाना उनके लिए सरल नही हुआ। अत उन्होने अपने-अपने ढग मे धर्म की उलट-पलट व्याख्या करनी आरम्भ कर दी। फलत भिक्षु-सघ का बौद्धिक जीवन उच्छृखल होने लगा तथा धर्म के वास्तविक स्वरूप का निर्णय कठिन हो गया। ऐसी स्थिति मे बौद्ध-धर्म के नायक स्थविर भिक्षुओ ने धर्म की शुद्धता को अक्षुण्ण रखने तथा उमे विरोधीतत्त्वो से बचाने के लिए एक तीसरी सगीति का आयोजन पाटलिपुत्र के "अशोकाराम" नामक विहार मे किया। सम्राट अशोक के गुरु "मोग्गलिपुत्त तिस्स" ने इसकी अध्यक्षता की। इसमे अशुद्ध मतो का खण्डन करते हुए मौलिक परम्परा से मान्य स्थविरवाद नामक धर्म के स्वरूप का प्रतिपादन करते हुए "कथावत्थु" नामक ग्रन्थ की रचना की गयी, जो त्रिपिटक-साहित्य का एक अमूल्य ग्रन्थरत्न माना जाता है। तृतीय संगीति के पश्चात् सम्राट अशोक ने सूदूर देशो मे बौद्ध धर्म के प्रचार के लिए धर्मदूतो को भेजा। इसी क्रम मे उनके पुत्र राजकुमार महेन्द्र तथा पुत्री राजकुमारी संघमित्रा के द्वारा त्रिपिटक साहित्य लंका की भूमि मे पहुँचा। अब तक यह साहित्य गुरुशिष्य-परम्परा से ही सुरक्षित रह रहा था। इसे सर्वप्रथम लिपिबद्ध कर पुस्तक का रूप देने का कार्य लका मे २८० ई० पू० मे राजा "वट्टगामिनि अभय" के संरक्षण मे चतुर्थ सगीति मे किया गया।[1]

इसके बाद सन् १८७१ ई० मे बर्मा देश के माण्डले (Mandla.) नामक नगर मे "राजा मिण्डन (Mindon) के सरक्षण मे पाँचवी-सगीति का आयोजन हुआ, जिसमे सम्पूर्ण पालि-त्रिपिटक का सशोधन तथा नवीन सस्करण प्रस्तुत किया गया और उन्हे अतिम रूप देकर सगमर्मर की पट्टियो पर निम्नलिखित रूप मे उत्कीर्ण कर दिया गया।[2]

विनय—१११ पट्टियाँ (Stables)

सुत्त—४१० पट्टियाँ (Stables)

अधिधम्म—२०८ पट्टियाँ (Stables)

आधुनिक युग मे त्रिपिटक के मुद्रित सस्करण की आवश्यकता का अनुभव बर्मा के "छट्ठ-सघायन" (The Sixth Great Council) मे किया गया। इस बैठक का आयोजन रगून से कुछ ही दूर स्थित एक सुन्दर कृत्रिम पाषाण गुहा मे हुआ, जिसमे ससार के विभिन्न देशो के ढाई हजार विद्वान भिक्षु सम्मिलित हुए थे। बैठक का प्रारम्भ १७ मई १९५४ ई० को हुआ था। बैठक मे त्रिपिटक के

१—महावश, अध्याय (X-XXIII)

२—बौद्धधर्म के २५०० वर्ष, १९५६, पृ० ३५

मूलरूप की स्वीकृति मिलने ही वही एक स्वतत्र मुद्रणालय की स्थापना कर दी गई और मुद्रण कार्य प्रारम्भ कर दिया गया। दो वर्षो तक निरन्तर कार्य कर मई १९५६ ई० मे २५०० वी बुद्धजयन्ती के दिन संघायन की बेठक समाप्त हो गई। लका, वर्मा, थाइलेण्ड और कम्बोडिया के लोगो का प्रधान धर्म बौद्ध स्थविरवाद है, जिसका सर्वमान्य ग्रन्थ हे त्रिपिटक। इन देशो मे समय-समय पर अपनी-अपनी लिपियो मे त्रिपिटक के सुन्दर से सुन्दर सस्करण प्रकाशित होते रहे है। लदन की पालि-टेक्स्ट-सोसाइटी ने रोमन लिपि मे इसे प्रकाशित किया है। भारत मे केन्द्रीय तथा बिहार सरकार के सयुक्त सहयोग से नालन्दा के 'देवनागरी-त्रिपिटक-प्रकाशन विभाग'' को सम्पूर्ण पालि-त्रिपिटक का एक प्रामाणिक देवनागरी-सस्करण प्राय चार-चार सौ पृष्ठो के चालीस खण्डो मे प्रकाशित करने की योजना पूरी हो चुकी है। त्रिपिटक है—

(१) विनयपिटक—अनुशासनविषयक
(२) सुत्तपिटक (सूत्रपिटक)—उपदेशात्मक
(३) अभिधम्मपिटक (अभिधर्मपिटक)—मनोवैज्ञानिक।

विनयपिटक

भिक्षुओ के आचरण का नियमन करने के लिए भगवान् बुद्ध ने जो नियम बनाये, वे ''पातिमोक्ख' (प्रतिमोक्ष) कहलाये। इन्ही नियमो की चर्चा विनयपिटक मे है। इसी के आधार पर सघ के सभी भिक्षु-भिक्षुणी दिन-प्रतिदिन कार्य करत थे। पातिमोक्ख का माहात्म्य बतलाते हुए स्वय भगवान् बुद्ध ने कहा था कि उनके न रहने पर भी प्रतिमोक्ष और शिक्षापदो के कारण भिक्षुओ को अपने कर्त्तव्य का ज्ञान होता रहेगा और इस प्रकार संघ स्थायी होगा[१]। प्रतिमोक्ष के अत्यधिक महत्त्व के कारण त्रिपिटको मे विनयपिटक का स्थान सर्वप्रथम हे। इसके तीन भाग है—सुत्त विभग इसका प्रथम भाग हे, जो वस्तुत २७ नियमो का विधान करने वाले सुत्तो (सूत्रो) की व्याख्या हे। इसके ''पाराजिक'' तथा ''पाचित्तिय'' विभाग है। विनयपिटक का दूसरा भाग खन्धक कहलाता ह। ''महावग्ग'' और ''चुल्लवग्ग'' ये दोनो खन्धक मे समाविष्ट है। महावग्ग म प्रव्रज्या, उपोसथ, वर्षावास, प्रवारणा आदि से सम्बन्ध रखने वाले नियमो का सग्रह हे। चुल्लवग्ग मे भिक्षु के पारस्परिक व्यवहार और सघाराम सबधी भिक्षुणियो के विशेप आचार का सग्रह हे। भगवान बुद्ध की साधना का रोचक वर्णन महावग्ग मे आता है ओर उनकी जीवन-कथा का यह भाग ही प्राचीनतम प्रतीत होता है। महावस्तु और ललितविस्तर मे इसी प्रकार का वर्णन पाया जाता है। विनयपिटक का अंतिम भाग ''परिवार'' है, जो बाद का बना हुआ प्रतीत होता है। इसमे वैदिक अनुक्रमणिकाओ की तरह कई प्रकार की सूचियो का समावेश हे।

---

१ आचार्य नरेन्द्रदेव—बौद्ध धर्म-दर्शन, पृ० ३०

सुत्तपिटक (सूत्रपिटक)

सुत्तपिटक मे "धम्म" के सम्बन्ध मे भगवान् बुद्ध के द्वारा समय-समय पर दिये गये उपदेशो एवं दृष्टान्तो का संग्रह है। इसके पाँच बडे विभाग है, जो "निकाय" के नाम से प्रसिद्ध है—

१ दीघ-निकाय, २ मज्झिम-निकाय, ३ संयुत्त-निकाय, ४ अगोत्तर-निकाय, ५ खुद्दक-निकाय

दीघनिकाय[1] (दीर्घनिकाय) मे चौतीस सुत्त (सूत्र) है। वे सुत्त लम्बे है। अत एव दीघ या दीर्घ कहे गये है। इनके तीन मुख्य भाग है—"शीलखन्ध", "महावग्ग" तथा "पटिकवग्ग"। "महापरिनिब्बानसुत्त" भी दीघनिकाय के अतर्गत है। इनमे शील, समाधि और प्रज्ञा का विस्तृत तथा रोचक वर्णन है। दीघनिकाय के प्रथम "ब्रह्मजालसुत्त" मे तत्कालीन धार्मिक और दार्शनिक मन्तव्यो का जो सग्रह है, वह भारतीय दर्शनो के प्राचीन इतिहास की सामग्री की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। दूसरे "सामञ्ञफलसुत्त" मे भगवान् बुद्ध के समकालीन धर्मोपदेशको के मन्तव्यो का वर्णन है। वर्ण-धर्म-व्यवस्था के विषय मे बुद्ध का मन्तव्य तीसरे "अम्बट्ठसुत्त" मे सगृहीत है, जो प्राचीन भारतीय समाज-व्यवस्था का अच्छा चित्र प्रस्तुत करता है। पाँचवे "तेविज्जसुत्त" मे वैदिक धर्म के विषय म बुद्ध के कटाक्षो एवं यज्ञो के प्रति उनके विरोधो का संग्रह करके बुद्ध की दृष्टि मे यज्ञ कैसे करना चाहिए, इसका वर्णन किया गया है। इसी प्रकार के कई सुत्त दीघ-निकाय मे है, जो तत्कालीन धार्मिक सामाजिक और दार्शनिक परिस्थिति के हमारे ज्ञान मे वृद्धि करने के साथ ही तत्तद्विषय मे बौद्ध मन्तव्य को भी स्पष्ट करते है।

"मज्झिमनिकाय"[2] (मध्यमनिकाय) मे मध्यम आकार के १५२ सुत्तो (सूत्रो) का सग्रह है। दीघनिकाय की तरह इन सूत्रो मे भी बुद्ध के उपदेशो के ऊपर सम्वादो का सग्रह है। इसमे चार आर्यसत्य, निर्वाण, कम्मं, सत्कार्यदृष्टि, आत्मवाद, ध्यान आदि अनेक विषयो की चर्चा है और बौद्ध धर्म के मन्तव्य का भी स्पष्टीकरण है। इसके "अस्सलायनसुत्त" मे वर्ण-व्यवस्था के दोष बताये गये है और तत्कालीन भारत की सामाजिक परिस्थिति का सुन्दर चित्रण किया गया है। दृष्टान्त, कथा और उपमा के द्वारा कर्त्तव्य को हृदयगम करने की शैली इस निकाय-ग्रन्थ की अपनी विशेषता है। आख्यान की शैली मे अगुलिमाल की कथा ८६वे सुत्त मे रोचक ढंग से कही गई है। वह एक भयकर डाकू था, किन्तु भिक्षु बन गया और निर्वाण को भी प्राप्त हो गया। जातक की शैली की भी कई कथाये इसमे सगृहीत है—जैसे सुत्त ८२ और ८३ मे। इसके अतिरिक्त बुद्ध के कई प्राचीन शिष्यो के

1 Ed. by Trencknen, Pub by P T S. London Vol I, 1887

2 Ed by R Rys Davids & J E Carpenter Pub. by P T. S London, Vol, 1, 1889

विषय मे भी ज्ञातव्य सामग्री इसमे सगृहीत है। इसके प्रसिद्ध महापरिनिव्वाणसुत्त मे बुद्ध के निर्वाण काल का चित्र उपस्थित किया गया है। इस निकाय के अध्ययन से हमारे समक्ष बुद्ध-कालीन भारत का चित्र स्पष्ट होता है।

सयुत्त-निकाय[1] (सयुक्तनिकाय) सुत्तपिटक का तृतीय विभाग है, जो दीघ-निकाय तथा मज्झिम-निकाय का अनुगमन करता है। यह सयुक्त अथवा परस्पर मिलित सूत्रो का सग्रह है।[2] पालि शब्द "संयुत्त" (जो निस्सन्देह संस्कृत "सयुक्त" का रूपान्तर है) का अर्थ है एकत्रित अथवा परस्पर मिले हुए।

संयुत्तनिकाय मे ५५ सूत्र-समूहो का संग्रह है, जिन्हे संक्षेप मे "सयुत्त" कहा जाता है।[3] इनमे विविध विषयो का विवेचन है। जैसे "देवता सयुत्त" मे देवताओ के वचनो का सग्रह है। "मार-सयुत्त" मे बुद्ध को चलित करने के लिए मार के प्रयत्नो का संग्रह है। "भिक्खुणी-सयुत्त" मे भिक्षुणियो को चलित करने के लिए किये गये मार के प्रयत्नो का वर्णन है। "अनन्त-मग्ग मयुत्त" मे संसार की अनादिता और उमके भयंकर दु ख वर्णित है। "ध्यान-सयुत्त" मे ध्गान का वर्णन है। "मातुगाम-संयुत्त" मे नारी के गुण-दोप तथा उसके फलाफल का वर्णन है। "सत्त-सयुत्त" मे बुद्ध के प्रति इन्द्र की भक्ति का निदर्शन है। अतिम "सच्च सयुत्त" मे चतुरार्य-सत्य की विवेचना की गई है। काव्य की दृष्टि से भी इस ग्रन्थ मे पर्याप्त सामग्री है। महाभारत के यक्ष-युधिष्ठिर सवाद की तरह इसमे भी यक्ष-बुद्ध का रोचक सवाद है। लोक-कविता का अच्छा सग्रह मार और भिक्खुणी-सयुत्त मे मिलता है। इन सयुत्तो के आकार मे पर्याप्त असमानता है। कोई दश ही सूत्रो का है, तो कोई अनेक अध्यायो का। सुत्तो (सूत्रो) की लम्बाई मे भी एकरूपता नही है। इनमे कुछ सुत्त अत्यन्त छोटे है जब कि शेप बहुत बडे। किन्तु कुल मिलाकर

---

1 Ed by M I Feer-Vols I-V & by Mrs Rhys Davids-Vol VI Pub. For P T S London by Henery Prowde Oxford University Press, Ware House, Amen Corner, E C 884-1904

2 The Samyutta Nikaya is the third section of the Sutta-Pitak, Forming a sequel to the Digha-Nikaya (Compilation of the long Suttas), and to the Majjhim Nikaya (Compilation of the Middle Suttas) It is the "Compilation of the joined or connected Suttas"
—Samyutta Nikaya of the Sutta Pittak—M L Feer, Vol I Int P VIII

3 "The Samyutta-Nikaya consists of 55 groups of suttas, which are precisely the Samyuttas"—M L Feer Intr. of Samyutta Nikaya, Vol I P VIII

इस संग्रह मे अत्यन्त बडे सूत्रो का सर्वथा अभाव है। सम्पूर्ण सग्रह अर्थात् ५५ संयुक्तो को पॉच बडे विभागो मे विभक्त कर दिया गया है, जो "वग्ग" कहलाते है। सगाथ-वग्गो, निदान-वग्गो, खन्धवग्गो, सलायतनवग्गो एवं महावग्गो। प्रत्येक वग्ग ६ से १३ (औमतन ११) संयुत्तो का है।[1]

"अंगुत्तरनिकाय"[2] मे ३३०८ सुत्त है और उनमे एक वस्तु से लेकर ग्यारह वस्तुओ का समावेश क्रमश किया गया है। प्रथम निपात मे एक क्या-क्या है, यही गिनाया गया है। इसी प्रकार ग्यारहवे निपात मे ग्यारह-ग्यारह वस्तुओ का सग्रह किया गया है। इसमे विषय-वैविध्य होना स्वाभाविक है।

"खुद्दक-निकाय" (क्षुद्र-निकाय) सुत्तपिटक का पंचम तथा अतिम निकाय है। इसमे छोटे-छोटे सुन्दर उपदेशो का संग्रह है, जिनका विस्तृत विवेचन इस अध्याय के अन्त मे समाविष्ट है।

सामान्यत सुत्त-पिटक के सूत्र गद्य मे है। कुछ विद्वानो की ऐसी धारणा है, कि सुत्त-पिटक का प्रादुर्भाव विक्रमाब्द से २५० वर्ष पहले हो चुका था।[3]

अभिधम्मपिटक—

अभिधम्मपिटक के संग्रह का श्रेय काश्यप को दिया जाता है। भगवान् बुद्ध के उपदेशो के आधार पर आध्यात्मिक दृष्टि के द्वारा बौद्ध दार्शनिक विचारो की व्यवस्था इस पिटक मे है। यह सुत्तपिटक का ही दार्शनिक प्रतिरूप है। जो बाते वहॉ पंच-निकाओ मे भगवान् के प्रवचन रूप मे कही गई है, उन्ही को यहॉ शास्त्रीय रूप दिया गया है। इस पिटक के सात विभाग है—

१ धम्मसंगणि, २ विभंग, ३ धातु-कथा, ४ पुग्गल-पञ्ञति ५ कथा-वत्थु ६ यमक, ७ पट्ठान

"धम्म-संगणि"[4] मे धर्मा का वर्गीकरण और उनकी व्याख्या की गई है। "विभंग" मे उन्ही धर्मो के वर्गीकरण का विस्तृत विवेकन किया गया है। धातुओ का प्रश्नोत्तर रूप मे व्याख्यान "धातु-कथा"[5] मे है। "पुग्गल-पञ्ञति"[6] (पुद्गल-

---

1 M L Feer Intr of the Samyutta-Nikaya Vol -I, P VIII—"Each of the five Vaggos contains from nine to thirteen, on an average eleven Samyuttas, their respective length somewhat differs"

2. Ed by Morris Vol I-IV P T S London, 1885-88

3 श्री बटुकनाथ शास्त्री—पालि-जातकावलि, भू० पृ० ६।

4 Ed by Muller, P T S London, 1885.

5 Ed by Gooneratna, P T S. London, 1892

6 Ed. by Morris, P T. S. London, 1883,

प्रज्ञप्ति मे मनुष्यो का विविध रूपो मे निर्देश किया गया है। अगोत्तर-निकाय के ३-५ निपात के साथ इसका अधिक साम्य है। इसमे गुणो के आधार पर मनुष्यो का विविध रीति से वर्गीकरण किया गया है। "कथावत्थु"[1] (कथावस्तु) का महत्त्व बौद्धधर्म के विकास के इतिहास के लिए अत्यधिक है। "यमक" मे प्रश्नो का उत्तर दो प्रकार से किया गया है। और "कथावत्थु" तक के ग्रन्थो से जिन शकाओ का समाधान नही हुआ उनका वर्णन इसमे किया गया है।' पट्ठान' (प्रस्थान) को मध्यप्रकरण भी कहते है। इसमे नाम और रूप के २४ प्रकार के काय-कारण-भाव सम्बन्ध की चर्चा है और प्रतिपादन किया गया है कि केवल निर्वाण ही असस्कृत है तथा शेष सब धर्म सस्कृत है।

कुछ लोगो का कहना है और बुद्ध के चरित से उचित भी प्रतीत होता है कि बुद्ध के वचन साक्षात् या परम्परा रूप मे प्रथम दो (विनय और सुत्त) पिटको मे पाये जाते है। उन्होने आध्यात्मिक उपदेश तो दिया ही नही, फिर उनके आध्यात्मिक वचनो के सग्रह (अभिधम्मपिटक) का होना ठीक नही प्रतीत होता। जान पडता है कि अभिधम्मपिटक के विषयो का सग्रह उनके शिष्यो का है। जो कुछ भी हो, इतना तो निर्विवाद है कि यह बौद्धमत का प्रसिद्ध सग्रह है।

खुद्दक-निकाय सुत्तपिटक के पञ्चनिकायो मे अन्यतम है। इसमे निम्नलिखित ग्रन्थ पाये जाते है—

(१) खुद्दकपाठ—बौद्धधर्म मे प्रवेश पानेवालो के लिए ज्ञातव्य-विषयो का इसमे सग्रह है, जैसे—त्रिशरण, दशशिक्षापद, उरशरीर के अवयवो का सग्रह, एक से दश तक की ज्ञेय वस्तुओ का सग्रह आदि।

(२) धम्मपद (धर्मपद)—यह बौद्ध-ग्रन्थो मे सर्वाधिक प्रसिद्ध है। इसमे नैतिक उपदेशो का सग्रह है।

(३) उदान[2]—धम्मपद मे एक विषय की निरूपक अनेक गाथाओ का सग्रह वग्गो मे किया गया है, जबकि उदान मे एक ही विषय का निरूपण करनेवाली अल्प-सख्यक गाथाओ का सग्रह है। प्रारम्भिक दो चार गाथाओ मे बुद्ध का मन्तव्य व्यक्त किया गया है।

(४) इतिवुत्तक[3] (इतिवृत्तक)—भगवान ने ऐसा कहा, इस मन्तव्य से जिन गाथाओ और गद्याशो का संग्रह किया गया है, वह इतिवुत्तक ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ मे उपमा का सौन्दर्य और कथन की सरलता दर्शनीय है।

---

1 Ed by A C Taylor, P. T S London 1895

2 Ed by Steinthal, P T S, London, 1885

3. Ed by Windisch, P T S, London, 1890

(५) सुत्तनिपात[1] (सूत्रनिपात) मे भगवान बुद्ध के प्राचीनतम उपदेशो का संग्रह है।

(६) विमानवत्थु[2] (विमानवस्तु) मे देवयोनि का वर्णन है।

(७) पेतवत्थु[3] (प्रेतवस्तु) मे प्रेतयानि का वर्णन है।

(८-९) थेरगाथा और थेरीगाथा[4] (स्थविर गाथा और स्थविरागाथा)—इन दो ग्रन्थो मे बौद्धभिक्षु और भिक्षुणियो की उल्लासपूर्ण गीतात्मक उक्तियाँ है। इनमे आध्यात्मिक परिशुद्धि, आत्मविजय ओर परमशान्ति की ध्वनि गूँजती है। ये दोनो ग्रन्थ लोककविता के सुन्दर नमूने हैं।

(१०) जातक—इसका विवेचन इसी अध्याय मे आगे प्रस्तुत है।

(११) निद्देस—इसके दो भाग है—"महानिद्देश" और "चुल्ल निद्देस"[5]। विषयवस्तु एव शैली की दृष्टि मे ये त्रिपिटक के अन्य ग्रन्थो से नितान्त भिन्न हैं। वस्तुत इन्हे "अट्ठकथा-साहित्य" (टीकाग्रन्थ) के अन्तर्गत रखा जाना चाहिए, न कि पालिसाहित्य के मौलिक ग्रन्थ के अन्तर्गत, क्योकि ये सुत्तनिपात के अंतिम दो अध्यायो—"अट्ठक वग्ग" तथा "पारायनवग्ग" के भाष्यमात्र है।

(१२) "पटिसंभिदामग्ग" मे प्राणायाम, ध्यान, कर्म, आर्यसत्य, मैत्री आदि विषयो का निरूपण है।

(१३) अपदान (अवदान)—जातक मे भगवान बुद्ध के पूर्व जन्मो के सुचरितो का वर्णन है, तो अवदान मे अर्हतो के पूर्वजन्म के सुचरितो का।

(१४) बुद्धवंसो[6]—इसमे गौतमबुद्ध से पहले होने वाले बुद्धो के जीवनचरित वर्णित है, जिनसे बोधिसत्त्व का साक्षात्कार हुआ था तथा जिन्होने यह भविष्यवाणी की थी कि "यह सम्यक्सम्बुद्धत्व का लाभ करेगा।" वे बुद्ध है—१ दीपङ्कर, २ कोण्डञ्ञ, ३ मङ्गलो, ४ सुमनो, ५ रेवतो, ६ सोभितो, ७ अनोभदस्सी ८ पदुमो, ९ नारदो, १० पदुमुत्तरो, ११ सुमेधो, १२ सुजातो, १३ पियदस्सी, १४ अत्थदस्सी, १५ धम्मदस्सी, १६ सिद्धत्थ, १७ तिस्स, १८ फुस्स, १९ विपस्सी, २० सिखी, २१ वेस्सभू, २२ ककुसन्ध, १३ कोणागमनो, २४. कस्सप।

---

1 Fousboll, P T S London, Vol I 1884, Vol II—1893

2 Ed by Gooneratne, P T S London, 1886

3 Ed by Minayeff, P. T S, London, 1889

4 Ed by Oldenberg, Pischel, P. T S London, 1883.

5 Ed and Pub by J Kashyap Secretary, Pali Publication Board, Nalanda, Patna, 1959

6. Ed by Morris P T. S London, 1882.

यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि जैनधर्म की परम्परा मे भी इसी प्रकार पूर्व-तीर्थकरो का उल्लेख मिलता है। साथ ही दोनो की सख्या मे भी अधिक अन्तर नही है।

(१५) चरियापिटक[1]—यह खुद्दकनिकाय का अतिम ग्रन्थ है। इसमे ३५ चरिया (चरित्र) वर्णित है। जातक क समान ही भगवान् बुद्ध के पूर्वजन्मो की ये कथाये बुद्ध के अपने मुख से कहलायी गई है। बुद्ध ने पूर्वभवो मे कौन-सी पारमिता किस भव मे कैसे पूर्ण की उनका वर्णन है। इसमे वर्णित चर्या है—

१ अकिति चरिया, २ सङ्ख चरिया, ३ कुरुराज चरिया, ४ महा सुदस्सन चरिया, ५ महागोविन्द चरिया, ६ निमिराज चरिया, ७ चन्द्रकुमार चरिया, ८ सिविराज चरिया, ९ वेस्सन्तर चरिया, १० ससपण्डित चरिया, ११ मातु-पोसक चरिया, १२ भूरिदत्त चरिया, १३ चम्पेय्यनाग चरिया, १४ चूलबोधि चरिया, १५ महिसराज चरिया, १६ रुरुराज चरिया, १७ मानग चरिया, १८ धम्मदेव पुत्त चरिया, १९ अलीन सत्थु चरिया, २० सङ्खपाल चरिया, २१ युधञ्जय चरिया, २२ मोमनस्स चरिया, २३ अयोधर चरिया, २४ भिम चरिया, २५ सोण पण्डित चरिया, २६ तेमिय चरिया, २७ कपिराज चरिया, २८ सच्चतापस चरिया, २९ वट्टपोनक चरिया, ३० मच्छराज चरिया, ३१ कण्हदी-पायन चरिया, ३२ सुनसोम चरिया, ३३ सुवण्णसाम चरिया, ३४ एकराज चरिया, ३५ महालोमहस चरिया।

यह गाथाबद्ध लघुकाय ग्रन्थ है। प्राचीन पालिछन्दो के अध्ययन के लिए बुद्धवश तथा चरियापिटक का बडा उपयोग है। २४ पूर्वबुद्धो के साथ-साथ बोधिसत्त्व की कल्पना का प्रथम दर्शन हमे इन्ही ग्रन्थो मे होता ह।[2] इनका एक सुन्दर देव नागरी सस्करण नालन्दा से प्रकाशित हुआ है।[3]

जातक

बौद्ध साहित्य के सुत्त-पिटक क पाँचवे तथा अतिम भाग—खुद्दकनिकाय के दशवे खण्ड मे "जातक" नामक सग्रह मिलता है। श्री गोकुलदास डे महोदय ने

---

1 Ed by Morris, P T S London, 1882.

2 G D De—P XV—

"The conception of Bodhisatta along with that of the twenty four previous Buddhas is noticeable for the first time in the works Buddhavamsa and Cariya Pitaka"

3 Buddhavamsa—Cariyapitaka.

(Khuddaka—Nikaya—Vol VII.)

Ed. by Bhikkhu J Kashyap,

Pali Publication Board, Nalanda, Patna, 1959.

अपनी पुस्तक 'The Significance and Importance of Jataka" की भूमिका मे लिखा है कि जातकों का अस्तित्व त्रिपिटक से पूर्व भी बुद्ध की प्रथम सगीति मे सकलित "आगमपिटक" मे वर्तमान था। आगमपिटक के नो खण्डो[1] मे सातवा खण्ड जातको का था। इनकी प्रामाणिकता इससे सिद्ध होती है कि दोनो सग्रहो—"आगमपिटक" तथा "त्रिपिटक" की जातक कथाओं मे अभिन्नता है।

"जन्" धातु से निष्ठार्थक या भावार्थक "क्त" प्रत्यय के अनन्तर स्वार्थ मे "क" प्रत्यय करने पर "जातक" शब्द निष्पन्न होता है। इसका शाब्दिक अर्थ है—अतीत जन्म की कथा। विकासवाद के सिद्धान्त के अनुसार एक पुष्प को विकसित होने के लिए उस पुष्प की जाति-विशेष की प्राप्ति मे लाखो वर्ष लग जाते है। तब क्या कोई प्राणी साठ, सत्तर या सौ वर्ष के जीवन मे बुद्ध बन सकता है ? उसे इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए अनेक जन्म धारण करने ही होगे। गौतम बुद्ध को भी अनेक जन्म धारण करने पडे। अपने पूर्व जन्मो मे उनकी सज्ञा, बोधिसत्त्व अर्थात् बुद्धत्व प्राप्ति के लिए प्रत्यनशील प्राणी, था। ज्ञान-प्राप्ति के बाद भगवान् बुद्ध ने अपने पूर्व जन्मो का भी ज्ञान पाया। वे अपने पूर्व जन्मो के अनुभवो को स्थिरचित्त होकर स्मरण करते थे तथा प्रसग उपस्थित होने पर अपने अनुयायियो को सुनाते थे। इन्ही वृत्तान्तो को 'जातक' कहा जाता है। भगवान् बुद्ध के श्रीमुख से कही गई उनके पूर्वजन्मो की कथाओ का सग्रह जातक ग्रन्थ है।

साधारण जनता को ओर विद्वानो को भी प्राणिमात्र के मोक्ष तत्त्वो का परिचय सुन्दर तथा बालबोध रीति से कराना ही जातक कथाओ की निर्मिति का उद्देश्य है।[2] कहा जाता है कि अपने धर्म का प्रचार करते समय भगवान् बुद्ध ने ये कथाये कही थी। प्रचारकार्य के लिए युग-प्रवर्त्तक महापुरुषो ने कथाओ के साधन का उपयोग प्रचुरमात्रा मे किया है।[3] सद्धर्मपुण्डरीक मे कहा गया है कि तथागत ने सूत्रगाथाओ और जातककथाओं के द्वारा अपना उपदेश बालबोध कराया है।[4]

1—"The Agam Pitaka" which was the only Pitaka or authentic compilation of the Doctrine of the first Council contained the following nine-types of compositions—

The Sutta, The Geyya, The Veyyakaran, The Gatha, The Udan, The Itibuttaka, The Jataka, The Abbhuta and the Vedalls."

—G D De Iutr. P XI

२—इत्सिग ताका कुसू—इत्सिग के प्रवास, पृ० १६३।

3—A Jataka .. ...is a piece taken out from old "Akhyanas" in illustration of some Particular view point of early Budhism either of the doctrine of "Karma" or the practice of Silas.

—G D De, P. 156.

4—Saddharma Pundarika—2/44

जातक मे पशु-पक्षियो की कथाओ तथा अन्य ऐतिहासिक कथाओ को धार्मिक एवं नैतिक पुट देकर सगृहीत किया गया है।[1]

जातक और जातकट्ठकथा—

त्रिपिटक मे जिस जातक ग्रन्थ का समावेश है, वह केवल गाथाओ का संग्रह है। जिस प्रकार धम्मपद एक वस्तु है और धम्मपद-अट्ठकथा दूसरी, उसी प्रकार जातक एक वस्तु है और जातकट्ठकथा दूसरी। अन्तर यह है कि धम्मपद का अर्थ बिना धम्मपद-अट्ठकथा के समझ मे आ सकता है, किन्तु जातक बिना जातक-अट्ठकथा के अधूरा है। फिर जातक मे भगवान् बुद्ध के पूर्व जन्मो से सम्बन्ध रखने वाली गाथाये भरी है। जातकट्ठकथा मे अट्ठकथा सहित असली जातक कथायें प्रारम्भ होने से पूर्व निदान-कथा नाम का एक लम्बा उपोद्घात है। इस निदान कथा मे सिद्धार्थ गौतम बुद्ध के जीवन-चरित्र के साथ उनके पूर्व के सत्ताइस बुद्धो का भी जीवन-चरित्र है। यह सारा का सारा बुद्धवंश से लिया गया प्रतीत होता है। जातकट्ठकथा के तीन भाग है —१ दूरेनिदान, २ अविदूरे-निदान, ३ सन्तिके-निदान। सभी जातककथाएँ दूरेनिदान के ही अन्तर्गत आती है।

जातको की सख्या के विषय मे काफी मतभेद रहा है।[2] इनकी अधिकतम संख्या ५६५ बतलायी जाती है। ईशानचन्द्र घोष के अनुसार "महावस्तु" नामक ग्रन्थ मे ८० जातक-कथाओ का होना प्रमाणित है। ई० पू० पहली या दूसरी शताब्दी मे रचित "चुल्ल निद्देस" ग्रन्थ मे जातक-कथाओ की संख्या ५०० बतलायी गयी है—"पञ्च जातकसतानि"।[3] चीन देश के प्रवासी फाहियान ने पाँचवी शताब्दी मे लंका मे ५०० जातको की चित्राकृतियाँ देखी थी। थेरवादियो (सिहल, स्याम, बर्मा, हिन्दचीन आदि देश के बौद्धो) की परम्परा के अनुसार जातकों की संख्या ५५० बतलायी जाती है। आचार्य श्री बटुकनाथ शास्त्री ने भी जातको की कुल सख्या ५५० मानी है।[4] M L Feer महोदय के अनुसार

---

1 The Jatakas are largely folk literature in which beast fables and fragments of historical tradition as well as tales of wisdom have been gathered together with a religious and moral purpose, and the verses at the end form the real text to hang the narrative Summons from"

—G D De Foreword by S. K Chattergee, P VIII.

2 See on the Variations of this number, Kooppen—"Die Religion des Buddha", P 319

3 चुल्ल-निद्देस—२/१४/८१

4 पालिजातकावलि भू० पृ०—६

सामान्यत स्वीकृत जातको की संख्या ५५० है।[1] Hodgson के मतानुसार नेपाल मे प्राप्त जातकमाला मे ५६५ जातक-कथाये मिलती है।[2] "जातकट्ठकथा" मे जातको की कुल संख्या ५४७ कही गयी है।[3] Fousboll द्वारा सम्पादित "जातक" मे ५४७ जातक है। जातक-सग्रह की विभिन्न हस्तलिपियो के सम्यक् अनुशीलन के पश्चात् Feer महोदय ने जातको की प्रामाणिक सख्या ५४७ मानी है।[4] यही संख्या आधुनिक बौद्ध विद्वानो को मान्य है।

जातक कथाओ के विभाग—

"जातकत्थवण्णना" नाम की पालिटीका के आधार पर जातक कथाओ के पाँच विभाग किये गये है।[5]

(१) "पच्चुपन्नवत्थु" या प्रास्ताविक कथानक—इसमे भगवान् बुद्ध के अवस्थानकालीन वृत्तान्तो के प्रसगो का निर्देश किया गया है। (२) "अतीतवत्थु" मे बुद्ध के पूर्व जन्मो की कथा का संग्रह है। (३) "गाथा"—इस विभाग मे गाथाएँ और अभिसम्बुद्ध गाथाएँ अर्थात् कुछ श्लोक है, जो पूर्वजन्म के प्रसंग समझे जाते है तथा कुछ दूसरे श्लोक है, जो ज्ञान प्राप्त होने पर भगवान् बुद्ध के कहे हुए माने जाते है, (४) वेय्याकरण—एक छोटी-सी टीका है, जिसमे गाथाओ का शब्दश अर्थ दिया हुआ है, (५) समोधान—इसमे कथा के विभागो का वर्तमान काल से सम्बन्ध

---

1 "The mean number generally accepted is five hundred and fifty"—Feer, P 2

2. Feer, P 2

3—"जातक"—आनन्द कौसल्यायन—प्रथम खण्ड भू० पृ० १६

4 Feer, P 3—"Here, then, is a well-established fact, the definite official number of the Jatakas is five hundred and forty seven"

5 G D De P —XII—

"With regard to the Jatakas, Prof Rhys Davids, the greatest pioneer in the field of Pali studies, has observed in his" "Buddhist India" that a typical Jataka is one which has—(1) an introductory episode, (2) The story of the Past being the Jataka proper in Prose, (3) The verse giving the moral in archaic language and many times appearing redundent for presenting the same fact of the story, (4) An explanation of the verse or verses and (5) Identification of the actors of the Past stories with the present ones among whom Buddha must be the hero, without this frame work no story is to be regarded as a Jataka"

बुद्धदेव ने बतलाया था और श्रोताओ के मन पर कथा सुनने का क्या परिणाम हुआ, इसका भी संकेत किया था।

जातक कथाओं का काल एवं संग्रह—

अपनी विख्यात पुस्तक "Hındu Polıty" के प्रथम खण्ड के प्रारम्भ मे स्वर्गीय डॉ० जायसवाल ने जातको का रचनाकाल बुद्ध से पूर्व अर्थात् ईसा पूर्व ६०० वर्ष से भी पहले माना है।[1] श्रीयुत् गोकुलदास डे महोदय ने सिद्ध किया है कि जातक कथाओ का सबसे प्राचीन भाग गाथाओ का है, जो अत्यंत पुरातन भारतीय जनपद वाडमय का एक अंश है।[2] इनका कहना है कि ये गाथायें बुद्ध के समकालीन ही नही, बुद्ध पूर्व भी होगी। पाश्चात्य विद्वानो का भी कहना है कि अधिकाश जातक कथायें बुद्ध पूर्व हे।[3] जातक वाड्मय बुद्धपूर्वकाल मे आख्यानको के रूप मे विशेषत लोककथाओ मे निबद्ध था। तथागत की शरीरावस्था मे और राजगृह मे भिक्षुओ की प्रथम संगीति (Fırst Buddhıst Councıl) तक जातक कथासंग्रह बौद्ध कर्म-सिद्धान्त का उदाहरण बन गया, जैसा कि आगमपिटक मे मिलता है। द्वितीय संगीति (Second Buddhıst Councıl) के समय तक इस जातक वाडमय का रूपान्तर नीति एवं धर्म प्रदकथाओ मे हुआ, जैसे—सुत्तन्त जातक और इतर जातक कथायें धर्म-विनय मे मिलती है। तृतीय सगीति (Thırd Buddhıst Couneıl) के समय मे जातक कथाओ का संग्रह खुद्दक निकाय के अन्तर्गत किया गया। आगे चलकर संग्रह मे और भी वृद्धि हुई। खिस्त पश्चात् पॉचवी शताब्दी मे बोधिसत्त्व के पूर्व जन्मो के बारे मे "जातकट्ठकथा" का अलग संग्रह हुआ। "लेओस" मे प्रचलित जातक कथाओ के एक सग्रह मे २७ कथायें है, जो अन्य किसी संग्रह मे नही मिलती है।[4] तृतीय अथवा चतुर्थ शती मे रचित "जातकमाला" जो संस्कृत मे है, मे ३४ जातक कथाओ का सग्रह है। प्रसिद्ध बौद्ध विद्वान् तारानाथ ने जातकमाला के रचयिता का नाम आर्यशूर लिखा है। ईस्वी पूर्व दूसरी-तीसरी

---

1 ..K P J —Hındu Polıty. Pt I, Chapt I P. 4—"the Jatakas whıch are regarded as Pre-Buddhan' ı e anterıor to 600 B C) . "

2 Calcuta Revıew, July 1930, P 68—'The Jatakas were orıgınally verses and are suffıcıent to counteract any ınclınatıon whıch may be stıll lıngerıng ın favour of ascrıbıng to them at the tıme of theır formatıon "

3 " . We may be sure that many, perhaps most of these tales are really older than the Buddha and belong to the oldest folklore of Indıa."—Feer, Intr by L D Barnett.

4. Bapat—"2500 years of Buddhısm" P 436

शताब्दी के भरहुत तथा साँची के स्तूपो की शिलाओ पर तीस से अधिक जातक कथाये उत्कीर्ण है।[1] जातको की प्राचीनता निर्विवाद है। तृतीय संगीति मे निर्धारित त्रिपिटको को लेकर अशोक का पुत्र महेन्द्र बौद्ध-धर्म के प्रचार के लिये सिंहल गया था। इससे प्रतीत होता है कि विक्रमाब्द से प्राय तीन सौ वर्ष पूर्व यह अभिधान प्रसिद्धि प्राप्त कर चुका था। "जातक" का प्रथम सम्पादन फस्बोल (Fousboll) महोदय द्वारा किया गया। इसका अंग्रेजी अनुवाद चाइल्डर्स (Childers) ने किया है।

जातक-कथाओ का प्रभाव तथा साम्य—

जातक-संग्रह की कथाओ का साम्य अथवा प्रभाव अन्य साहित्य की कथाओ मे दिखाई पडता है। त्रिपिटक अथवा तत्कालीन अन्य किसी साहित्य मे न कही रामायण का उल्लेख मिलता है और न महाभारत का। सारे देश मे रामायण और महाभारत की कथा घर-घर होती रहे और तत्कालीन साहित्य मे उसके विषय मे कही कुछ न कहा गया हो, यह हो नही सकता। इससे प्रतीत होता है कि रामायण एवं महाभारत जातक के बाद के ग्रन्थ है। जातक-कथा का स्पष्ट प्रभाव इन ग्रन्थो पर दिखाई पडता है। रामायण मे बुद्ध का नामोल्लेख मिलता है—

'यथा हि चोर. स तथा हि बुद्ध-
स्तथागत नास्तिकमत्र विद्धि।
तस्माद्धि य. शक्यतम प्रजाना
न नास्तिके नाभिमुखो बुध स्यात्॥"[2]

दशरथ-जातक आदि कुछ जातको से तो अत्यधिक साम्य दिखलाई पडता है। जैसे दशरथजातक मे है—

"फलानं इव पक्कान निच्च पपतना भय।
एवं जातान मच्चान निच्च मरणतो भय॥"[3]

वा० रामायण मे है—

"यथा फलाना पक्वाना नान्यत्र पतनाद् भयम्।
एव नरस्य जातस्य नान्यत्र मरणाद् भयम्॥"[4]

दशरथ-जातक—

एको व मच्चो अच्चेति, एको व जायते कुले।"[5]

---

1 Barooa and Sinha—"Bharhut Inscriptions" P 78-99

२ रामा० २।१०६।१४

३ दशरथजातक—५

४ रामा०—२।१०५।१७

५, दशरथजातक—१०

रामायण मे है—

एको हि जायते जन्तुरेक एव विनश्यति ।"[1]

दशरथजातक मे है—

दसवस्स सहस्सानि सट्ठिवस्स सतानि च ।
कम्बुग्रीवो महाबाहु रामो राज्य अकारयि ॥"[2]

रामायण—

"दश वर्षसहस्राणि दश वर्षशतानि च ।
भ्रातृभि सहित श्रीमान् रामो राज्यमकारयत् ॥[3]

इसी प्रकार "सिवि-जातक" सदृश अनेक कथाओ ने महाभारत मे स्थान पाया है। अपने अविकसित रूप मे जातक-कथा की कहानियो ने महाभारत और रामायण मे आकर विकास पाया।

घट-जातक एक प्रकार से छोटा-मोटा भागवत ही है। इसमे कृष्ण-जन्म से लेकर कंस की हत्या करने और द्वारका जा बसने तक की सारी कथा आई है। चाणूर और मुष्टिक पहलवानो की हत्या करने जैसे छोटी-छोटी बातें भी इसमे है। अत श्रीमद्भागवत के कृष्ण-जन्म की कथा स्पष्टत अपने प्राचीन रूप मे जातक मे विद्यमान है।

ईसा की प्रथम शताब्दी मे गुणाढ्य नामक किसी पण्डित द्वारा पैशाची भाषा मे रचित "बृहत्कथा", जो अब अप्राप्य है, से सामग्री लेकर सोमदेव ने "कथा-सरित्सागर" की रचना की। इसमे अनेक जातक-कथाएँ विद्यमान है। इससे प्रतीत होता है कि "बृहत्कथा" का भी आदिस्रोत जातक कथाएँ रही होगी।

पञ्चतंत्र तथा हितोपदेश की अनेक कथाओ का मूल जातको मे है। "सिहासनद्वात्रिंशिका", "शुकसप्तति" आदि आख्यायिकाओ मे तथा जातक-कथाओ मे समानतायें है, जो वस्तुत जातक-कथाओ के प्रभाव के परिणाम है।

कई जातक-कथाये पृथ्वी के अनेक भागो मे पहुँच गयी है। ईसप की कथाओ के नाम से जिन कथाओ का यूरोप मे प्रचार है, उनके विषय मे विस्तृत अन्वेषण कर रीज डेविड्स (Rhys Davids) ने यह निष्कर्ष निकाला है कि उनमे से किसी

१ रामा०—२।१०८।३
२ दशरथ-जातक—१३
३ श्रीमद्वाल्मीकिरामा०—(६/१२१/१०६)
(पण्डित पुस्तकालय, काशी सं०)

कथा का किसी ईसप मे सम्बन्ध नही है। उनमे से अधिकाश का मूल स्थान जातक-कथाये ही है[1]।

आठवी शताब्दी मे बगदाद के खलीफा अलमंसूर के दरबार का सन्त जान ऑफ डमसकम" (St John of Damascus) नामक ईसाई ने ग्रीक भाषा मे "बरलाम एण्ड जोसफ" (Barlaın And Josıph) नामक पुस्तक लिखी। बोधिसत्त्व ही इसके "जोसफ" है। सन्त जॉन की इस पुस्तक मे बुद्ध का आशिक चरित्र और अनेक जातक-कथाये है।

जिस समय हूण पूर्वी यूरोप मे गये, वे अपने साथ कुछ जातक-कथाओ को ले गये। बहुत सी ऐसी कथाये 'सलाव' लोगो मे मिलती है, जिनका मूल जातक-कथाओ मे है। एक इटालियन विद्वान् ने सिद्ध किया है कि "किताब-उल-सिन्दबाद" की अनेक कथाओ का और अलिफलैला (Arabıan Nıghts) की अनेक कथाओ का मूल-स्थान जातक कथाये ही है।[२] जातक-कथाओ के प्रसार और प्रभाव की कथा अनन्त प्रतीत होती है।

जातक-कथाओ का महत्त्व—

बौद्ध-साहित्य मे जातको का महत्त्वपूर्ण स्थान है। भगवान् बुद्ध के सदाचारो को व्यक्त करने वाली इन कथाओ पर बौद्ध-धर्मावलम्बियो की अटूट श्रद्धा है। आज भी सिंहल, ब्रह्मा (बर्मा) आदि देशो मे उपासक एवं उपासिकाये रात-रात भर उत्साहपूर्वक इन कथाओ को सुनती है। अन्य धर्मावलम्बियो के लिए भी इसका महत्त्व कम नही है। नीति-शिक्षण की दृष्टि से इन कथाओ की बराबरी करने वाला ग्रन्थ अन्यत्र दुर्लभ है।

भारतवर्ष का प्राचीन इतिहास इन कथाओ मे सुरक्षित है। अशोक के शिलालेखो मे इन जातको के महत्त्वपूर्ण अंश उत्कीर्ण है, जो तत्कालीन इतिहास के ज्ञान के लिए बहुत महत्त्व रखते है। साँची, भरहुत आदि स्थानो मे भी अनेक जातक-कथाओ के चित्र उत्कीर्ण है।[3] इससे उनकी प्राचीनता तथा महत्त्व का पता चलता है। प्राचीन भारत की सामाजिक अवस्था, वास्तुकला एवं मूर्त्तिकला के जिज्ञासुओ के लिए जातक-कथाओ मे पर्याप्त सामग्री है।

कथा-विज्ञान की दृष्टि से भी इसका महत्त्व है। संसार के कथा-साहित्य मे जातक-कथा-संग्रह अत्यन्त प्राचीन तथा अपेक्षाकृत बडा समझा जाता है।

---

1 Buddhıst Bırth-storıes—P 32

२ भ्रा० कौसल्यायन—जातक (प्रथम खण्ड) भू० पृ० २६

3 Barooa and Sınha—Bharhut Inscrıptıons

इन जातको मे ही सर्वप्राचीन मागधी-भाषा के दर्शन होते है। अतएव भाषावैज्ञानिक अध्ययन के लिए भी यह महत्त्वपूर्ण है।

भारतवर्ष का अधिकाश साहित्य परलोकचिन्तामय है, उसको इहलोक की चिन्ता ही नही है। किन्तु किसी भी जाति का काम केवल परलोकपरक होने से नही चल सकता। भगवान् बुद्ध ने इहलोक तथा परलोक की चिन्ता मे समत्व स्थापित किया। यही कारण है कि जातक-कथाओ को वौद्ध-वाड्मय मे महत्त्वपूर्ण स्थान मिला और उसका विकास हुआ। जातक-साहित्य सच्चे अर्थो मे जनता का साहित्य है। इसमे हमारे, उठने-बेठने, खाने-पीने, ओढ़ने-बिछाने की साधारण बातो से लेकर हमारी शिल्प-कला, कारीगरी, हमारे व्यापार की चर्चा के साथ हमारी अर्थनीति, राजनीति तथा हमारे समाज के सगठन का विस्तृत इतिहास भरा पडा है।[1] उस युग के भूवृत्त, विशेषरूप मे जल-मार्गो एवं स्थल-मार्गो की भी पर्याप्त जानकारी इसमे मिलती है।

सक्षेप मे भारतीय जीवन का कोई पहलू ऐसा नही, जिसका उल्लेख इन कथाओ मे न मिलता हो। यदि मनोरजन के साथ-साथ उपदेश ग्रहण करना हो, यदि हृदय को उदार तथा शुद्ध बनाने वाली कथाओ के साथ-साथ बुद्धि को प्रखर बनाने वाली कथायें पढनी हो, यदि अपने देश की प्राचीन आर्थिक, धार्मिक, राजनीतिक तथा सामाजिक अवस्था से परिचित होना हो तो जातक-कथाओ से बढकर किसी दूसरे साहित्य की प्रशसा नही की जा सकती है। डॉ० सुनीति कुमार चटर्जी ने इसी कारण कहा है—

"The Buddhist Jatakas (in Pali or mixed Sanskrit) form a unique thing in Indian Literature, we may say even in world literature"[2]

———

1 "Jatakas which exclusively belong to the Buddhists, contribute a great deal to the reconstruction of India's past civilization and being limited by no-means, to the Buddhist Period alone, they cover a much earlier time penetrating even into the Vedic."

—G D De. P. 94

2. G D De—P VII.

द्वितीय अध्याय

जातकमाला के लेखक का काल, व्यक्तित्व एवं कृतित्व

आर्यशूर का काल—

कला और सौन्दर्य के उपासक, रूप और ऐश्वर्य के प्रशंसक प्रवृत्तिपरक कवि कालिदास ने अपनी कृतियो मे अपने जीवन पर कुछ प्रकाश नही डाला तो त्याग, तपस्या, करुणा और परोपकार के अमृत-रस की धारा बहाने वाले निवृत्तिपरक कवि आर्यशूर को अपने जीवन की कथा लिखने की क्या चिन्ता हो सकती थी ? अतएव जातकमाला के लेखक आर्यशूर के काल-निर्धारण मे अन्त साक्ष्य का नितान्त अभाव है। कुछ बाह्य तथ्यो के आधार पर ही इसका समय निर्धारित किया जाता है। जातकमाला का चीनी भाषा मे अनुवाद ९६० और ११२७ ई० के बीच हुआ। इत्सिंग के अनुसार सातवी शती के अन्तिम भाग मे भारतवर्ष मे जातकमाला का व्यापक प्रचार था। अजन्ता के पत्थर की दीवारो पर जातकमाला के क्षान्तिवादी, मैत्रीबल, महाहस, रुरु, शिबि, महाकपि, महिष आदि जातको के दृश्य चित्रित है और दृश्य-परिचय के लिये उन जातको से उपयुक्त श्लोक भी उद्धृत हुए है। श्लोको के अभिलेख की लिपि छठी शती की है। इससे अनुमान होता है कि ५वी शती तक जातकमाला की ख्याति हो चुकी थी। कहा जाता है कि आर्यशूर ने कर्मफल पर एक सूत्र लिखा था, जिसका चीनी अनुवाद ४३४ ई० मे हुआ था। यदि इस सूत्र के लेखक आर्यशूर ही है तो ये अवश्य इस अनुवाद-काल से पहले हुए होगे। जातकमाला की भाषा के अध्ययन के आधार पर नलिनाक्ष दत्त ने आर्यशूर को तृतीय अथवा चतुर्थ शती के आस-पास का माना है—"It is perhaps from the 3rd or 4th century A D that the highly learned Buddhist thinkers gave preference to Paninian Sanskrit and adopted that language in the composition of their works. To this category belonged writers like Asvaghosa, Nagarjuna, Aryadeo, Asanga, Vasubandhu, Santideo, Aryasura, Ksemendra as also several others"[1]

उपयुक्त तथ्यो के आधार पर जातकमाला का समय ३५० ई० से ४०० ई० के लगभग माना जाता है।

आर्यशूर का व्यक्तित्व—

जातकमाला के रचयिता आर्यशूर गद्य-काव्य साहित्य के आदि लेखक के रूप मे स्मृत किये जा सकते है, क्योकि काव्य-जगत् मे गद्य के द्वारा उपदेश की परम्परा का

---

1 Bodhi sattvabhami—Intr

श्रीगणेश इन्होने ही किया। ये उन महान् बोद्ध विद्वानो मे से है, जिन्होने भगवान् बुद्ध के धर्मोपदेशो को पाणिनीय व्याकरण की अनुगामिनी शुद्ध स स्कृत भाषा के माध्यम से ससार के समक्ष रखने का स्तुत्य प्रयास किया। भगवान् बुद्ध के प्रति इनकी अटूट निष्ठा थी। रत्नत्रय—बुद्ध, धर्म और सघ के प्रति इनकी निश्चित आस्था थी। ये महायान सम्प्रदाय के प्रति अधिक आग्रहशील थे। ये साहित्य, दर्शन, अलकार एव छन्द शास्त्र के अच्छे विद्वान् थे। जातकमाला मे इन्होने सत्ताइस प्रकार के छन्दो का प्रयोग किया है।

किसी भी कवि अथवा लेखक के स्वभाव की छाप उसकी रचना-शैली पर पडती ही है। प्राय सौम्य वक्ता वदर्भी का एव उद्धत वक्ता गोडी रीति का अनुसरण करता है। आर्यशूर ने जातकमाला मे पूर्ण रूप से वदर्भी रीति का आश्रयण किया है। वे सदेव स्वाभाविक ढग से ही किसी वस्तु का वर्णन करते है। अतएव वे सरल एवं सौम्य स्वभाव के व्यक्ति कहे जा सकते हैं। प्राणियो पर दया की भावना उनके हृदय मे कूट-कूट कर भरी थी। तिब्बतीय बौद्ध-धर्म के प्रसिद्ध इतिहासकार तारानाथ का कथन है कि आर्यशूर ने एक बाघिन और उसके बच्चे को भूख से मरते देखकर उनके आगे अपना शरीर उत्सर्ग करना चाहा। प्रथमत उन्हे भय हुआ, किन्तु बुद्ध के स्मरण से निर्भय होकर उन्होने अपने रक्त से सत्तर श्लोको की एक स्तुति लिखी। फिर अपने शरीर का रक्त पीने के लिये बाघिन और उसक बच्चे को दिया। रक्त पीने पर जब उनके भीतर कुछ शक्ति का सचार हुआ तब आचार्य ने अपना शरीर उनके आगे समर्पित कर दिया। अपने गुरु से सुने हुए व्याघ्री-जातक के बोधिसत्त्व के अलौकिक कृत्य का उन्होने अनुसरण किया। जिस कवि और आचार्य ने हृदय की समस्त श्रद्धा और भक्ति भाव के साथ प्रतिभा-प्रसूत काव्य-कुसुमाजलियो से बोधि-सत्त्व के दिव्य और अद्भुत कर्मो की पूजा की है, उसने यदि अवसर उपस्थित होने पर बोधिसत्त्व के आदर्शो के अनुकरण मे अपना शरीर भी उत्सर्ग कर दिया हो तो इसमे कुछ आश्चर्य नही।

आर्यशूर की कृतियाँ—

निम्नलिखित ग्रन्थ आर्यशूर विरचित बताये जाते है—

१—जातकमाला

२—सुभाषितरत्नकरडक-कथा

३—पारमितासमास

४—प्रतिमोक्षसूत्र-पद्धति—केवल तिब्बती अनुवाद मे उपलब्ध।[1]

५—बोधिसत्त्वजातकधर्मगण्डी—केवल तिब्बती अनुवाद मे प्राप्य।[2]

६—सुपथनिर्देशपरिकथा—केवल तिब्बती अनुवाद मे प्राप्य।[3]

१—टोहोकू सूची—४१०३

२—टोहोकू सूची=४१५७

३—टोहोकु सूची—४१७५

इनके अतिरिक्त कई अन्य ग्रन्थो का प्रणयन या कम से कम परिष्कार आर्यशूर ने किया है, कुछ विद्वानो की ऐसी धारणा है। स्वसम्पादित जातकमाला की भूमिका मे डा० पी० एल० वैद्य लिखते है कि "दिव्यावदान का ३८वाँ अवदान मैत्रकन्यकावदान आर्यशूर की ही रचना है, यह मेरी निश्चित सी धारणा है, क्योकि उसकी भाषा, शैली तथा उपक्रमोपसंहार की पदावली वैसा स्पष्टतया सूचित करती है।"[१] उनकी यह भी धारणा है कि उस ग्रन्थ का २२वाँ तथा ३२वाँ अवदान आर्यशूर के द्वारा रचित या परिष्कृत है।

सम्प्रति आर्यशूर के नाम से जो ग्रन्थ उपलब्ध होते है, वे है—जातकमाला, सुभाषितरत्नकरण्डककथा एवं पारमितासमास। अन्य सभी अपने मूल रूप को समाप्त कर चुके है। अत मै यहाँ इन्ही तीन ग्रन्थो के विषय मे संक्षिप्त विवेचन करना उपयुक्त समझता हूँ। इनमे सर्वप्रथम "पारमितासमास" पर विचार प्रस्तुत किया जा रहा है।

पारमितासमास

इसके रचयिता आर्यशूर बतलाये जाते है। इसकी मूल प्रति नेपाल महाराज के पुस्तकालय मे सुरक्षित है। इटली के प्रसिद्ध विद्वान् डॉ० तुचि ने इसकी प्रतिलिपि की थी, जिसे आधार मानकर उनकी शिष्या डॉ० ए० फेरारी (A Ferrari) ने इटली भाषा मे अनुवाद के साथ पारमितासमास का एक सस्करण सन् १९४६ ई० मे रोम से "एनाली लेटरेन्सी" (Annali Lateranse) नामक पत्रिका के X भाग मे प्रकाशित किया है। इस ग्रन्थ मे दानपारमिता, शीलपारमिता क्षन्तिपारमिता, वीर्यपारमिता, ध्यानपारमिता और प्रज्ञापारमिता नामक छ समास या सर्ग है, जिनमे ३६४ श्लोक है। पारमिता अर्थात् नैतिक ओर आध्यात्मिक पूर्णता का जो आदर्श जातकमाला की कथाओ मे पाया जाता है, वही इस पारमितासमास मे भी प्रतिपादित हुआ है। इसकी भाषा भी जातकमाला की भाँति सरल है।

सुभाषितरत्नकरण्डककथा

यह सर्वप्रथम डॉ० ए० सी० बनर्जी द्वारा नेपाल मे प्राप्त एकाकी पाण्डुलिपि से सम्पादित तथा १९५९ खृष्टाब्द मे मिथिला सस्कृत शोध संस्थान, नरभगा द्वारा बौद्ध-सस्कृत ग्रन्थावली (२१) के अन्तर्गत जातकमाला के साथ चतुर्थ परिशिष्ट रूप मे प्रकाशित हुई है। यह सद्धर्म (भगवान् बुद्ध के उत्कृष्ट धर्म) को लोकप्रिय बनाने के उद्देश्य से लिखा गया सस्कृत ग्रन्थ है। जन-साधारण के मस्तिष्क मे बौद्ध-धर्म के प्रति विश्वास उत्पन्न कराने के लिये भिक्षुओ के उपदेश-वाक्य के रूप मे इसकी रचना की गयी थी। इसमे कुल अट्ठाईस अध्याय है, जो सबके सब पद्य मे है। श्लोको की कुल संख्या एक सौ नब्बे है, जिनमे निम्नलिखित कथाये है—

---

१ जातकमाला—प्रस्तावना—पृ० XIII

१—पुण्यप्रोत्साहन-कथा	श्लोक १ से ७ तक
२—धर्मश्रवणप्रोत्साहनकथा	" ८ से १४ तक
३—दुर्लभमानुष्य-कथा	" १५ से २० तक
४—दान-कथा	" २१ से ३३ तक
५—पुण्य-कथा	" ३४ से ४५ तक
६—बिम्ब-कथा	" ४६ से ५२ तक
७—स्नान-कथा	" ५३ से ५५ तक
८—कुकुमादि-कथा	" ५६ से ५८ तक
९—छत्र-कथा	" ५९ से ६१ तक
१०—धात्वारोपण-कथा	" ६२ से ६४ तक
११—मण्डल-कथा	" ६५ से ६८ तक
१२—भोजन-कथा	" ६९ से ७२ तक
१३—पान-कथा	" ७३ से ७७ तक
१४—वस्त्र-कथा	" ७८ से ८० तक
१५—पुष्पादि-कथा	" ८१ से ८४ तक
१६—प्रणाम-कथा	" ८५ से ९० तक
१७—उज्ज्वालिकादान-कथा	" ९१ से ९४ तक
१८—प्रदीप-कथा	" ९५ से ९९ तक
१९—विहार-कथा	" १०० से १०३ तक
२०—शयनासनदान-कथा	" १०४ से १०६ तक
२१—क्षेत्र-कथां	" १०७ से ११३ तक
२२—विचित्र-कथा	" ११४ से १५७ तक
२३—शीलपारमिता-कथा	" १५८ से १६५ तक
२४—क्षान्तिपारमिता-कथा	" १६६ से १७५ तक
२५—वीर्यपारमिता- कथा	" १७६ से १८० तक
२६—ध्यान-पारमिता-कथा	" १८१ से १८४ तक
२७—प्रज्ञापारमिता-कथा	" १८५ से १८९ तक
२८—पारमितापरिकथा (समाप्ति)	" (१९०)

इनमे कुछ अध्याय लम्बे है तथा कुछ अत्यन्त छोटे। उदाहरणार्थ, विचित्र-कथा मे कुल ४४ श्लोक हैं, पारमितापरिकथा मे मात्र एक श्लोक है। अत एव अध्यायो मे समानता नही है। ग्रन्थ के अन्त मे छ पारमिताओ—दान, शील, क्षान्ति, वीर्य, ध्यान एवं प्रज्ञा का परस्पर सम्बन्ध एवं महत्त्व प्रतिपादित हुआ है। प्रत्येक पारमिता का यहाँ पृथक् निदर्शन हुआ हे तथा जीवन मे आध्यात्मिक उन्नति की प्राप्ति के लिये इसे आवश्यक बताया गया है। वास्तव मे पारमिताओ के सिद्धान्त ने जन-मानस को पर्याप्त प्रभावित किया तथा बौद्ध-धर्म को लोकप्रिय बनाया। अन्य महायान ग्रन्थो की भाँति यह ग्रन्थ भी भगवान् बुद्ध के प्रणमन से प्रारम्भ होता है।

नेपाल के पुस्तकालय मे प्राप्त इसकी एकमात्र हस्तलिपि के आधार पर इस ग्रन्थ के रचयिता के रूप मे आर्यशूर का नाम लिया गया है। किन्तु चतुर्थ शताब्दी मे हुए आर्यशूर बौद्ध-सस्कृत-काव्य के एक प्रख्यात लेखक थे। उन्होने परिष्कृत काव्यशैली मे अपनी रचना की है। उनकी रचना मे कृत्रिमता की अपेक्षा कलात्मकता अधिक है। उनकी यह विलक्षणता उनकी एकमात्र प्रकाशित रूप मे प्राप्य कृति जातकमाला से भली-भाँति परिपुष्ट होती है। आर्यशूर ने विशुद्ध सस्कृत-भाषा के लेखक के रूप मे कवियो मे ख्याति प्राप्त की थी। अभिनन्द लिखते है—

"सुबन्धौ भक्तिर्न क इह रघुकारे न रमते
धृतिर्दाक्षीपुत्रे हरति हरिचन्द्रोऽपि हृदयम्।
विशुद्धोक्ति शूर प्रकृतिमधुरा भारविगिर
तथाप्यन्तर्मोद कमपि भवभूतिर्वितनुते ॥"[1]

और इसके द्वारा विशुद्ध भाषा-शैली के लिये आर्यशूर की प्रशसा करते है। अत उपर्युक्त वचन के आलोक मे जातकमाला के रचयिता आर्यशूर की ही रचना "सुभाषितरत्नकरण्डककथा" को भी मानना चिन्तनीय है, क्योकि इसमे बहुत अपूर्णताये पायी जाती है। इस रचना मे न काव्यशक्ति का दर्शन होता है और न प्रेरणामूलक कल्पना का। इसमे व्याकरण की अनेक त्रुटियो तथा सदोष छन्दो की भरमार है। विषय की दृष्टि से भी इसमे कोई उन्नयनकारी बात नही है। उदाहरणार्थ, एक विभाग मे भिक्षुओ को दान देने का विषय है, जिसमे सब तरह का दान उपदिष्ट है। अत एव "सुभाषितरत्नकरण्डककथा" का रचयिता या तो कोई अन्य व्यक्ति है अथवा आर्यशूर नाम का कोई परवर्त्ती लेखक।

हम लोग स्पष्टतया जानते है कि नागार्जुन नामधारी दो व्यक्ति दो विभिन्न कालो मे हुए—एक माध्यमिक सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक दूसरे महान् तान्त्रिक अध्यापक। दोनो नागार्जुन एक दूसरे से चार सौ वर्ष आगे-पीछे थे, किन्तु तिब्बतीय परम्परा मे असावधानीवश दोनो एक समझ लिये गये। ऐसी ही घटना आर्यशूर के विषय मे भी हुई है। सभवत दो आर्यशूर हुए होगे—एक जातकमाला के लेखक तथा दूसरे सुभाषितरत्नकरण्डककथा के। तिब्बतीय परम्परा मे भ्रमवश दोनो आर्यशूर एक ही व्यक्ति के रूप मे समझ लिये गये होगे। अतएव चतुर्थ शताब्दी मे हुए आर्यशूर की प्रामाणिक रचना एकमात्र जातकमाला है, यह मेरी धारणा है। इसी मत का प्रतिपादन डॉ० पी० एल० वैद्य एव डॉ० ए० सी० बनर्जी[2] ने भी अपने ग्रंथ की भूमिका मे किया है।

---

[1] सुभाषितरत्नकोष, १६६८
सदुक्तिकर्णामृत—५/२६/५

2 Jatakamala—ed by Dr P L Vaidya, P. 278 —"There were very likely two individuals of the name of Aryasura One was the author of the Jatakamala and the other was that of the Subhasi-taratnakarandaka-Katha. In Tibetan accounts, they two have probably been mistakenly taken as one person."

जातकमाला

इसमे भगवान बुद्ध के पूर्व जन्मो के दिव्य एव अदभुत कार्यो की उपदेशपूर्ण लघुकथाओ के रूप मे व्याख्यानो का रोचक सग्रह उपलब्ध है। बुद्ध ने एक जन्म के ही प्रयत्नो से बुद्धत्व नही पाया था, बल्कि उन्होने असख्य जन्मो तक बुद्धत्व-प्राप्ति के लिये भगीरथ प्रयत्न किये थे । उनके उन्ही पूर्व-जन्मो की कहानियो की माला "जातकमाला" (Garlaı d of birth stories) कहलाती है। इसे "बोधिसत्त्वावदानमाला" भी कहते है। कथाओ की सामग्री प्राय पहले से ही प्राप्त थी। लगभग सारी की सारी कथाये पालि के जातक-ग्रथ मे मिलती है। पालि मे कुल ५४७ जातक-कथाये प्राप्त हैं। बारह कथाये पालि चरियापिटक मे भी मिलती है। कुछ जातक कथाये महावस्तु मे भी मिलती है। जातकमाला मे कुल चौतीस जातक (अर्थात् भगवान बुद्ध के पूर्व जन्मो की कथाये) सगृहीत है। ग्रथ का आरम्भ भगवान् बुद्ध तथा बोधिसत्त्वो की वन्दना मे होता है। प्रत्येक जातक "तद्यथानुश्रूयते" (तब जैसी कि अनुश्रुति है) से आरम्भ होता है। इसमे सगृहीत जातक निम्नलिखित है—

१ व्याघ्री-जातक, २ शिबि-जातक, ३ कुल्मापपिण्डी-जातक, ४ श्रेष्ठि-जातक, ५ अविषह्यश्रेष्ठि-जातक, ६ शश-जातक, ७ अगस्त्य-जातक, ८ मैत्रीबल-जातक, ९ विश्वन्तर-जातक, १० यज्ञ-जातक, ११ शक-जातक, १२ ब्राह्मण-जातक, १३ उन्मादयन्ती-जातक, १४ सुपारग-जातक, १५ मत्स्य-जातक, १६ वर्त्तकापोतक-जातक, १७ कुम्भ-जातक, १८ अपुत्र-जातक, १९ बिस-जातक, २० श्रेष्ठि-जातक, २१ चुड्डबोधि-जातक, २२ हस-जातक, २३ महाबोधि-जातक २४ महाकपि-जातक, २५ शरभ-जातक, २६ रुरु-जातक, २७ महाकपि-जातक, २८ क्षान्ति-जातक, २९ ब्रह्म-जातक, ३० हस्ति-जातक, ३१ सुतसोम-जातक, ३२ अयोगृह-जातक, २३ महिष-जातक, ३४ शतपत्र-जातक।

इनकी कथावस्तु सक्षेप मे इस प्रकार है —

१—व्याघ्री-जातक

भगवान् बुद्ध पूर्वजन्मो मे भी सभी प्राणियो से अकारण स्नेह करते थे। इस जातक मे उनके नि स्वार्थ स्नेह एव लोकोपकार की भावना का प्रतिपादन मिलता है।

भगवान् बुद्ध जब बोधिसत्त्व की अवस्था मे दान, प्रियवचन, उपकार आदि सत्कर्मो के आचरण तथा दया की वृष्टि से ससार पर अनुग्रह कर रहे थे, तब एक बार स्वधर्मानुराग के कारण पवित्र शील वाले किसी उन्नत और महान ब्राह्मण कुल मे उन्होने जन्म लिया। यथासमय उनके जातक-कर्म आदि सस्कार सम्पन्न हुए। स्वभावत मेधावी, अनुकूल माता-पिता, आचार्य आदि गुरुजनो की उत्तम सहायता से युक्त ज्ञानार्जन के लिये उत्सुक एव आलस्यरहित होने के कारण

उन्होने अल्प काल मे ही अठारहो विद्याओ[1] एव वश-परम्परा के अनुरूप सकल कलाओ मे आचार्य-पद प्राप्त कर लिया।

वे ब्राह्मणो के लिये वेद के समान, क्षत्रियो के लिये आदरणीय राजा के समान, प्रजाओ के लिये साक्षात् इन्द्र के समान और विद्यार्थियो के लिये अनुकूल व उपकारी पिता के समान थे।[2]

सौभाग्य के कारण शीघ्र ही उन्हे महान् सम्पत्ति, सत्कार और कीर्त्ति प्राप्त हुई। किन्तु धर्माभ्यास से पवित्र बुद्धि बोधिसत्त्व को उस लाभ से आनन्द नही हुआ और भोगो मे असख्य दोप देख कर उन्होने गृहस्थी को रोग के समान छोड दिया तथा सन्यासी होकर एक वनगिरि को अलकृत किया। वहाँ उन्होने मैत्री से परिपूर्ण शान्ति रस की धारा बहाई, जिसमे हिसक पशु भी आपस के वैर-भाव को छोडकर तपस्वियो की भाँति विचरने लगे।

पवित्र आचरण, इन्द्रिय-सयम, सतोष और करुणा के कारण वे अपरिचित जनता के भी उतने ही प्रिय हो गये जितना प्रिय कि उन्हे समस्त जीवलोक था।

उनके प्रव्रजित होने का ममाचार सुनकर अनेको लोग स्वजन, परिवार और सम्पत्ति को छोडकर उनके शिष्य बन गये तथा पवित्र शील, इन्द्रिय-संयम, सतत जागरूकता, एकान्त सेवन, मैत्री-भावना आदि से युक्त मानसिक ममाधि के विषय मे उपदेश ग्रहण करने लगे। धीरे-धीरे जब उनकी शिष्यमण्डली बहुत बढ गयी और समार मे कल्याण-मार्ग स्थापित हो गया तब एक बार वह महात्मा इसी जन्म मे सुखपूर्वक विहार करने के लिये अपने तत्कालीन शिष्य अजित के साथ योगानुकूल पर्वत-कन्दराओ एवं निकुंजो मे घूमने गये। उस समय उन्होने पर्वत की कन्दरा मे प्रसव की वेदना मे पीडित एक युवती बाघिन को देखा। उसकी दशा इतनी खराब हो गयी थी कि दूध की प्यास मे समीप मे आये हुए तथा मातृविश्वास से निर्भय अपने नन्हे बच्चो को भी वह अपने आहार के तौर पर निहार रही थी। सच है "भूखा क्या नही करता"[3]। बाघिन की उस दशा को देख धीर होने पर भी बोधिसत्त्व करुणा के वशीभूत हो गये और दु ख से ऐसे काँपने लगे जैसे भूकम्प से

---

१ ४ वेद (ऋक्, साम, यजु, अथर्व), ६ वेदाङ्ग (छन्द, कल्प, ज्योतिष्, निरुक्त, शिक्षा, व्याकरण), ४ उपवेद (आयुर्वेद, धनुर्वेद, गान्धर्ववेद, शस्त्र-शास्त्र या स्थापत्य-शास्त्र) पुराण, मीमासा, न्याय तथा धर्मशास्त्र।

—M W P 963

२ "स ब्रह्मवद् ब्रह्मविदा बभूव राजेव राज्ञा बहुमानपात्रम्।
साक्षात् सहस्राक्ष इव प्रजाना ज्ञानार्थिनामर्थचर पितेव॥" जातक० १/५

३ "बुभुक्षित किं न करोति पापम्।"

—पञ्चतन्त्र—४—१६

गिरिराज काँप रहा हो। वस्तुत "दयालु व्यक्ति अपने भारी दु खो मे भी धैर्य धारण करते है, किन्तु दूसरो के हल्के दु ख से भी विचलित हो जाते है।"[१]

तुरत उन्होने शिष्य मे कहा कि जव तक भूख की पीडा से व्याकुल यह बाघिन अपने सद्य प्रसूत बच्चो की और अपनी भी हत्या नही कर लेती है, तब तक शीघ्र ही कही से भी इसकी क्षुधाशान्ति के लिये कुछ लाओ। मै भी तब तक इसे इस दुस्साहस से रोकने की चेष्टा करता हूँ। "बहुत अच्छा" कहकर शिष्य वहाँ से चला गया और उसके आहार की खोज मे लग गया। तब बोधिसत्त्व बहाने से उस शिष्य को दूर हटा कर सोचने लगे—

इस सम्पूर्ण शरीर के रहते मै किस दूसरे प्राणी का मास खोजूँगा ? क्योकि उसका मिलना भी निश्चित नही है और मेरा यह कार्य भी बिगड सकता है।[२] साथ ही।

"अनात्म, असार, विनाशवान्, दु खमय, कृतघ्न और सदा अपवित्र रहने वाले इस शरीर के दूसरे के उपयोग मे आने पर बुद्धिमान प्रसन्न ही होते है।"[३]

अत बिना किसी सोच-विचार के शीघ्र ही मै पहाड की खडी चोटी से गिरकर प्राण छोडूँगा तथा इस क्षुद्र शरीर के द्वारा पुत्र-वध के पाप से बाघिन को बचाऊँगा तथा इस कार्य के द्वारा लोकोपकार के लिये उत्सुक रहनेवालो का मार्ग प्रशस्त करूँगा, त्यागी पुरुषो को आनन्दित करूँगा तथा बुद्ध के भक्तो को प्रसन्न करूँगा, स्वार्थी, द्वेषी और लोभी मनुष्यो को लज्जित करूँगा तथा निकट भविष्य मे सम्यक् बोधि प्राप्त करूँगा।

उनके इस परोपकार भावना एव त्याग का कारण स्पर्धा या यश की अभिलाषा नही है और न स्वर्ग-प्राप्ति या राज्य-प्राप्ति ही है। जीवलोक के कष्टो का निवारण करना ही इनका लक्ष्य है।[४] इसी कारण परोपकार के लिये प्राण छोडने

१—महत्स्वपि स्वदु खेषु व्यक्तधैर्या कृपात्मका ।
मृदुनाप्यन्यदु खेन कम्पते यत्तदद्भुतम् ॥—जातक०—१/१७

२—सविद्यमाने सकले शरीरे
कस्मात्परस्मान्मृगयामि मासम् ।
याहच्छिकी तस्य हि लाभसपत्
कार्यात्यय स्याच्च तथा ममायम् ॥—जातक० १/२१

—निरात्मके भेदिनि सारहीने
दु खे कृतघ्ने सतताशुचौ च ।
देहे परस्मानुपयुज्यमाने
न प्रीतिमान्यो न विचक्षण स ॥—जातक० १/२२

४—'न स्पर्धया नैव यशोऽभिलाषा—
न्नस्वर्गलाभान्न च राज्यहेतो ।
नात्यन्तिकेऽप्यात्मसुखे यथायं
ममादरोऽन्यत्र परार्थसिद्धे ॥"—जातक० १/३०

मे आनन्दित होते हुए उन्होने शरीरोत्सर्ग कर दिया। तब बोधिसत्त्व के शरीर के गिरने का शब्द सुनकर वह बाघिन क्रोध एव कुतूहल से पुत्र-वध के उद्योग मे विरत होकर इधर-उधर देखने लगी तथा बोधिसत्त्व के निष्प्राण शरीर को देखते ही तेजी से समीप पहुँच कर उसे खाने लगी।

तब उनका शिष्य मास पाये बिना ही लौट आया तथा बोधिसत्त्व के निष्प्राण शरीर को युवती बाघिन के द्वारा खाये जाते हुए देखकर महान् विस्मय से भर गया। उनके सद्गुणो के प्रति आदर-भाव होने से अपना श्रद्धोद्गार इस प्रकार प्रकट किया—

"अहो, यह महात्मा दु ख से पीडित प्राणियो के प्रति कितने दयालु और अपने सुख की ओर से कितने लापरवाह थे। इन्होने सज्जनो की मर्यादा को पराकष्ठा पर पहुँचा दिया और असज्जनो की कीर्त्ति को मिट्टी मे मिला दिया।[1]

सब प्राणियो को शरण देनेवाले कारुणिक अत्यन्त धैर्यशाली महाभाग्यवान् लोकोपकारी महापुरुष बोधिसत्त्व को सब प्रकार से प्रणाम है।

तब उसने यह वात अपने सहपाठियो मे निवेदन की। इस कार्य से विस्मित होकर उनके शिष्यो, गन्धर्वो, यक्षो, नागो ओर देवाधिपतियो ने उनकी अस्थि-रूपी रत्नराशि से युक्त उस भूमि को मालाओ, वस्त्रो, आभरणो और चन्दनचूर्ण की वृष्टि से पाट दिया।

कथा के अन्त मे कहा गया हे कि भगवान् बुद्ध पूर्व जन्मो मे भी सभी प्राणियो से अकारण ही अत्यन्त स्नेह किया करते थे और उनके साथ एकात्म भाव को प्राप्त कर चुके थे। इसलिये हमे उन भगवान् मे परम श्रद्धा होनी चाहिये तथा वैसा होने पर अत्यन्त आनन्दित होना चाहिये। इस प्रकार हमारी श्रद्धा स्थिर हो जायगी। यह भी कहा गया है कि हमे आदरपूर्वक धर्म-श्रवण करना चाहिये तथा करुणा रखनी चाहिये, क्योकि करुणा के ही कारण उत्तम स्वभाव का निर्माण होता हे और दूसरो पर अनुग्रह करने की प्रवृत्ति होती है।

इस प्रकार यह जातक समाप्त होता है। पालि के जातको मे यह जातक नही मिलता है।

२—शिवि-जातक

इस जातक मे बोधिसत्त्व के असाधारण दान का वर्णन है।

एक बार भगवान् बुद्ध बोधिसत्त्वावस्था मे शिवियो के राजा हुए। बाल्य

१—"अहो दयास्य व्यसनातुरे जने
स्वसौख्यनै सङ्ग्यमहो महात्मन ।
अहो प्रकर्षं गमिता स्थिति सता—
महो परेषा मृदिता यश श्रियः ॥"—जातक० १/३४

काल से ही वे बडे बूढो की सेवा मे लगे रहते थे तथा अत्यन्त विनयी थे। स्वभाव से ही मेधावी उन्होने अल्पकाल मे ही अनेक विद्याएँ सीख ली। उत्साह, मंत्रणा और प्रभुता की राजोचित शक्तियो तथा देवी सम्पत्ति से युक्त होकर वे अपनी सन्तान के समान प्रजा का पालन करत थे। दान म उनकी अत्यधिक रुचि थी। अपनी उदारता, करुणा और ऐश्वर्य के कारण उत्तम राजा वे इच्छित वस्तु की प्राप्ति के आनन्द से याचको के खिलते हुए चेहरो को देखकर आनन्दित होते थे।[1]

उस दानप्रिय राजा ने नगर के चारो ओर धन-धान्यादि सभी उपकरणो से भरपूर दानशालाये बनवाई तथा अपने माहात्म्य के अनुरूप एव अपने अभिप्राय के अनुसार उचित समय पर याचको को यथाभिलषित दान देने लगे। राजा की इस दानशीलता को सुनकर चारो ओर के देशो के लोग विस्मय और आनन्द के साथ उस देश मे पहुँचने लगे। बटोहियो की वेप-भूपा मे चारो ओर से आये झुण्ड के झुण्ड उन याचको को प्रवास से लौटे हुए बन्धुओ की तरह देख कर राजा की आँखे आनन्द से विकसित हो गयी। प्रिय समाचार के समान याचना के शब्द सुनकर उन्हे आनन्द हुआ और दान देकर याचको से भी अधिक सन्तोप हुआ।[2]

एक बार दान-शालाओ मे घूमते हुए उन्होने देखा कि याचको की इच्छाये तृप्त होने से उनकी सख्या कम हो गयी है। अत दान-धर्म मे रुकावट पडने से राजा को सतोष नही हुआ। उन्होने सोचा—

"वे सज्जन अत्यन्त भाग्यवान है, जिनसे याचकगण विश्वास और निर्भयता-पूर्वक शरीर के अगो की भी याचना करते है। किन्तु मेरे फटकार के कठोर बचनो से मानो भयभीत होकर वे मुझसे केवल धन माँगने का ही साहस करते है।"[3]

अंगो से भी आसक्ति हटाकर दान देने के सम्बन्ध मे राजा के उस उदार विचार को जानकर पृथ्वी काँप उठी।

१—उदारभावात्करुणागुणाच्च
वित्ताधिपत्याच्च स राजवर्यं ।
रेमेऽर्थिनामीप्सितसिद्धिहर्षा
दक्लिष्टशोभानि मुखानि पश्यन् ।।—जातक० २/३०

२—विप्रोषितस्येव सुहृज्जनस्य
सदर्शनात्प्रीतिविजृम्भिताक्ष ।
याच्ञा प्रियाख्यानमिवाभ्यनन्द-
द्दत्वा च तुष्ट्यार्थिजन जिगाय ।।—जातक० २/५

३—"अतिसभाग्यास्ते सत्पुरुषविशेषा ये विस्रम्भनिर्यन्त्रणप्रणयमर्थिभि स्वगात्राण्यपि याच्न्ते। मम पुन प्रत्याख्यानरूक्षाक्षरवचनसतर्जित इवार्थिजनो धनमात्रकेऽप्रगल्भप्रणय: संवृत्त इति ।।"—जातक० २/७ के बाद का गद्य ।

भूकम्प के कारण पर्वतश्रेष्ठ सुमेरु के काँपने पर देवेन्द्र शक्र सोचने लगे—"यह क्या हुआ।" तब राजा के उस अलौकिक विचार को भूकम्प का कारण जानकर उन्होने विस्मित हृदय से सोचा—क्या दान देने के हर्षातिरेक से उदात्त चित्त होकर राजा ने यह विचार किया है अथवा दान देने के लिये कटिबद्ध होकर उन्होने अपने अंगदान करने का दृढ़ निश्चय किया है ?[1]

अत मै उनकी परीक्षा करूँगा। ऐसा निश्चय कर देवाधिपति शक्र एक वृद्ध एवं अंधे ब्राह्मण का रूप बनाकर उस समय राजा के समक्ष प्रकट हुए, जब वे अमात्यसहित दानशाला मे बैठकर याचको को यथाभिलषित दान द्वारा तृप्त कर रहे थे। राजा ने अपनी दयार्द्र, मैत्रीपूर्ण धीर, प्रसन्न और सौम्य दृष्टि से उनका स्वागत किया। आगमन का कारण पूछे जाने पर उन्होने राजा को आशीर्वाद देते हुए कहा —

"हे राजेन्द्र, दूर देश से आया हूँ, बूढा और अन्धा हूँ, मै आपका एक नेत्र माँगता हूँ। हे कमलनयन, हे राजेन्द्र, एक नेत्र से भी लोक-यात्रा की जा सकती है।"[2] तब अंगदान की अपनी अभिलाषा को पूर्ण होने का उचित अवसर पा राजा परम प्रसन्न होकर बोले—

"जिस मनोरथ को लेकर, हे ब्राह्मण आप यहाँ आये है, उसे मै पूरा करता हूँ। मेरी एक आँख चाहनेवाले आपको मै अपनी दोनो आँखे देता हूँ।"[3]

राजा के नेत्रदान के निश्चय को जानकर घबडाहट और दु ख से व्याकुल उनके विश्वस्त अमात्यो ने अनेक प्रकार से उन्हे समझाया कि आप धन-सम्पत्ति एवं सकल सुख-सामग्री द्वारा इस दरिद्र ब्राह्मण को तृप्त करे, किन्तु अपना नेत्र देकर सुख मे पली हुई प्रजा को शोकाग्नि से न जलाये।[4]

१—"दानातिहर्षोद्धतमानसेन
वितर्कितं किं स्विदिद नृपेण।
आबद्धदानव्यवसायकक्ष्या
स्वगात्रदानस्थिरनिश्चयेन ॥—जातक० २/९

२—दूरादपश्यन्स्थविरोऽभ्युपेतस्-
त्वच्चक्षुषोऽर्थी क्षितिपप्रधान।
एकेक्षणेनापि हि पङ्कजाक्ष
गम्येत लोकाधिप लोकयात्रा ॥— जातक० २/१०

३—येनाभ्युपेतोऽसि मनोरथेन तमेष ते ब्राह्मण पूरयामि।
आकाङ्क्षमाणाय मदेकमक्षि ददामि चक्षुर्द्वयमप्यहते ॥"—जातक० २/१३

४—"धनानि लक्ष्मीप्रतिबोधनानि
श्रीमन्ति रत्नानि पयस्विनीर्गा।
रथान् विनीतांश्च युज प्रयच्छ
मदोर्जितश्रीललितान् द्विपान्वा ॥"

किन्तु दृढ निश्चयी उस राजा ने अनुनयपूर्वक मधुरवाणी मे अमात्यो के तर्कों का खण्डन करते हुए कहा—

"जो चीज माँगी जाय वही देनी चाहिये। अनचाही वस्तु देने से प्रसन्नता नही होती है। बाढ मे बहते हुए को पानी का क्या प्रयोजन ? अत मै माँगी हुई वस्तु ही दूँगा।[1] तब राजा के अत्यन्त विश्वस्त तथा प्रेमी प्रधान-मत्री ने उन्हे समझाते हुए कहा कि क्या लाभ देखकर आप शक्र की समृद्धि से भी स्वर्धा करने वाली अपनी राज्य-लक्ष्मी का अतिक्रमण कर अपना नेत्र-दान करना चाहते है।

इस पर राजा ने कहा—हे अमात्य, "मेरा यह प्रयत्न सम्पूर्ण पृथ्वी का आधिपत्य, स्वर्ग, अपवर्ग या कीर्त्ति प्राप्त करने के लिये नही, किन्तु लोकरक्षा के लिये है। इसलिए मै चाहता हूँ कि याचना करने मे इन्हे जो कष्ट हुआ है वह व्यर्थ न हो।"[2] अनन्तर नीलकमल की पंखुडी के समान कान्तिमान नेत्र को राजा ने वैद्य के बताये तरीके से धीरे-धीरे अखण्डित ही उखाड कर ब्राह्मण को दे दिया और इन्द्र के प्रभाव से उसे उस नेत्रयाची ब्राह्मण के नेत्र-स्थान मे विकसित तथा शोभित देख आनन्द से गद्-गद् हो अपना दूसरा नेत्र भी उसे दे दिया।

उनके नेत्रदान से समस्त प्रजाओ को तथा अमात्यो को तो हार्दिक पीडा हुई किन्तु राजा को परम प्रसन्नता। विस्मित-हृदय शक्र उनके असाधारण त्याग से मन ही मन प्रसन्न हो उनके नेत्र-क्लेश दूर करने के विषय मे सोचने लगे। क्रम से राजा की आँखो का घाव भर गया। एक दिन वे एकान्त सेवन की इच्छा से उद्यान सरोवर के तट पर शीतल मृदु सुगधित सुखदायक हवा मे पर्यङ्कआसन से बैठे हुए थे। वहाँ प्रकट होकर देवेन्द्र शक्र ने कहा—"हे राजर्षि, वर माँगिये। आप जो कुछ चाहते है, वह कहिये।"[3] किन्तु याचना के कृपण मार्ग पर चलने मे अनभ्यस्त उस

समुच्चरन्नूपुरनिस्वनानि
शरत्पयोदाभ्यधिकद्युतीनि।
गृहाणि सर्वर्तुसुखानि देहि
मा दा॰ स्वचक्षुर्जगदेकचक्षु ॥—जातक॰

१—"यदेव याच्येत तदेव दद्यान्—
नानीप्सित प्रीणयतीह दत्तम्।
किमुह्यमानस्य जलेन तोयै
दास्याम्यत प्रार्थितमर्थमस्मै॥"—जातक

२—"नाय यत्न सार्वभौमत्वमाप्तु
नैव स्वर्गं नापवर्गं न कीर्त्तिम्।
त्रातु लोकानित्यय त्वादरो मे
याच्ञाक्लेशो मा च भूदस्य मोघ॥—जातक॰ २/२८

३—"वर वृणीष्व राजर्षे यदिच्छसि तदुच्यताम्॥"—जातक॰ २/३२

महादानी राजा ने अभिमान के साथ कहा—मनोरथपूर्ण होने से प्रसन्न याचको के मुख को देखने मे असमर्थ मुझे अब मरण ही प्रिय है।

इस पर शक्र ने पूछा—याचको के कारण ही आप इस दशा मे कष्ट पा रहे है। फिर भी आपका मन क्यो उन्ही मे लगा हुआ है ?

तब राजा ने कहा—अच्छा, हे देवन्द्र सुनिये—

"पहले और अब भी यदि याचको की याचना के वचन मुझे आशीर्वाद की तरह प्रिय लगे है तो मेरे एक नेत्र का उदय हो ॥[१]

यह कहते ही राजा के सत्य-बल और पुण्य-प्रताप से नीलकमल की पंखुडी के समान एक नेत्र प्रकट हो गया। उस प्रसन्न राजा ने शक्र से पुन कहा—

"एक नेत्र माँगने वाले को खुशी से दोनो नेत्र देकर यदि मै आनन्दोल्लास मे तल्लीन हो गया तो मेरा दूसरा नेत्र भी उत्पन्न हो।"[२]

ऐसा कहते ही राजा का द्वितीय नेत्र भी प्रकट हो गया। उस समय सर्वत्र आनन्द की लहरे फैल गयी। सबो ने प्रसन्न होकर राजा के लोकोत्तर कर्म की प्रशसा मे शुभ वचन कहे। "साधु-साधु" कहकर इन्द्र ने भी उनकी प्रशसा की और यह वरदान दिया कि "चारो ओर सौ योजन तक, पहाडो के पार भी देखने की अप्रतिहत शक्ति आपके इन नयनो की होगी।"[३] अनन्तर वे वही अन्तर्धान हो गये।

राजा अपने नगर मे पहुँचे और स्वागत के लिये आये हुए अमात्यो, ब्राह्मणो, वृद्धो, नगरनिवासियो एवं ग्रामवासियो की सभा मे बैठकर स्वानुभूत श्रेयस्कर धर्म का उपदेश किया कि—

विनय और जीवदया से उत्पन्न होने वाले दान से बढ़कर अभ्युदय का अन्य उपाय नही है। मैने मानुषचक्षु देकर इहलोक मे ही अलौकिक दिव्य चक्षु प्राप्त

१—"तदैव चैर्त्तहि च याचकाना
वचासि याच्आनियताक्षराणि।
आशीर्मयाणीव मम प्रियाणि
यथा तथोदेतु ममैकमक्षि ॥"—जातक० २/३६

२—"यश्चापि मा चक्षुरयाचतैक
तस्मै मुदा द्वे नयने प्रदाय।
प्रीत्युत्सवैकाग्रमतिर्यथास
द्वितीयमप्यक्षि तथा ममास्तु ॥"—जातक० २/३७

३—"समन्ताद्योजनशत शैलैरपि तिरस्कृतम्।
द्रष्टुमव्याहता शक्तिर्भविष्यत्यनयोश्च ते ॥"
—जातक० २/४५

किया है।[1] अत एव हे शिवियो, दान और उपभोग द्वारा अपनी मम्पत्ति को सफल करो।

इस प्रकार के उपदेशो के साथ कथा का अन्त होता है।

इस जातक के प्रारभ तथा अन्त मे कहा गया है कि—"शत-शत दुष्कर कार्यो द्वारा उन भगवान् ने हमारे लिये जिम सद्धर्म को उपस्थित किया, उमे हमे श्रद्धा-पूर्वक सुनना चाहिये।[2]

इस कहानी से यह शिक्षा भी मिलती है कि आदरपूर्वक मञ्चित पुण्य इहलोक मे अपनी शक्ति और कीर्ति के सुन्दर फूल प्रकट करते है।[3]

३—कुल्माषपिण्डी-जातक

इस जातक मे प्रसन्नतापूर्वक सत्पात्र को दिये गये दान के माहात्म्य का वर्णन है।

कथारभ से पहले ही कहा जाता है कि "प्रमन्नतापूर्वक मत्पात्र को दिया गया दान महाफलदायक होने के कारण थोडा नही कहा जा सकता।"[4] तब जैसी कि अनुश्रुति है—

भगवान् बुद्ध जब बोधिसत्त्व थे तब एक बार कोशल देश के राजा हुए। उत्साह, मत्रणा, प्रभुतादि उत्कृष्ट राजोचित गुणो मे युक्त तथा दैवी सम्पत्तिवान् वे स्थिर राज्यलक्ष्मी के रहने पर भी धार्मिक होने के कारण दूसरो को उत्पीडित नही करते थे। एक समय उन्होने अपने अन्तिम पूर्व जन्म का स्मरण किया, जिससे उनको सवेग हो गया और तब उन्होने सन्यामियो, ब्राह्मणो, दीन-दुखियो तथा याचको को खूब दान दिया। सदा शील-संबर का पालन किया और पर्व के दिनो मे उपवास का नियम ग्रहण किया। निरन्तर अपनी सभा एव अन्तपुर मे लोगो

१—"परानुकम्पाविनयाभिजाता-
　　　　द्दानात्पर कोऽभ्युदयाभ्युपाय ।
　यन्मानुष चक्षुरिहैव दत्त्वा
　　　　प्राप्त मयाऽमानुषदिव्यचक्षु ।।"—जातक० २/४८

२—"दुष्करशतसमुदानातोऽयमस्मदर्थं तेन भगवता सदधर्म इति सत्कृत्य श्रोतव्य'।"
—जातक० २/५० के बाद का गद्य

३—सत्कृत्योपचितानि पुण्यानीहैव पुष्पमात्रमात्मप्रभावस्य कीर्तिसततिमनोहर प्रदर्शयन्तीति।
— जातक २/५० के बाद का गद्य।

४—"चित्तप्रसादोदगत पात्रातिशयप्रतिपादित च नाल्पक नाम दानमस्ति विपाकमहत्त्वात्।"
—जातक० ३/१ के पहले का गद्य

को श्रेय में लगाने की इच्छा से प्रसन्नचित्त होकर उन्होंने निम्नलिखित अर्थ के दो गाथाओं को गाया—

"यदि सुगतों (आश्रवरहित साधु संन्यासियों) की थोड़ी सी भी सेवा की जाय तो उसका फल अल्प नहीं होता है, ऐसा पहले केवल सुनते थे। अब सूखी रूखी लाल अलोनी कुल्माषपिण्डी (कुल्थी की दाल या कुल्के की साग) की भिक्षा देने का यह महान् फल प्रत्यक्ष देखो।

रथों और घोड़ों से चित्र-विचित्र और मतवाले हाथियों से श्यामल विशाल सेना, सम्पूर्ण पृथ्वी, विपुल धनराशि, अनुरक्त लक्ष्मी, कुलीन स्त्रियाँ—यह सब थोड़ी सी कुल्माषपिण्डी देने का सुन्दर फल है।"[1]

"क्या देखकर महाराज इन दो गाथाओं का निरन्तर पाठ कर रहे हैं" इस कुतूहल से अमात्यों, वृद्ध ब्राह्मणों एवं प्रधान पुरवासियों तथा उनकी प्रिय रानी का भी मन आकुल हो गया। एक दिन उनकी रानी ने सभा में ही बातचीत के प्रसंग में अत्यन्त मृदु वाणी में उनसे इस विषय को पूछ ही दिया। तब राजा ने प्रेम-पूर्ण दृष्टि से रानी को देखकर कहा कि मेरे इस उद्गार का मूल अर्थ नहीं जान पाने के कारण न केवल तुम्हारा अपि तु सम्पूर्ण मंत्रिमंडल तथा अन्तःपुर सहित समस्त पुरवासियों का मन कुतूहल से आकुल और चंचल है। अतः अपनी इस उक्ति का हेतु कहता हूँ।

सोकर उठे हुए के समान मैं अपने पूर्व-जन्म को स्मरण कर रहा हूँ, जिसमें मैं इसी नगर में मजदूर का काम कर अपनी अल्प वृत्ति अर्जन करता था। अपनी तथा अपने परिवार की रक्षा के उद्देश्य से तथा अवृत्ति के भय से मैं अपमान, थकावट तथा दुःख के निवास स्थान—उस सेवाकार्य के लिये जा ही रहा था कि मैंने चार जितेन्द्रिय भिक्षार्थी संन्यासियों को देखा। मैंने प्रसन्न और कोमल चित्त से उन्हें प्रणाम किया और पवित्रतापूर्वक अपने घर में उन्हें केवल थोड़ी सी कुल्माष-पिण्डी (कुल्थी की दाल या कोई साग) दी। उसी का यह फल है कि मेरे चरणों की

१—न सुगतपरिचर्या विद्यते स्वल्पिकापि
प्रतनुफलविभूतिर्यच्छ्रुतं केवलं प्राक्।
तदिदमलवणायाः शुष्करूक्षारुणायाः
फलविभवमहत्त्वं पश्य कुलमाषपिण्ड्याः।
रथतुरगविचित्रं मत्तनागेन्द्रनीलं
बलमकृशमिदं मे मेदिनी केवला च।
बहु धनमनुरक्ता श्रीरुदाराश्च दाराः
फलसमुदयशोभां पश्य कुलमाषपिण्ड्याः॥—जातक० ३।४-५

धूल मे राजाओ की चूडामणियो की किरणे पड रही है।[1] हे देवि, यही सोचकर मै यह गाथा-युगल पढ़ता हूँ।

अनन्तर देवी के समान कान्तिमती रानी को स्नेहपूर्वक देखकर राजा ने कहा—"जैसे ताराओ के बीच चाँदनी शोभित होती है वैसे ही तुम स्त्रियो के बीच विराज रही हो। हे कल्याणि, तुमने कौन सा पुण्य कर्म किया था, जिसका यह मधुर फल तुम्हे प्राप्त हुआ है?"[२]

रानी ने कहा—"हे देव, मुझे भी अपने पूर्वजन्म का एक वृत्तान्त ऐसे स्मरण हो रहा है जैसे मैने अपने बचपन मे उसे अनुभव किया हो—दासी का काम करती हुई मे थोडा सा भात निकाल कर निर्मल चित्त मुनि को देकर उस जन्म मे मानो सो रही और इस जन्म मे नीद से जगी। हे राजन्, इतना ही शुभ कर्म मुझे स्मरण हो रहा है, जिस कारण पृथ्वी के साथ-साथ मैने आप जैसे पति को प्राप्त किया है।"[3]

१—"सुप्तप्रबुद्ध इव जातिमनुस्मरामि
यस्यामिहैव नगरे भृतकोऽहमासम्।
शीलान्वितोऽपि बनमात्रसममुच्छ्रितेभ्यः
कर्मभिरावनसमर्जितदीनवृत्ति ॥
सोऽह भृति परिभवश्रमदैन्यशाला
त्राणाशयात्स्वथमवृत्तिभयाद्विविक्षु
भिक्षार्थिनश्च चतुर, श्रमणानपश्य
वश्येन्द्रियाननुगतानिव भिक्षुलक्ष्म्या ॥
तेभ्य प्रसादमृदुना मनसा प्रणम्य
कुल्माषमात्रकमदा प्रयत. स्वगेहे।
तस्याङ्कुरोदय इवैष यदन्यराज-
चूडाप्रभाश्चरणरेणुषु मे निषक्ता ॥"—जातक० ३/१०-१२

२—"चन्द्रलेखेव ताराणा स्त्रीणा मध्ये विराजसे।
अकृथा किं नु कल्याणि! कर्मातिमधुरोदयम् ॥" —जातक० ३/१६

३—"बाल्येऽनुभूतमिव तत्समनुस्मरामि
दासी सती यदहमुद्धृतभक्तमेकम्।
क्षीणाश्रवाय मुनये विनयेन दत्त्वा
सुप्तेव तत्र समवापमिह प्रबोधम् ॥
एतत्स्मरामि कुशलं नरदेव! येन
त्वन्नाथतामुपगतास्मि समं पृथिव्या।
क्षीणास्रवेषु न कृतं तनु नाम किञ्चि-
दित्युक्तवानसि यथैव मुनिस्तथैव ॥"—जातक० ३/१७-१८

तब प्रसन्न और विस्मित सभासदो को राजा ने दान-धर्म के विषय मे अनेक प्रकार से उपदेश दिया। दान-सदा साथ रहने वाली महानिधि है, चोर आदि (चोर, राजा, अग्नि, जल) की पहुँच से बाहर है, मानसिक कृपणता-लोभ-द्वेषरूपी मल को धोनेवाला है, ससार-यात्रा की थकावट को दूर करनेवाला सुखदायक सवारी है। अनेक प्रकार के सुख पहुँचाने के कारण दान आनन्ददायक आत्यिन्तिक सन्मित्र है।[1]

दान के द्वारा मनुष्य जो चाहे प्राप्त कर सकता है। दान देना सम्पत्ति का सार ग्रहण करना है। यह ऐश्वर्य का आदि करण है, श्रीमानो की सज्जनता है, सुन्दर-कर्म है, अल्पज्ञो द्वारा किया गया तुच्छ दान भी सुन्दर दान है।[2]

अन्य जातको की तरह इसमे भी अन्त मे शिक्षात्मक वाक्य के रूप मे कहा गया है कि प्रसन्नतापूर्वक सत्पात्र को दिया गया दान महाफलदायक होने के कारण थोडा नही कहा जा सकता।

४—श्रेष्ठि-जातक

इस जातक मे बोधिसत्त्व की दानवीरता के प्रदर्शन द्वारा दान के माहात्म्य को बतलाया गया है। आरम्भ मे ही कहा गया है कि अपनी विपत्ति की उपेक्षा करके भी सत्पुरुष दान देने की इच्छा करते है तब जो मनुष्य स्वस्थ है वह क्यो नही दान देगा ?[3] तब जैसी कि अनुश्रुति है—

भगवान् बुद्ध जब बोधिसत्त्व थे तो एक बार किसी उत्तम सेठ-कुल मे उत्पन्न हुए। अपने सौभाग्य और सत्प्रयत्न से प्रचुर सम्पत्ति का अर्जन कर वे उदार दानवीर बन गये। शीघ्र ही उनकी दानवीरता का यश दशो दिशाओ मे व्याप्त हो गया और झुण्ड के झुण्ड याचक उनके यहाँ आने लगे।

१—दानं नाम महानिधानमनुगं चोराद्यसाधारण
दान मत्सरलोभदोषरजस: प्रक्षालनं चेतस।
संसाराध्वपरिश्रमापनयन दान सुख वाहन
दान नैकसुखोपधानसुमुखं सन्मित्रमात्यन्तिकम्॥
—जातक० ३/२१

२—सारादान दानमाहुर्धनाना—
मैश्वर्याणा दानमाहुर्निदानम्।
दान श्रीमत्सज्जनत्वावदान
बाल्यप्रज्ञै पासुदानं सुदानम्॥
—जातक० ३/२३

३—अत्ययमप्यविगणय्य दित्सन्ति सत्पुरुषा। केन नाम स्वस्थेन न दातव्य स्यात्।
—जातक० ४/१ के पहले का गद्य।

एक बार उनके भोजन-काल मे भोजन सामग्री परोसी जाने पर उनकी पुण्य-राशि बढ़ाने की इच्छा से एक धीर, शान्त एवं ज्ञानी भदन्त भिक्षु हाथ मे भिक्षापात्र लेकर द्वार के समीप उपस्थित हुए। तब पापी मार ने बोधिसत्त्व की उदारता को नही सह सकने के कारण बिघ्न खडा करने के लिये उन भदन्त तथा द्वार-देहली के बीच अत्यन्त गहरा एवं भयानक नरक बनाया, जिसका भीतरी भाग चंचल ज्वालाओ से विकराल तथा छटपटाते हुए सैकडो लोगो से भरा हुआ था।

"भद्रे, स्वयं जाकर आर्य को पर्याप्त भिक्षा दो।"[1] बोधिसत्त्व का ऐसा आदेश पाकर उनकी पत्नी उत्तम भोजन सामग्री लेकर उस भिक्षु की ओर चली। द्वार के समीप उस भयानक नरक को देख भयभीत होकर लौट आई तथा अवरुद्ध कण्ठ से किसी-किसी प्रकार उसने वह वृत्तान्त अपने पतिदेव से कह सुनाया। अनन्तर उस दानवीर बोधिसत्त्व ने स्वयं उत्तम भोजन सामग्री लेकर द्वार के समीप पहुँच उस अत्यन्त भीषण नरक को देखा। तब उस पापी मार ने घर की दीवार से निकल कर अपनी दिव्य एवं अद्भुत आकृति दिखलाते हुए अन्तरिक्ष मे खडे होकर हितैषी व्यक्ति के समान कहा—हे गृहपति, यह महारौरव नामक नरक है। दान के द्वारा धन का नाश करनेवाले हजारो वर्ष तक इसमे निवास करते है। त्रिवर्ग-साधन के मूल कारण अर्थ का दान द्वारा नाश कर तूने पाप किया है, इसलिये तुझे खाने के लिये यह नरकान्तक मुख आया हुआ है। अत एव दान की ओर से अपने मन को अच्छी तरह रोक ले, जिससे तुम्हारा अभी पतन न होगा।

मेरे दान मे विघ्न खडा करने के लिये इस दुरात्मा की यह चेष्टा है, ऐसा समझ कर बोधिसत्त्व ने नम्र एव मधुर वाणी मे उसके तर्को का खण्डन करते हुए कहा कि दान से बढ़कर कोई धर्म-मार्ग मै नही देखता हूँ तथा मेरा दान लोक-कल्याण के लिये है, आत्मसुख की प्राप्ति के लिये नही। अत एव मै स्वेच्छा से इस नरक मे उतरूँगा तथा याचना द्वारा मित्रता प्रकट करनेवाला भिक्षु का आदर-सत्कार करूँगा।

यह कहकर बोधिसत्त्व अपने भाग्यबल पर निर्भर करते हुए दान देने का परिणाम बुरा नही हो सकता है, यह जानते हुए स्वजन-परिजनों के मना करते रहने पर भी नरक के बीच से चले गये। तब उनके पुण्य-कर्मों के प्रभाव से कीचड के बिना ही उस नरक मे कमल उत्पन्न हो गया जिस पर पैर रखकर उस भिक्षु के समीप पहुँच कर बोधिसत्त्व ने प्रसन्न मन से उन्हे भिक्षा दी। अपना आन्तरिक आनन्द प्रकट करने के लिये भिक्षु आकाश मे उड़ गये और वहाँ विद्युत्प्रकाश युक्त बादल के समान जल बरसाते हुए और प्रज्वलित होते हुए विराजमान हुए।

मार का मनोरथ चूर्ण हो गया और वह कान्तिहीन होकर तुरत अपने नरक के साथ अन्तर्धान हो गया।

१—"भद्रे स्वयमार्याय पर्याप्तं पिण्डपात देहि।"—जातक०—४।४ के बाद का गद्य

कथा के अन्त मे इससे प्राप्त होने वाली शिक्षा को स्पष्ट कर दिया गया है कि सज्जन अपनी विपत्ति की उपेक्षा करके भी दान देने की इच्छा करते है तथा भय दिखलाने पर भी वे कुमार्ग पर नही चल सकते है।

५—अविषह्यश्रेष्ठि-जातक

दान का माहात्म्य बतलाने मे इस जातक को कहा गया है। प्रारभ तथा अन्त मे कहा गया है कि—"धन क्षीण होने की आशका से या समृद्धि की आशा से सत्पुरुष दान से विरत नही होते।"[१]

बोधिसत्त्वावस्था मे भगवान् बुद्ध एक बार त्याग, शील आदि गुणो से सपन्न श्रेष्ठी हुए। अपनी प्रचुर सम्पत्ति से अतिथि-सत्कार कर वे अनवरत दानयज्ञ मे लीन रहते थे। कृपणता आदि दोषो से अविषह्य (अजेय) होने के कारण वे अविषह्य नाम से विख्यात हुए।

याचको को शिष्टाचार और उदारतापूर्वक यथेष्ट धन-राशि का दान करते हुए उस महापुरुष की दानशीलता को सुन देवेन्द्र शक्र के मन मे विस्मय हुआ। उनके दान देने के निश्चय की स्थिरता का पता लगाने के लिये देवेन्द्र प्रतिदिन उसका धन छिपाने लगे। किन्तु धन क्षीण होते रहने पर भी जब वे दानपरायण बने रहे, तब शक्र ने एक ही रात मे उनकी सारी धन-सम्पत्ति छिपा दी, केवल कुण्डलाकार कुछ रस्सी तथा एक हँसिया छोड दी। प्रात काल जगने पर बोधिसत्त्व ने देखा कि उनका घर धन-धान्य तथा नौकर-चाकर से रहित, नि:शब्द, दीन मलिन और श्री-हीन है। किन्तु अविचल धैर्य के कारण बोधिसत्त्व उदास नही हुए और याचको के स्वागत सत्कार करने के ख्याल से स्वयं रस्सी और हँसिये को हाथ मे लेकर प्रतिदिन घास काट कर लाने लगे तथा उसके बेचने से प्राप्त धन के द्वारा भिक्षुओ का स्वागत सत्कार करने लगे। घोर दारिद्र्य मे भी वे दान देने मे प्रवृत्त है, यह देखकर देवेन्द्र शक्र को आश्चर्य और आदर भाव हुआ। तब अपना दिव्य रूप प्रकट करते हुए अन्तरिक्ष मे खडे होकर उन्होने उस महापुरुष को दान-कर्म से विमुख करने के लिये कहा है गृहपति, दानातिरेक से ही आप इस दुरवस्था को प्राप्त हुए है। "थोडा-थोडा करके भी निरन्तर खर्च करने से उपार्जित धन-राशि भी समय पाकर क्षीण हो जाती है और संचय करने से बडे-बडे वल्मीक स्तूप बन जाते है, यह देख कर वृद्धि चाहने वालो के लिये संयम का ही रास्ता उचित है।[२] अत यदि आप दानासक्ति को छोड दे तो पुन. पूर्वकाल की समृद्धि प्राप्त कर सकते है।

१—"न विभवक्षयावेक्षया समृद्ध्याशया वा प्रदानवैधुर्यमुपयान्ति सत्पुरुषा ।"
—जातक०—५।१ के पहले का गद्य

२—"शश्वत् कृशेनापि परिव्ययेण कालेन दृष्ट्वा क्षयमर्जनानाम् ।
चयेन वल्मीकसमुच्छ्रयाश्च वृद्ध्यर्थिन. संयम एव पथा ॥—जातक०५।१०

तब दान देने का माहात्म्य बतलाते हुए बोधिसत्त्व ने कहा—अत्यन्त कष्ट मे पडकर भी हे सहस्रनेत्र आर्यपुरुष के लिये अनार्य कर्म करना कठिन है। इसलिये मुझे वह धन नही चाहिये जिसको लेकर मै याचना के सताप से उदासमुख याचको को प्रसन्न न कर सकूँ। जो जरा-मरण के दु ख से घिरे हुए प्राणियो की रक्षा करने के लिये अपने को भी उत्सर्ग कर देना चाहता है, जो दूसरो के दु खी रहते सुखोपभोग करना नही चाहता, उसको आपकी लक्ष्मी से भी क्या प्रयोजन है ?[1]

तब देवेन्द्र शक्र ने प्रसन्न चित्त से उनकी प्रशसा की तथा छिपायी गयी धन-सम्पत्ति लाकर उन्हे दे दी और उनसे क्षमा-याचना कर वही अन्तर्धान हो गये। यही यह जातक समाप्त हो जाता है।

६—शश-जातक

दान का माहात्म्य एवं अतिथिसत्कार का उपदेश-कथन इस जातक मे हुआ है।

बोधिसत्त्व की अवस्था मे भगवान् बुद्ध एक बार किसी जगल के पवित्र स्थान मे खरगोश की योनि मे पैदा हुए। सत्त्वगुण, रूप-सम्पत्ति, अद्भुत शक्ति, विपुल ओज और सन्तोष से युक्त वे वहाँ मुनि के समान शोभित हुए। उनके मैत्रीपूर्ण उज्ज्वल मानसिक, वाचिक और कायिक कर्मो से दुरात्मा पशु भी प्राय उनके मित्र और शिष्य हो गये। उनके विशिष्टमित्र थे—एक ऊदविलाव (ऊध), एक सियाल और एक बानर। वे सभी वहाँ पशु-पक्षियो के स्वभाव से विमुख होकर प्राणियो पर दया करते थे और धर्मानुसार कीर्ति उपार्जन करते थे। शीघ्र ही सज्जनो के अभीष्ट आचरण से उन्होने देवताओ को भी चकित कर दिया।

एक बार सायंकाल मे धर्मोपदेश सुनने के लिये आये हुए उन मित्रो से उस महात्मा ने शुक्लपक्ष की चतुर्दशी के चन्द्रमा को देखकर कहा—स्पष्ट है कि कल पूर्णिमा होगी। अत आप लोग पोषधव्रत के नियमो का पालन करते हुए न्यायपूर्वक प्राप्त उत्तम आहार से समय पर पहुँचे हुए अतिथि का सत्कार कर प्राण-रक्षा के लिये भोजन कीजियेगा। क्योकि भव-चक्र मे भटकते हुए प्राणियो के लिये पुण्य बहुत बडा सहारा है। 'वहुत अच्छा' कह कर तथा अभिवादन और प्रदक्षिणा कर उनके साथी अपने-अपने घर चले गये। तब उस महात्मा ने सोचा—आये हुए अतिथि का जैसे-तैसे सत्कार करने की शक्ति इनमे तो है किन्तु इसमे मै सोचनीय हूँ। अनन्तर उन्होने अपने शरीरोत्सर्ग द्वारा अतिथि-सत्कार का अद्भुत निश्चय किया। उनके इस उत्तम

१—"त्रातु लोकान्यस्तु जरामृत्युपरीता
नप्यात्मानं दित्सति कारुण्यवशेन।
यो नास्वाद वेत्ति सुखाना परदु खै
कस्तस्यार्थस्त्वद्गतया स्यादपि लक्ष्म्या॥"—जातक०—५।२४

विचार से आनन्दित और विस्मित होकर देवताओ ने अपना प्रभाव प्रकट किया। देवेन्द्र शक्र उस महासत्त्व का भीतरी भाव जानने की इच्छा से दूसरे दिन तीक्ष्ण आतप मे ब्राह्मण का रूप धारण कर भूख-प्यास एवं थकावट के कष्ट से कराहते हुए, उन चारो से कुछ ही दूर पर जोर-जोर से रो-रोकर चिल्लाया—"अपने साथियो से छूटकर मे अकेला इस गहन वन मे भूख-प्यास से व्याकुल होकर भटक रहा हूँ। साधु लोग मेरी रक्षा करे।[१]

ब्राह्मण के करुण-क्रन्दन को सुनकर उन महात्माओ के हृदय कॉप उठे। समीप पहुँच कर उन्होने सान्त्वना देते हुए आग्रह किया कि आप यहाँ विस्रब्ध होकर रहे तथा आज हम लोगो की सेवा-शुश्रूषा स्वीकार कर अनुगृहीत करे और कल अपने स्थान पर जॉय। ब्राह्मण वेषधारी इन्द्र ने मौन स्वीकृति दे दी। तब ऊदबिलाव ने सात रोहू मछलियाँ ले आकर कहा—आप इन्हे खाकर यहाँ रहे। अनन्तर सियार ने भी उस दिन प्राप्त एक गोह और एक दही की हाँडी उनकी सेवा मे प्रसन्नतापूर्वक प्रस्तुत कर दी। बानर ने पके हुए आमो के गुच्छो से अतिथिदेव का सत्कार किया। तब शश ने समीप जा कर सम्मानपूर्वक कहा—जिसके पास उपयोगी जो धन होता है, उसीसे वह आये हुए अतिथि का सत्कार करता है, मेरे पास इस शरीर से अधिक कुछ नही है। इसलिये आप मेरे इस सर्वस्व को स्वीकार करे।"[२] इतना कह कर वह अग्नि की खोज करने लगा। देवेन्द्र शक्र की महिमा से समीप मे ही प्रज्ज्वलित अग्नि-पुज उत्पन्न हो गया। उसे देख परम आनन्दित हो वह उस प्रज्ज्वलित अग्नि-पुंज पर ऐसे चढ़ गया जैसे राजहंस खिलते हुए कमलो से युक्त जलाशय पर चढ़ रहा हो।

यह देख कर देवेन्द्र के मन मे बडा आश्चर्य हुआ। उन्होने अपना स्वाभाविक रूप धारण कर दिव्य पुष्पो को वृष्टि की और कहा—कहाँ इसकी जाति (पशु-योनि) और कहाँ यह अद्भुत त्याग की उदारता और चित्त की दृढ़ता। स्पष्ट ही इस महात्मा ने पुण्य की ओर से उदासीन मनुष्यों और देवताओ को जीत लिया।"[३]

१—"एकं सार्थात् परिभ्रष्ट भ्रमन्त गहने वने।
क्षुच्छ्रमक्लान्तदेहं मा त्रातुमर्हन्ति साधव ॥ —जातक० ६/२२

२—"यदस्ति यस्येप्सितसाधन धन
स तन्नियुङ्क्तेऽर्थिसमागमोत्सवे।
न चास्ति देहादधिकं च मे धन
प्रतीच्छ सर्वस्वमिद यतो मम ॥"—जातक० ६/३०

३—"जाति, क्वेय तद्विरोधि क्व चेद
त्यागोदार्यं चेतस. पाटव च।
विस्पष्टोऽय पुण्यमन्दादराणा
प्रत्यादेशो देवतानां नृणा च ॥—जातक० ६/३५

अनन्तर वे सभी अतिथि सेवी देवलोक मे परम पद को प्राप्त हुए। इस प्रकार पशु-पक्षियो की योनि मे भी महासत्त्व यथाशक्ति दान-धर्म मे प्रवृत्त देखे जाते है। तब मनुष्य होकर कौन दान नही देगा।[1] इससे यह निष्कर्ष भी निकालना चाहिये कि पशु-पक्षी भी अपने गुणानुराग के कारण सज्जनो से पूजित होते है। इसलिये गुणो का आदर करना चाहिये।

यही पर यह जातक समाप्त होता है।

७—अगस्त्य-जातक

प्रस्तुत जातक मे बोधिसत्त्व की असाधारण दानवीरता का वर्णन हुआ है।

भगवान् बुद्ध जब बोधिसत्त्व थे तो एक बार किसी महान ब्राह्मण कुल मे उत्पन्न हुए। यथासमय उनके जात-कर्मादि सस्कार सम्पन्न हुए तथा साग वेदाध्ययन कार्य कराये गये। अपनी विद्या और गुण से अलपकाल मे ही उन्होने विपुल सम्पत्ति अर्जित की। उनकी दानवीरता तथा अतिथिसेवा से उत्पन्न यश सर्वत्र फैल गया।

कुछ समय के बाद गृहस्थी को दोषो का घर समझ विपुल धन सम्पत्ति का सर्वथा त्याग कर वे प्रव्रज्या के नियम पालन मे लीन हो गये, किन्तु पूर्व परिचय के कारण उनके गुणो से आकृष्ट होकर मोक्ष चाहनेवाले लोग उनके पास पूर्ववत् आते ही रहे। तब उस महासत्त्व ने ध्यान-सौकर्य के लिये दक्षिण समुद्र के मध्य मे स्थित कारा द्वीप मे जाकर आसन जमाया और उसे अपने आश्रम की शोभा से युक्त किया।

तपोवन मे रहते हुए भी वे स्वच्छ जल, फल-मूल और मनोहर वचन द्वारा आये अतिथियो का सत्कार करते थे तथा उनके उपयोग से अवशिष्ट फल-मूल शरीर-धारणार्थ खाकर जीवित रहते थे। जब उनकी तपस्या की कीर्त्ति चरम सीमा को पार करने लगी तब उससे विचलित होकर देवेन्द्र शक्र ने उस महासत्त्व की स्थिरता की परीक्षा के लिये जंगल के समस्त फल-मूल का क्रम से लोप कर दिया। तब सन्तोषी बोधिसत्त्व इसकी परवाह न कर वृक्षो के नये पत्तो से भोजन का काम निकाल कर तृप्त रहने लगे। सन्तोषियो के लिये कही भी आहार प्राप्त करना कठिन नही है। घास-पात और जलाशय कहाँ नही रहते ?[1]

देवेन्द्र शक्र को उनके व्रत की स्थिरता पर बहुत ही आश्चर्य हुआ, किन्तु अपनी परीक्षा उन्होने जारी रक्खी। उन्होने समस्त तृण-तरुओ और लताओ को

१—तिर्यग्गतानामपि महासत्त्वाना शक्त्यनुरूपा दानप्रवृत्तिर्दृष्टा। केन नाम मनुष्यभूतेन न दातव्य स्यात्।''—जातक० ६/३८ के बाद का गद्य

१—न क्वचिद्दुर्लभा वृत्ति. सतोषनियतात्मनाम्।
कुत्र नाम न विद्यन्ते तृणपर्णजलाशया. ॥—जातक० ७/५

पत्रहीन कर दिया। तब बोधिसत्त्व ताजे झडे हुए पत्तो को बटोर कर तथा पानी मे उबाल कर उसे अमृत के समान प्रसन्न चित्त से खाकर ध्यानसुख मे लीन रहने लगे। इतने पर भी इन्द्र को जब सन्तोष नही हुआ तब वे उनके व्रतकाल मे क्रोधी ब्राह्मण-रूपधारी अतिथि बनकर उनके सम्मुख प्रकट हुए तथा भोजन के लिये निमंत्रित किये जाने पर अपनी मौन स्वीकृति दे दी। बोधिसत्त्व ने प्रसन्न मन से अतिथि को कष्ट-पूर्वक प्राप्त किये समस्त आहार (उबाले हुए पत्तो) को देकर स्वय दान-जन्य आनन्द से ही तृप्त हो गये। दूसरे, तीसरे, चौथे और पाँचवें दिन भी इसी प्रकार व्रत-काल मे प्रकट होकर इन्द्र उनका समस्त आहार आतिथ्य रूप मे ग्रहण करते रहे और वे महात्मा अपने ध्यान मे पूर्ववत् दिवारात्रि भूखे रहकर प्रसन्न मन से लगे रहे। सच है—सज्जनो की बढ़ी हुई दानाभिलाषा प्राणान्तक दु खो मे भी क्षीण नही होती।"[१]

तब आश्चर्य और भय से व्याकुल इन्द्र ने अपना दिव्य रूप धारण कर उनसे इस कठिन तप का प्रयोजन पूछा। बोधिसत्त्व ने कहा—"बार-बार जन्म लेना अत्यन्त दु खदायक है, रूप को कुरूप करनेवाला बुढ़ापा, मृत्यु और रोग अत्यन्त दु खदायक है। अत प्राणियो की रक्षा के लिये ही मै इसमे स्थित हूँ।"[२]

ये मेरी लक्ष्मी की कामना नही करते, यह जानकर देवन्द्र शक्र का हृदय आश्वस्त हुआ। तब उन्होने उस महात्मा की भूरि-भूरि प्रशंसा की तथा वर माँगने के लिये बार-बार आग्रह किया। सुख-भोगो मे अनासक्त और संतोष-परायण बोधि-सत्त्व उसे धर्मोपदेश करने की भावना मे प्रथमत लोभानल से, द्वितीयत द्वेषाग्नि से एवं तृतीयत मूर्खो के सम्पर्क से अलग रखने का वर माँगा। साधु-साधु कहकर देवेन्द्र शक्र ने उनका अभिनन्दन किया तथा पुन वर माँगने का आग्रह किया। इस बार धीर-पुरुष के सम्पर्क का वर माँग कर उन्होने सज्जन का माहात्म्य बतलाते हुए कहा—सज्जन स्वयं सुमार्ग पर चलता है और दूसरो को भी उस मार्ग पर ले जाता है। रूखा हितकारी वचन भी उसे विचलित नही कर सकता।[३]

अत्यधिक प्रसन्न होकर शक्र ने पुन प्रार्थना की—

"आप संतोषात्मा ने अवश्य ही सब कुछ प्राप्त कर लिया है। अत मेरे ऊपर अनुग्रह करने के विचार से आप वह ग्रहण करे।"[४]

१—दानाभिलाष साधूना कृपाभ्यासविवर्धित ।
नैति सकोचदीनत्व दु खै प्राणान्तिकैरपि ॥—जातक० ७/८

२—पुन पुनर्जातिरतीवदु ख जराविपद्व्याधिविरूपताश्च
मर्त्तव्यमित्याकुलता च बुद्धेर्लोकानतस्त्रातुमिति स्थितोऽस्मि ॥—जातक० ७/१२

३—व्रजति गुणपथेन च स्वय नयति परानपि तेन वर्त्मना ।
वचनमपि न रूक्षमक्षमा जनयति तस्य हितोपसहितम् ॥—जातक० ७/३०

४—कामं सन्तोषसात्मत्वात् सर्वत्र कृतमेव ते ।
मदनुग्रहबुद्धया तु ग्रहीतु वरमर्हसि ॥—जातक० ७/३२

तब बोधिसत्त्व ने उसका हित करने की कामना से दान देने की उत्कृट इच्छा प्रकट करते हुए कहा—

"मुझे कभी क्षीण न होने वाला आपका अन्न हो, दान देने के लिए कोमल मन हो, सदाचारी याचक हो, मै यही वर मागता हूँ।"[1]

इस प्रकार अनेकानेक वर देकर शक्र उन्हे प्रणाम कर वही अन्तर्धान हो गये। रात बीतने पर प्रात काल बोधिसत्त्व ने शक्र के प्रभाव से लाये गये प्रचुर दिव्य अन्न, प्रत्येकबुद्धो तथा भोजन परोसने के लिए उन्नत अनेक देव-कुमारो को देखा। उनके द्वारा महर्षियो को तृप्त कर वे मुनि अत्यन्त आनन्दित हुए तथा स्वयं तपस्वियो के योग्य आहार, ध्यान-नियम और शान्ति से ही प्रसन्न रहे।

इस प्रकार त्याग वीरता तपोवन मे रहने वालो के लिए भी अलंकार है, गृहस्थो के लिए तो पहले ही। दानवीरत्व की प्रशसा मे, लोभ, द्वेष, मोह और मूर्खता की निन्दा करने मे, कल्याण-मित्र की संगति का गुण-गान करने मे, संतोष की कथा कहने मे, और तथागत का माहात्म्य बतलाने मे यह दृष्टान्त उपस्थित करना चाहिए।

८—मैत्रीबल-जातक

इस जातक मे बोधिसत्त्व की महाकरुणा का वर्णन है। प्रारभ मे तथा अन्त मे उपदेशवाक्य के रूप मे कहा गया है कि दूसरा के दु ख से दु खी होनेवाले अत्यन्त दयालु मनुष्य अपने दु ख की चिन्ता नही करते है।[2] तब जैसी की अनुश्रुति है—

बोधिसत्त्व एक बार मैत्रीबल नामक राजा हुए। सब प्राणियो के प्रति उनके मन मे मैत्री-भावना थी। वे दयालु महात्मा संसार के कल्याण मे दत्त-चित्त तथा दान, धर्मानुराग आदि लोकोपकारी सद्गुणो से युक्त थे।

एक बार यक्षपति कुबेर द्वारा किसी अपराध मे अपने देश से निर्वासित होकर पाँच यक्ष उस राज्य मे आये। वे प्राणियो के ओज हरण करने वाले तथा दूसरो का बध करने मे निपुण थे। आते ही वे अपने कार्य मे लग गये, किन्तु उस पुण्यात्मा राजा के पुण्य-प्रताप से उस देश के किसी भी आदमी का ओज हरण नही कर सके।

तब ब्राह्मण का रूप बनाकर विचरते हुए उन यक्षो ने एक वनचारी गोपालक (ग्वाले) को छाँहदार वृक्ष के मूल मे हरी दूब पर बैठा हुआ देखा तथा

---

१ त्वदीयमन्न क्षयदोषवर्जित
मनश्च दित्साप्रतिपत्तिपेशलम्।
विशुद्धशीलाभरणाश्च याचका
मम स्युरेता वरसपद वृणे॥—जातक० ७/३४

२. "न परदु खातुरा स्वसुखमवेक्षन्ते महाकारुणिका।"
—जातक० ८/१ के पहले का गद्य

समीप जाकर कहा—"थ थ थ द द का का का का का।[1] हे गोरक्षक, इस एकान्त और निर्जन वन मे अकेला विचरता तू भयभीत क्यो नही हो रहा है ?" यहाँ स्वभाव से ही क्रूर मास-भक्षी राक्षसो का भी वास रहता है। यह सुनकर ग्वाले ने हँसते हुए कहा—"इस देश के लोग महास्वस्त्ययन (महान् रक्षक) के द्वारा परिपालित हैं। इसलिये इन्द्र का भी उन पर कुछ बस नही चल सकता, फिर माँस-भक्षी राक्षसो का क्या कहना ? इसलिये इस जंगल मे भी वैसे ही जैसे कि अपने घर मे, रात्रि मे भी वैसे जैसे कि दिन मे, अकेला भी वैसे-जैसे जनसमुदाय के बीच विचरण करता हूँ।[2] कुतूहल की प्रबलता के कारण उन यक्षो ने कहा—"हे भद्र ! तुम्हारा यह स्वस्त्ययन विशेष (विशिष्ट-रक्षक) कौन है ? तब विस्तृत रूप से उसने अपने राजा का गुण-गान किया।

राजा की दान-प्रियता आदि गुणो को सुनकर उनका अपकार करने की इच्छा से यक्षो ने दर्शन-काल मे उनके समीप जाकर भोजन माँगा। प्रसन्न मन से राजा ने उनके लिये उत्तम भोजन मंगवाया, किन्तु उन्होने ग्रहण नही किया तथा पूछने पर कहा—"हे कमलनयन, हे अखण्डव्रत, मनुष्य का ताजा मास और गर्म रुधिर यही तो यक्षो का खाना और पीना है।[3]

इतना कहकर उन्होने अपने विकृत एवं भयंकर रूप धारण कर लिये जिसे देखने पर राजा को निश्चय हो गया कि ये पिशाच है। तब दयालु राजा ने अनेक प्रकार का चिन्तन कर निश्चय किया कि इन्हे इस प्रकार का आहार देने के निमित्त मैं क्यो एक दिन के लिये भी परहिसा और प्राणि-बध करूँ ? साथ ही याचको को निराश करके लौटाना भी मेरे लिये असंभव है। अत अपने ही शरीर से शोणित-सहित स्थिर और पुष्ट मास काट कर इन्हें दूँगा। इसके अतिरिक्त आये हुए याचको का सत्कार करने के लिये मेरे पास दूसरा कौन सा उचित उपाय है ?"[4] आनन्द-विभोर होकर तब उस महात्मा ने यक्षो से अपना शरीर दिखलाते हुए कहा—

१—मनुष्यो की बोली बोल सकने के पहले यक्ष तुतलाते हैं।

२—जन स्वस्त्ययनेनाय महता परिपाल्यते।
देवेन्द्रेणाप्यशक्योऽत्र किं पुन पिशिताशनै ॥
तेन गेह इवारण्ये रात्रावपि यथा दिवा।
जनान्त इव चैकोऽपि निर्भयो विचराम्यहम्। जातक० ८।९-१०

३—प्रत्यग्रोष्मानि मासानि नराणा रुधिराणि च।
इत्यन्नपान पद्माक्ष ! यक्षाणामक्षतव्रत ॥—जातक० ८।१६

४—स्वत शरीरात्स्थिरपीवराणि
दास्यामि मासानि सशोणितानि।
अतोऽन्यथा को हि मम क्रम स्या-
दित्यागतेष्वर्थिषु युक्तरूप ॥—जातक० ८/२२

"मैने यह मास और शोणित लोकोपकार के लिये ही धारण किया है। यदि आज इसका अतिथिसत्कार मे उपयोग हो तो यह मेरा बडा सौभाग्य होगा।"[१] उनके द्वारा स्वीकृति मिलने पर विश्वस्त अमात्यो के विनयपूर्वक अनेक प्रकार से मना करने पर भी राजा ने वैद्य को बुलवा कर अपने शरीर की पाँच रक्तधमनियो को कटवा दी तथा यक्षो से कहा—

"इस दान को स्वीकार कर धर्म-कार्य मे मेरी सहायता करते हुए आप मुझे अत्यन्त आनन्दित कीजिये।"[२]

"बहुत अच्छा" कह कर वे अपने अजलिपुटो से ही राजा का रुधिर पीने लगे। इससे राजा को बहुत आनन्द हुआ। प्यास और थकावट दूर होने पर यक्षो ने राजा से कहा—"बस इतना ही पर्याप्त है। आनन्द से उनके नेत्र और भी खिल उठे। तब तेज तलवार से प्रसन्नतापूर्वक राजा ने अपना मास काट कर उन्हे दिया। इसे देख कर उन राक्षसो के कठोर मन भी कोमल हो गये तथा राजा के प्रति उनमे श्रद्धा उत्पन्न हो गयी। धर्मानुराग या दया के वशीभूत हो कर दूसरो के लिये अपने प्रिय शरीर को त्यागने वाले मनुष्य द्वेषाग्नि से जले हुए चित्त को भी प्रसन्न कर के निर्मल और नया बना देता है।[३]

राजा के प्रति उनका क्रोध दूर हो गया तथा उनको प्रणाम कर उन्होने अपनी संतोषाभिव्यक्ति की और पूछा—

"अनायास ही प्राप्त इस अनुरक्त राज्यलक्ष्मी का अनादर कर वह कौन-सा अद्भुत स्थान है जिसंको इस मार्ग से चल कर आप प्राप्त करना चाहते है? तब राजा ने कहा—

१—अमूनि मासानि सशोणितानि
धृतानि लोकस्य हितार्थमेव।
यद्यातिथेयत्वमुपेयुरद्य
महोदय सोऽभ्युदयो मम स्यात्॥
—जातक० ८/२५

२—"धर्मकर्माणि साचिव्य प्रीतिं च परमा मम।
भवन्तः कर्त्तुमर्हन्ति देयस्यास्य प्रतिग्रहात्॥"
—जातक० ८/४०

३—"धर्मप्रियत्वात्करुणावशाद्वा
त्यजन्परार्थे प्रियमात्मदेहम्।
द्वेषाग्निदग्धान्यपि मानसानि
प्रसादसौवर्ण्यनवानि कुर्यात्॥"
—जातक० ८/४७

जब तक मै इन अनाथ देहधारियो को घोर विपत्ति मे देखता हूँ, तब तक केवल अपने ही दु ख का नाश होने से मेरे मन मे सन्तोष नही हो सकता ।

इस पुण्य के द्वारा बुद्धत्व प्राप्त कर और दोष (राग-द्वेष-मोह) रूपी शत्रुओ को जीत कर मै जरा-व्याधि-मृत्युरूपी महातरंगो से युक्त भवसागर से संतप्त प्राणियो का उद्धार करना चाहता हूँ ।[1]

आनन्द से रोमाचित हो यक्षो ने राजा से कहा—आपका यह सम्पूर्ण उद्योग लोकहित के लिये ही है । इस लक्ष्यप्राप्ति के समय हम स्वार्थी यक्षो को भी स्मरण रखियेगा ।

तब प्रसन्न मन से राजा ने कहा—यदि आप मेरा प्रिय करना चाहते है तो प्राणिहिंसा, दूसरो का धन और स्त्री-हरण करने का लोभ, निंदित वचन और मद्य-रूपी पाप को विष समझ कर छोड़ दीजिये ।[2]

तब बहुत अच्छा कह कर उन यक्षो ने वैसा न करने की प्रतिज्ञा की और राजा को प्रणाम कर वही अन्तर्धान हो गये ।

जिस समय बोधिसत्त्व ने रक्त और मास देने का अद्‌भुत निश्चय किया था, उस समय देवादियो ने फूल बरसाये, दुन्दुभियाँ बजायी तथा पृथ्वी प्रकम्पित हो उठी थी, जिससे घबरा कर देवेन्द्र शक्र पता लगाने के लिये निकले और राजा के समीप पहुँचे तथा सारी बातें जान कर उन्हे परम प्रसन्न देख आनन्दित हुए एव अनेक प्रकार से उनकी स्तुति कर दिव्य एवं उत्तम औषधियो से उनके घाव को पूरा कर उनके शरीर को पूर्ववत् कर दिये । तब राजा से पूजित होकर इन्द्र अपने निवास स्थान को लौट गये ।

अन्त मे कहा गया है कि—दाताओ को उत्तेजित करने मे, करुणा का वर्णन करने मे तथागत का माहात्म्य दिखलाने मे और सावधान होकर धर्मश्रवण करने मे यह कथा कहनी चाहिये ।

१—अनेन पुण्येन तु सर्वदर्शिता-
मवाप्य निर्जित्य च दोषविद्विष ।
जरा-रुजा-मृत्युमहोर्मिसङ्कुलात्-
समुद्धरेय भवसागराज्जगत् ॥"—जातक० ८।५५

२—"अस्मत्प्रियं चाभिसमीक्षमाणै—
हिंसा भवद्भिर्विषवद्विवर्ज्या ।
लोभ परद्रव्यपरिग्रहेषु
वाग्गर्हिता मद्यमयश्च पाप्मा ॥"—जातक० ८/६०

९—विश्वन्तर-जातक

साधारण प्राणियो के लिए बोधिसत्त्व के कार्यो का अनुमोदन करना भी आसान नही है, फिर उनके करने का क्या कहना। तब जैसी कि अनुश्रुति है —

बोधिसत्त्वभूत भगवान् बुद्ध एक जन्म मे शिविराज संजय के विश्वन्तर नामक पुत्र हुए। प्रतिष्ठा मे वे राजा के बाद थे, किन्तु गुणो की ख्याति मे राजा से भी अधिक।

युवा हो कर भी वे वृद्धोचित शान्ति से युक्त, तेजस्वी हो कर भी क्षमाशील, विद्वान् हो कर भी ज्ञान-मद से अनभिज्ञ तथा लक्ष्मीपात्र हो कर भी अभिमान से रहित थे।[1]

युवराज हो कर वे प्रतिदिन आये हुए याचको को प्रिय वचन और शिष्टाचार के साथ मनोरथ से भी अधिक दान दे कर आनन्दित करते थे। इससे उनका दानानुराग चारो ओर फैल गया। तब किसी निकटवर्ती राजा ने उनके सुलक्षणवान गजेन्द्र को दान द्वारा अपहरण कराने की इच्छा से ब्राह्मणो को उनके समीप भेजा। स्पष्टत किसी राजा की यह चाल है, यह समझते हुए भी विश्वन्तर ने सानन्द उस गजेन्द्र वर को दान कर दिया।

इस वृत्तान्त को सुन कर शिवि श देके लोग अत्यन्त क्रुद्ध हो कर राजा के समीप आये और विश्वन्तर को राज्य से निष्कासित कर वङ्क पर्वत पर चले जाने के विषय मे कहा। राजाज्ञा से वे पत्नी एवं बाल-बच्चो सहित वहाँ से निकल कर वङ्क पर्वत पर चने। राह मे उस दानप्रिय राजा से ब्राह्मणो ने रथ ढोने वाले घोडो की याचना की और उन्होने दान भी कर दिया तथा स्वयं रथ ढोने का निश्चय किया। उस समय रोहित-मृगो के रूप मे चार यक्षकुमार प्रकट हुए तथा सुशिक्षित घोडो के समान रथ के जुए को अपने कंधो पर ले लिया। कुछ दूर जाने पर एक दूसरे ब्राह्मण ने उस उत्तम रथ की याचना की। बोधिसत्त्व ने प्रसन्नतापूर्वक स्वजनो को रथ से उतार कर ब्राह्मण को रथ दे दिया। पैदल चल कर तब वे उस पर्वत पर पहुँचे तथा कठिन तपस्या करने लगे। पर्वत पर रहते हुए भी बोधिसत्त्व दानशीलता को छोड न सके। एक दिन किसी वृद्ध ब्राह्मण के याचना करने पर उन्होने अपने बच्चो को भी दान कर दिया। इससे देवेन्द्र शक्र अत्यन्त विस्मित हुए तथा ब्राह्मण का रूप धारण कर उनकी परीक्षा लेने के लिये उनसे उनकी पत्नी की याचना की। उस दानवीर ने परम हर्ष के साथ उसे अपनी भार्या दान कर दी।

---

१ "युवापि वृद्धोपशमाभिरामस्-
तेजस्व्यपि क्षान्तिसुखस्वभाव.।
विद्वानपि ज्ञानमदानभिज्ञ
श्रिया समृद्धोऽप्यवलेपशून्य.॥"
—जातक० ९/३

इस अद्‌भुत त्याग एवं दान से देवेन्द्र शक्र अत्यन्त प्रसन्न हुए। अनेक प्रकार से उनकी प्रशंसा कर उन्होने कहा—"मैं आपकी पत्नी मद्री को वापस दे रहा हूँ तथा शीघ्र ही आपके पिता दोनो बच्चो सहित आपके समीप आयेंगे और आपको राजतिलक दे कर राज्य को उत्तम राजा से युक्त करेंगे।"[1] इतना कहकर शक्र वही अन्तर्धान हो गये। उनके प्रभाव से वह ब्राह्मण बोधिसत्त्व के बच्चो को शिविराज्य मे ही ले गये। जब शिबियो और शिविराज ने बोधिसत्त्व के इस अतिकरुण एव अतिदुष्कर कर्म को सुना तब उनके हृदय पिघल गये। उन्होने बच्चो को ब्राह्मण के हाथ से छुडाया, तपोवन जाकर विश्वन्तर को मनाया और उन्हे सत्कारपूर्वक ले आकर राज्यासन पर बैठाया।

इसलिये कहा गया है कि बोधिसत्त्व के चरित अद्‌भुत है। अत उनके मार्ग पर चलने वाले प्राणियो का अपमान न करना चाहिये और उन्हे विघ्न न पहुँचाना चाहिये।

१०. यज्ञ-जातक

अपने पूर्व जन्मो मे भी भगवान् बुद्ध लोकोपकार मे दत्त-चित्त रहते थे। तब जैसी कि अनुश्रुति है—

बोधिसत्त्व एक जन्म मे एकच्छत्र पृथिवी के अधिपति हुए। उनका राज्य सभी प्रकार के उपद्रवो से रहित था। धर्माचरण ही उनका एकमात्र कार्य था।

एक बार उनके बाहु-बल से रक्षित होने पर भी उस देश मे प्राणियो के दुष्कर्म से और वर्षा के अधिकारी देव-दूतो की असावधानी से कही-कही अनावृष्टि के कारण बडी व्याकुलता हुई। प्रजा के हितचिन्तन मे तत्पर उस धर्मात्मा राजा ने कुलपुरोहितो, वृद्धब्राह्मणो और बुद्धिमान् मन्त्रियो से इसके निवारण का उपाय पूछा। उन लोगो ने वेद विहित यज्ञ-विधि को वृष्टि का कारण मानते हुए उसका वर्णन किया जो सैकडो प्राणियो की हिसा के कारण भयकर है। उस दयालु राजा ने प्राणि-हिसा युक्त उस यज्ञ का अनुमोदन नही किया, किन्तु नम्रता के कारण स्पष्टत. कुछ नही कह कर उस विषय को टाल दिया। राजा के गम्भीर और गूढ आशय को नही समझ सकने के कारण उन लोगो ने धर्मविषयक बातचीत के क्रम मे यज्ञ करने के लिये उन्हे बार-बार उपदेश दिया।

१—"तुभ्यमेव प्रयच्छामि मद्री भार्यामिमामहम्।
व्यतीत्य नहि शीताशु चन्द्रिका स्थातुमर्हति॥
तन्मा चिन्ता पुत्रयोर्विप्रयोगा-
द्राज्यभ्रशान्मा च संतापमागा।
सार्धं ताभ्यामभ्युपेत पिता ते
कर्ता राज्यं त्वत्सनाथ सनाथम्॥"—जातक० ९।९९–१००

बाध्य होकर राजा ने सोचा—भला पशु-हिसा से धर्म का, स्वर्ग-प्राप्ति का या देवताओ की प्रसन्नता का क्या शम्बन्ध हो सकता है ?[1] अत इस सम्बन्ध मे ऐसा करना चाहिये, यह निश्चय कर उनकी बात मान कर राजा ने कहा—मै सुरक्षित और अनुगृहीत हूँ कि आप लोग मेरे हितचिन्तन मे इस प्रकार दत्तचित्त है। मै सहस्र नर-मेध यज्ञ करना चाहता हूँ। अमात्यगण अपने-अपने अधिकारानुसार यज्ञसामग्रियाँ मंगवाइये। यज्ञ-शाला खडी करने योग्य भूमि की परीक्षा कीजिये और यज्ञ के उपयुक्त तिथि करण-मुहूर्त्त-नक्षत्र-योग की जाँच कीजिये।

प्रजाओ को एकत्र कर उन्होने कहा—प्रमाद एवं निद्रा से रहित निर्मल गुप्तचर रूपी नेत्रो द्वारा आज से आप लोगो के बीच जिस किसी को शील-मर्यादा का उल्लंघन करते मेरी आज्ञा की अवहेलना करते देखूँगा उस कुलागार देश-कण्टक को यज्ञ-पशु के निमित्त ग्रहण करूँगा।

प्रजाओ ने सहर्ष राजाज्ञा को स्वीकार की। तब राजा ने विश्वासी अमात्यो को पापियो को पकडने के लिये चारो ओर भेजा तथा प्रतिदिन अपनी घोषणा डके की चोट से करवाई। इससे उस देश के लोग दुराचार की आसक्ति को छोड कर शील-सवर से युक्त हो गये, वैर-भाव से विमुख हो कर परस्पर प्रेम और सम्मान करने मे प्रवृत्त हुए, लडाई-झगडा छोड कर गुरुजनो की आज्ञा मे रहने लगे। वे उदार, अतिथि-सेवक, विनयी और विनम्र हो गये मानो वे कृतयुग मे रहते हो। गुप्तचरो के द्वारा यह वृत्तान्त सुनाने पर प्रसन्न मन से राजा ने उन्हे खूब दान दे कर तृप्त किया तथा मंत्रियो को आदेश दिया कि मेरी प्रजा अब दक्षिणा पाने के योग्य हो गयी है। अत एव मुझसे यथाभिलषित धन प्राप्त कर वह अपनी दरिद्रता दूर करे। तब सचिवो ने दानशालायें बनवा कर याचको को यथेष्ट धन दे कर तृप्त किया। इस प्रकार उनके धर्म-यज्ञ द्वारा समृद्धशालिनी पृथिवी का दृश्य रमणीय हो गया। राजा की कल्याण-कामना मे लगे हुए लोगो ने उनका यश चारो ओर फैलाया।

इससे यह निष्कर्ष निकालना चाहिये कि धर्माचरण से प्रजाओ का कल्याण होता है, इसलिये कल्याण चाहने वालो को धर्म का अनुसरण करना चाहिये। साथ ही पशुहिंसा से कदापि अभ्युदय नही हो सकता, अपितु दान, दम, सयम आदि से अभ्युदय होता है। इसलिये अभ्युदय चाहने वालो को दान आदि करना चाहिये।

११—शक्र-जातक

विपत्ति के कारण प्राणियो के प्रति महात्माओ की अनुकम्पा मे कमी नही होती।

१—"को हि नामाभिसम्बन्धो धर्मस्य पशुहिंसया।
सुरलोकाधिवासस्य दैवतप्रीणनस्य वा॥"
—जातक० १०।१०

बोधिसत्त्व एक बार देवो के अधिपति इन्द्र हुए। अद्‌भुत लक्ष्मी से युक्त होने पर भी उनका हृदय अभिमान से मलिन नही हुआ। स्वर्ग और पृथिवी के सम्यक् परिपालन से उन्हे त्रिभुवन-व्यापिनी कीर्त्ति प्राप्त हुई। दैत्यो के लिये यह असह्य हो गया तथा अपनी विशाल सेना लेकर उनसे युद्ध करने के लिये वे चल पडे। उस धर्मात्मा राजा ने प्रजा के सुख मे विघ्न की आशंका से अपनी अद्‌भुत देव-सेना के साथ समुद्र तट पर असुर सेना का मुकाबला किया। तब वहाँ भयंकर देवासुर-संग्राम हुआ। राक्षसो की तीक्ष्ण तलवारो और तीरो से डर कर देवेन्द्र की सेना जब भाग चली तब अकेले ही शत्रु-सेना को रोक कर वे समर मे स्थिर रहे।

हर्षोल्लास मे घोर गर्जन करती हुई राक्षसो की विशाल सेना को समीप आते देख कर तथा अपनी सेना को भागने मे तत्पर जान कर देवेन्द्र के सारथि मातलि ने वहाँ से हट जाना ही उचित समझ रथ को घुमाया। सामने शाल्मली वृक्ष पर गरुड नामक पक्षियो के घोसलो को रथ के टकराने के रास्ते मे आये हुए देख कर दयार्द्रचित्त शक्र ने अपने सारथि से उसे बचाने के लिये कहा। तब मातलि ने दैत्यसेना की निकटता से असमर्थता प्रकट की तथा कहा—"हे कमलनयन, इस रथ के घुमाने से तो केवल पक्षियो का ही कल्याण होगा। बहुत देर के बाद देवताओ पर विजय प्राप्त करनेवाली यह शत्रु-सेना हमारा पीछा करती हुई समीप आ रही है।"[1]

तब देवाधिपति शक्र ने अपना उत्कृष्ट धैर्य प्रकट करते हुए कहा—भय से कातर मुख वाले इन प्राणियो को मार कर अपकीर्त्ति से कलंकित हो कर जीवित रहने की अपेक्षा मृत्यु को प्राप्त होना श्रेयस्कर है। अत रथ को लौटाओ। शीघ्र ही मातलि ने उनके हजार घोडो वाले रथ को लौटाया। इन्द्र के रथ को लौटा हुआ देख शत्रु-दल भय से भागते हुए गिरने पडने लगे। आसुरी सेना को अस्त-व्यस्त देख इन्द्र की सेना भी लौट आई तथा शत्रुओ को पुन लौटने की हिम्मत न हुई। विजय-लक्ष्मी से शोभित इन्द्र देवो से सम्मानित होकर अपने नगर और अन्त पुर मे आये।

इसलिये कहा जाता है —

नीच मनुष्य अपनी क्रूरता के कारण सर्वदा पापाचरण करता है, मध्यम बुद्धिवाला दयालु व्यक्ति विपत्ति मे पड कर पाप-कर्म करता है, किन्तु साधु पुरुष तो प्राण जाने पर भी अपनी सद्‌वृत्ति का उल्लंघन करने मे समर्थ नही होता। जैसे कि समुद्र अपनी सीमा को पार नही कर सकता—

१—"निवर्तनादस्य रथस्य केवल
शिवं भवेदम्बुरुहाक्ष पक्षिणाम्।
चिरस्य लब्धप्रसरा सुरेष्वसा-
वभिद्रवत्येव तु नो द्विषच्चमू ॥
—जातक० ११/१२

पाप समाचरति वीतघृणो जघन्य
प्राप्यापद सघृण एव तु मध्यबुद्धिः ।
प्राणात्ययेऽपि तु न साधुजन स्ववृत्ति
वेला समुद्र इव लङ्घयितु समर्थं ॥[1]

इससे यह निष्कर्ष भी निकालना चाहिये कि धर्म धार्मिको की रक्षा करता है।

१२—ब्राह्मण-जातक

आत्म-लज्जा के कारण सत्पुरुष सदाचार की सीमा का अतिक्रमण नही करते। कहते है—

बोधिसत्त्व एक बार किसी महान् ब्राह्मण-कुल मे जन्म लिया। यथासमय उनके गर्भाधान-पुसवन-सीमन्तोन्नयन-जातकर्म आदि सस्कार किये गये। अनन्तर वे वेदाध्ययन के लिये किसी विद्वान् सदाचारी गुरु के समीप गये। अल्प-काल मे ही सहज मेधाशक्ति तथा स्थिर गुरुभक्ति से वे अपने गुरु के अत्यधिक प्रियपात्र बन गये।

एक बार उनके अध्यापक शिष्यो के शील की परीक्षा करने के लिये अपने दारिद्रय का वर्णन करने लगे। गुरु-स्नेह के कारण उनके शिष्य विकलित हो गये तथा उत्तमोत्तम एव अधिकाधिक भिक्षा माग कर लाने लगे। तब गुरु ने उनसे कहा—आप लोगो का यह परिश्रम बेकार है। भिक्षा के अन्न से किसी की दरिद्रता दूर नही हो सकती। तब किन शास्त्र विहित उपायो के करने से आपकी दरिद्रता दूर कर हम गुरु के अध्यापन-परिश्रम से उऋण हो सकते है, ऐसा शिष्यो द्वारा पूछने पर उन्होने कहा .—

द्विजो के लिये चोरी को आपद्धर्म कहा गया है और संसार मे निर्धनता अन्तिम विपत्ति है। इसलिये दूसरो की सम्पत्ति का उपयोग करने मे हम दोषी नही हो सकते और यह सब कुछ तो ब्राह्मणो की ही सम्पत्ति है।"[2]

इस प्रकार जब गुरु ने बन्धन खोल दिया तब बोधिसत्त्व को छोड कर अन्य सभी छात्रो ने उनके वचन को उचित समझ कर स्वीकार कर लिया। किन्तु बोधि-

---

१—जातक० ११/१८

१—"आपद्धर्मः स्तेयमिष्ट द्विजाना-
मापच्चान्त्या नि.स्वता नाम लोके ।
तस्माद् भोज्य स्वं परेषामदुष्टैः
सर्वं चैतद्-ब्राह्मणाना स्वमेव ॥"
—जातक १२/८

सत्त्व न तो इसका अनुमोदन ही कर सके और न विरोध ही। वे लज्जा से मुख झुका कर चुप हो गये। गुरु के द्वारा पूछे जाने पर उन्होने कहा—मै जो इस प्रकार स्थिर हूँ, वह इसलिये नही कि अपनी स्नेह-हीनता और कठोरहृदयता के कारण मै गुरु के दु ख मे दुखी नही हो रहा हूँ, किन्तु इसलिये कि आचार्य का बताया हुआ उपाय संभव नही है। क्योकि किसी के लिये भी छिप कर पापाचरण करना शक्य नही है। क्योकि एकान्त का अस्तित्व ही नही है।[१] गुरु को प्रसन्न चित्त देख कर बोधिसत्त्व ने पुन कहा —

यहाँ मेरे मन मे यह विश्वास नही हो रहा है कि आप भी धन के लिये हमे इस प्रकार बहका सकते है। सद्‌गुण और दुर्गुण का अन्तर जान कर भला कौन मनुष्य सद्‌गुण खो कर धन चाहेगा ? और आप मेरा अभिप्राय सुने —

काषाय वस्त्र पहन कर, भिक्षा-पात्र ले कर पर-गृहो की समृद्धि देखना अच्छा है, किन्तु निर्लज्ज हो कर धर्म की हत्या कर इन्द्र-पद की भी इच्छा करना अच्छा नही है—

"कपालमादाय विवर्णवाससा
वर द्विषद्वेश्मसमृद्धिरीक्षिता।
व्यतीत्य लज्जा न तु धर्मवैशसे
सुरेन्द्रतार्थेऽप्युपसहृत मन ॥[२]

यह सुन कर आचार्य के हृदय मे अत्यन्त आनन्द और विस्मय हुआ। मुक्त-कण्ठ से बोधिसत्त्व की प्रशंसा करते हुए उन्होने कहा —

"कुछ भी कारण पा कर मूर्ख अपने धर्म-मार्ग को छोड देते है, किन्तु तपस्या, विद्या और ज्ञान के धनी सत्पुरुष अत्यन्त कष्ट मे भी विचलित नही होते है।

"निमित्तमासाद्य यदेव किञ्चन
स्वधर्ममार्गं विसृजन्ति बालिशा ।
तप: श्रुतज्ञानधनास्तु साधवो
न यान्ति कृच्छ्रे परमेऽपि विक्रियाम् ॥[३]

२—"न खल्वह नि:स्नेहकठिनहृदयत्वादपरितप्यमानो गुरुदु खैरेवमवस्थित किन्त्व-सभवादुपाध्यायप्रदर्शितस्य क्रमस्य। न हि शक्यमदृश्यमानेन क्वचित् पापमाचरितुम्। कुत ? रहोऽनुपपत्ते ।"

—जातक० १२/१३ के पहले का गद्य

१—जातक० १२/१६

२—जातक० १२/२०

अत आपकी विद्या सफल हुई, यह आपके सुन्दर आचरण से प्रकट है और इस सफलता के कारण मेरा परिश्रम सुखदायक हुआ।

इस प्रकार आत्म-लज्जा के कारण सत्पुरुष सदाचार की सीमा का उल्लंघन नही करते।

१३—उन्मादयन्ती-जातक

तीव्र पीडा से पीडित होकर भी सत्पुरुष अपने धैर्य की दृढ़ता के कारण कुमार्ग पर नही चलते। तब जैसी कि अनुश्रुति है—

बोधिसत्त्व एक बार शिवियो के राजा हुए। वे धर्मपरायण तथा प्रजाहित मे तत्पर थे। उनके राज्य मे एक प्रधान नागरिक की मूर्त्तिमती लक्ष्मी के समान एक कन्या थी, जो साक्षात् रति के समान तथा अप्सरा से भी अधिक रूपवती और परम दर्शनीया थी। उसे देख कर किसी का भी मन उन्मत्त हो जाता था। इसलिए भाई-बन्धुओ ने उसका नाम उन्मादयन्ती (पागलपन पैदा करने वाली) रखा। उसके पिता ने राजा से निवेदन किया—हे देव, आपके राज्य मे स्त्री-रत्न प्रकट हुआ है। इसे स्वीकार या अस्वीकार करने के सम्बन्ध मे देव प्रमाण है। राजा ने ब्राह्मणो को उसका लक्षण देखने के लिये भेजा। पिता की आज्ञा से उन्मादयन्ती जब उन ब्राह्मणो को भोजन कराने लगी, तब वे उसका मुख देख कर मुग्ध हो गये। अपनी आँखो और मन पर उनका वश न रहा। वे बेहोश हो गये। तब उस गृहपति ने उनके दृष्टिपथ से अपनी पुत्री को हटा कर स्वयं ब्राह्मणो को परोस कर खिलाया और विदा किया।

रास्ते मे ब्राह्मणो ने सोचा—निश्चय ही इस रूप-शोभा से राजा के हृदय मे उन्माद पैदा होगा तथा धार्मिक और आर्थिक कार्यो मे उनका उत्साह शिथिल हो जायगा। राज-कार्य समय पर सम्पादित न होगे। इससे प्रजा-हित मे बाधा होगी और उनका अनिष्ट होगा।

यह अपने दर्शन-मात्र से मुनियो की सिद्धि मे भी विघ्न डाल सकती है। फिर सुख मे रहने वाले युवा राजा जब चाव से उसकी ओर देखेंगे तब उनका क्या हाल होगा?

राजा के समीप आकर उन लोगो ने निवेदन किया—"हे महाराज, वह रूपवती अलक्षणो के कारण श्रीहीन है। अत आपके देखने योग्य भी नही है, फिर पत्नी बनाने योग्य कहाँ से होगी? यह सुन कर राजा की चाह नही रही। तब उस गृहपति ने उसी राज्य के अमात्य अभिपारग को अपनी कन्या दान कर दी।

एक बार कौमुदी महोत्सव की शोभा देखने की उत्सुकता से वह राजा उत्तम रथ पर चढ़कर राजधानी में घूमने गये। सहसा उनकी दृष्टि अपनी रूप शोभा के

साथ महल के ऊपर खडी उन्मादयन्ती पर पडी। उसे देखते ही वे मुग्ध हो गये तथा एकान्त मे अपने सारथि सुनन्द से उसके विषय मे पूछा। सारथि ने कहा—वह किरीटवत्स की बेटी तथा देव के अभिपारग नामक मुख्य मंत्री की पत्नी उन्मादयन्ती है। तब राजा को अत्यन्त क्षोभ हुआ तथा उन्होने मन ही मन कहा—इस शुभ्र स्मित वाली का उन्मादयन्ती नाम यथार्थ मे मधुर और कोमल है। इसने मुझे पागल बना दिया है। लाख प्रयत्न करने पर भी वे उसे भूल न सके तथा शनै-शनै क्षीणकाय होने लगे।

कुछ दिनो के बाद उनका मुख्यमत्री अभिपारग कारण सहित राजा का वृत्तान्त जान लिया। उसे स्नेहवश राजा के अनिष्ट की आशंका हुई। एकान्त मे उसने राजा के समीप जा कर निवेदन किया—हे देव, देवपूजन के समय एक यक्ष उपस्थित होकर मुझे सारी बातें बता गया है। अत आप मेरे ऊपर अनुग्रह करने के लिये उन्मादयन्ती को ग्रहण करें। राजा ने अत्यधिक लज्जा का अनुभव किया तथा अमात्य के द्वारा विविध रूप से प्रार्थना की जाने पर भी संयम से ही काम लिया उसे अनेक प्रकार का धर्मोपदेश भी दिया।

इस प्रकार तीव्र पीडा से पीडित होकर भी सत्पुरुष अपने धैर्य की स्थिरता और धर्माभ्यास के कारण नीच मनुष्यो के मार्ग पर नही चलते, यह जानकर धैर्य और धर्म के अभ्यास मे उद्योग करना उचित है।

१४—सुपारग-जातक

धर्म के नाम पर कहा सत्य वचन भी विपत्ति को टालता है, फिर धर्माचरण के फल का क्या कहना ? तब जैसा कि सुना जाता है—

किसी जन्म मे बोधिसत्त्व एक निपुण नाविक हुए। सतत जागरुकता, कष्ट-सहिष्णुता, सामुद्रिक ज्ञान आदि गुणो के कारण समुद्र-यात्रा मे उन्हें परम सिद्धि प्राप्त हुई। इस कारण उनका नाम सुपारग हुआ तथा जिस नगर मे वे रहते थे, उसका भी नाम "सुपारग" ही पडा, जो आज "सूपारग" के नाम से विख्यात है। यात्रा मे सफलता चाहने वाले सामुद्रिक व्यापारी मंगलमय होने के कारण बुढ़ापे मे भी सुपारग को अनुनय और आदर के साथ अपने-अपने जलयान मे चढ़ा लेते थे।

एक बार सुवर्ण-भूमि के बनियो ने भरुकच्छ से प्रस्थान किया और यात्रा को सफल बनाने की कामना से सुपारग नगर मे पहुँच कर उस महापुरुष से अपने जहाज पर चलने के लिये अनुरोध किया—"आपके चरण-कमलो के सम्पर्क से पवित्र हुई धूल से मंगलमय हो कर हमारी यह नाव इस दुर्गम महासमुद्र मे भी सकुशल चले, इसीलिए हम आपके समीप आये है।[1] तब वह महात्मा बुढ़ापे के कारण शिथिल

१—"त्वत्पादपङ्कजसमाश्रयसत्कृतेन मङ्गल्यतामुपगता रजसा त्विय नौ.।
दुर्गे महत्यपि च तोयनिधावमुष्मिन् स्वस्ति व्रजेदिति भवन्तमुपागताः स्म.॥
—जातक०—१४/२

शरीर होने पर भी उन पर अनुग्रह करते हुए उनके जलपोत पर चढ़ गये। इससे व्यापारियो को बहुत प्रसन्नता हुई।

क्रमश उनका जहाज बढने लगा और सायंकाल समुद्र के अथाह मध्य भाग मे पहुँचा, जहाँ से चारो ओर कही भी किनारा दिखाई नही पडता था। सूर्य के अस्त होते ही भयंकर तूफान आया, जिससे प्रलयकालीन दृश्य उपस्थित हो गया। जहाज कॉपने लगा तथा यात्रीगण व्याकुल होकर अपने-अपने इष्टदेव का स्मरण करने लगे। तब सुपारग ने उन्हे धैर्य बँधाते हुए कहा—महासमुद्र के मध्य मे पहुँचने वालो को उत्पात-जन्य कष्ट होता ही है। अत विषाद करना व्यर्थ है। आप लोग उदासी को त्याग कर अपने-अपने कार्य मे सावधान हो जायँ। अनन्तर शान्त चित्त होकर वे लोग समुद्र की ओर देखने लगे। कुछ क्षणो मे समुद्र का रग बदला हुआ तथा भयंकर पुरुषाकार आकृतियाँ जल मे गोता लगाते हुए उन सबो को दृष्टिगत हुआ। इससे भयभीत जान कर सुपारग ने उनसे कहा कि ये मछलियाँ है। इनसे डरना नहीं चाहिये। किन्तु, हम लोग बहाव मे पडकर दोनो ही नगरो से बहुत आगे आ गये है। यह "खुरमाली" नामक समुद्र है। अत लौटने की कोशिश करें। किन्तु प्रचण्ड वेग से बहने वाली जल-राशि और पश्चिमी वायु के कारण जहाज को लौटाने मे वे समर्थ नही हो सके। क्रम से भीतर प्रवेश करते हुए उन्होने समुद्र के अनेक रूप देखे तथा सुपारग से उसका ज्ञान प्राप्त किया। उनका जहाज क्रमश क्षीरसागर नामक दधिमाली (—दही का माला धारण करने वाला) अग्निमाली, कुशमाली, तथा नलमाली नामक सागर से भी आगे ही बढ़ गया। इससे व्याकुल होकर वे लोग सुपारग से अपना कर्त्तव्य पूछने लगे। इतने मे जहाज "बडवामुख" नामम समुद्र मे पहुँच गया, जहाँ से बच कर निकलना असभव है। अपने को मृत्यु-मुख मे पहुँचा जान कर व्यापारीगण जीवन से निराश हो उठे। ऐसी स्थिति देख कर उस महात्मा का हृदय करुणा से भर आया। उसने कहा—मुझे जान पडता है कि अब भी हमारी रक्षा का कोई उपाय है। आप लोग मुहूर्त्त भर के लिये धैर्य धारण करें। अब भी जीने की आशा है, यह जानकर उन बनियो ने धैर्य धारण किया। बोधिसत्त्व ने एक कंधे पर चादर रख कर और दाहिने घुटने को जहाज पर टेक सर्वभाव से तथागतो को प्रणाम कर कहा —

आप मान्य व्यापारियो तथा आकाशवासी देवगण सुनें—"जबसे मै अपने को याद करता हूँ, जब से मुझे ज्ञान हुआ है, ध्यान करने पर भी स्मरण नही हो रहा है कि मैंने कदाचित् किसी प्राणि की हिंसा की है। इस सत्य-वचन से और मेरे पुण्य-बल से जहाज बडवामुख मे प्रविष्ट हुए विना ही सकुशल लौट जाय।

"स्मरामि यत आत्मान यत. प्राप्तोऽस्मि विज्ञताम्।
नाभिजानामि सञ्चिन्त्य प्राणिनं हिंसितु क्वचित्॥
अनेन सत्यवाक्येन मम पुण्यबलेन च।
बडवामुखमप्राप्य स्वस्ति नौर्विनिवर्तताम्॥"[1]

१—जातक०—१४/३०-३१

तब उस महात्मा के सत्य-बल और पुण्य-प्रताप से जल-प्रवाह के साथ-साथ बदलती हुई हवा ने जहाज को मोड दिया। प्रसन्न मन व्यापारियो ने सुपारग को प्रणाम कर पाल चढा दी। जब जहाज लौट रहा था तथा रात्रि का आरम्भ हो रहा था तब सुपारग ने उनसे कहा —"हे व्यापारियो, नलमाली आदि जिन समुद्रो को आपने क्रमश देखा था, उनसे बालू और पत्थर उचित परिमाण मे लेकर जहाज पर चढ़ा लें। ये बालू और पत्थर मंगलमय है, इनसे अवश्य आपको लाभ होगा।" तब सुपारग के प्रति प्रेम और सम्मान-भाव होने के कारण देवताओ ने उन स्थानो को बतला दिया जहाँ से उन यात्रियो ने वैदूर्य आदि रत्नो को बालू और पत्थर समझ कर जहाज पर चढ़ा लिया। रात बीतते ही उनका जहाज भरुकच्छ पहुँच गया। वहाँ सोना-चाँदी इन्द्रनील और वैदूर्य से जहाज को भरा हुआ देख कर वे आनन्दित हुए तथा अपने देश के समुद्र-तट पर जा कर उन्होने प्रेमपूर्वक सुपारग की पूजा की।

इस प्रकार धर्माश्रित सत्य-वचन भी विपत्ति को टालता है, फिर धर्माचरण के फल का क्या कहना ? इसलिये धार्मिक होना ही चाहिये। यह भी कहना चाहिये कि सन्मित्र के आश्रय मे रह कर मनुष्य कल्याण प्राप्त करते है।

१५—मत्स्य-जातक

शीलवान व्यक्ति के उत्तम अभिप्राय इहलोक मे ही सिद्ध होते है, फिर परलोक का क्या कहना ?

बोधिसत्त्व एक बार किसी सुन्दर सरोवर मे मछलियो के स्वामी हुए। अपने पूर्वजन्मो मे परोपकार के अभ्यस्त होने के कारण इस जन्म मे भी वे दूसरो के हित-कार्य मे लगे रहते थे। वे महासत्त्व अपनी प्रिय सन्तानो की तरह मछलियो से स्नेह करते थे तथा दान प्रियवचन, उपकार आदि से उन पर अत्यन्त अनुग्रह करते थे।

एक बार प्राणियो के दुर्भाग्य से तथा वर्षा के अधिकारी देवो के प्रमाद से पर्याप्त वृष्टि नही हुई, जिससे वह सरोवर पूर्व की तरह जलपूर्ण नही हो सका तथा ग्रीष्म-ऋतु आने पर क्रम से सूख कर तलैया हो गया।

तब विषाद और दीनता के वशीभूत होकर उस सूखे सरोवर मे मछलियाँ छटपटाने लगी तथा तटवर्त्ती पक्षी उन्हे आहार बनाने को सोचने लगे। यह देख कर मत्स्यकुल पर करुणा करते हुए बोधिसत्त्व ने चिन्तन किया —

इस बचे हुए जल के सूखने पर निश्चय है कि शत्रु आ कर तडपती हुई मछलियो को मेरे देखते ही खा जायेगे। वहाँ से निकल भागने का उपाय नही है। अत इस दारुण विपत्ति मे क्या करना उचित है, यह सोचते हुए उस महात्मा ने देखा कि सत्य का प्रभाव पीडित प्राणियो का एक सहारा है। उनका हृदय करुणा से भर आया और आकाश की ओर देखते हुए उन्होने कहा—

"चिन्तन करने पर मुझे स्मरण नही हो रहा है कि घोर संकट मे भी मैंने

कभी किसी प्राणि की हिंसा की है। मेरे इस सत्य के प्रभाव से देवराज जल बरसा कर जलाशयो को भर दे।"[1]

तब उस महात्मा के पुण्य-प्रताप एवं सत्य-बल से असमय मे ही काले बादल चारो ओर फिर आये तथा मधुर गर्जन करते हुए जल बरसाने लगे। चारो ओर फैले हुए जल-प्रवाह से सरोवर भरने लगा। पृथ्वी पर प्रवाहित जलधारा से कौए आदि पक्षी भाग गये। मछलियाँ आनन्दित हुई तथा बोधिसत्त्व का हृदय आनन्द से भर गया। इससे विस्मित होकर देवेन्द्र शक्र उनके समीप आये तथा स्तुति करते हुए कहा कि असावधानी के कारण मैने यह भारी भूल की है कि लोकोपकार मे दत्तचित्त आप जैसे के कार्य मे मैंने सहायता न की। आगे आप चिन्ता न करें। मै सज्जनो का कार्यभार बहन करूँगा और आपके सद्गुणो के सम्पर्क से यह देश फिर कभी इस प्रकार पीडित न होगा। इतना कहकर वे वही अन्तर्धान हो गये तथा वह सरोवर जल से परिपूर्ण हो गया।

इस प्रकार सदाचारी व्यक्तियों के उत्तम अभिप्राय इहलोक मे ही सिद्ध होते है, फिर परलोक का क्या कहना ? अत शील की विशुद्धि के लिये प्रयत्न करना चाहिये।

१६—वर्तकापोतक-जातक

एक बार बोधिसत्त्व किसी जंगल के भीतर वर्तकापोतक (बटेर-बच्चा) हुए। अत्यल्प अवस्था मे भी उनका धर्म-ज्ञान लुप्त नही हुआ था। अपने माता-पिता द्वारा लाये गये जीव-जन्तुओ को वे खाना नही चाहते थे। उनके द्वारा लाये गये वन्य तृणो के बीज, वट-वृक्ष के फल आदि खा कर ही वे जीवन-धारण करते थे। उस रूखे-सूखे अल्प आहार के कारण उनका शरीर पुष्ट नहीं हुआ और न पंख ही अच्छी तरह उत्पन्न हुए। किन्तु, दूसरे बटेर-शिशु सभी प्रकार के आहार खा कर बलवान हो गये तथा उनके पंख भी विकसित हुए। यह तो स्वाभाविक ही है कि —

"धर्म-अधर्म का विचार नही करनेवाला सर्वभक्षी प्राणी सुख से रहता है, किन्तु धर्मोचित वृत्ति की खोज करनेवाता और निर्दोष पदार्थो को खाने वाला दु खी रहता है—

"धर्माधर्मनिराशङ्कः सर्वाशी सुखमेधते ।
धर्म्यां तु वृत्तिमन्विच्छन्विचिताशीह दु खित ॥"[2]

१—स्मरामि न प्राणिवध यथाह सञ्चिन्त्य कृच्छ्रे परमेऽपि कर्तुम् ।
अनेन सत्येन सरासि तोयैरापूरयन्वर्षतु देवराज ।"
—जातक० १५/८

२—जातक० १६/१

जब बटेर-बच्चो की ऐसी स्थिति थी तब एक दिन कुछ ही दूर पर महान् दावाग्नि प्रकट हुआ। तेज हवा से उडता हुआ वह अग्नि तृणो की खोज करता हुआ उन बटेर-शावको के घोसलो के समीप पहुँच गया। तब वे बटेर तथा बटेर-बच्चे भय से व्याकुल हो फूट-फूट कर रोते हुए एक दूसरे का ख्याल न कर सहसा ही उड गये। किन्तु, अपनी दुर्बलता और पंख उत्पन्न नही होने के कारण बोधिसत्त्व ने उडने का प्रयत्न नही किया। अपना प्रभाव जान कर वे महासत्त्व विचलित नही हुए। तेजी से समीप आते हुए अग्नि से उन्होने अनुनयपूर्वक कहा —

"मेरे छोटे-छोटे अशक्त पैरो को पैर कहना व्यर्थ है, मेरे पंख भी अच्छी तरह उत्पन्न नही हुए है। आपके डर से मेरे माता-पिता भी उड गये। हे अग्नि, आपके अतिथि सत्कार के योग्य यहाँ कुछ भी नही है। अत यहाँ से आपका लौटना ही उचित है।"[१]

उस महासत्त्व के द्वारा इस सत्यपूत वाणी मे कहे जाने पर वह अग्नि तत्क्षण शान्त हो गया मानो जल की अधिकता से बढी हुई किसी नदी मे पहुँच गया हो।

इस प्रकार सत्य-पूत वाणी का अतिक्रमण अग्नि भी नही कर सकता। इसलिये सत्य-वचन का अभ्यास करना चाहिये।

१७—कुम्भ-जातक

मद्यपान के दोष तथा बोधिसत्त्व की लोकोपकारिता का कथन इस जातक मे है।

भगवान् बुद्ध जब बोधिसत्त्व थे, तब एक बार देवो के अधिपति शक्र हुए। प्राय धनमद के कारण लोग अपने हित मे भी तत्पर नही रहते, किन्तु वे देवेन्द्र की लक्ष्मी पाकर भी मद से निर्लिप्त और परोपकार मे जागरुक रहे।

एक बार मनुष्य-लोक का निरीक्षण करते हुए उन्होने देखा कि सर्वमित्र नामक राजा कुसंगति मे पड कर नगर और ग्राम की जनता के साथ मद्यपान मे आसक्त है। यह देख उस महाकारुणिक को अत्यधिक चिन्ता हुई और वे सोचने लगे कि इनके ऊपर विपत्ति आई है, क्योकि जो दोष देखने मे असमर्थ है, उन्हे यह मद्यपान (जो आरम्भ मे स्वादिष्ट लगता है) रमणीय कुमार्ग की भाँति कल्याण से

१—"व्यर्थाभिधानचरणोऽस्म्यविरुढपक्ष-
स्त्वत्सम्भ्रमाच्च पितरावपि मे प्रडीनौ।
त्वद्योग्य॰ऽस्ति न च किञ्चिदिहातिथेय-
मस्मान्निवर्तितुमतस्तव युक्तमग्ने॥"

—जातक॰ १६/७

दूर ले जाता है ।[1] राजा के कार्यों का अनुकरण करना जनता का स्वभाव है । अत इस विषय मे राजा की ही चिकित्सा करना उचित है ।

यह निश्चय कर उस महात्मा ने जटा, वल्कल एव मृगचर्म धारण किये हुए तेजस्वी ब्राह्मण का रूप बनाकर वामपार्श्व मे मदिरापूर्ण मध्यमाकार घडा लेकर मद्य-सभा मे विराजमान राजा सर्वमित्र के समक्ष अन्तरिक्ष मे प्रकट हुए। विस्मय और सम्मान-भाव से प्रेरित सभासद उठ खडे हुए तथा हाथ जोडकर उनकी स्तुति करने लगे । तब उच्च स्वर से उन्होने कहा—इस कण्ठ तक भरे अलकृत घडे को आप लोगो मे से कौन खरीदना चाहता है ? राजा के द्वारा सादर पूछे जाने पर उस घडे मे स्थित द्रव्य (मद्य) के गुणो (समस्त दोषो) का वर्णन उन्होने बडे ही स्पष्ट रूप से किया जिससे राजा का हृदय अत्यन्त प्रभावित हुआ । उनके युक्तिपूर्ण वचनो को सुन तथा मद्य-पान के दोषो को जान राजा मद्य-पान की ओर से विमुख हो गये तथा उन्होने कहा—

स्नेही पिता या गुरु अथवा नीति अनीति के ज्ञाता मुनि जो कुछ कह सकते है, वह सब आपने मेरी भलाई की इच्छा से अच्छा ही कहा । आचरण द्वारा मै आपके बचनो की विविधवत् पूजा करूँगा । तब तक आप हित-वक्ता गुरु को मै पाँच उत्तम ग्राम, एक सौ दासियाँ, एक सौ गाये तथा सुशिक्षित अश्वयुक्त दश रथ देता हूँ अथवा आप जो आदेश दें । अनन्तर अपने वास्तविक रूप मे प्रकट हो कर शक्र ने कहा—हे राजन्, आपके उत्तम ग्रामादि का मुझे प्रयोजन नही है । आप मुझे देवाधिपति समझें । वचन को आचरण मे लाकर ही हितवक्ता की पूजा करनी चाहिए । इससे इहलोक मे कीर्ति एवं लक्ष्मी तथा परलोक मे अनेक प्रकार के सुख मिलेंगे । अत मद्य-पान को त्याग कर धर्म की शरण मे रहते हुए स्वर्ग प्राप्त करें । यह कह कर शक्र वही अन्तर्धान हो गये तथा राजा प्रजा-सहित मद्य-पान से विरत हुए । इस प्रकार मद्य-पान अनेक दोषो से युक्त और अत्यन्तकष्टप्रद है । यह देख कर सज्जन दूसरे को भी इससे रोकते है, अपने को तो पहले ही ।

१८—अपुत्र-जातक

प्रस्तुत-जातक मे गृहस्थ जीवन के दोषो तथा वैराग्य-जीवन के गुणो का वर्णन हुआ है ।

एक बार बोधिसत्त्व ने किसी धनी और सदाचारी कुल मे जन्म लिया । कालक्रम से बडे होने पर उन्होने समस्त विद्याओ का ज्ञान प्राप्त किया । अपनी दर्शनीय आकृति और धर्मसंगत लोक-व्यवहार की अभिज्ञता से वे लोगो के हृदय मे स्वजन के समान विराजमान हुए ।

---

१. ''प्रमुखस्वादु पान हि दोषदर्शनविक्लवान् ।
श्रेयसोऽपहरत्येव रमणीयमिवापथम् ॥'' —जातक०–१७/३

गार्हस्थ्य दु ख से युक्त और धर्म का बाधक है, जबकि तपोवन सुखप्राप्ति का स्थान है। यह देखकर घर के सुखो मे उनका मन नही लगा।

माता-पिता के काल-कवलित होने पर उन्होने घर की लाखो की सम्पत्ति मित्रो, स्वजनो, दीन-दुखियो, श्रमणो और ब्राह्मणो को यथायोग्य दान कर दी तथा वे प्रव्रजित हो गये। क्रम से ग्रामो, नगरो, निगमो, राज्यो और राजधानियो मे विचरण करते हुए किसी नगर के निकट एक वन मे रहने लगे। उनके प्रव्रजित होने के समाचार को सुनकर प्रजा ने उनका बड़ा सम्मान किया। उनके पिता के मित्रो ने उनके समीप पहुँच कर कुशल-प्रश्न पूछा तथा वार्त्तालाप के प्रसंग मे उनसे स्नेहपूर्वक कहा —

इस अवस्था मे कुल और वंश की उपेक्षा कर प्रव्रजित होना आपकी चपलता है। जबकि सदाचारियो के द्वारा यह धर्म बन मे या घर मे भी प्राप्त किया जा सकता है, तब अपने श्रीसम्पन्न घर को छोडकर आप क्यो जगल मे रहना पसन्द करते हैं? अत आप यहाँ से अपने घर लौट चले तथा वहाँ रह कर धर्म और सत्पुत्र प्राप्त करें। किन्तु वैराग्य-सुख के अमृत-रस से पवित्र-बुद्धि बोधिसत्त्व को कामोपभोग के निमन्त्रण से उतना ही कष्ट हुआ जितना कि भोजन से परितृप्त व्यक्ति को भोजन की बात सुन कर होता है। उन्होने कहा—अवश्य ही स्नेह के वशीभूत होकर आपने यह वचन कहा है। अत इससे बहुत दु ख नही हुआ। किन्तु, गृहस्थी मे सुख होने का भान नही करना चाहिये।" इसके बाद विस्तार से गृहस्थी के दोषों का वर्णन करते हुए उन्होने कहा —

> "मदमानमोहभुजगोपलय प्रशमाभिरामसुखविप्रलयम्।
> क इवाश्रयेदभिमुख विलय बहुतीव्रदु खनिलय निलयम्॥'[१]

अर्थात् घर दारुण विपत्तियो का स्थान, मद, अभिमान और मोहरूप सर्पों का निवास, शान्ति-सुख का विनाशक तथा सामने मे उपस्थित सर्वनाश है। अत घर का आश्रय कौन ले? इसके विपरीप "संतुष्ट प्राणियो के निवास-स्थान, वैराग्य-से परिपूर्ण तपोवन मे मन जितना आनन्दित होता है, उतना आनन्दित स्वर्ग मे भी कहाँ से होगा?"[२]

जब इस प्रकार हृदयग्राही शब्दो मे उन्होने अपने पिता के मित्र को समझाया तब उसने विशेप सत्कार द्वारा उनका सम्मान किया।

१—जातक० १८/२०

२—सतुष्टजनगेहे तु प्रविविक्तसुखे वने।
प्रसीदति यथा चेतस्त्रिदिवेऽपि तथा कुत.॥
—जातक० १८/२१

इसलिए गृहस्थ-जीवन शील और शान्ति के प्रतिपक्षो से भरा है, यह समझ कर आत्म-कल्याण की कामना वाले लोग गृहस्थ-जीवन का परित्याग करते है। जिन्होने वैराग्य रस का आस्वादन कर लिया है, वे फिर काम-भोगो मे नही भटकते।

१९—बिस-जातक

प्रस्तुत जातक मे वैराग्यसुख का वर्णन है।

बोधिसत्त्व ने एक बार किसी विख्यात ब्राह्मण कुल मे जन्म लिया। उनके छ छोटे भाई उन्ही के अनुरूप गुणवान तथा उनके सदा अनुवर्त्ती थे। सातवी एक बहिन थी। बोधिसत्त्व ने साङ्ग वेदाध्ययन कर ससार मे सम्मान प्राप्त किया। देव-तुल्य माता-पिता की अत्यन्त भक्तिपूर्वक सेवा करते हुए तथा आचार्य और पिता के समान भाइयो को विद्या सिखाते हुए वे नीतिपूर्वक घर मे रहते थे। काल-क्रम से उनके माता-पिता की मृत्यु हुई, जिसमे उनके हृदय मे सवेग हो गया। उनका श्राद्ध-सस्कार सम्पन्न होने के कुछ दिनो के बाद बोधिसत्त्व ने भाइयो को अपने प्रव्रजित होने की सूचना दी। यह सुनकर उन लोगो को बडी व्यथा हुई। प्रणाम कर उन लोगो ने कहा —

"पितृ-वियोग के शोक-शल्य का घाव अभी भरा नही है। यह दूसरा दु ख रूपी नमक देकर उसे ताजा करना आप पूज्य के लिए उचित नही है। यदि गृहानु-राग अनुचित और वनवास-सुख कल्याण का मार्ग है, तो हम भी प्रव्रजित होगे।" अनन्तर आठो भाई-बहन विशाल घर-द्वार, बहुमूल्य-सम्पत्ति तथा रोते हुए स्वजनो और बन्धुओ को छोडकर तापसोचित प्रव्रज्या से युक्त हो गये। उनके अत्यन्त अनुरक्त एक सहायक, एक दासी और एक दास भी उनके साथ प्रव्रजित हुए। वे सभी किसी बडे जंगल के भीतर पहुँच कर एक कमलपूर्ण सरोवर के किनारे पृथक्-पृथक् पर्णशाला बनाकर व्रत-नियमो का पालन करते हुए ध्यानावस्थित चित्त से विहार करने लगे। वे प्रति पाँचवें दिन बोधिसत्त्व के समीप धर्मोपदेश सुनने के लिए जाया करते थे। वह दासी स्नेह और सम्मान-भाव के कारण पूर्ववत् उनकी सेवा करती रही। उस सरोवर से कमल-नाल निकाल कर वह किनारे के पवित्र स्थान पर कमल के बडे-बडे पत्तो पर बराबर-बराबर हिस्सा लगाकर रखती थी और काठों की चोट के शब्द से आहार-काल निवेदन कर वहाँ से हट जाती थी। होम-जप के बाद वे ऋषि उम्र के अनुसार एक-एक कर वहाँ आते थे और क्रम से कमल-नाल का एक-एक हिस्सा लेकर अपनी-अपनी पर्णशाला मे चले आते थे। वहाँ विधिवत् उसे खाकर ध्यानावस्थित चित्त से बिहार करते थे। उनके इस निर्दोष शील-सदाचार, वैराग्य-रति एवं ध्यान मे दत्त-चित्तता के कारण उनका यश चारो ओर फैल गया, जिसे सुनकर देवताओ के स्वामी शक्र उनकी परीक्षा लेने के लिये वहाँ आये। आहार-काल की सूचना देकर दासी के हटने पर देवराज इन्द्र ने कमल-नाल के पहले हिस्से को अन्तर्धान कर दिया। पूर्व की भाँति बोधिसत्त्व जब अपना हिस्सा

लेने आये तब वहाँ कमल-नाल को नही पाया । यह देख कर उन्होने निश्चय किया—"किसीने मेरा अंश ले लिया है ।" मन मे संक्षोभ किये बिना ही वहाँ से लौट कर अपनी पर्णशाला मे आये तथा यथोचित ध्यान-विधि मे लग गये । किसी से यह समाचार भी नही कहा । दूसरे भाई पूर्ववत् अपना हिस्सा लेते रहे । इसी प्रकार दूसरे, तीसरे, चौथे एवं पॉचवे दिन भी शक्र ने वैसा ही किया । महासत्त्व बोधिसत्त्व भी उसी प्रकार क्षोभरहित और शान्तचित्त रहे ।

अपराह्ण-काल मे धर्मोपदेश सुनने के लिए वे ऋषि पूर्ववत् बोधिसत्त्व की पर्णशाला मे गये तथा उनके क्षीण काय को देखकर उनसे दुबलेपन का कारण पूछा । बोधिसत्त्व ने सभी बाते सच-सच बतला दी । उन तापसो को आपस मे इस प्रकार के अनाचार की आशंका नही हुई । तब सबो ने आवेग और पवित्रता प्रकट करते हुए काम-भोगो की प्रतिकूलता सूचक शपथ ली, जिससे देवराज इन्द्र के मन मे विस्मय और सम्मान हुआ । अपना उज्ज्वल रूप प्रकट कर उन्होने कहा—कठिन तपस्या से प्राप्य काम-भागो की आप निन्दा क्यो करते है ? तब बोधिसत्त्व ने काम-भोगो के क्लेशो का वर्णन किया जिसे सुनकर इन्द्र को प्रसन्नता हुई तथा उन्होने अपना अपराध स्वीकार किया । कमल-नाल उपस्थापित कर उन्होने उस महात्मा से क्षमा-याचना की ओर अपराध क्षमा कराकर वे वही अन्तर्हित हो गये ।

इस प्रकार जिन्होने वैराग्य-सुख के रस को जान लिया है, उनके लिये काम-भोग हिंसा और विडम्बना के समान अनिष्ट होते है ।

२०. श्रेष्ठि-जातक

गुण नही होने पर भी यदि उसकी कल्पना की जाय तो इससे साधुजनो को अंकुश की सी प्रेरणा मिलती है । कहा जाता है कि एक बार बोधिसत्त्व किसी राजा के कोषाध्यक्ष हुए । अपनी विद्या, वंश एवं उदार विचार से वे शीघ्र ही विख्यात हुए । महादानी और महाधनी होने के कारण वे बडे-बडे गृहपतियो से पूजित हुए ।

एक बार किसी कार्य से उस महापुरुष के राजकुल जाने पर उनकी सास अपनी बेटी को देखने के लिये उनके घर आई । स्वागत-सत्कार होने पर बातचीत के प्रसंग मे उसने अपनी पुत्री (बोधिसत्त्व की भार्या) से एकान्त मे पूछा—"हे तात । क्या स्वामी तेरा अपमान तो नही करते है ? लजाती हुई उसने धीरे से कहा—इनके जैसा शीलवान और सदाचारी तो प्रव्रजित भी दुर्लभ है । बुढ़ापे के कारण उसकी माता की सुनने और समझने की शक्ति क्षीण हो गयी थी । अत अपनी बेटी के द्वारा लज्जा से संक्षेप मे कहे गये अस्पष्ट वचन को वह ठीक-ठीक न समझ सकी । "प्रव्रजित" शब्द सुनकर उसने निश्चय कर लिया कि "मेरा जामाता प्रव्रजित हो गया" । अपनी बेटी के लिये शोक करती हुई वह जोर-जोर से रोने लगी तथा करुण विलाप करने लगी । अपने पति की प्रव्रज्या के सम्बन्ध मे अपनी माता के

उस करुण और अकृत्रिम विलाप को सुनकर बोधिसत्त्व की पत्नी के हृदय मे व्यथा और घबराहट हुई। शोकवश वह बातचीत के प्रसंस को भूल गयी। मेरे पति प्रव्रजित हो गये, इस अप्रिय समाचार को सुनकर मेरी माता मुझे सान्त्वना देने के लिये यहाँ आई है" यह निश्चय कर वह उच्च स्वर से रोती-विलपती मूर्च्छित हो गयी। यह जानकर घर के अन्य लोग तथा नौकर-चाकर सभी दुख के आवेग से रोने लगे। इस क्रन्दन को सुनकर बोधिसत्त्व के पडोसी मित्र, स्वजन, बन्धुबान्धव, आश्रित ब्राह्मण—और गृहयति प्राय समस्त पुरवासी उस घर मे आ गये।

बोधिसत्त्व जब राजकुल से लौटकर अपने घर के समीप पहुँचे तो अपने घर मे रोने-पीटने का शब्द और लोगो की बडी भीड एकत्रित जानकर वे अपने अनुचर को पता लगाने भेजे। वृत्तान्त जानकर लौटने पर उसने कहा—

उत्सृज्य भवनं स्फीतमार्य. प्रव्रजित किल।
इति श्रुत्वा कुतोऽप्येष स्नेहादेवगतो जन.॥[1]

अर्थात् आर्य प्रव्रजित हो गये है, कही से यह सुनकर स्नेहवश लोगो की ऐसी दशा हो गयी है।

स्वभाव से ही शुद्धचित्त वे महात्मा अपने संबंध मे लोगो की ऐसी श्रद्धा जान कर लज्जित और विरक्त हो गये तथा सोचने लगे—

"सभावनामस्य जनस्य तस्मात्क्रियागुणेन प्रतिपूजयामि।
असत्परिक्लेशमय विमुञ्चस्तपोवनप्रेमगुणेन गेहम्॥[2]

अर्थात् अपने गुणो के सम्बन्ध मे लोगो की इस उत्तम संभावना को कार्यरूप मे सम्मानित करूँगा। तपोवन की अभिलाषा से बुराइयो और क्लेशो से परिपूर्ण घर को छोडूँगा। ऐसा सोच कर वे महात्मा वही से लौट गये तथा पुन राजा के समीप जाकर बोले—"मै प्रव्रजित होना चाहता हूँ। देव मुझे इसकी आज्ञा दें। तब घबडा कर और आवेग मे आकर राजा ने अनेक प्रकार से स्नेहपूर्ण शब्दो मे उन्हे समझाया किन्तु उस महाज्ञानी पर कोई प्रभाव नही पडा तथा उन्होने वही से जंगल के लिये प्रस्थान कर दिया। अनन्तर मित्रो, बन्धु-बान्धवो, और आश्रितो ने आँसू बहाते हुए उन्हे रोकना चाहा। किसी ने प्रेमपूर्वक कठोर वचन कहे। गृहस्थाश्रम ही सबसे पवित्र है। इस प्रकार दूसरो ने शास्त्र और युक्ति द्वारा उन्हे समझाना चाहा। अपने उन मित्रो को तपोवन की यात्रा से रोकने मे दृढ़संकल्प तथा अश्रु-जल से आर्द्रमुख देख उन्हे चिन्ता हुई .—

१—जातक० २०।६

२—जातक० २०।१२

"निवारणार्थानि सगद्गदानि
वाक्यानि साश्रूणि च लोचनानि ।
प्रणामलोलानि शिरांसि चैषा
मान समानस्य यथा करोति ।।
स्नेहस्तथैवार्हति कर्तुमेषा
श्लाघ्यामनुप्रव्रजनेऽपि बुद्धिम् ।।
मा भून्नटानामिव वृत्तमेतद्—
व्रीडाकर सज्जनमानसानाम् ।।"[१]

अर्थात् जिस प्रकार स्वजन के प्रति सम्मान-भाव के कारण ये मुझे रोकने के लिए गद्गद् वचन कह रहे है, आँखो से आँसू बहा रहे है और शिर झुका कर प्रणाम कर रहे है, उसी प्रकार स्नेह-भाव के कारण इन्हे मेरे पीछे प्रव्रजित होने की सुबुद्धि प्राप्त हो, जिससे इनका यह आचरण नाटक के पात्रो का सा सज्जनो के लिये लज्जाजनक न हो, यह सोचते हुए उन्होने निश्चय किया कि—

यैर्विप्रलब्धा सुहृदो ममैते
न यान्ति शान्ति निखिलाश्च लोका ।
तपोवनोपार्जितसत्प्रभावस्—
तानेव दोषान्प्रसभ निहन्मि ।।"[२]

अर्थात् जिन दोषो के वशीभूत मेरे इन मित्रो तथा समस्त संसार को शान्ति नही मिल रही है, तपोवन मे रह कर मै वह उत्कृष्ट शक्ति प्राप्त करूँगा, जिससे उन दोषो का बलात् विनाश कर सकू । तब वे मित्रो की स्नेहपूर्ण चेष्टाओ की उपेक्षा कर तपोवन चले गये ।

इस प्रकार गुण नही होने पर भी यदि उसकी संभावना की जाय तो इससे साधुजनो को अंकुश की सी प्रेरणा मिलती है । अत गुण प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए । धर्म का आश्रय लेने मे साथियो का मिलना कठिन है, यह निष्कर्ष भी निकालना चाहिए ।

२१—चुड्डबोधि-जातक

इस जातक के द्वारा क्रोध के उपशमन का उपाय विनय है तथा क्षमावान व्यक्ति अपना और शत्रु दोनो का हित-साधक होता है, इसकी शिक्षा दी गयी है ।

सुना जाता है कि एक बार बोधिसत्त्व ने किसी महान् ब्राह्मण-कुल मे जन्म लिया । यथासमय उनके सभी संस्कार हुए । अल्प-काल मे ही वे विद्वानो मे विख्यात

१ जातक० २०/२६–३०
२ जातक० २०/३७

हो गये जैसे रत्नज्ञो के यहाँ रत्न और समर मे शूर[१]। पूर्व-जन्मो से ही प्रव्रज्या से परिचित तथा प्रज्ञा से पवित्र गृहस्थी मे वे आनन्द प्राप्त करने मे असमर्थ हुए। गृहस्थी मे उन्होने अनेक दोषो मे युक्त सासारिक कामोपभोगो को त्याग कर प्रव्रज्या के विनय रूपी नियम को धारण किया।

बोधिसत्त्व का तपोवन-गमन सुनकर अतिशय अनुरागपरायणा उनकी पत्नी ने मना किये जाने पर भी बाह्य अलंकरणो का सर्वथा परित्याग कर स्वाभाविक गुण-शोभा से अलंकृत हो तथा काषाय-वस्त्र धारण कर उनका अनुगमन किया। वे दोनो सघन वृक्षो की छाया से सुशोभित किसी एकान्त स्थान मे आये तथा ध्यान-विधि मे रत हो गये।

एक दिन वहाँ का राजा वामन्तिक शोभा से सुशोभित उस वन मे विचरण करता हुआ विनयपूर्वक वोधिसत्त्व के समीप पहुँचा। समीप से ही सहज-सुन्दर संन्यासिनी को देख कर उसका चित्त आकृष्ट हुआ। अवश्य ही यह इसकी सहधर्म-चारिणी हे, यह जान कर भी अपने चचल स्वभाव के कारण वह उसके अपहरण का उपाय सोचने लगा। तपस्वियो के तप प्रभाव से परिचित रहने के कारण उसने पहले उस महात्मा के तपोबल को जानने की चेष्टा की। उसने सोचा यदि इसके प्रति यह अति अनुरक्त होगा तो इसमे तपस्या का अतिशय प्रभाव भी अवश्य नही होगा। अत उसने कहा—भगवन्, इस एकान्त वन मे ऐसी सुन्दरी के साथ रहना उचित नही है। यदि इसे बलात् अपहरण करने का कोई प्रयास करे तो आप क्या करेंगे ? तब बोधिसत्त्व ने उत्तर दिया—

"स्यादत्र मे य प्रतिकूलवर्ती
दर्पोद्भवादप्रतिसंख्यया वा।
व्यक्त न मुच्येत स जीवतो मे
धाराघनस्येव घनस्य रेणु ॥"[२]

अर्थात् विरोध और अपमानभाव के कारण जो मेरे प्रतिकूल आचरण करेगा निश्चित ही मेरे जीवित रहते वह बच नही सकता, जैसे जल-धारा-वर्षी मेघ धूल को नही छोडता है। तव उस राजा ने सोचा—यह अवश्य ही इसके प्रति अति अनुरक्त तथा तपोबल से रहित हे। अत राजपुरुषो को आदेश दिया—"इस सन्यासिनी को अन्त पुर मे ले चलो।" यह सुनकर उस संन्यासिनी के करुण विलाप करने पर भी राजपुरुष बलपूर्वक रथ पर चढ़ाकर उसे अन्त पुर की ओर ले चले। वोधिसत्त्व क्रोध

१—कीर्तिर्विद्वत्सदस्स्वेव विदुषा प्रविजृम्भते।
रत्नज्ञेष्विव रत्नाना शूराणा समरेष्विव ॥
—जातक० २१/१

२—जातक० २१/११

का उपशमन कर पूर्ववत् शान्ति धारण किये बैठे रहे। इस पर राजा ने उत्तेजक वाणी मे कहा—तुमने अभी जो प्रतिज्ञा की थी, उसके अनुरूप कोई भी कार्य करते मै तुम्हे नही देख रहा हूँ। उस महात्मा ने उसी शान्तपूर्ण मुद्रा मे कहा—महाराज, मेरी प्रतिज्ञा अव्यर्थ है। मेरी शान्ति तो भग नही हुई है। क्योकि—

"योऽभून्ममात्र प्रतिकूलवर्ती
विस्यन्दमानोऽपि स मे न मुक्त ।
प्रसह्य नीत प्रशम मया तु
तस्माद्यथार्थैव मम प्रतिज्ञा ॥"[१]

अर्थात् यहाँ मेरे प्रतिकूल आचरण करने के लिए जो चलायमान हो रहा था, उसे मैंने न छोडा। उसे बलपूर्वक शान्त कर दिया। अत मेरी प्रतिज्ञा सत्य हुई। बोधिसत्त्व की धैर्यातिशयव्यजक शान्ति को देख कर राजा अत्यन्त प्रभावित हुए तथा समझ गये कि यह महात्मा अतिशय तपोबल से युक्त है। मैने चापल्यवश बहुत बड़ा अपराध किया है। राजा के पश्चात्ताप को सुनकर बोधिसत्त्व ने सुन्दर वाणी मे क्रोध की निन्दा और शान्ति की प्रशसा की। क्रोध के दुष्परिणामो को बतलाकर उन्होने सिद्ध कर दिया कि क्रोध सबसे बडा शत्रु है तथा शान्ति उस पर विजय।

क्रोध के अभिव्यंजक सभी उपकरणो के प्रस्तुत होने पर भी उस महासत्त्व के क्रोध की अभिव्यक्ति न होने से क्रोधरूपी शत्रु पर उनकी विजय प्रदर्शित करना इस कथा का उद्देश्य है। अनुरागवती पत्नी के बलपूर्वक अपहरण से बढ कर क्रोध का अभिव्यंजक और क्या हो सकता है ? क्रोध प्रशमन के द्वारा किसी भी कार्य की हानि नही हो सकती है तथा तपस्वियो का रूप क्षमा ही है, यह भी इस कथा के द्वारा प्रदर्शित किया गया है।

२२—हंस-जातक

असज्जन पुरुष सज्जनो के वृत्तान्त को किसी भी प्रकार से समझने मे असमर्थ होते है, बोधिसत्त्व के चरित्रो को समझने की तो बात ही क्या ?

सुना जाता है कि बोधिसत्त्व एक जन्म मे मानस-महासरोवर मे असंख्य हंसो के अधिपति धृतराष्ट्र नामक हंसराज हुए। सभी गुणो से युक्त उनका सुमुख नामक सेनापति था। वे दोनो परस्पर अतिशय प्रेम रखते हुए निवास करते थे। वहाँ के हंस उनसे अनुगृहीत होकर धर्मार्थविस्तारपूर्वक समृद्धि-सम्पन्न हुए। सभी प्राणियो के हितसाधन की कामना वाले हंसाधिपति एवं उनके सेनापति के गुणो के प्रभाव से विस्मित सिद्धर्षि, विद्याधर, देवगण, आदि ने सर्वत्र इनकी चर्चा करते हुए यह घोषणा की कि हंस के वेष मे विनय और नय के अवतार ये कोई महापुरुष है।

१—जातक० २१/२०

उस समय वाराणसी मे ब्रह्मदत्त नामक राजा थे। उन्होने हंसाधिपति धृतराष्ट्र तथा सेनापति सुमुख की गुण-गरिमा की कथा सुनकर इनके दर्शन का निश्चय किया तथा अनेक शास्त्रवित् मन्त्रियो को इस अभीष्ट-सिद्धि के उपाय का अन्वेषण करने के लिये कहा। उन लोगो ने अपनी-अपनी बुद्धि के अनुसार सोच कर नीतिपूर्ण मार्ग का निर्देश किया—

"सुखाशा देव भूतानि विकर्षति ततस्तत ।
सुखहेतुगुणोत्कर्षश्रुतिस्तावानयेद्यत ।।"[1]

अर्थात् सुख की आशा प्राणियो को दूर-दूर से आकृष्ट करती है। अत सुख के हेतु रूप उत्कृष्ट गुणो का श्रवण उन्हे यहाँ ला सकता है। इसलिये किसी वन-प्रान्त मे अतिशय उत्कृष्ट एक सुन्दर सरोवर की रचना की जाय तथा पक्षियो के अभयदान की घोषणा की जाय। राजा ने उनके कथन का अभिनन्दन किया तथा विमल जल से पूर्ण एव पुष्पित कमलदल से शोभायमान एक बहुत बडे सरोवर की रचना कराई जिससे समीपस्थ क्षेत्र भी सुवासित हो रहा था। पक्षियो के सुखोपभोग की सभी सामग्री प्रस्तुत कर प्रतिदिन उनके विश्वासार्थ अभय-दान की घोषणा कराई जाती थी—

"एष पद्मोत्पलदलच्छन्नतोयमिद सर ।
ददाति राजा पक्षिभ्य प्रीत्या साभयदक्षिणम् ।।"[2]

एक समय, जब सभी दिशाये प्रबुद्ध कमल वन की शोभा से व्याप्त थी, दिग्दिगन्त मे विचरण करते हुए किसी हंस-युगल ने मानस से आने पर हंसराज धृतराष्ट्र से वाराणसी के उस मनोभिराम सरोबर के सौदर्य का वर्णन किया तथा कहा—हे भगवन्, उस सरोवर मे पक्षिगण निर्भय होकर अपने घर के समान विचरण करते है। अत वर्षा-काल व्यतीत होने पर आप भी वहाँ चलने की कृपा करें। अन्य हंसो ने भी वहाँ जाने की उत्कठा व्यक्त की। तब उनके सेनापति ने सानुनय निवेदन किया—आपका वहाँ जाना उचित नही है देव, क्योकि वहाँ लोभनीय मनोहर वस्तु सुलभ है। दौरात्म्य-मधुर और औपचारिक वचनो से प्रच्छन्न रहता है। दुष्ट मानव-हृदय कोमलता से आवृत्त रहता है। वणिक् लोग लाभ की आशाका से व्यय करते ही है—

"उच्यते नाम मधुर स्वनुबन्धि निरत्ययम् ।
वणिजोऽपि हि कुर्वन्ति लाभसिद्ध्याशया व्ययम् ।।"[3]

यदि जाना ही हो तो वहाँ जाकर चिरकाल तक ठहरना तो सर्वथा अनुचित है।

अनन्तर शारदीय शोभा से पूर्ण विमल चन्द्र-किरणो की छाया मे हंसराज यूथसहित ब्रह्मदत्त के उस सरोवर के दर्शन की अभिलाषा से गये। अभय-घोषणा

१—जातक० २२/६
२—जातक० २२/१७
३—जातक० २२/२०

सुनकर तथा पक्षियो की स्वच्छन्दता को देखकर उद्यान-यात्रा का अनुभव करते हुए उन लोगो ने वहॉ अतिशय प्रसन्नता का अनुभव किया। उस तालाब के अधिकारियो ने उन हसो के आगमन की सूचना राजा को दी —

"जैसे गुण और रूप की चर्चा इन हसो के विषय मे सुनी गयी थी, वे वैसे ही है। स्वर्ण के समान कान्तिमान पख वाले वे आपके सरोवर की शोभा बढा रहे है।" यह सुन कर राजा ने कुशल व्याधो को उन्हे पकड लाने का आदेश दिया। व्याधो ने हंसराज के विचरण-स्थल मे जाल फेक दिया। विश्वास के कारण निर्भय हसराज विचरण करते हुए जाल मे फस गये। तब उन्होने शब्द द्वारा इसकी सूचना दे दी जिससे अन्य पक्षीगण इस आपत्ति से बच जॉय। उनके फंस जाने से व्यथित-हृदय वे हंस भय से व्याकुलचित्त होकर उड गये, किन्तु उनका सेनापति और अभिन्न मित्र सुमुख उनके समीप से नही हटा। सच है—

"स्नेहावबद्धानि हि मानसानि
प्राणात्यय स्व न विचिन्तयन्ति।
प्राणात्ययाद्दु खतर यदेषा
सुहृज्जनस्य व्यसनार्तिदैन्यम् ॥"[1]

अर्थात् स्नेह से आबद्ध हृदय अपने प्राण के विनाश की भी चिन्ता नही करता, क्योकि अपने मित्रो का दु ख-दैन्य प्राणत्याग से भी अधिक दु खदायी होता है।

अनन्तर बोधिसत्त्व एवं सुमुख के बीच परस्पर नीतिपूर्ण वार्त्तालाप होता है। बोधिसत्त्व कहते है —ये क्षण विलम्ब के नही है। अत जल्दी चले जाओ।

"गच्छ गच्छेव सुमुख क्षम नेह विलम्बितुम्।
साहाय्यस्यावकाशो हि कस्तवेत्थ गते मयि ॥"[2]

अनन्तर सुमुख कहता है —"यहॉ पर स्थित व्यक्ति की न तो ऐकान्तिक मृत्यु हो सकती है और न जाने पर अमरत्व ही मिल सकता है। सुख मे आपकी उपासना कर आपत्ति मे कैसे छोड सकता हूँ ? मात्र अपने प्राण की रक्षा के लिये आपको छोड कर जाने पर कितने धिक्कारो की वर्षा मुझ पर होगी ? अत मै आपको छोडकर नही जाऊँगा—

नैकान्तिको मृत्युरिह स्थितस्य
न गच्छत स्यादजरामरत्वम्।
सुखेषु त्वा समुपास्य नित्य—
मापद्गत मानद केन जह्याम् ॥
स्वप्राणतन्तुमात्रार्थं त्यजतस्त्वा खगाधिप।
धिग्वादवृष्ट्यावरण कतमन्मे भविष्यति ॥

१—जातक०-२२/२५
२—जातक०-२२/२६

नैष धर्मो महाराज त्यजेय त्वा यदापदि ।
या गतिस्तव सा मह्य रोचते विहगाधिप ।।"[1]

इस प्रकार प्रेम और त्याग विषयक वार्त्तालाप करते हुए उन दोनो ने साक्षात् मृत्यु के समान व्याध को आते हुए देख कर मौनभाव धारण कर लिया। पाश-स्थान मे आकर उन दोनो को बहेलिये ने देखा तथा उनकी रूप-शोभा से विस्मित होकर पाश समेटने लगा। तब एक को बद्ध तथा दूसरे को स्वस्थचित्त और उसकी उपासना करते देख आश्चर्यचकित होकर उसने सुमुख से वहाँ से नही भागने का कारण पूछा। सुमुख ने मनुष्य की वाणी मे कहा —तुमने तो पाश के द्वारा इनके चरण को बाँधा है, किन्तु इनके दृढ़तर गुणो द्वारा मेरा हृदय बँधा हुआ है। अत· इनको छोडकर जाना कैसे सभव है ?

"अय पाशेन महता सयतश्चरणे त्वया ।
गुणैरस्य तु बद्धोऽहमतो दृढतरैर्हृदि ।।"[2]

और भी—

ये मेरे राजा और प्राण के समान प्रिय मित्र है। इस सुखदाता को विषम स्थिति मे छोड कर अपनी प्राणरक्षा के लिये मै कदापि नही जा सकता हूँ।

"राजा मम प्राणसम सखा च
सुखस्य दाता विषमस्थितश्च ।
नैवोत्सहे येन विहातुमेन
स्वजीवितस्याप्यनुरक्षणार्थम् ।।"[3]

सुमुख के इस प्रकार के प्रेम और त्यागपूर्ण वचन सुन कर कठिन हृदय होने पर भी निषाद ने विस्मय और आदर के साथ उसकी हृदय से प्रशसा की तथा हसराज को पाशमुक्त कर दिया। इससे आनन्दित हो सुमुख ने कहा —तुम हजारो वर्षो तक सुखी रहो। तुम्हारा श्रम विफल न हो। इसलिये हमे पकड कर राजा के समीप ले चलो। इससे प्रसन्न होकर राजा तुम्हे प्रचुर धन देगा। निषाद ने मुक्त हस-युगल को राजा के समक्ष उपस्थित किया। अत्यधिक प्रसन्न होकर राजा ने उससे सम्पूर्ण वृत्तान्त पूछा। निषाद ने आद्योपान्त सच-सच कह दिया। परम प्रसन्न होकर राजा ने उसे रत्नो के प्रभूत दान से सतुष्ट किया तथा ससम्मान हंसराज को सुवर्णासन पर एवं सुमुख को वेत्रासन पर बैठाया। कुशल-प्रश्न के अनन्तर राजा ने निवेदन किया कि सत्समागम की मेरी चिर अभिलाषा आज पूरी हुई। आज आपको पाशबद्ध कर मैंने अतिशय चापल्य किया है। इसके बाद हसयुगल एवं राजा के बीच बहुत ही सुन्दर वार्त्तालाप हुआ और अन्त मे राजा से अभिनन्दित हो दोनो ने वहाँ से प्रस्थान किया। इस प्रकार कष्ट मे पडे हुए

१—जातक० २२।२७-२६
२—जातक० २२।४२
३—जातक० २२।४४

सज्जनो के वृत्तान्त का अनुभव असत्पुरुष नही कर सकते। कल्याण-वाणी सतत कल्याणकर होती है। कल्याणकर मित्र के द्वारा कष्ट मे भी इष्टसिद्धि होती है।

इस जातक के द्वारा मित्र एवं सेवको के कर्तव्य का निर्देश किया गया है। कर्तव्यपरायण व्यक्ति अपना तथा स्वामी का हितसाधक होता है तथा दूसरे मे भी कर्तव्यभावना को अनुप्राणित करता है। सत्पुरुष विपत्ति मे भी अपने कर्त्तव्य का पालन अवश्य करते है।

२३—महाबोधि–जातक

असत्कृत होने पर भी पूवोपकारियो के प्रति सज्जनो की अनुकम्पा मे कमी नही होती है, क्योकि वे कृतज्ञ और क्षमाशील होते है। यह इस अनुश्रुति से प्रमाणित है—

बोधिसत्त्व की अवस्था मे भगवान् बुद्ध एक बार महाबोधि नामक परिव्राजक हुए। गृहस्थावस्था मे ही उन्होने लोकप्रिय विद्याओ का विधिवत् अभ्यास किया तथा विविध कलाओ की ज्ञानपिपासा शान्त की। प्रव्रज्या लेकर लोकहित के लिए उद्योग करते हुए उन्होने धर्मशास्त्रो का विशेष अध्ययन किया तथा शीघ्र ही उनमे आचार्य का पद प्राप्त किया। अपने पुण्यबल, ज्ञानमाहात्म्य, लोकज्ञान और सुन्दर आचरण के कारण वे जहाँ कही जाते थे, वही विद्वानो, राजाओ, ब्राह्मणो तथा संन्यासियो से स्वागत-सत्कार और सम्मान प्राप्त करते थे।

लोगो पर अनुग्रह करने के लिए संसार मे विचरण करते हुए वे महात्मा एक समय किसी राजा के राज्य मे पहुँचे। उनके आगमन का समाचार जान कर उनके गुणो से आकृष्टचित्त राजा ने प्रसन्न होकर अपने रमणीय उद्यान मे उनके लिए निवास बनवाया तथा शिष्य की भाँति उनकी उपासना करते हुए उन्हे सम्मानित किया। बोधिसत्त्व ने भी सुखद धार्मिक कथाओ से प्रतिदिन उन्हे कल्याणमार्ग का उपदेश देते हुए अनुगृहीत किया। क्योकि—परानुकम्पी धर्मात्मा व्यक्ति सभी को कल्याणकारी उपदेश देते है। कल्याणकामी प्रेमी सत्पात्र की प्राप्ति पर तो कहना ही क्या ?—

"अदृष्टभक्तिष्वपि धर्मवत्सला
हित विवक्षन्ति परानुकम्पिन ।
क एव वाद शुचि भाजनोपमे
हितार्थिनि प्रेमगुणोत्सुके जने ॥"[१]

बोधिसत्त्व के सद्गुणो के प्रतिदिन बढ रहे सत्कार को देख कर राजा के प्रतिष्ठित सभासदो और अमात्यो ने ईर्ष्या-द्वेष से दग्धहृदय होकर भेद उत्पन्न करने वाली बात को हित की बात के समान बार-बार राजा से कहा—

१—जातक०–२३/३

"नार्हति देवो बोधिपरिव्राजके विश्वासमुपगन्तुम् । व्यक्तमयं देवस्य गुणप्रियता धर्माभिमुखता चोपलभ्य व्यसनप्रतारणश्लक्ष्णशठमधुरवचन प्रवृत्तिसचारणहेतुभूत कस्यापि प्रत्यर्थिनो राज्ञो निपुण प्रणिधिप्रयोग । तथा हि धर्मात्मको नाम भूत्वा देवमेकान्तेन कारुण्यप्रवृत्तौ ह्रीदैन्ये च समनुशास्ति, अर्थकामोपरोधिषु क्षत्रधर्मबाह्ये-ष्वासन्नापनयेषु धर्मसमादानेषु दयानुवृत्त्या च नाम ते कृत्यपक्षमाश्वासनविधिनो-पगृणीते प्रियसंस्तवश्चान्यराजदूतै । न चायमविदितवृत्तान्तो राजशास्त्राणाम् । अत. साशङ्कान्यत्र नो हृदयानीति ।"[1] अर्थात् "श्रीमान् के लिए बोधिपरिव्राजक पर विश्वास करना उचित नही है । स्पष्ट है कि आपके गुणानुराग और धर्म मे प्रवृत्ति का समाचार पाकर यह किसी विपक्षी राजा का भेजा हुआ कुशल गुप्तचर है । आपको विपत्ति मे फॅसाने के लिए प्रिय, मधुर और दुष्टवचन बोलनेवाला यह आपका समाचार भेजने के लिए नियुक्त हुआ है । यह धर्मात्मा बनकर आपको केवल दयालुता और दीनतापूर्ण लज्जा का उपदेश देता है तथा अर्थ, काम एव राजधर्म के विरोधी और अनीति के सकट से युक्त धर्माचरण का उपदेश देता है । दयापूर्वक आपके कर्त्तव्य का निर्देश करता हुआ आपकी प्रशसा करता है । यह अन्य राजदूतो से परिचित होना चाहता है तथा राजशास्त्रो मे अनभिज्ञ नही है । अत इसके सम्बन्ध मे हमारा हृदय सशक है ।"

बहुतो के द्वारा इस प्रकार के वचनो को सुनकर राजा के मन मे भी बोधिसत्त्व के प्रति सन्देह हो गया । स्वाभाविक है कि पिशुनतारूपी वज्र के प्रहार से विश्वस्त व्यक्ति भी अपना धैर्य छोड देता है । कहा भी गया है—

"पैशुन्यवज्राशनिसन्निपाते
भीमस्वने चाशनिसन्निपाते ।
विस्रम्भवान्मानुषमात्रधैर्य
स्यान्निर्विकारो यदि नाम कश्चित् ।।"[2]

विश्वास के अभाव मे उस महासत्त्व के प्रति राजा का प्रेम और आदर-भाव क्रमश मन्द होने लगा । राजा को अपने प्रति विरक्त-हृदय देख कर उस महात्मा ने वहाँ से प्रस्थान का उपक्रम किया । यह सुन कर अवशिष्ट स्नेह-सौजन्य और विनय के रक्षार्थ राजा ने उनके समीप जाकर सम्मान प्रदर्शित किया और कहा—अकस्मात् हमे छोड कर आप क्यो जा रहे है ? बोधिसत्त्व ने कहा—

"नाकस्मिकोऽय गमनोद्यमो मे
नासत्क्रियामात्रकरूक्षितत्वात् ।
अभाजनत्व तु गतोऽसि शाठ्या-
द्धर्मस्य तेनाहमितो व्रजामि ।।"[3]

१—जातक०—२३/४ के बाद का गद्य

२—जातक०— २३/५

३—जातक० २३/७

अर्थात् मेरी यह आकस्मिक यात्रा नही है, आपके असत्कार से रुष्ट होकर भी मै नही जा रहा हूँ। शठता के कारण अब आप धर्म के पात्र नही रहे। इसलिए मै यहाँ से जा रहा हूँ। अनेकविध दृष्टान्तो से फटकारने पर अपने उपेक्षा-भाव के लिए राजा ने उनसे क्षमा-याचना की तथा वही रहने के लिये प्रार्थना की। किन्तु, उस महात्मा ने अनेक प्रकार से समझाते हुए कहा कि—

"असेवना चात्युपसेवना च
याच्ञाभियोगाश्च दहन्ति मैत्रीम्।
रक्ष्य यत प्रीत्यवशेषमेत-
न्निवासदोषादिति यामि तावत्॥"[1]

अर्थात् असेवन अतिसेवन और बार-बार की याचना से मैत्री नष्ट होती है। यहाँ रहने के दोष से बचे हुए स्नेह की रक्षा करनी है। इसीलिए मै यहाँ से जा रहा हूँ। तब राजा ने प्रार्थना की कि अवश्य ही जाना है, यह निश्चय यदि आपने कर लिया है तो पुन यहाँ आकर हमे अनुगृहीत कीजियेगा, क्योकि असेवन से भी स्नेह की रक्षा करनी ही है। बोधिसत्त्व ने कहा—"ससार मे अनेक विघ्न-बाधाये है। अत मै प्रतिज्ञा करने मे असमर्थ हूँ। यहाँ आने का आवश्यक कारण होने पर मै आपका पुन दर्शन करूँगा। इतना कह कर वे उसके राज्य से निकल गये और गृहस्थो के सम्पर्क से व्यथित चित्त होकर किसी वन-प्रान्त मे ध्यानादि मे लग गये।

शान्तिसुख का आस्वादन करते हुए उन्होने अनुकम्पावश एक समय उस राजा का स्मरण किया तो अपनी दिव्य-दृष्टि से देखा कि उसके अमात्यगण अपनी मिथ्या दृष्टि से उसे कुमार्ग की ओर बहका रहे है। कोई अहेतुवाद की ओर खीचता है तो कोई ईश्वर को कारण के रूप मे निर्दिष्ट करता है। दूसरा पहले किये हुए कर्मा का फल सुख-दु ख है, इसकी शिक्षा देता है। कोई उच्छेदवाद की चर्चा से कामभोग मे ही प्रताडना कर रहा है और दूसरा क्षत्र-विद्या के अनुसार कौटिल्यादि नीति की चर्चा करता हुआ या विरोधी कार्यो मे ही राजधर्म का अनुशासन कर रहा है। पापियो के सम्पर्क से तथा दूसरो पर विश्वास कर चलने की बुद्धि से राजा मिथ्या दृष्टि के प्रपात के सम्मुख गिरने के लिये खडा है। यह देख कर दया से द्रवीभूत हो बोधिसत्त्व ने उसे बचाने का उपाय सोचा। सच है—सद्गुणो के अभ्यास से साधुओ के हृदय मे पूर्वकृत उपकार बना ही रहता है, किन्तु उनके हृदय से अपकार उसी प्रकार गिर जाता है जिस प्रकार कमल के पत्ते से पानी।

१—जातक० २०/१६

"गुणाभ्यासेन साधूना कृत तिष्ठति चेतसि ।
भ्रश्यत्यपकृत तस्माज्जल पद्मदलादिव ।।"[१]

तब इसके लिये यह उचित समय है, यह निश्चय कर, बोधिसत्त्व ने अपने आश्रम मे एक बडे बानर का निर्माण किया और उसके चमडे को हटा कर, शेष शरीर को लुप्त कर दिया। उस चर्म को धारण कर वे राजभवन के द्वार पर प्रकट हुए। राजा ने अगवानी आदि अतिथिजनोचित उपचार के द्वारा उनकी पूजा की तथा सभा मे उचित आसन पर बैठा कर यह जिज्ञासा की कि भगवन् किसने आपको इस वानर चर्म का उपहार देकर अपने को महान अनुग्रह का पात्र बनाया। वोधिसत्त्व ने कहा—महाराज, मैने स्वयं ऐसा किया है। स्वभावत कठोर पृथ्वी पर धर्मानुष्ठान करने मे कष्ट का अनुभव कर आश्रम मे स्थित महान बानर को मार कर उसका चमडा धारण कर लिया है। सौजन्य एव विनयवश राजा ने कुछ नही कहा और सलज्जहृदय हो वह अधोमुख हो गया, किन्तु पूर्व से ही वैरभाव को प्राप्त उनके अमात्यो ने अवसर पाते ही उनकी निन्दा की। बोधिसत्त्व ने शान्तचित्त से उन अमात्यो के पूर्वकथित सिद्धान्तो का अपने ज्ञान एव तर्क-बल मे खण्डन कर उन्हे अप्रतिभ कर दिया। परिषद् सहित राजा को सन्मार्ग का उपदेश दिया तथा वही से आकाश मे उडकर उन लोगो के द्वारा पूजित हो वन-प्रदेश की ओर प्रस्थान किया।

इस प्रकार अपमानित होने पर भी कृतज्ञता और क्षमाशीलता के कारण सज्जनो की दया उनके पूर्वोपकारियो के प्रति क्षीण नही होती है। इसलिए केवल अपमान से ही पूर्वकृत उपकार को नही भूलना चाहिये।

२४—महाकपि-जातक

सज्जन अपने दुःख से उतने संतप्त नही होते जितने कि अपकारियो के कुशलपक्ष की हानि से।[२] तब जैसी कि अनुश्रुति है—

बोधिसत्त्व एक बार हिमालय के मनोरम अचल मे एक विशालकाय वानर होकर अकेले विचरण कर रहे थे। उस अवस्था मे भी उनका धर्मज्ञान लुप्त नही हुआ। वे कृतज्ञ, उदारचेता, महाधीर तथा महाकारुणिक थे। तपस्वी के समान जंगली पर्ण-फलो से शरीरयात्रा करते हुए वे महात्मा वहाँ आये हुए प्राणियो पर अनेक प्रकार से अनुकम्पा करते थे।

१—जातक० २३/२२

२—"नात्मदुःखेन तथा सन्त सतप्यन्ते यथापकारिणा कुशलपक्षहान्या।"
—जातक० २४/१ के पहले का गद्य

एक समय कोई व्यक्ति अपनी गाय को खोजता हुआ मार्गभ्रष्ट हो वहाँ पहुँचा। भूख-प्यास गर्मी और थकावट से व्याकुल वह एक वृक्ष के नीचे बैठ गया। वहाँ उसने पक कर गिरे हुए कुछ तिन्दुकी फलो को देखा तथा चखा। भूख की असह्य पीडा के कारण उसे वह फल अत्यन्त स्वादिष्ट लगा। इससे आकृष्ट होकर वह प्रपाततट-स्थित तिन्दुकी वृक्ष की फलपूर्ण डाल पर चढा तथा डाल के अन्त तक चला गया। सहसा वह पतली डाल टूट कर गिर पडी और वह व्यक्ति उसके साथ ही बडे पहाडी दुर्ग मे गिर पडा, जो पत्तो के ढेर और पानी की गहराई से युक्त था। अत एव उसका कोई अग-भंग नही हुआ। पानी से निकल कर वह चारो ओर घूमने लगा, किन्तु कही निकलने का मार्ग न देखा। रक्षा का कोई उपाय न देख वह जीवन से निराश हो गया। तीव्र शोकशल्य से पीडित होकर कातर हृदय से भाँति-भाँति का विलाप करता हुआ वह प्रपात-जल और साथ गिरे हुए तिन्दुकी फल पर वहाँ कुछ दिन बिताया। कुछ समय के बाद महाकपि आहार के लिए विचरण करते हुए उस तिन्दुकी वृक्ष पर आये तथा प्रपात की ओर दृष्टिपात करते हुए दयनीय दशा मे स्थित उस क्षीणकाय मनुष्य को देख कर अत्यन्त व्याकुल हो गये। आहार की खोज छोड कर उन्होने मनुष्य की वाणी मे उससे कहा—मनुष्य के लिए दुर्गम इस प्रपात मे घूम रहे तुम कौन हो तथा यहाँ कैसे आये ?

"मानुषाणामगम्येऽस्मिन् प्रपाते परिवर्तसे।
वक्तुमर्हसि तत्साधु को भवानिह वा कुत ॥"[१]

उस मनुष्य ने हाथ जोड कर कहा—हे महाभाग मै मनुष्य हूँ। वन मे विचरण करता हुआ मैं भटक गया तथा फल के लोभ से इस पेड से गिडकर ऐसी महाविपत्ति मे पड गया हूँ। अत हे वानरपति, मुझ असहाय के भी आप रक्षक बने।

"मानुषोऽस्मि महाभाग प्रनष्टो विचरन् वने।
फलार्थी पादपादस्मादिमामापदमागमम् ॥
तत्सुहृद्बन्धुहीनस्य प्राप्तस्य व्यसन महत्।
नाथ वानरयूथाना ममापि शरण भव ॥"[२]

यह सुन कर बोधिसत्त्व को बडी दया आई। उन्होने उस पर करुणा करते हुए सकट काल के लिए दुर्लभ स्नेहपूर्ण-वाणी मे आश्वासन दिया तथा तिन्दुक और दूसरे फल दिये। प्रपात मे जाकर कहा—"आओ मेरी पीठ पर चढ़ कर मुझसे चिपट जाओ। मैं तुम्हारा और अपने शरीर के सार का उद्धार करता हूँ। क्योकि सज्जनो के मतानुसार इस असार शरीर का सार परोपकार ही है। अनन्तर उसने वैसा ही किया। उसके अतिशय भार से उस महाकपि के प्राण निकलने लगे, किन्तु उत्साह के आधिक्य से धैर्य की रक्षा करते हुए, उन्होने बहुत कष्ट से उसे निकाला। इससे उनका

१—जातक०—२४/६
२—जातक०—२४/७-८

मन परम प्रसन्न हुआ। एक सुन्दर शिला को देखकर अपनी थकावट दूर करने की इच्छा से निर्मल-चित्त बोधिसत्त्व ने उस आदमी से कहा—इस वनप्रदेश मे हिंसक पशु निर्बाध पहुँच सकते है। यहाँ थक कर सोये हुए मुझे और साथ ही अपने कल्याण को कोई हठात् ही समाप्त न कर दे। अत चारो ओर दृष्टि रखते हुए तुम मेरी और अपनी रक्षा करो। मेरा सारा शरीर अत्यन्त थका हुआ है। इसलिए मै मुहूर्त्त भर सोता हूँ। उस व्यक्ति ने सविनय कहा—आप इच्छानुसार सोये और सुखपूर्वक जागे। मै आपकी रक्षा के लिए तैयार हूँ। जब वह महासत्त्व गंभीर निद्रा के वशीभूत हुए तब उस आदमी ने सोचा—प्रयत्नपूर्वक प्राप्य वन्य फल-मूलो पर रहने वाला बलहीन मै इस दुस्तर वन को कैसे पार करूँगा। इसके लिये इसका यह मास अपेक्षित ह। यद्यपि इसने मेरा उपकार किया है, तथापि यह भक्षणीय है। अत मैं इसे अपना आहार बनाऊँगा। जब तक यह विश्वस्त होकर सोया हुआ ह, तभी तक मै इसे मार सकता हूँ। क्योकि इसके साथ सम्मुख युद्ध मे सिंह की भी पराजय की ही सभावना है। अत विलम्ब करने का समय नही है। यह निश्चय कर उस दुरात्मा ने एक बडा पत्थर उठा कर उस महाकपि के शिर पर फेंका। शीघ्रता के कारण पूरा पत्थर पूरे वेग से उनके मस्तक पर नही पडा, अत उसे चूर-चूर नही कर सका। किन्तु किनारे के एक भाग से ही उसे पीडित करता हुआ वह वज्र के समान पृथ्वी पर गिरा। पत्थर की चोट से उनका मस्तक फट गया। वेग से उछल कर बोधिसत्त्व ने कहा—"किसने मुझे मारा ?" वहाँ किसी दूसरे को नही, किन्तु लज्जा से उदास और कातर तथा विषाद से विवर्ण उसी आदमी को देखा। भय से उसका कण्ठ सूख रहा था तथा पसीने से वह तर था। तब वह महाकपि, इसी का यह कर्म है, यह निश्चय कर चोट की अपनी असह्य पीडा को भूल कर उसके आत्मकल्याण विरोधी दु खद कर्म से विचलित हो उठे। दया से द्रवीभूत उनकी आँखे सजल हो उठी। उस मनुष्य के प्रति क्रोध या क्षोभ को भूल कर उसके लिये शोक करते हुए उन्होने कहा—हे भद्र ! मनुष्य होकर तुमने यह कुकर्म क्यो किया ? मैंने दुष्कर कार्य किया, यह अभिमान मुझे हुआ, तुमने अति दुष्कर कार्य कर उस अभिमान को दूर कर दिया। तुम परलोक से मानो लाये गये, मृत्युमुख से मानो छुडाये गये। तुम एक प्रपात से निकाले गये ओर दूसरे प्रपात मे गिर पडे हो। अहो ! अति दारुण अज्ञान को धिक्कार है, जो सुख की आशा से विह्वल प्राणियो को विपत्ति मे गिराता है ? तुमने अपने को दुर्गति मे गिराया, मुझे शोकाग्नि मे डाला। यश की शोभा को नष्ट किया तथा गुणानुराग को समाप्त किया। मै तुम्हारे पाप मे निमित्त बना और उस पाप को प्रक्षालित करने मे मै समर्थ नही हूँ, इस बात से मेरे मन मे जितनी व्यथा हो रही है, उतनी व्यथा तो मुझे इस चोट की पीडा से भी नही हो रही है। तुम सन्देह के पात्र हो। अत मेरे द्वारा देखे जाते हुए तुम मेरे बगल से चलो, तब तक इस भयंकर जगल से निकाल कर ग्राम के मार्ग पर पहुँचा देता हूँ। ऐसा न हो कि मार्ग से अनभिज्ञ वन मे भटकते हुए, क्षीण-शरीर और अकेला पाकर

तुम्हे कोई सतावे और मेरे परिश्रम को व्यर्थ कर दे। इस प्रकार समझाते हुए महाकपि ने उस व्यक्ति को जनभूमि मे पहुँचा कर कहा—हे मित्र, वन-भूमि यहाँ तक है। अब दुर्गम-वन के भय को छोडकर आनन्द मे जाओ। पाप-कर्म छोडने का यत्न करो, क्योकि उसका परिणाम अवश्य दु खदायी होता है। उस आदमी को शिष्य की भाँति उपदेश दकर महाकपि उसी वन-प्रदेश को लौट गये।

इधर घोर पाप करने से उस मनुष्य का मन पश्चात्ताप की अग्नि से जलने लगा। असाध्य कुष्ठ रोग मे उसकी आकृति मद्य बदल गयी। फूटते हुए फोडो के बहने से उसका शरीर गीला हो गया तथा उससे अत्यन्त दुर्गन्ध निकलने लगी। वह जहाँ कही भी गया वही उसके वीभत्स और विकराल रूप को देखकर तथा उसके बदले हुए दीन स्वर को मुनकर लोगो को विश्वास नही हुआ कि यह मनुष्य है। उसे साक्षात् पाप मानते हुए उन्होने ढेले और लाठियो तथा फटकार के कठोर वचनो से उसे निकाल दिया। एक बार शिकार खेलते हुए किसी राजा ने जंगल मे उसे प्रेत के समान घूमते देख कर भय और कुतूहल के साथ पूछा—

तुम कौन हो ? भूत-प्रेत पिशाच ? या मूर्त्त पाप ? अनेक रोगो के समूह ? या यक्ष्मा रोगो मे कोई हो क्या ?—

> "कस्त्व प्रेत पिशाचो वा मूर्त्त पाप्माथ पूतन ।
> अनेकरोगसघात कतमो वासि यक्ष्मणाम् ॥"[1]

उसने आर्त्त स्वर मे राजा को प्रणाम करते हुए अपने दुष्कर्म का इस प्रकार प्रकाशन किया—

> "मित्रद्रोहस्य तस्येद पुष्प तावदुपस्थितम् ।
> अत कष्टतर व्यक्त फलमन्यद्भविष्यति ॥"[2]

अभी उस मित्र-द्रोह का यह फूल निकला है। अवश्य ही फल तो दूसरा ही इससे भी कष्टदायक होगा। अत मित्रो के प्रति विश्वासघात शत्रु के समान है। मित्र-द्रोहियो की इहलोक मे ही ऐसी दशा होती हे, परलोक मे होनेवाली दुर्गति की तो बात ही क्या ? किन्तु जिसका हृदय मित्रो के प्रति स्नेह से भरा हुआ है, वह उनका विश्वासपात्र और उनमे उपकृत होता है। वह कीर्त्ति, विनय और आनन्द प्राप्त करता है, शत्रुओ के लिये अजेय होता है और अन्त मे स्वर्ग जाता है—

> "वात्सल्यसोम्यहृदयस्तु सुहृत्सु कीर्त्ति
> विश्वासभावमुपकारसुख च तेभ्य ।
> प्राप्नोति सन्नतिगुण मनस प्रहर्ष
> दुर्धर्षता च रिपुभिस्त्रिदशालय च ।"[3]

१—जातक० २४/३७
२—जातक० २४/३८
३—जातक० २४/४१

तथागत के माहात्म्य कथन मे, आदरपूर्वक धर्म-श्रवण करने मे, क्षमा की कथा मे, मित्रो के प्रति द्रोह नही करने मे तथा पाप-कर्म के दोष दिखलाने मे यह कथा कहनी चाहिये।

२५—शरभ-जातक

हत्या की चेष्टा करने वाला यदि विपत्ति मे पड जाय तो उस पर भी महाकारुणिक करुणा ही करते है। सुना जाता है कि बोधिसत्त्व एक बार किसी वन मे बलवान, रूपवान और तेजस्वी शरभ पशु हुए। उनकी आकृति पशु की थी किन्तु चित्त मनुष्य के समान धीर था। वे तपस्वियो के समान प्राणियो पर दया रखते थे, तृणो के अग्रभाग खाकर संतुष्ट रहते थे और योगी के समान उस एकान्त वन मे विचरण करते थे—

"मृगाकृतिर्मानुषधीरचेता-
स्तपस्विवत्प्राणिषु सानुकम्प ।
चचार तस्मिन् स वने विविक्ते
योगीव सतुष्टमतिस्तृणाग्रै ।।"[1]

एक दिन उस देश का राजा उत्तम घोडे पर सवार होकर मृगो का पीछा करता हुआ अत्यन्त वेग के कारण गज, अश्व, रथ और पैदल सेना को दूर मे छोड कर उस स्थान पर पहुँचा। दूर से ही उस शरभ को देख कर धनुष चढ़ा कर उसने घोडे को उधर घुमाया। अश्व के साथ आते हुए राजा को देख कर उसका सामना करने मे समर्थ होने पर भी हिसा और क्रोध से निवृत्त होने के कारण बोधिसत्त्व अत्यन्त वेग से भागने लगे। वह श्रेष्ठ घोडा भी पूरे वेग से शरभ का पीछा करता हुआ एक गड्ढे के पास पहुँच कर उसे लाघने का निश्चय न कर हठात् ही रुक गया। शरभ पर दृष्टि गडाये राजा ने प्रपात को नही देखा। वेगपूर्वक घोड़े के रुकने से नि शङ्क असावधान वह आसन से चलायमान होकर गिर पडा।

घोडे के पदचाप के बन्द होने से राजा के लौट जाने की संभावना करते हुए बोधिसत्त्व ने पीछे मुड कर देखा। सवार के बिना गड्ढे के किनारे घोडे को खडा देख उन्होने सोचा, अवश्य ही राजा गड्ढे मे गिर पडे हैं। इससे उस महात्मा के हृदय मे उस वध करने वाले के प्रति भी अत्यन्त करुणा उत्पन्न हुई। उसके क्लेश का अनुमान कर वे अत्यन्त दु खी हो गये। क्योकि—

"किणाङ्कितानीव मनासि दु खै-
र्न हीनवर्गस्य तथा व्यथन्ते ।
अदृष्टदु खान्यतिसौकुमार्या-
द्यथोत्तमाना व्यसनागमेषु ।।"[2]

१—जातक० २५/१
२—जातक० २५/७

अर्थात् निम्नवर्ग के लोगो के मन दु ख के अभ्यस्त होने के कारण दु ख से उतने व्यथित नही होते है, जितने कि विपत्ति के आने पर उच्च वर्ग के सुकुमार लोगो के मन, जिन्हे दु ख का दर्शन ही नही हुआ है। ये स्वयं इससे निकल नही सकेंगे। अत यदि जीवित है तो इनकी उपेक्षा करना उचित नही है, यह सोचते हुए दयार्द्रचित्त होकर वे उस प्रपात के किनारे गये। वहाँ राजा को छटपटाते हुए देख कर उनकी आँखे आँसुओ से भर गयी। "यह हमारा शत्रु है", यह भूल कर वह उसी के समान दु ख अनुभव करने लगे। विनयपूर्वक अपने साधु-भाव को प्रकट करते हुए उन्होने शान्तिदायक मनोहर वाणी मे उमे सात्वना दी तथा कहा—हे महाराज! आप अधीर न हो। आपके ही तृण-जल पर पले मुझ पर आप विश्वास करें। मैं आपको इससे निकाल सकता हूँ। अत शीघ्र ही आज्ञा दीजिये कि मैं आपके पास आ जाऊँ। उनके अद्‌भुत वचन से विस्मित और लज्जित हो राजा ने सोचा—मेरे शत्रुतापूर्ण पराक्रम को देख कर भी यह दया दिखला रहा है। अवश्य ही यह शरभ की आकृति मे कोई महात्मा है। मै ही पशु या बैल हूँ।[1] अत इनकी प्रार्थना को स्वीकार कर इनका सत्कार करना उचित है, यह निश्चय कर उसने कहा—

"प्रपातपतनक्लेशान्न त्वहं पीडितस्तथा।
इति कल्याणहृदये त्वयि प्रस्खलनाद्यथा।।"[2]

अर्थात् प्रपात मे गिरने की पीडा से मै उतना व्यथित नही हूँ, जितना कि शुद्ध हृदय वाल आपके प्रति अपराध करने से। आपके स्वभाव को न जान कर, आपकी आकृति पर विश्वास कर मैंने आपको जो समझ लिया इसे अपने हृदय मे स्थान नही दीजियेगा। राजा के प्रेमपूर्ण वचन से शरभ ने जान लिया कि निकालने की अनुमति मिल गयी है। तब प्रपात मे उतर कर उसने विनयपूर्वक कहा—महाराज, मेरी पीठ पर चढ़ कर मुझसे चिपट जॉय। "बहुत अच्छा" कह कर राजा घोडे की तरह उन पर चढ़ गया। पूरी शक्ति और वेग से राजा को दुर्ग से निकाल कर तथा घोडे से मिला कर वे अत्यधिक प्रसन्न हुए तथा उसे नगर का मार्ग बतला कर स्वयं वन की ओर उन्मुख हुए। राजा का कृतज्ञ हृदय आनन्द से भर गया। उसने शरभ को आलिंगित करते हुए विनयपूर्वक निवेदन किया कि नगर मे चलें। तब बोधिसत्त्व ने मधुर वाणी मे उसकी प्रशसा करते हुए कहा—"हे नरश्रेष्ठ, मुझ वनवासी को गृहवासी बनाकर अनुगृहीत करने का विचार छोडिये, क्योकि मनुष्य जाति का सुख भिन्न है और पशु जाति का भिन्न। हे वीर, यदि आप मेरा प्रिय करना चाहते है, तो व्याधकर्म को छोडिये। पशु-पक्षी मन्द-बुद्धि होते हैं। वे दया के पात्र है। इसलिए उन पर दया करना ही उचित है। सब प्राणी समान

१—"अहो मधुरतीक्ष्णेन प्रत्यादिष्टोऽस्मि कर्मणा।
अहमेव मृगो गौर्वा कोऽप्ययं शरभाकृति ।।
—जातक० २५।१४

२—जातक० २५।१६

रूप से सुख की प्राप्ति और दु ख से मुक्ति चाहते है। अत अपने को जो अच्छा नही लगे, वह दूसरे के प्रति करना आपके लिये उचित नही है।

"सुखाश्रये दु खविनोदने च
समानचित्तानवगच्छ सत्त्वान्।
इत्यात्मन स्यादनभीप्सित य-
न्न तत्परेष्वाचरितु क्षम ते ।।[1]

पाप से दु ख होता है, कीर्ति नष्ट होती है, सज्जनो के द्वारा निन्दा होती है, यह जानकर पाप को शत्रु के समान त्याग दें। जिन पुण्यो के सेवन से आपने लोकमान्य लक्ष्मी-निवास राजत्व को पाया है, उन्ही पुण्यो को मित्र के समान बढावें। आदर के साथ समयोचित विपुल दान देते हुए, सज्जनो की संगति से निरूपित शील का पालन करते हुए, जैसी अपनी वैसी ही अन्य प्राणियो की हितकामना करते हुए यश और सुख के साधन स्वरूप पुण्यो का संचय करें।[2]

इस प्रकार पारलौकिक वातो के उपदेश से राजा को अनुगृहीत कर वे महात्मा उसी जंगल मे चले गये।

इस प्रकार हत्या की चेष्टा करनेवाला भी यदि विपत्ति मे पड जाय तो महाकारुणिक उस पर करुणा ही करते है, उसकी उपेक्षा नही करते है।

२६—रुरु-जातक

दूसरो का दु ख ही साधुओ का दु ख है। वे इसे नही सह सकते, न कि अपने दु ख को। जैसा कि सुना जाता है—बोधिसत्त्व एक जन्म मे किसी निर्जन वन मे मनोहर रुरु मृग हुए। तीक्ष्ण-बुद्धि, सुन्दर आचरण एवं दिव्य शरीरवान वे सभी पशुओ से पूजित हुए। वहाँ रहते हुए उन्होने एक बार समीप मे बहती हुई जल से भरी हुई नदी की वेगवती धारा मे बहते हुए किसी मनुष्य का करुण क्रन्दन सुना। क्रन्दन के करुण शब्द से हृदय मे मानो आहत होते हुए बोधिसत्त्व "मत डरो मत डरो" शत-शत जन्मो मे अभ्यस्त, भय-विषाद और दीनता को दूर करनेवाली, स्पष्ट अक्षरो वाली वह मनुष्यवाणी बार-बार जोरो से बोलते हुए उस गहन वन से निकल आये और उस मनुष्य को देख कर उन्होने उसे निकालने का निश्चय किया। अपने प्राण की चिंता छोड भयकर वेग से बहती हुई उस नदी मे वे प्रविष्ट

१—जातक० २५।२६

२—कालोपचारसुमगैर्विपुलै प्रदानै
शीलेन साधुजनसगतनिश्चयेन।
भूतेषु चात्मनि यथा हितबुद्धिसिद्ध्या
पुण्यानि सचिनु यश सुखसाधनानि ।।"

—जातक० २५।२६

हुए, जैसे कोई वीर मनुष्य शत्रु-सेना को क्षुब्ध करता हुआ उसके भीतर प्रवेश करता है। अपने शरीर से उसके मार्ग को रोक कर उसने कहा—"मेरा आश्रय ग्रहण करो" भयातुर वह उनकी पीठ पर चढ गया। उस मनुष्य के आरूढ होने पर भी तथा नदी के वेग से विचलित किये जाते हुए भी उत्कृष्ट सत्त्व के कारण उनकी अद्भुत शक्ति बनी रही और वे उसके मनोनुकूल तीर पर पहुँच गये। अत्यन्त आनन्द का अनुभव करते हुए उसकी थकावट और दु ख दूर कर, उसे मार्ग बतलाया तथा प्रसन्नता के साथ विदा किया। स्नेही बन्धुओ और मित्रो के लिए भी दुर्लभ उनकी इस दयालुता से उस मनुष्य का हृदय भर आया। विस्मय और सम्मानपूर्वक बोधिसत्त्व को प्रणाम कर उसने कहा—बाल्यावस्था से ही स्नेही मित्र या बन्धु भी इस कार्य को नही कर सकता है, जिसे आपने मेरे लिए किया है। अत ये प्राण आपके हैं। यदि आपके लिए किसी छोटे कार्य मे भी इनका उपयोग हो तो मेरे ऊपर बडी कृपा होगी। अत आप जिस किसी कार्य के योग्य समझे उसे करने की आज्ञा देकर मुझे अनुग्रहीत करें। तब उसकी प्रशसा करते हुए बोधिसत्त्व ने कहा – इस कार्य को स्मरण करते हुए तुम यह बात किसी से न कहना कि इस प्रकार के प्राणि-विशेष ने मुझे निकाला है। मेरा यह सुन्दर रूप लुभावना है। लोभ के कारण मनुष्यो के हृदय प्राय कठोर और अशान्त होते है। अत अपने गुणो की और मेरी रक्षा करो। मित्रद्रोह कही कल्याणकारी नही होता है। वह "बहुत अच्छा" यह वचन देकर उस महासत्त्व को प्रणाम कर अपने घर की ओर चल दिया।

उसी समय किसी राजा की एक रानी थी, जिसके स्वप्न सत्य होते थे। एक समय प्रात काल मे सोई हुई उसने स्वप्न देखा कि कान्तिमान् रुरु-मृग सिंहासन पर विराजमान होकर स्पष्ट अक्षरो वाली मनुष्य की वाणी मे राजा सहित समस्त सभासदो को धर्मोपदेश कर रहा है। यह देखकर विस्मित हृदय रानी ने अवसर पाते ही राजा से उस असाधारण स्वप्न का वर्णन किया और कहा—हे राजन्, उस मृग को प्राप्त करने के लिए उचित यत्न किया जाय। उससे यह अन्त पुर अत्यन्त शोभायमान होगा। उसके स्वप्न को सत्य मान कर राजा ने उस रुरु-मृग की खोज के लिए सभी व्याधो को आदेश दिया और उसे दिखलाने वाले को एक उत्तम ग्राम तथा दश मनोहर स्त्रियाँ देने की प्रतिदिन घोषणा की। बार-बार उस घोषणा को सुनकर धन के लोभ से रुरु-मृग के महान् उपकार को भूलते हुए उस कृतघ्न व्यक्ति ने राजा से निवेदन किया कि हे राजन्, मैं उसे दिखला सकता हूँ। यह सुनकर प्रसन्नचित्त हो राजा स्वयं मृग-यानुरूप वेष धारण कर, बडी सेना के साथ राजधानी से निकल कर उस व्यक्ति के द्वारा बतलाये जाते मार्ग से उस गहन वन मे घुसा। तब उस मृग को निश्चिन्त देख कर उस पुरुष ने ज्यो ही उसे राजा को दिखलाने के लिये भुजा उठाई कि उसका हाथ प्रकोष्ठ से गिर पडा, जैसे तलवार से काट दिया गया हो। अनन्तर उस पुरुष द्वारा बतलाये मार्ग से राजा ने महापुण्यवान रुरु मृग को देखा और उसकी रूप-शोभा से आकृष्ट होकर उसे पकडने के लोभ से धनुष-बाण लेकर उसे

बिद्ध करने की इच्छा से उसकी ओर बढा। चारो ओर से लोगो से घिरा हुआ अनुभव कर बोधिसत्त्व ने मनुष्य की वाणी मे राजा से कहा—हे राजन्, क्षण भर रुकें और मेरी इस जिज्ञासा को शान्त कर दें कि निर्जन गहन वन मे रहने वाले मेरे विषय मे किसने आपको बतलाया। उसकी अद्भुत मनुष्य-वाणी से द्रवीभूत होकर राजा ने अपने बाण के नोक से उस पुरुष को दिखला कर कहा—यही इस अद्भुत रूप को दिखलाने वाला है। उस पुरुष को पहचान कर उसकी निन्दा करते हुए बोधिसत्त्व ने कहा—"सत्य है कि जल-प्रवाह मे पडे हुए काठ को निकालना अच्छा है लेकिन अकृतज्ञ मनुष्य को नही।"

"सत्य एव प्रवादोऽयमुदकौघगत किल।
दार्वेव वरमुद्धर्तु नाकृतज्ञमति जनम् ॥[1]"

मेरे परिश्रम का यही प्रत्युपकार है।

राजा ने उत्सुकतापूर्वक पूछा—हे अद्भुत मृग, किसे लक्ष्य कर आप यह कह रहे है? बोधिसत्त्व ने कहा—"जलप्रवाह मे बहते हुए जिसको मैने दया के वशीभूत होकर बचाया, हे नरश्रेष्ठ, उसी की ओर से मुझ पर यह विपत्ति आई। दुर्जनो की संगति कभी कल्याणकारी नही होती। तब राजा ने तीक्ष्ण दृष्टि से फटकार और रूक्षता के साथ उस पुरुष को पूछा। भय, विषाद एव लज्जा से विवर्णमुख हो उसने धीरे-धीरे कहा—सत्य है। यह सुनकर धिक्कारते हुए राजा ने उसका वध करने के लिये धनुष पर बाण चढाया। महाकारुणिक बोधिसत्त्व ने यह देख उन दोनो के बीच खडे होकर कहा—मरे को न मारे, महाराज। इसके ऊपर दया करें, न कि क्रोध। इसने जो कुछ पाने की आशा की थी, उसे देकर इसके साहस को सफल करें। आपकी आज्ञा के लिये मेरा मस्तष्क झुका हुआ है।

अपकारी के प्रति भी बोधिसत्त्व की यह दयालुता देख राजा ने अत्यन्त विस्मित होकर गुरु के समान उनका सम्मान किया और उन्हे अपने उत्तम रथ पर चढ़ा कर राजधानी लाया। अतिथि सत्कार के अनन्तर सिहासन पर बैठा कर मंत्रियो एवं रानियो के साथ धर्म के विषय मे पूछा। बोधिसत्त्व ने मनुष्य की वाणी मे उन्हे धर्मोपदेश दिया और कहा—हे राजन्, संक्षेप मे दया ही धर्म है। राजा उनके वचन का अभिनन्दन कर प्रजासहित धर्म-परायण हो गया। उसने पशु-पक्षियो तक को अभय दान दे दिया।

इस प्रकार दूसरो का दु ख ही सज्जनो का दु ख है।

२७—महाकपि-जातक

इसमे बोधिसत्त्व के असाधारण त्याग तथा आश्रितो के प्रति अगाध वात्सल्य का प्रतिपादन हुआ है। एक बार बोधिसत्त्व हिमालय के मनोरम अचल मे वानरयूथ

[1] —जातक०—२६/२४

के अधिपति हुए। वहाँ एक विशाल वटवृक्ष था, जो स्वादिष्ट तथा मनोहर फलो से परिपूर्ण था। उसी वृक्ष का आश्रय लेकर बोधिसत्त्व वहाँ विहार करते थे। उस वृक्ष की एक शाखा फलाधिक्य के कारण समीप मे बहती हुई नदी के ऊपर झुकी हुई थी। दूरदर्शी बोधिसत्त्व ने वानरो को आदेश दिया कि उस शाखा के फलरहित हो जाने पर ही कोई दूसरी शाखा का फल खाय। सभी वानरो ने वैसा ही किया। किन्तु पल्लसमूह से आच्छादित रहने के कारण एक छोटा फल उनकी दृष्टि से बच गया, जो कालान्तर मे पक कर उस नदी की धारा मे गिर गया और बहता हुआ रानी के साथ जलक्रीडारत किसी राजा के जाल मे फँसा। उसके उत्कृष्ट गन्ध, अपूर्व रग तथा अद्भुत रसास्वाद से अत्यन्त विस्मित होकर राजा सोचने लगा—दीर्घ काल तक जल मे नही रहने के कारण इसका वर्ण, गन्ध एवं रस अक्षुण्ण है। अत इसका उत्पत्तिस्थान अवश्य ही समीप मे कही नदी तट है। यह निश्चय कर राजा ने महती सेना के साथ उस नदी का अनुसरण किया। अनेक प्रकार के स्थानो से गुजरता हुआ वह मनुष्यो के लिए दुर्गम उस वृक्ष के समीप पहुँच गया। वहाँ सैकडो वानरो को उसके दिव्य-फल मे रत देख राजा ने अत्यन्त क्रुद्ध होकर तत्क्षण उन्हे ध्वस्त करने का आदेश दिया। आज्ञा पाकर भयानक राजसेना तीरो, ढेलो, लाठियो और बर्छियो की वर्षा मे चारो ओर से उस वृक्ष को व्याप्त करती आगे बढने लगी। इससे भयभीत होकर वानरगण दीनमुख हो बोधिसत्त्व के मुख की ओर ताकने लगे। उनकी यह दशा देख बोधिसत्त्व के हृदय मे बडी करुणा हुई। भय, विषाद एवं घबराहट को छोड तथा वानरयूथ को रक्षा का आश्वासन देकर वे उस वृक्ष के शिखर से समीपवर्त्ती तट पर एक ही छलाग मे चले आये, जहाँ अन्य बन्दर दो छलागो मे भी नही पहुँच सकते थे। पर्वत-शिखर पर चढ कर पर्वत तथा वृक्ष के अन्तर से अधिक लम्बी, बद्धमूल, सुदृढ़ वेत्रलता से अपने पैरो को अच्छी तरह बाँध कर पुन उसी वृक्ष पर उछल पडे। दूरी की अधिकता एवं बन्धन की व्याकुलता के रहते भी उस महासत्त्व ने किसी तरह वृक्ष की शाखा के अग्र-भाग को अपने हाथो से पकडा और सकेत के द्वारा वानरो को वहाँ से निकल भागने का आदेश दिया। भयातुर वानरगण उन्हे रौदते हुए वहाँ से शीघ्र ही उस बेत के द्वारा सकुशल निकल गये।

वानरो द्वारा निरन्तर रौदे जाने पर बोधिसत्त्व के शरीर ने मास को छोड दिया, किन्तु चित्त ने धैर्यातिशय को नही छोडा।[1]

---

१ भयातुरैस्तस्य तु वानरैस्तै-
राक्रम्यमाण चरणै प्रसक्तम्।
गात्र ययौ स्वै पिशितैर्वियोग
न त्वेव धैर्यातिशयेन चेत.॥"

—जातक० २७।११

उनके इस अद्भुत उपाय कौशल एवं असाधारण त्याग से राजा को अत्यन्त विस्मय एवं सम्मान का भाव हुआ। उनकी आज्ञा से राजपुरुषो ने वानरपति के नीचे कपडे का चंदोवा फैला कर एक बाण से बेंत को और दूसरे से वट वृक्ष की डाल को एक साथ ही काट कर बोधिसत्त्व के क्षत-विक्षत शरीर को मुक्त किया। धीरे-धीरे चंदोवे से उतार कर राजा ने उन्हे कोमल बिछावन पर सुलाया और उनका सम्यक् उपचार किया।

आश्वस्त होने पर अत्यन्त सम्मान के साथ कुशल-प्रश्न करते हुए राजा ने उनसे वैसा करने का कारण पूछा। बोधिसत्त्व ने राजा की अनुकूलता का आदर करते हुए कहा—मेरी आज्ञा के पालन मे दक्ष इन्होने मुझे अधिपति का भार दिया। इन पर मेरा पुत्रवत् स्नेह है। स्नेह की रक्षा के लिये मैने यह आचरण किया। अपने आश्रितो की रक्षा कर मेरा चित्त अत्यन्त स्वस्थ है। शारीरिक पीडा, बन्धु-वियोग या सुख का विनाश मुझे संतप्त नही कर रहा है। क्रमागत यह मृत्यु मेरे लिये महोत्सव के समान है। स्वामी होने के कारण अपने जाति वालो से प्रणाम, सत्कार और भक्ति के साथ जिस सुख परम्परा को मैने पाया, उससे आज मै मुक्त हूँ। अत मै अत्यन्त आत्मसुख का अनुभव कर रहा हूँ।

उस अवस्था मे बोधिसत्त्व को अत्यन्त प्रमुदित देख राजा परम विस्मित हुए तथा उनसे शिष्य के समान राजधर्म का उपदेश ग्रहण किया। राजा को समुचित शिक्षा देकर उन्होने अपने पार्थिव शरीर को छोड दिया।

इस प्रकार सदाचार का अनुसरण करनेवाले प्राणी शत्रु के मन को भी जीत लेते हैं।

२८——क्षान्ति-जातक

इस कथा मे बोधिसत्त्व की अद्भुत क्षमाशीलता का वर्णन हुआ है। गृहस्थ जीवन को दोषो का आस्पद मान कर बोधिसत्त्व ने एक बार संन्यास व्रत धारण किया। वे तपस्वी होकर सदा क्षमा का उपदेश देते थे और तदनुरूप धर्म की व्याख्या करते थे। अत लोग उन्हे क्षान्तिवादी कहते थे। वे एकान्त, रमणीय, सुलभ फल-फूलो से समन्वित विमल कमल युक्त जलाशयो से सुशोभित एवं उद्यानो की रम्य शोभा से विभूषित वनस्थली मे रहते थे तथा कल्याणकामी गुणानुरागियो को क्षमाविषयक धार्मिक कथाओ से अनुगृहीत करते थे।

एक बार उस देश का राजा ग्रीष्म-ऋतु मे जल-क्रीडा की अभिलाषा से अपने अन्त पुर के साथ उस रम्य वनस्थली मे आया। वन-विहार सुख की यथेष्ट अनुभूति पाकर क्रीडाजन्य थकावट और मद्यपान के कारण सुन्दर कुन्ज मे उत्तम शय्या पर जाकर सो गया। तब उनकी स्त्रियाँ वन-शोभा से आकृष्ट होकर चारो ओर विचरण करने लगी। वन की रमणीयता का अवलोकन करती हुई वे क्षान्तिवादी

मुनि के आश्रम मे पहुँच गयी। वहाँ वृक्ष के नीचे बैठे, शान्त, सौम्य तथा धर्मात्मा मुनि को देखते ही वे स्त्रियाँ विभ्रम-विलास तथा उच्छृंखलता का परित्याग कर विनय और शान्ति के साथ उनके चारो ओर बैठ गयी। उस महात्मा ने प्रिय वचनों तथा अतिथियोग्य अन्य मनोहर उपचारो से उनका स्वागत कर सुबोध दृष्टान्तपूर्ण धर्मोपदेश के द्वारा उनका आतिथ्य किया।

इधर नीद टूटने पर रानियो के अनियन्त्रित प्रेमपूर्ण हास्य, संभाषण तथा सरस चेष्टाये देखने के लिये उत्सुक राजा शयनपालिकाओ से उनका अन्यत्र गमन जानकर शय्या से उठ गया तथा दासियो एवं कञ्चुकियो के साथ उन्हे खोजता हुआ उस मुनि के आश्रम मे पहुँचा। वहाँ महर्षि क्षान्तिवादी को रानियो से घिरा हुआ देखते ही नशे से बेहोश तथा ईर्ष्या से हतबुद्धि वह राजा अत्यन्त क्रुद्ध हो गया। विवेकबल के अभाव मे वह विनय और सदाचार से च्युत हो गया। महर्षि को फटकारते हुए उसने कहा—

"अस्मत्तेज. खलीकृत्य पश्यन्नन्त पुराणि न।
मुनिवेषप्रतिच्छन्न कोऽय वैतसिकायते ॥[1]"

अर्थात् हमारे प्रभाव की उपेक्षा कर हमारी स्त्रियो को देखता हुआ यह कौन मुनि के वेष मे छिपा हुआ व्याध का आचरण कर रहा है।

राजा क द्वारा इस प्रकार अपमानजनक शब्दो का प्रयोग करने पर अन्त -पुर के अनुचरो ने घबराहट मे आकर उनसे मुनि का प्रभाव और माहात्म्य बतलाया। किन्तु राजा दूषित आशय के कारण उन बातो पर ध्यान न देकर स्वयं हाथ मे तलवार लेकर उस मुनि पर शत्रु की तरह झपटा। सुन्दर शिष्टाचार और विनय से युक्त रानियो ने उस ऋषि की प्रशसा क द्वारा राजा के क्रोधाग्नि-प्रज्वलित चित्त को शान्त करना चाहा, किन्तु इससे उनका क्रोध और बढ़ ही गया। आक्रमण किये जाने पर भी महासत्त्व निर्विकार, घबराहट से रहित तथा स्वस्थचित्त बने रहे। सबके प्रति क्षमाशील वे उस अपमान से जरा भी विचलित नही हुए। उन्होने अनेक प्रकार के उपदेशप्रद वाक्य राजा के कल्याण के लिये कहा। किन्तु कुटिलता से हतबुद्धि राजा पर इसका उलटा ही परिणाम हुआ। कहा भी गया है—

"पय पान भुजङ्गाना केवल विषवर्द्धनम्।
उपदेशो हि मूर्खाणा प्रकोपाय न शान्तये ॥"

अब यह अनुनय का पात्र नही रह गया है, यह सोच कर बोधिसत्त्व वैद्य द्वारा परित्यक्त रोगी के समान उसके लिये शोक करते हुए चुप हो गये। राजा ने उसके बाद उनके दोनो हाथ पैर, कान तथा नाक को काट डाला। शरीर पर तीक्ष्ण तलवार का प्रहार होने पर भी वे उत्तम मुनि न दु खी हुए, न क्रुद्ध, क्योकि वे जानते थे कि शरीर रूपी यंत्र का विनाश निश्चित है। इसलिये वे सब प्राणियो के

१—जातक०—२८।३०

प्रति क्षमाशील थे, किन्तु राजा की धर्मच्युति से वे अत्यन्त संतप्त हुए। सच है— शान्तचित्त दयालु पुरुप अपने पर आये दु ख से उतने दु खी नही होते, जितना कि दूसरो पर आये दु ख से—

"प्रतिसख्यानमहर्ता न तथा करुणात्मनाम्।
बाधते दु खमुत्पन्न परानेव यथाश्रितम्॥"[1]

उस घोर दुष्कर्म के करने पर राजा तत्क्षण अग्नि के समान दाहक ज्वर से ग्रस्त हो गया और उपवन से निकल कर भयंकर शब्द के साथ हठात् ही फटी हुई तथा आग की लपटो से भरी हुई पृथ्वी के भीतर समा गया। इससे समस्त राजकुल को अत्यन्त व्याकुल देख राजा के अमात्य ने महर्षि के चरणो मे नत-मस्तक होकर निवेदन किया कि अज्ञान और चापल्य के कारण राजा ने आपको इस अवस्था मे पहुँचा दिया है। अत वही आपकी क्रोधाग्नि का इन्धन बने। हे सद्गुणो के पक्षपाती ! आप उसके नगर, परिवार तथा दु खी प्रजाओ को न जलावें। बोधिसत्त्व ने आश्वासन दिया कि मरण और व्याधि के दु ख से दु खी, लोभ और द्वेष के वशीभूत अपने दुष्कमो से दग्ध व्यक्ति तो दया का पात्र होता है। उस पर क्रोध कौन करेगा ? अपनी भलाई मे आग लगाने वाले राजा को बचाने की शक्ति मुझमे नही है, तो मै उस पर क्रोध क्यो करूँ ? असंख्य जन्मो मे यह क्षुद्र शरीर नाना प्रकार से नष्ट हुआ, फिर आज इसके नष्ट होने पर मै क्षमा को क्यो छोडूँ ? प्रव्रज्या की प्रतिज्ञा लेकर वन मे रहता हुआ, मै शीघ्र ही प्राण छोडने वाला हूँ। तब क्रोध को क्यो आश्रय दूँ ? अत आपका शुभ हो, आप निर्भय होकर जॉय।

इस प्रकार उन्हे उपदेश देकर तथा शिष्य बना कर महर्षि क्षमाशीलता के कारण अविचल धैर्य के साथ पृथ्वी के निवास को छोड कर स्वर्ग चले गये। क्षमाशीलता के गुण-वर्णन मे तथा कामोपभोगो के दुष्परिणाम दिखलाने मे यह कथा कहनी चाहिये।

२९—ब्रह्म-जातक

बोधिसत्त्व के धर्म-ज्ञान एवं परोपकार की भावना का प्रतिपादन इस जातक मे हुआ है। अपने पुण्य कर्मो के परिणाम-स्वरूप बोधिसत्त्व ने एक बार ब्रह्मलोक मे जन्म पाया। वहाँ महान् ब्रह्म-सुख पाकर भी उनका मन परोपकार से विमुख नही हुआ, क्योकि विषय-सेवन से होनेवाले सुख को पाकर लोग असावधान होकर निन्दित होते है, किन्तु ध्यानाभ्यास से होने वाले सुख को पाकर भी सज्जनो के परोपकार की इच्छा तिरोहित नही होती है—

"विषयसुखेनापि परा प्रमादवक्तव्यता व्रजति लोक।
ध्यानसुखैरपि तु सता न तिरस्क्रियते परहितेच्छा॥"[2]

---

१ जातक—२८।५७

२ जातक० २९।१

एक बार उस महात्मा ने विविध दुखो से युक्त अनेक लोको का अवलोकन करते हुए "अगदिन्न" नामक विदेहराज को देखा, जो कुसगति तथा दुर्विचारो के अभ्यास से मिथ्या दृष्टि के गहन वन मे भटक रहा था। परलोक नही है, शुभाशुभ कर्मो का परिणाम कहाँ से होगा ? यह निश्चय कर वह दान, सदाचार आदि सत्कर्मो से विमुख होकर भोगो मे आसक्त हो गया था। साधुओ और ब्राह्मणो के प्रति उसका विनय और सम्मान शिथिल हो गया था। परलोक की बातो से उसे हँसी आती थी।

राजा को उस अनर्थकारिणी मिथ्यादृष्टि मे आसक्त देख कर देवर्षि के हृदय मे करुणा उमड पडी। एक समय जब राजा विषय-सुखो मे लीन होकर सुन्दर एकान्त कुज मे बैठा हुआ था, देवर्षि उसके सामने ब्रह्मलोक से प्रज्वलित होते हुए नीचे उतरे। अग्निपुञ्ज के समान प्रकाशमान तथा सूर्य की किरण-राशि के समान अत्यन्त दीप्त उनके तेज से अभिभूत होकर राजा ने घबराहट के साथ उठ कर तथा हाथ जोड कर उन्हे प्रणाम किया और उनका परिचय पूछा। बोधिसत्त्व ने कहा कि रागद्वेष को आत्मसयम की शक्ति से जीत कर ब्रह्मलोक मे रहनेवाले देवर्षियो मे से मै हूँ। अपनी दिव्यशक्ति का रहस्य पूछे जाने पर उन्होने कहा—हे राजन्! पूर्व जन्मो मे अभ्यस्त ध्यान, निर्मल सदाचरण और उत्तम इन्द्रिय-संयम के कारण यह दिव्यशक्ति मुझे प्राप्त हुई है। परलोक क्या है और इस पर कैसे विश्वास किया जा सकता है, यह पूछे जाने पर देवर्षि ने अनेक प्रमाणो एवं तर्को से राजा को परलोक के विषय मे समझाया, किन्तु मिथ्यादृष्टि के दुराग्रह तथा अपने एकत्रित पापो के कारण उस पर उसका कोई प्रभाव नही पडा। तब बोधिसत्त्व ने नरक की भयंकर यातनाओ का विस्तृत वर्णन कर उसे अनेक प्रकारो से समझाया कि आप जैसे लोगो की अन्तिम गति उसी मे होती है। इसे सुनकर राजा के मन मे वैराग्य उत्पन्न हो गया। मिथ्यादृष्टि की आसक्ति का परित्याग कर उसने परलोक पर विश्वास किया और बोधिसत्त्व को प्रणाम कर कहा—

"निशम्य तावन्नरकेषु यातना
भयाद्विद विद्रवतीव मे मन।
कथ भविष्यामि न ता समेयिवान्
वितर्कवह्निर्दहतीव मा पुन॥
मया ह्यसद्दर्शननष्टचेतसा
कुवर्त्मना यातमदीर्घदर्शिना।
तदत्र मे साधुगतिर्गतिर्भवान्
परायण त्व शरण च मे मुने॥"[1]

अर्थात् नरक की यातना सुन कर मेरा मन भयभीत हो रहा है। किस प्रकार मै उस यातना को न प्राप्त करूँ, चिन्ता की यह अग्नि मुझे बार-बार जला रही है।

१ जातक०—२६/४६-४७

मिथ्या दृष्टि से ज्ञान के नष्ट होने के कारण मे अदीर्घ-दर्शी कुमार्ग पर चला। इस लिए इस विषय मे आप उत्तम गति वाले ही मेरी गति, आश्रय और शरण हैं। और भी—

"यथैव मे दृष्टितमस्त्वयोद्धृत
दिवाकरेणेव समुद्यता तम।
तथैव मार्गं त्वमृषे प्रचक्ष्व मे
भजेय येनाहमितो न दुर्गतिम्॥"[1]

अर्थात् जिस प्रकार उगता हुआ सूर्य अन्धकार को दूर करता है, उसी प्रकार आपने मेरी दृष्टि के अन्धकार को दूर कर दिया। इसी प्रकार हे ऋषि! अब आप मुझे मार्ग बतलायें, जिससे मै दुर्गति को न पाऊँ।

वैराग्य तथा धर्माचरण के प्रति राजा का झुकाव देख कर बोधिसत्त्व ने शिष्य की भाँति उस पर अनुकम्पा करते हुए उसके लिए सुगतिमार्ग का उपदेश किया। उसके बाद वे वही अन्तर्हित हो गये। परलोक की कथा की सत्यता को जान कर, सम्यग् दृष्टि का ज्ञान प्राप्त कर अमात्यो एवं प्रजाओ के साथ वह राजा दान, इन्द्रिय-दमन और आत्म-सयम मे तत्पर हो गया।

३०—हस्ति-जातक

यह कथा बोधिसत्त्व के अतिथि-सत्कार का अद्भुत दृष्टान्त उपस्थित करती है। एक बार बोधिसत्त्व किसी रमणीय नाग-वन मे विशालकाय एकाकी हाथी हुए। पर्वत प्रान्त मे स्थित वह वन वनचारियो का आश्रय था। वृक्षो, झाडियों एवं जल से रहित एक बडी मरुभूमि उसके चारो ओर मनुष्यो के आवागमन मे रुकावट थी। वहाँ वे तपस्वी के समान वृक्ष के पत्तो, कमल-नाल तथा सन्तोष-शान्ति से ही प्रसन्न रहते थे।

एक बार वन के सीमान्त प्रदेश मे विचरण करते हुए उस महासत्त्व ने मरुभूमि की ओर से क्रन्दन सुना। उन्होने सोचा यह क्या है? इस भूमि से दूसरे देश को जाने वाला कोई मार्ग भी नही है। इतनी बडी मरुभूमि को पार कर शिकार के लिए आना तो और भी असंभव है। स्पष्ट है कि ये मार्ग से भटक गये है, अथवा कोपवश राजा से निर्वासित किये गये है। दु खदैन्यपूर्ण क्रन्दन सुन कर करुणा से प्रेरित बोधिसत्त्व तेजी से उस शब्द की ओर बढ़ने लगे। गहन वन से निकलने पर मरुभूमि मे दूर से ही सात सौ मनुष्यो को देखा, जो भूख, प्यास और थकावट से व्यथित हो वन की ओर सहायता की आशा से देख रहे थे। जंगम हिमगिरि शिखर के समान हस्तिराज को देख कर उन मनुष्यो ने सोचा—अहो! हमारा विनाश निश्चित है। किन्तु भयभीत होने पर भी भूख, प्यास और थकावट से निरुत्साहित होने के

---

१. जातक०—२९।४८

कारण उन्होने भागने की चेष्टा नही की। उन्हे भयभीत जानकर बोधिसत्त्व ने दया से द्रवीभूत होकर मनुष्य की वाणी मे आश्वासन देते हुए पूछा कि आप कौन है और किस प्रकार इस अवस्था को प्राप्त हुए है ? उनकी अभयदानसूचक अनुग्रह-प्रवृत्ति से आश्वस्त होकर उन मनुष्यो ने उन्हे प्रणाम कर निवेदन किया कि हे गजेन्द्र! राजा की क्रोधाग्नि ने हम एक हजार व्यक्तियो को यहाँ डाल दिया। पहले कभी दु ख नही होने के कारण बहुत से लोग भूख, प्यास और शोक से अभिभूत होकर मर गये। इस समय सात सौ मनुष्य बचे होगे। मृत्यु-मुख मे डूबते हुए हम लोगो के लिये आप मूर्त्त आश्वासन के समान उपस्थित हुए है। उनकी बातो को सुन कर महाकारुणिक बोधिसत्त्व की आँखो से आँसू बहने लगे। उन्होने अनेक प्रकार से शोक प्रकट करते हुए सोचा कि भूख, प्यास एवं थकावट से व्याकुल तथा दुर्बल काय ये उचित आहार के बिना निर्बल, छायारहित तथा अतिविस्तृत इस मरुभूमि को कैसे पार करेंगे ? नाग-वन मे भी क्या है, जिससे एक दिन भी भूख से इनकी शरीर-यात्रा चल सके ? हाँ, ये मेरे शरीर को पाथेय बना कर तथा मशक की तरह अँतडियो मे जल लेकर इस मरुभूमि को पार कर सकते है। अत मै विविध रोगो के घर इस देह को पीडित प्राणियो के लिये विपत्ति से निकालने का साधन बनाता हूँ। मेरे क्षेत्र मे आये ये धर्मानुसार मेरे अतिथि है तथा विपत्ति मे और बन्धुरहित है। इसलिए विशेष रूप से मेरी अनुकम्पा के पात्र है। तब उनमे से किसी ने जल की, किसी ने छाया की और किसी ने मार्ग की याचना की। उनकी करुण प्रार्थनाओ से दयार्द्र होकर उस महात्मा ने जिस ओर से मरुभूमि को पार करना शक्य था, उस ओर अपनी सूँड से उन्हे एक पहाड दिखलाते हुए कहा—उस पहाड के नीचे कमलो से शोभायमान, विमल जल का एक बडा सरोवर है। अत इसी मार्ग से जाइये। वहाँ गर्मी, प्यास और थकावट को दूर कर, उस पहाड से कुछ ही दूरी पर गिरे हुए एक हाथी के शरीर को देखियेगा। उसके माँस को पाथेय बनाकर तथा मशक की तरह अँतडियो मे जल लेकर इसी दिशा मे जाइये। इस तरह अल्प कष्ट से ही आप लोग इस मरुभूमि को पार कर लेगे। इस प्रकार आश्वासन देते हुए उस महात्मा ने उन्हे वहाँ से प्रस्थान करा कर स्वयं शीघ्रतापूर्वक दूसरे मार्ग से उस पहाड के किनारे से अपने शरीर को छोड दिया। भयकर शब्द करते हुए उनके पृथ्वी पर गिरने पर देवताओ ने प्रसन्न होकर पुष्प सुगंध आदि की वृष्टि की।

उन मनुष्यो ने क्रम से सरोवर पर पहुँच कर गर्मी, प्यास और थकावट दूर की तथा समीप मे ही कुछ देर पहले मरे हुए हाथी के शरीर को देखा। ध्यान से देखने पर कुछ लोगो ने निश्चयपूर्वक जान लिया कि यह वही श्रेष्ठ हाथी है। इससे उन्हे अद्भुत आश्चर्य हुआ कि जिनके कुल, शील और भक्ति को पहले कभी नही देखा, न सुना, ऐसे हम भाग्यहीनो के प्रति इन्होने इतनी सुजनता दिखलाई, तब अपने मित्रो और बन्धुओ के प्रति ये कितने उदार होगे।

"अदृष्टपूर्वान्वयशीलभक्तिषु
क्षतेषु भाग्यैरपरिश्रुतेष्वपि ।
सुहृत्त्वमस्मासु बतेदमीदृश
सुहृत्सु वा बन्धुषु वास्य कीदृशम् ॥"[1]

ये सर्वथा प्रणम्य है। मृत्युमुख मे आपतित हम पर अनुग्रह करनेवाले ये हाथी के रूप मे कोई है, जो सज्जनो के दुर्लभ आचरण को धारण करते है। तब कौन इस समय स्नेही बन्धुओ से भी बढकर स्नेह करनेवाले, अनुग्रहपरायण, अपने प्राणो से भी हमारे उपकार मे प्रवृत्त, अत्यन्त साधु आचरणवाले इनका मास खा सकेगा ? उचित तो यह है कि विधिपूर्वक पूजा करते हुए हम दाह-क्रिया के द्वारा इनके ऋण से मुक्त हो। यह सोचते हुए उनके हृदय शोकाकुल हो गये मानो उनके स्व-जन की मृत्यु हुई हो।

अनन्तर कुछ धीर मनुष्यो ने कहा—"इस अपरिचित बन्धु ने हमारी रक्षा करने के उद्देश्य से अपना प्रिय शरीर छोडा। इनके उद्देश्य को पूरा करके ही हम इनकी पूजा कर सकेंगे। स्नेह मे अतिथि-सत्कार मे इन्होने अपना सर्वस्व उत्सर्ग कर दिया। अब इसे अस्वीकार कर कौन इस सत्कार को व्यर्थ करेगा ? अत एव गुरु के समान इनके वचन का पालन करते हुए हम इनका सम्मान और अपना कल्याण करे। इस विपत्ति को पार कर हम सभी इनकी पूजा करेंगे और वह सब कर्म करेंगे, जो मरे हुए स्वजन के लिए किया जाता है।

अनन्तर वे सभी उनके वचन के अनुसार हाथी का माँस तथा उसकी अँतडियों मे जल लेकर उनके द्वारा निर्दिष्ट दिशा मे चलते हुए मरुभूमि से सकुशल बाहर हो गये। इस प्रकार साधु-जन प्राण देकर भी दूसरो का दु ख दूर करते है।

३१—सुतसोम-जातक

सत्सग का माहात्म्य एव बोधिसत्त्व की करुणा के वर्णन मे यह कथा कही गयी है।

बोधिसत्त्व ने एक बार प्रख्यात कौरव-राजकुल मे जन्म पाया। शत-शत गुण रूपी किरणो से विभूषित वे देखने मे चन्द्रमा के समान सुन्दर लगते थे। अत एव पिता ने उनका नाम सुत-सोम रखा। शुक्लपक्ष के चन्द्रमा के समान उनकी कान्ति बढने लगी। कालक्रम से उन्होने साग वेदो तथा विभिन्न उत्तम कलाओ मे निपुणता पायी। शीघ्र ही अपने सद्गुणो से वे लोगो के प्रेम और सम्मान के पात्र हो गये। प्रजा-पालन मे समर्थ जानकर राजा ने उन्हे युवराज के पद पर अभिषिक्त किया। विद्वान् होने के कारण सुभाषित उन्हे अत्यन्त प्रिय था। अत सुभाषित लेकर आये हुए का वे बडा सम्मान करते थे।

---

१. जातक—३०।३७.

एक दिन सेना के साथ वे क्रीडार्थ किसी उपवन मे गये। वहाँ वे अपनी प्रियतमा के साथ विचरण करने लगे जैसे नन्दन-वन मे कोई पुण्यात्मा विचरण कर रहा हो। मधुर सगीत, सुन्दर नृत्य, हाव-भावमय विलास एवं मनोहर वन-शोभा से वे आनन्दित हुए। वहाँ सुभाषित सुनानेवाला कोई ब्राह्मण आया और उनसे उचित रूप से सत्कृत होकर बैठ गया। अभी उस ब्राह्मण ने वहाँ आने का फल भी नही पाया था कि अचानक एक भयंकर कोलाहल हुआ। भय से काँपते हुए द्वारपाल ने निवेदन किया कि देव! राक्षसो से भी अधिक क्रूर, सैकडो मनुष्यो के संहार का अभ्यस्त नरभक्षी सौदास (सुदास का पुत्र) कल्माषपाद इधर ही आ रहा है, जिससे हमारी सेना व्याकुल होकर भाग रही है। अत उचित कर्त्तव्य का आदेश दें। जानते हुए भी सुतसोम ने पूछा कि यह सौदास कौन है? द्वारपाल ने कहा कि एक समय सुदास नामक राजा मृगया के लिये किसी दुर्गम वन मे गया। वहाँ उसने सिही के साथ सहवास किया, जिससे कुमार का जन्म हुआ। वनचारियो के द्वारा वह राजा के पास लाया गया। पिता के द्वारा लालित पालित हो कर उसने उनकी मृत्यु के बाद राज्य भी पाया, किन्तु मातृदोष के कारण वह पुरवासियो को ही मार कर खाने लगा। फलत पुरवासियो ने उसके वध का प्रबन्ध किया, जिससे भयभीत होकर उसने भूतो की उपासना की तथा उनसे प्रतिज्ञा की कि सकटमुक्त होने पर सौ राजकुमारो की बलि द्वारा वह भूतयज्ञ करेगा। वह सकटमुक्त हो गया। अब वह बलपूर्वक राजकुमारो का अपहरण करता हुआ श्रीमान् के अपहरण के लिये आ रहा है। अत शीघ्र यथोचित आज्ञा दें।

सौदास की दुश्शीलता से पूर्वपरिचित बोधिसत्त्व ने कहा कि नरमास के लोभ से मार्ग-भ्रष्ट होकर वह दयनीय अवस्था मे है। अत उसके पाप को उन्मीलित करने का यत्न करना मुझ जैसे सज्जनो का कर्त्तव्य है। अनन्तर रक्षको को अपने-अपने कार्य मे सावधान रहने का आदेश देकर तथा घबराये हुए लोगो को आश्वासन देकर स्वय राजकुमार उधर बढ़े जिधर से वह क्रूर राक्षस के समान आकृति वाला सौदास आ रहा था। दूर से ही सुतसोम ने निर्भय होकर कहा कि यह मै सुतसोम हूँ, इधर लौटो। यह सुनकर वह बोधिसत्त्व की ओर लौटा तथा उन्हे अपने कन्धे पर चढ़ा कर भागा। अपनी अभीष्ट-सिद्धि से प्रसन्न वह बोधिसत्त्व को मारे हुए मनुष्यो की लाशो से पटा हुआ तथा भयंकर अपने निवास-दुर्ग मे रख कर स्वयं अपनी थकावट दूर करने लगा। तब बोधिसत्त्व को उस ब्राह्मण का स्मरण आया जो सुभाषित रूपी उपहार लेकर आया था तथा पुरस्कार की आशा से उद्यान मे उनके लौटने की प्रतीक्षा कर रहा था। उसके लिये अत्यन्त शोकाकुल होते हुए उस महापुरुष के नेत्रो से आँसू निकल पडे। सौदास ने भय के कारण उन्हे सजलनयन समझ कर हँसते हुए कहा कि मेरे वश मे पड कर धीर कहलाने वाले तुम आँसू बहा रहे हो। ठीक ही कहा गया है—

"आपत्सु विफल धैर्यं
शोके श्रुतमपार्थकम्।

नहि तद्विद्यते भूत-
माहत यन्न कम्पते ॥[1]

अर्थात् विपत्ति मे धैर्य नष्ट हो जाता है। ऐसा कोई प्राणी नही जो विपत्ति या शोक से आहत हो कर विचलित न हो।

बोधिसत्त्व ने कहा—अन्य किसी कारण से नही बल्कि, यह सोच कर मेरी ऑखे सजल हो रही है कि सुभाषितो के साथ पुरस्कार की आशा से आया हुआ ब्राह्मण मेरा अपहरण सुनकर निराशा से दग्ध हो रहा होगा। इसलिये आप मुझे तब तक के लिये छोड दे जब तक कि मै निराशा रूपी अग्नि से जलते हुए द्विज के हृदय को सत्कार रूपी शीतल जल से शान्त कर उससे सुभाषित रूपी मधु ग्रहण कर सकूँ। इस प्रकार द्विज के ऋण से मुक्त होकर यहाँ मै आपके ऋण से सानन्द मुक्त होऊँगा। प्रथमत सौदास को इस पर विश्वास नही हुआ, क्योकि मृत्युमुख से मुक्त हो कर कौन स्वस्थचित्त मनुष्य पुन उसी के पास जायगा ? किन्तु अनेक प्रकार से बोधिसत्त्व के विश्वास दिलाने पर उसने उनकी सत्यवादिता तथा धार्मिकता की परीक्षा के लिये जाने की अनुमति दे दी। शीघ्र लौटने की प्रतिज्ञा कर बोधसत्त्व घर आये। उन्होने ब्राह्मण को बुला कर चार गाथाये सुनी तथा प्रसन्न होकर प्रति सुभाषित सहस्र मुद्रा देकर उसे सम्मानित किया। इसे अतिव्यय समझ कर पिता ने प्रसंगवश उनसे कहा—सुभाषित के पुरस्कार की सीमा का ज्ञान होना चाहिये। इसके लिये सौ मुद्रा ही पर्याप्त है। बोधिसत्त्व ने सुभाषितो के महत्त्व का विस्तृत विवेचन करते हुए कहा कि जिसको सुनते ही मन प्रसन्न होता है कल्याण-प्राप्ति की इच्छा स्थिर होती है, ज्ञान विकसित होकर निर्मल होता है, उसे अपने शरीर का मास देकर भी खरीदना चाहिये। अनन्तर पिता, गुरुजन तथा स्नेही लोगो से अनेक प्रकार से रोके जाने पर भी वे अपनी प्रतिज्ञा से अनुसार निर्भयता-पूर्वक सौदास को विनीत करने की इच्छा से अकेले उसके स्थान पर चले आये।

सत्य की रक्षा मे प्राणो तथा राज्य के मोह को त्यागने वाले बोधिसत्त्व को पुन आया देखते ही सौदास विस्मित, श्रद्धालु और प्रसन्न हुआ। उसने सुभाषित सुनने की इच्छा व्यक्त की। किन्तु बोधिसत्त्व पहले उसे अधार्मिक कहकर फटकारा और बाद मे प्रसंगवश सत्यवचन एवं सदाचरण का सुन्दर उपदेश दिया, जिससे उसका हृदय परिवर्त्तित हो गया। बोधिसत्त्व को प्रणाम कर उसने धर्मश्रवण की महती इच्छा व्यक्त की। उसे शुद्धाशय समझ बोधिसत्त्व ने धर्म एवं सदाचरण की सुन्दर शिक्षा से सौदास को पाप कर्मो से विरत कर सन्मार्ग पर आरूढ़ किया तथा बन्दी बनाये राजकुमारो को मुक्त कराकर अपने-अपने राज्य मे प्रतिष्ठित कराया।

इस प्रकार किसी भी प्रकार से प्राप्त सत्संग कल्याणकारी ही होता है। सत्पुरुष अपने जीवन, सुख और ऐश्वर्य की उपेक्षा कर सत्य की रक्षा करते है।

---

१ जातक०—२१।१४

३२—अयोगृह-जातक

संसार की अनित्यता तथा वैराग्य से कल्याण की प्राप्ति के कथन मे यह जातक कहा गया है। बोधिसत्त्वावस्था मे भगवान् बुद्ध एक बार किसी विनय-संपन्न राजकुल मे उत्पन्न हुए। इनके जन्म लेते ही वहाँ प्रभूत दान से ब्राह्मण संतुष्ट हो गये। उज्ज्वल वस्त्राभूषण धारण कर भृत्य आनन्द से फूले नही समाये। कारागार से बन्दी मुक्त कर दिये गये। सर्वत्र आनन्द ही आनन्द हुआ। संतुष्ट मनुष्यो ने राजा के अभ्युदय की कामना की।

उस समय राजा के जो पुत्र उत्पन्न होते थे, वे मर जाते थे। इसे भूतबाधा मान कर राजा ने पुत्र की रक्षा के लिये एक सुन्दर प्रसूतिगृह बनवाया, जो सम्पूर्ण लोहे का बना हुआ था एव मणियो की आकृति से अलंकृत था। भूत-विद्या एवं वेद-सम्मत विधि से भूतो के विनाश का प्रतिकार किया। समुचित शुभ अनुष्ठान और मंगल कर्म किये। उस महासत्त्व की सात्त्विकता, पुण्य-प्रभाव और समुचित रक्षा-व्यवस्था के कारण भूतो के लिये वे असह्य हुए। काल-क्रम से उनके सस्कार किये गये। योग्य आचार्यो से उनकी शिक्षा-दीक्षा हुई। अपने उत्तम गुणो से वे शीघ्र ही सब के प्रिय हो गये।

एक बार अपने उत्तम नगर मे काल-क्रम से उपस्थित कौमुदी-महोत्सव की सुन्दर शोभा देखने की इच्छा से वे पिता की अनुमति लेकर एक उत्तम रथ पर आरूढ हो विचरण कर रहे थे। उस समय वैराग्य से अभ्यस्त होने के कारण उन्हे अपने पूर्वजन्मो का स्मरण हुआ। उन्होने सोचा कि संसार की स्थिति अस्थिरता के कारण दु खमयी और दयनीय है। महाशक्तिशाली शत्रु—व्याधि-बुढापा और मृत्यु मारने के लिये उद्यत है। परलोक रूपी दुर्ग मे अवश्य जाना है। तब ज्ञानी व्यक्ति के लिये आनन्द का अवसर ही कहाँ है ? कोई मिलन नही, जिसका अन्त वियोग न हो। कोई सम्पत्ति नही जिसको विपत्ति नही घेरती। जगत् की स्थिति ऐसी चंचल होने पर भी वास्तविकता को नही देख कर ही लोग आनन्द का अनुभव करते है। इस प्रकार सोचते हुए उस महात्मा का मन विरक्त हो गया तथा अवसर मिलते ही राजा के समीप पहुँच कर उसने तपोवन गमन की अनुमति माँगी। पुत्र-प्रिय पिता ने स्नेहवश उसे रोकने का प्रयत्न किया। तब बोधिसत्त्व ने अनेक प्रकार के वचनो से यह स्पष्ट किया कि जरा और मरण रूप शत्रु से आज तक कोई भी बच नही सका है। अत एव मै धर्माचरण के लिये वन जा रहा हूँ। वन मे कुकार्यों को छोड कर और संग्रह के कष्ट से मुक्त हो कर मनुष्य सुखी होता है, शान्ति ही उसका एकमात्र कार्य होता है, चित्त संतुष्ट रहता है, वह सुख धर्म और यश को पाता है।

"वने तु सत्यक्तकुकार्यविस्तर·
परिग्रहक्लेशविवर्जितः सुखी।

शमैककार्य· परितुष्टमानस
सुख च धर्म च यशासि चार्च्छति ।।[1]

धर्म ही मनुष्य की रक्षा करता है, धर्म से ही महासुख होता है। धर्मात्मा को मृत्यु भी आनन्द ही देती है। उसके लिये दुर्गति का भय नही है।

इस प्रकार पिता से अनुनय कर वे उनकी आज्ञा प्राप्त कर राजलक्ष्मी को तृण के समान छोड कर तपोवन चले गये। वहाँ चिरकाल तक अपरिमित ध्यान कर अन्त मे ब्रह्मलोकवासी हुए।

अत जिनके मन मे वैराग्य का उदय होता है, राजलक्ष्मी उनके मार्ग को अवरुद्ध नही कर सकती। इस कथा से यह निष्कर्ष भी निकालना चाहिये कि ससार अनित्य और त्राण-रहित है तथा धर्माचरण वन मे सुकर है न कि घर मे।

३३—महिष-जातक

बोधिसत्त्व की क्षमाशीलता का वर्णन इस जातक मे है।

एक बार बोधिसत्त्व किसी जगल मे जगली भैंसा हुए। अज्ञानमय पशु-योनि मे पडकर भी वे बडे ज्ञानी और धार्मिक थ। उनके भद्र एव दयालु स्वभाव तथा अक्रोध को जानकर एक दुष्ट बन्दर निर्भीक हो कर उन्हे अनेक प्रकार से सताया करता था। क्योकि—

"दयामृदुषु दुर्जन पटुतरावलेपोद्धव
परा व्रजति विक्रिया न हि भय तत पश्यति।
यतस्तु भयशङ्कया सुकृशयापि सस्पृश्यते
विनीत इव नीचकैश्चरति तत्र शान्तोद्धव ।।"[2]

अर्थात् दयार्द्र व्यक्ति के प्रति दुर्जन उद्धत और उत्तेजित होकर बडी दुष्टता करता है, किन्तु जिस व्यक्ति से भय की थोडी भी आशका रहती है, उसके प्रति वह शान्त और विनीत होकर शिष्य के समान विनम्र आचरण करता है।

वह बन्दर कभी बोधिसत्त्व के सोते रहने या ऊँघते रहने पर उनके ऊपर उछल पडता था। कभी उनके ऊपर चढ कर वृक्ष के समान जोरो से हिलाने लगता था। कभी भूख से पीडित उनके मार्ग को रोक कर खडा हो जाता था। एक बार लकडी लेकर उनके कानो को रगड दिया। इस प्रकार के अनेक उपद्रवो के किये जाने पर भी बोधिसत्त्व क्रोध के वशीभूत नही हुए। उसके सभी अविनीत कार्यों को उपकार के समान समझते हुए उन्होने क्षमा कर दिया।

---

१ जातक० ३२।४६

२ जातक —३३।४

उनके अपमान मे दु खी होकर किसी यक्ष ने एक दिन मार्ग मे बोधिसत्त्व को पूछा—"वेगपूर्वक चलाये गये तुम्हारे सीग का अग्र भाग पत्थर को फोड सकता है, बडे-बडे वृक्षो को विदीर्ण कर सकता है। क्रोधपूर्वक निक्षिप्त तुम्हारे पैर चट्टान मे भी वैसे ही धँस सकते है जैसे कीचड मे। फिर क्यो इस दुष्ट बन्दर के अपमान को सहन करते जा रहे हो ? क्या इसके द्वारा खरीद लिये गये हो या जुए मे हरा दिये गये हो ?" बोधिसत्त्व ने क्षमासूचक कोमल शब्दो मे अपना अभिप्राय प्रकट किया। जो प्रतिकार करने मे असमर्थ है, वह बलवान को क्या क्षमा करेगा ? आचारवान् साधुओ को क्षमा ही करना क्या है ? बलवान ही दुर्बल के अपराध को क्षमा कर सकता है। अत अपमानित होने पर गुणो का त्याग करना उचित नही है। उनके अद्भुत क्षमा-भाव को जान कर यक्ष को अत्यधिक आनन्द और विस्मय हुआ। उसने सम्मानपूर्वक उनकी आराधना एवं उपासना की और दुष्ट बन्दर को उनकी पीठ से हटा दिया। अनन्तर वह वही अन्तर्हित हो गया।

इस प्रकार साधु जन अपकारी का भी आदर करते है।

३४—शतपत्र-जातक

बोधिसत्त्व के क्षमाशील तथा उत्तम स्वभाव का चित्रण इस जातक मे हुआ है।

एक बार बोधिसत्त्व किसी वन मे शतपत्र नामक पक्षी हुए। पूर्व जन्मो मे करुणा से अभ्यस्त होने के कारण उस अवस्था मे भी उन्होने शतपत्र की प्राणिहिंसा-वृत्ति का अनुसरण नही किया। पत्र, पुष्प एव फल को खाकर ही वे संतुष्ट रहते थे। यथायोग्य धर्मोपदेश तथा परोपकार करते हुए वे शीघ्र ही उस वन के प्राणियो के आचार्य, बन्धु तथा राजा के समान माननीय हो गये।

किसी वन मे विचरण करते हुए उन्होने एक समय तीव्र वेदना से छटपटाते हुए एक सिह को देखा। स्वभाव से ही कारुणिक उन्होने समीप जाकर कोमल शब्दो मे कहा, हे मृगराज, किस कारण से आप इतने अस्वस्थ दीख रहे है, यदि कहने योग्य हो तो कहिये और जो मेरे करने योग्य हो उसे भी कहिये। सिह ने कहा कि गले के भीतर अटका हुआ हड्डी का टुकडा शल्य के समान मुझे अत्यन्त कष्ट दे रहा है। उसे मैं न तो निगल सकता हूँ और न उगल ही सकता हूँ। मित्रो के लिये सहायता का यही समय हे। अत आप जो कुछ जानते हो, उसके द्वारा मुझे स्वस्थ कीजिये। तब बोधिसत्त्व ने अपनी तीक्ष्ण बुद्धि से हड्डी निकालने का उपाय सोच लिया। उसके मुख-विस्तार की माप का काठ लेकर सिह से कहा कि वह अपनी पूरी शक्ति से मुँह खोले। उसके वैसा करने पर उन्होने उसकी दन्तपंक्तियो के बीच उस काठ को अच्छी तरह स्थिर कर उसके गले मे प्रवेश किया। उसके गले मे स्थित हड्डी को अपनी चोच से पकड कर खीचते हुए तथा मुख-विस्तारक काठ को गिराते हुए वे निकल गये। इस प्रकार सुपरीक्षित निपुण शल्यहारक भी जिसको नहीं निकाल सकता था, उसको उन्होने जन्म परम्परा से प्राप्त निर्मल बुद्धि से निकाला।

कष्टमुक्त होकर सिह ने उनका अभिनन्दन किया और प्रसन्न होकर बोधिसत्त्व अपने अभीष्ट स्थान को चले गये।

एक बार काफी प्रयत्न करने पर भी शतपत्र ने कही कुछ आहार न पाया। भूख की ज्वाला से उनका शरीर जलने लगा। तभी उन्होने उसी सिह को देखा, जो तत्क्षण मारे गये तरुण हरिण का मास खा रहा था। याचना से अनभ्यस्त बोधिसत्त्व उस उपकृत भी सिह से कुछ नही कह सके। किन्तु क्षुधार्त्त रहने के कारण उसकी आँखो के आगे विचरण करने लगे। देखते हुए भी उस कृतघ्न दुरात्मा ने उन्हे आहार के लिये आमन्त्रित नही किया। सच ही कहा गया है—

"शिलातले बीजमिव प्रकीर्णं हुत च शान्तोष्मणि भस्मपुञ्जे।
समप्रकार फलयोगकाले कृत कृतघ्ने विदुले च पुष्पम् ॥"[1]

अर्थात् जिस प्रकार चट्टान पर बोया गया बीज, उष्णतारहित अग्निपुज मे डाली गयी आहुति निष्फल होती है, उसी प्रकार विदुल का फूल और कृतघ्न के प्रति किया गया उपकार फल काल मे व्यर्थ होता है।

अवश्य ही यह मुझे नही पहचान रहा है, यह सोच कर बोधिसत्त्व ने निश्शंक-भाव से याचक के समान आशीर्वाद देते हुए उससे दान माँगा। सदाचरण से सर्वथा अपरिचित उस क्रूर सिह ने डाँटते हुए कहा—दया रूपी कायरता को नही जानने वाले मेरे समीप आकर भी तुम अब तक जीवित हो, क्या यही बहुत नही है? याचना द्वारा मुझे अपमानित कर तुम परलोक जाना चाहते हो? तिरस्कार के इन रूखे शब्दो मे लज्जित होते हुए बोधिसत्त्व वही आकाश मे उड गये।

तब किसी वनदेवता ने उनके धैर्य की परीक्षा लेने के विचार से उनके समीप पहुँच कर कहा कि हे पक्षिश्रेष्ठ! आपसे उपकृत होकर भी इस दुरात्मा ने आपका असत्कार किया। आप झपट कर इसकी आँखे फोड सकते है और इसके दाँतो के बीच से माँस छीन सकते है। क्यो शक्ति के रहते हुए भी आप इसे सह रहे है? इस प्रकार कहे जाने पर बोधिसत्त्व ने अपने स्वभाव का परिचय देते हुए शान्त भाव से कहा कि हमारे जैसे प्राणी के लिये यह मार्ग अनुचित है, क्योकि सज्जन दया से प्रेरित होकर ही दु ख मे पडे हुए का उपकार करते है, न कि लाभ की इच्छा से। अत उसके कृतघ्न होने पर भी क्रोध ठीक नही है। उपकार करने पर भी यदि किसी मे मित्र का धर्म नही पाया जाय तो मृदुतापूर्वक धीरे-धीरे उससे अलग हो जाना चाहिये।

इस प्रकार के सुभाषितो को सुन कर वनदेवता अत्यन्त प्रसन्न हुए। "साधु-साधु" कहकर उन्होने बोधिसत्त्व की भूरि-भूरि प्रशंसा की। अनन्तर वे अदृश्य हो गये।

अत उकसाये जाने पर भी सज्जन पाप मे प्रवृत्त नही होते।

---

१. जातक०—३४।११

तृतीय अध्याय

१—महायान सम्प्रदाय और जातकमाला

आज से प्राय ढाई हजार वर्ष पूर्व भारत मे एक विश्वविख्यात ज्योति पुंज ज्ञानसूर्य का प्रादुर्भाव हुआ था। वह ज्ञान, करुणा, प्रेम और त्याग का मूर्तिमान स्वरूप था। उसका हृदय ससार के दु ख और दयनीय दशा को देखकर द्रवीभूत हो गया था। उसने यह जाना कि विश्व के क्षणिक और दिखावटी सुख ऊपरी स्तर तथा एक भयंकर चिरस्थायी-सी वेदना पर टिका हुआ है। उसने यह अनुभव किया कि जगत् की कृत्रिम स्मितिरेखा के नीचे आधि-व्याधि, जरा और मरण की भीषण व्यथा का अट्टहास निहित है। निरन्तर सत्य के शव पर मिथ्या का नर्तन देखते हुए भी विचलित न होने वाले अज्ञानी जगत् के आन्ध्य से क्षुब्ध होकर उसने दु ख-निरोध के मार्ग को खोज निकालने की दृढ़-प्रतिज्ञा की। २९ वर्ष की भरी युवावस्था मे उसने शाक्य-साम्राज्य की समृद्धि और वैभव को ठुकरा दिया। अपनी अनुपम सुन्दरी, सुशीला और गुणवती गृहिणी के अनवद्य प्रेम की भी उसने उपेक्षा कर दी और उसे दम्पति-स्नेह का ग्रन्थिभूत नवजात शिशु भी अभिनिष्क्रमण से रोक न सका। उसने जग के तीन व्यापक और दृढ़तम कनक, कामिनी तथा कीर्तिरूप बन्धन-शृङ्खलाओ को तोड फेंका। छ वर्षो के कठिन तप के पश्चात् मार-विजय करनेवाले उस दुर्बल और कृशकाय व्यक्ति ने एक दिन गया के समीप निरंजना नदी के तट पर बोधिवृक्ष के नीचे अज्ञान के घने अधकार को दूर करनेवाले ज्ञानसूर्य का साक्षात्कार किया। उसने फिर अपने सक्षात्कृत सत्य का प्रतीत्य-समुत्पाद[1], चार आर्यसत्य[2] और आर्य-

---

[1] प्रतीत्यसमुत्पाद—प्रतीत्य (प्रति + इ + ल्यप्) किमी वस्तु की प्राप्ति होने पर समुत्पाद—अन्य वस्तु की उत्पत्ति अर्थात् सापेक्षकारणतावाद। आचार्य चन्द्रकीर्त्ति ने माध्यमिक कारिकावृत्ति मे प्रतीत्यसमुत्पाद का अर्थ इस प्रकार किया है—
"प्रतीत्यशब्दो ल्यबन्त प्राप्तावपेक्षाया वर्तते। यदि प्रादुर्भाव इति समुत्पाद-शब्द प्रादुर्भावेऽर्थे वर्त्तते। ततश्च हेतुप्रत्ययसापेक्षो भावानामुत्पाद प्रतीत्यसमुत्पादार्थ."
इसके द्वादशागो की चर्चा अभिधर्मकोश मे इस प्रकार है—

"स प्रतीत्यसमुत्पादो द्वादशागस्त्रिकाण्डक।
पूर्वापरान्तयोर्द्वे द्वे मध्येऽष्टौ परिपूरणा॥—अभिधर्मकोश ३।२०

वे द्वादशाग इस प्रकार हैं—१ अविद्या, २ ससार, ३ विज्ञान, ४ नाम-रूप, ५. षडायतन, ६. स्पर्श, ७ वेदना, ८ तृष्णा, ९ उपादान, १० भव, ११. जाति, १२ जरा-मरण। इनमे प्रत्येक परवर्त्ती अग स्वाव्यवहित पूर्व अंग का कार्य है। अविद्या मूल कारण है।

[2] (क) दु ख, (ख) दु खसमुदय, (ग) दु खनिरोध, (घ) दु खनिरोध-मार्ग।

अष्टागिक-मार्ग[1] को बिना किसी जाति-पाँति, रूप-रग, स्त्री-पुरुष, राजा-रंक, ऊँच-नीच, छोटे-बडे, धर्मी-विधर्मी आदि के भेदभाव के सब लोगो को सरल-सुबोध भाषा मे समझाया तथा उसे आज भी संसार श्रद्धा, आदर और गौरव के साथ भगवान् बुद्ध के नाम से स्मरण करता है।

बौद्ध धर्म भारत मे ही नही फला अपितु अपनी जन्म-भूमि की सीमा को लॉघ कर लंका, बर्मा, स्याम, मलाया, जावा, सुमात्रा, नेपाल, तिब्बत, मगोलिया, कोरिया, चीन और जापान आदि सुदूर देशो मे गया। भारत मे लगभग डेढ हजार वर्षो तक व्याप्त रहकर और अनेक महान् दार्शनिक तत्त्ववेत्ता विचारको तथा सन्त-पुरुषो को जन्म देकर अन्त मे कालचक्र से अपनी जन्म-भूमि से लुप्त हुआ।

बुद्ध स्वय ज्ञानी थे और उन्होने ज्ञान का साग्रह प्रतिपादन किया। ससार का अर्थ भव-चक्र या आवागमन है। यह क्षणिक और दु खमय है। अविद्या संसार की जननी है और सब दु खो का मूल कारण है। निर्वाण या मुक्ति का अर्थ इस भव-चक्र से, इस आवागमन के चक्र से, इस प्रतीत्यसमुत्पाद के चक्र से मुक्त होना है। यह मुक्ति तभी हो सकती है जब ससार के मूल कारण अविद्या का नाश हो और अविद्या का नाश केवल विद्या या ज्ञान द्वारा ही संभव है। अत ज्ञान ही सबसे श्रेष्ठ एव पवित्र वस्तु है। बुद्धशब्द का अर्थ ही ज्ञानवान् है। भगवान् बुद्ध की प्रसिद्ध उक्ति है—हे भिक्षुगण, जिस प्रकार लोग सोने को अग्नि मे तपा कर, कसौटी पर कस कर और अच्छी तरह ठोकपीट कर पूर्ण परीक्षा करने के बाद उसे खरा मानते है, उसी प्रकार आप लोग मेरे वचनो को ज्ञानाग्नि मे तपा कर, बुद्धिरूपी कसौटी पर कस कर तथा उनकी हर प्रकार से पूर्ण परीक्षा कर के ही उन्हे ग्रहण करे, केवल मेरे प्रति आदर और श्रद्धा के कारण ही उन्हे सत्य मत माने।[2]

भगवान् बुद्ध के पवित्र उपदेशो को उनके परवर्त्ती अनुयायी अपने-अपने ढग से समझने तथा प्रतिपादन करने लगे, फलत हीनयान तथा महायान नामक दो सम्प्रदायो मे बौद्ध-धर्म विभक्त हो गया।

---

[1] १. सम्यक् ज्ञान (आर्यसत्यो का तत्त्वज्ञान), २ सम्यक् सकल्प (दृढ निश्चय), ३ सम्यक् वचन (सत्यवचन), ४. सम्यक् कर्मान्त (हिंसा-द्रोह, दुराचरण-रहित कर्म), ५ सम्यक् आजीव (न्यायपूर्ण जीविका), ६ सम्यक् व्यायाम (बुराइयो को न उत्पन्न होने देना और भलाई के लिए सतत प्रयत्न करना), ७ सम्यक् स्मृति (चित्त, शरीर, वेदना आदि के अशुचि अनित्य रूप की उपलब्धि और लोभादि चित्त सताप से अलग हटना), ८ सम्यक् समाधि (राग-द्वेषादि द्वन्द्व-विनाश से उत्पन्न चित्त की शुद्ध नैसर्गिक एकाग्रता)।

[2] तापाच्छेदाच्च निकषात् सुवर्णमिव पण्डितै।
परीक्ष्य भिक्षवो ग्राह्य मद्वचो न तु गौरवात्॥"

—तत्त्वसग्रहपञ्जिका पृष्ठ १५

हीनयान का सबसे अधिक विख्यात एवं महत्त्वपूर्ण संप्रदाय "सर्वास्तिवाद" जगत् को केवल क्षण-क्षण परिणामी वासनाओ का संघात और जीव को केवल प्रतिक्षण-परिणामी विचारधारा का संतान मानता है। निर्वाण का अर्थ सर्वथा विनाश मानता है। अभावमय तथा अपनी ही मुक्ति की कामना करनेवाले स्वार्थी "अर्हत्" को सिद्ध समझता है। एक ओर तो हमे जीव और जगत् आदि सब वस्तुओ के अस्तित्व का लोभ दिखाता है और दूसरी ओर हमे केवल सन्तान और संघात के क्षणिक टुकडो से बहलाना चाहता है। एक ओर तो बुद्ध के मौन को जगत्, जीव और ईश्वर की सत्ता का निराकरण मानना और दूसरी ओर बुद्ध के शरीर को, अग-प्रत्यंग, को, आराध्य मानकर उनके नख, केश, दन्त, भस्म एवं अस्थि-खण्डो पर भव्य मदिर बना कर स्वय बुद्ध की प्रतिमा को ईश्वर के आसन पर बिठा कर उसकी पूजा करना इस हीनयान सम्प्रदाय की जडो को हिला देता है।

हीनयान के इन दोषो और विरोधो ने कुछ विद्वान् बौद्धो को इन विषयो पर गम्भीर विचार करने को बाध्य किया। वे सोचने लगे कि वास्तव मे क्या ये दोष और बिरोध बुद्धवचनो मे है या हीनयानियो द्वारा अन्यथाप्रतिपादित सिद्धान्तो मे ? अन्तत वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि हीनयानियो द्वारा अनुचित रीति से अन्यथा प्रतिपादित सिद्धान्तो मे ही ये दोष और विरोध आते है, बुद्धसम्मत सिद्धान्तो मे नही। बुद्ध भगवान् ने पात्र की योग्यता के अनुसार उपदेश दिया। हीनयानानुयायी श्रावको और प्रत्येकबुद्धो को सत्त्वशुद्धि के लिये कर्म और उपासना का उपदेश दिया और केवल महायानानुयायी बोधिसत्त्वो को उन्होने ज्ञान का असली उपदेश दिया। इन बौद्धो ने ही अपने आपको महायानी और दूसरे बौद्धो को हीनयानी शब्द मे सम्बोधित किया।

महायान का अर्थ होता है—विस्तृत यान (गति-साधन) अथवा प्रशस्त मार्ग। इसका ऐसा नाम इसीलिए पडा कि इसके द्वारा निर्दिष्ट मार्ग पर चल कर असख्य व्यक्ति चरम लक्ष्य को अपना सकते है। इस सम्प्रदाय को सहजयान (Easy Path) भी कहा जाता है, क्योकि इसके सिद्धान्तो को प्रत्येक व्यक्ति सुगमता से हृदयंगम कर सकता है। महायान धर्म की सरलता एवं व्यावहारिकता ही इसे विश्व-धर्म के रूप मे प्रतिष्ठित कर सकी। यह धर्म कोरिया, जापान, चीन आदि देशो मे प्रचलित होकर[२] मुख्यत संस्कृत-भाषा मे ही उपनिबद्ध हुआ है, इसलिए इसे आधुनिक विद्वान् संस्कृत बौद्धधर्म अथवा उत्तरी बौद्धधर्म (Northern Buddhism) के नाम से अभिहित करते है।

महायान धर्म की सबसे बडी विशेषता बोधिसत्त्व की कल्पना है। बोधिसत्त्व की प्राप्ति ही जीवन का उद्देश्य है। महायान मे अपनी मुक्ति की अपेक्षा संसार के समस्त जीवो की मुक्ति पर जोर दिया गया है। महायानी संसार के समस्त प्राणियो के समग्र दु खो का नाश करा उन्हे निर्वाण प्राप्त करा देना अपने जीवन का उद्देश्य मानता है। उसका यह प्रण है कि जब तक एक-एक प्राणी मुक्त नही हो जाता, हम स्वयं निर्वाण-सुख को नही भोगेंगे तथा त्रस्त मानव के निर्वाण-लाभ के लिये

प्रयत्नशील रहेंगे। महायानियो का यह आदर्श बोधिसत्त्व कहा जाता है। जो व्यक्ति इसकी प्राप्ति करता है तथा लोक-कल्याण मे सलग्न रहता है, उसे भी बोधिसत्त्व कहा जाता है। जिस प्रकार पक मे रहकर भी पंकज स्वच्छ तथा निर्मल रहता है, उसी प्रकार ससार मे रहकर भी वे ससारिक आसक्ति से प्रभावित नही होते। लोक-सेवा की भावना से वे जन्म ग्रहण करने को भी तत्पर रहते है।

महायान के "बोधिसत्त्व" हीनयान क "अर्हत्" पद से भिन्न है। हीनयान मे "अर्हत्" की प्राप्ति ही जीवन का चरम लक्ष्य कहा गया है। "अर्हत्" के विचार मे स्वार्थपरता निहित है, क्योकि वे अपनी ही मुक्ति के लिये प्रयत्नशील रहते है। इसके विपरीत महायान के बोधिसत्त्व का आदर्श लोक-कल्याण की भावना पर प्रतिष्ठित है। इस प्रकार हीनयान का लक्ष्य वैयक्तिक है, जबकि महायान का लक्ष्य सार्वभौम।

महायान मे बुद्ध को ईश्वर के रूप मे माना गया है। हीनयान धर्म अनीश्वरवादी होने के कारण लोकप्रिय नही हो सका। धर्म की भावना मे निर्भरता की भावना निहित है। मनुष्य अपूर्ण एवं असीम होने के कारण जीवन के संघर्षो का सामना करने से जब विरसता का अनुभव करने लगता है तब वह एक ऐसी सत्ता की कल्पना करता है जो उसकी सहायता कर सके। ऐसी स्थिति मे वह स्वावलम्बन के प्रति श्रद्धा न रख कर ईश्वरापेक्षी हो जाता है। महायान मे ऐसे व्यक्तियो के लिये भी आशा का सन्देश है। यही कारण है कि महायान मे ईश्वर को करुणामय एवं प्रेममय माना गया है। कहा गया है—"The god of Mahayana is a god of love and lays great stress on devotion."[1] समस्त प्राणी प्रेम, भक्ति और कर्म के द्वारा ईश्वर की करुणा का पात्र हो सकता है।

आगे चलकर महायान मे बुद्ध को पारमार्थिक सत्य का एक अवतार मान लिया गया है। बोधिसत्त्व की प्राप्ति के पूर्व बुद्ध के जितने अवतार हुए थे उनकी कथा जातक मे वर्त्तमान है। परम-तत्त्व को महायान मे वर्णनीय माना गया है। इसका प्रकाशन धर्मकाय के रूप मे हुआ है। धर्मकाय के रूप मे बुद्ध समस्त प्राणी के कल्याण के लिये चिन्तित दीखते है। इस रूप मे बुद्ध को "अमिताभ बुद्ध" कहा जाता है तथा उनकी दया की अपेक्षा करना साधारण मनुष्य क जीवन का आवश्यक अंग होता है। महायान मे ईश्वर की भक्ति पर भी बल दिया गया है। महायान ग्रंथ—"सद्धर्मपुण्डरीक" का कहना ह कि सच्चे प्रेम से बुद्ध को, एक पुष्प के अर्पण द्वारा साधक को अनन्त सुख प्राप्त होता है। इस प्रकार बुद्ध को ईश्वर के रूप मे प्रतिष्ठित कर महायान ने धार्मिक-भावना को संतुष्ट किया है।

महायान मे आत्मा का अस्तित्व माना गया है। इसका कहना है कि यदि आत्मा का अस्तित्व नही माना जाय तो मुक्ति केसे मिलेगी ? मुक्ति की सार्थकता को प्रमाणित करने के लिये आत्मा मे विश्वास आवश्यक हो जाता है। महायान

---

1. "Dynamics of Faith" by K N. Mitra, P 62

मे वैयक्तिक आत्मा को मिथ्या या हीनात्मा कहा गया है। इसके बदले महात्मा की मीमासा हुई है। सभी व्यक्तियो मे एक ही महात्मा वर्त्तमान है। इस दृष्टि से सभी मनुष्य एक दूसरे मे भिन्न होते हुए भी समान है।

हीनयान मे भिक्षु-जीवन अथवा संन्यास पर अधिक जोर दिया गया है, किन्तु महायान मे सन्यास अथवा संसार से पलायन की प्रवृत्ति की कटु आलोचना हुई ह। यद्यपि विश्व पूर्णत सत्य नही है फिर भी संसार को तिलाजलि देना बुद्धि-मत्ता नही है। यदि मनुष्य संसार का पारमार्थिक रूप समझे तो ससार मे रह कर ही बह निर्वाण प्राप्त कर सकता है। महायान यह शिक्षा देता है कि मनुष्य को ससार मे रह कर ही अपनी प्रगति के सम्बन्ध मे सोचना चाहिये।

महायान मे कर्म-विचार मे भी परिवर्त्तन लाने का प्रयास किया गया है। कर्म-सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति अपने कर्म का फल पाता है। दूसरे शब्दो मे बिना किये हुए कर्मो का फल नही मिलता है तथा किये हुए कर्म का फल भी नष्ट नही होता है। परन्तु, महायान का कहना है कि बोधिसत्त्व अपने कर्मो के फल से दूसरो को लाभान्वित कर सकते हैं तथा दूसरे व्यक्तियो के पापमय कर्मो का स्वयं भोग कर सकते है। जातकमाला के प्राय सभी जातको मे हम मीमासा-दर्शनोक्त कर्म-सिद्धान्त का उल्लंघन पाते है। बोधिसत्त्व चाहे जिस रूप मे भी हो, अपने समस्त पुण्यो के फल का प्रतिदान महान् से महान् पापी या श्वापद तक को करने मे अग्रसर रहते है। प्रतिदान लेने मे शक्र का योगदान मुख्य रूप से रहता है, जो अंशत ईर्ष्यावश और अंशत परीक्षा के लिये बोधिसत्त्व को महाकष्ट मे डाल देता है। नेत्र जैसे अत्यन्त आवश्यक अंग की भी याचना कर लेता है[1], किन्तु बोधि-सत्त्व लोक-कल्याण की कामना से उसे अहित नही समझत।

लोक-कल्याण की भावना से प्रभावित होकर बोधिसत्त्व अपने पुण्यमय कर्मों के द्वारा दूसरो को दु ख से मुक्ति दिलाते है तथा उनके पापमय कर्मो का स्वयं भोग करते है। इस प्रकार कर्मो के आदान-प्रदान को, जिसे परिवर्त्त कहा जाता है, महायान स्वीकार करता है।

महायान मे निर्वाण के भावात्मक मत पर बल दिया गया है। निर्वाण प्राप्त करने के बाद व्यक्ति के समस्त दु खो का अन्त हो जाता है। वह आनन्द की अनुभूति प्राप्त करता है। निर्वाण को आनन्दमय अवस्था कहा गया है। महायान मत की तरह शकर ने भी मोक्ष को एक आनन्दमय अवस्था बतलाया है।

महायान उदार एवं प्रगतिशील है। इसमे अनेक ऐसे अनुयायी आये जो बौद्ध-धर्म ग्रहण करने के पूर्व जिन धार्मिक विचारो को मानते थे, उन्हे बौद्ध-धर्म मे मिला दिया। महायान ने, उदार एवं प्रगतिशील होने के कारण, उनके विचारो को

---

१ जातकमाला-शिबि-जातक

आश्रय दिया, जिसके फलस्वरूप महायान मे अनेकानेक नवीन विचार मिल गये जो इसे जीवित तथा युगानुरूप बनाने मे परम सहायक सिद्ध हुए।

असंग ने महायान-विधर्म-संगति-सूत्र मे महायान की सात मौलिक विशेषताओ का उल्लेख किया है, जो निम्नाकित है—

१—महायान विस्तृत है।

२—यह सभी जीवो के प्रति सामान्य प्रेम को व्यक्त करता है।

३—विषय और विषयी के परम तत्त्व का निषेध कर तथा चैतन्य की एकमात्र सत्ता मानकर बौद्धिकता का परिचय देता है।

४—इसका आदर्श बोधिसत्त्व की प्राप्ति है। बोधिसत्त्व मे संसार के समस्त जीवो की मुक्ति के लिये कर्म करने की अद्भुत शक्ति है।

५—यह मानता है कि बुद्ध ने अपने उपाय कौशल के आधार पर संसार के अनेकानेक मनुष्यो को उनके स्वभाव तथा बुद्धि के अनुसार उपदेश दिया है।

६—इसका अन्तिम उद्देश्य बुद्धत्व को प्राप्त करना है। बुद्धत्व की प्राप्ति के लिये बोधिसत्त्व को दश अवस्थाओ से गुजरना पडता है।

७—बुद्ध संसार के समस्त व्यक्तियो के आध्यात्मिक आवश्यकताओ की पूर्त्ति करा सकते है।

———

२—बोधिसत्त्व की कल्पना

अब हम जातकमाला की मुख्य दार्शनिक वस्तु बोधिसत्त्व की कल्पना का भी ऐतिहासिक तथा दार्शनिक दृष्टियो से विचार करे। प्राणियो के आर्त्तिनाशन के प्रति बोधिसत्त्व का जो स्वरूप जातकमाला मे प्रदर्शित है, वह मुख्यत महायान की प्रकृष्टतम कल्पना है।

बौद्धधर्म की प्रारम्भिक अवस्था मे "अर्हत्" की भावना पायी जाती है। भगवान् बुद्ध को "अर्हत्" कहा गया। साथ ही चार आर्यसत्य एवं अष्टागमार्ग के उपदेश प्राप्त करने वाले उनके शिष्यो को भी "अर्हत्" पद से अभिहित किया जाने लगा। ऐसे लोग अष्टाग-मार्ग का अनुसरण कर तीनो आस्रवो (ऐन्द्रियिक सुख, सत्ता-प्रेम, अज्ञान) से रहित होते थे। "ब्रह्मजालसुत्त" आदि पालि ग्रन्थ के अनुसार "अर्हत्" वह है, जो मुक्त हो गया है, पुनर्जन्म के बन्धन से रहित है, जिसने अपने सारे भवबन्धनो को त्याग दिया है, जो पवित्र जीवन व्यतीत कर रहा है, जिसकी इच्छा एवं प्रवृत्ति अन्तिम मुक्ति के प्रति उन्मुख है, जो अपने मार्ग मे एकाकी, उत्साहपूर्ण तथा अपना स्वामी स्वय है।[1] "अर्हत्" स्वय मुक्ति प्राप्त कर ससार के अन्य प्राणियो की मुक्ति के लिए बुद्ध के उपदेशो का प्रचार करता था। "अर्हत्" का जीवन मृत्युपर्यन्त सासारिक जीवो के कल्याणार्थ अर्पित होता था। गौतम बुद्ध के परिनिर्वाण के तीन सौ वर्षों बाद तक "अर्हत्" की यही धारणा रही। परन्तु धीरे-धीरे इस भावना मे परिवर्त्तन होने लगा और ईसा पूर्व दो सौ वर्ष तक बौद्ध भिक्षु सासारिक जीवो की दु खनिवृत्ति एवं कल्याण से विमुख होकर अधिक स्वार्थलिप्त हो गये। वे अपनी ही मुक्ति के लिए प्रयत्नशील रहने लगे। सामान्य लोगो के उद्धार के लिए बुद्ध के उपदेशो के प्रचार करने का उत्साह उनमे नही रहा। जन-कल्याण के प्रति भिक्षुओ के उदासीन तथा उनके आत्म-केन्द्रित होने की भावना का उल्लेख परवर्ती पालि-साहित्य मे अनेक स्थलो पर मिलता है। धम्मपद[2] मे जहाँ एक ओर आत्मसंयम, ध्यान आदि की प्रशंसा की गई है, वही सामान्य-जन के कल्याण के प्रति उदासीनता की भावना भी परिलक्षित होती है। थेरगाथा[3] के

---

१ ब्रह्मजालसुत्त (दीघ १, १-४६)

२ धम्मपद (२८ वग्ग) पब्बतट्ठो व भूमट्ठे धीरो बाले अवेक्खत्तीति।

३ (क)—थेरगाथा स० २४५ पृ० ३१:—

"यथा ब्रह्मा तथा एको, यथा देवो तथा दुवे।
यथा गामो तथा तायो' कोलाहलं तत् उत्तरिन्ति।"

(ख) थेरगाथा स० ३८० पृ० ४२—

"यस्स कत्थाय पब्बजितो अगारस्मा अनगारियम्।
सोमे अत्थो अनुप्पत्तो सब्बसयोजनक्खयोति।"

(ग) थेरगाथा २२४, पृ० २९।

"तिस्सो विज्जा अनुप्पत्ता कत्त बुद्धस्य सासन" ति।

अधिकाश कवियो ने वैयक्तिक मुक्ति पर ही ध्यान को केन्द्रित किया है, प्राणियो के कल्याण की बात वहाँ शायद ही कही आयी है । मिलिन्दपञ्ह[१] का कथन है कि "अर्हत्" को अपने ही दु खो से मुक्ति के लिए प्रयत्नशील होना चाहिए ।

उपर्युक्त संकीर्ण विचारो के विरोध मे सभी जीवो की रक्षा एवं कल्याण के सिद्धान्त-रूप मे बोधिसत्त्व की कल्पना का प्रादुर्भाव हुआ ।

"The bodhisattva doctrine was promulgated by some Buddhist leaders as a Protest against this lack of true spiritual fervour and altruism among the monks of that period "[२]

बोधिसत्त्व का मुख्य, कार्य अर्हत् के आध्यात्मिक संकीर्णता की आलोचना एवं निन्दा करना था ।

"A bodhisattve is emphatically and primarily one who criticises and condemns the spiritual egoism of such "Arhats" and Pratyeka-buddhas "[3]

इस सिद्धान्त का अनुगामी संगठन महायान की संज्ञा से अभिहित किया गया ।

बोधिसत्त्व की कल्पना महायान की सबसे बडी विशेषता है । बोधि का अर्थ है बुद्धत्व (Enlightenment)—ऐसा प्राय सभी विद्वान् मानते है । किन्तु सत्त्व का अर्थ विभिन्न विद्वानो ने विभिन्न ढंग से समझा है और इस कारण बोधिसत्त्व शब्द की विविध व्याख्या की है । हरदयाल ने अपनी पुस्तक "The Bodhisattva Doctrine In Buddhist Sanskrit Literature" मे बोधिसत्त्व शब्द के अर्थ का निम्नलिखित ढंग से विश्लेषण किया है—

(१) "सत्त्व (नपु०) का अर्थ मोनियर विलियम्स के अनुसार है—बुद्धि, चरित्र, ज्ञान, प्रकृति । अतएव जिसे बोधि अर्थात् पूर्णज्ञान हो, जिसकी प्रकृति पूर्ण ज्ञानमयी हो वह बोधिसत्त्व है ।[४]

(२) "सत्त्व" (पु०) का अर्थ है प्राणी (Any living or sentient being) पालि "सत्त का अर्थ है—सजीव पदार्थ (A living being, creature, a sentient and rational being, person)

यह अर्थ अधिकाश आधुनिक विद्वानो के द्वारा स्वीकृत है ।

---

१. मिलिन्दपञ्ह—३१ "किंति महाराज इदं दुक्खं निरुज्झाय अञ्ञञ्च दुक्खं न उप्पज्जेय्याति, एतदत्था महाराज अम्हाकं पब्बज्जा अनुपादापरिनिब्बान" ।

2 Hardayal, Bodhisattva Doctrine, P 3.

3 Hardayal, Bodhisattva Doctrine, P. 3.

4 M. Williams Skt Dicy , P. 688b :

"One who has bodhi or perfect wisdom as his essence."

इसी आधार पर समाधिराजसूत्रकार ने बोधिसत्त्व का अर्थ किया है :—

बोधति सत्त्वान् इति बोधिसत्त्व " ।[१]

पी० घोष ने भी सत्त्व का अर्थ प्राणी ही किया है, किन्तु समस्त पद बोधिसत्त्व की व्याख्या उन्होने की है—

"बोधि स चासौ महाकृपाशयेन सत्त्वालम्बनात् सत्त्वश्चेति ।"[२]

इससे द्योतित होता है कि मनुष्य बोधि और सत्त्व दोनो ही है।

(३) सत्त्व का अर्थ है—आत्मा, मनस्, इन्द्रिय, चेतना। पालि मे सत्त का अर्थ है—आत्मा। प्रज्ञाकरमति ने बोधिचयवितार की टीका मे लिखा है—

"तत्र (बोधौ) सत्त्व अभिप्रायोऽस्येति बोधिसत्त्व ।"[३]

पी० घोष ने भी एक व्याख्याकार का उल्लेख किया है जो सत्त्व का अर्थ अभिप्राय करते है—

"बोधौ सत्त्वम् अभिप्रायो येषा ते बोधिसत्त्वा ।',[४]

तदनुसार बोधि पर जिसका मन, प्रवृत्तियाँ विचार तथा इच्छाये केन्द्रित हो, वह बोधिसत्त्व है।

(४) सत्ता का अर्थ है—गर्भ, गुप्त, अज्ञात, अव्यक्त (मो० वि०)। तदनुसार बोधिसत्त्व वह है जिसमे बोधि (ज्ञान) अव्यक्त रूप मे निहित हो।[५]

(५) योग-सूत्र के अनुसार सत्त्व का अर्थ हो सकता है—पुरुषाश्रित—मन, बुद्धि। यह ई० सेना के अनुसार है जिसने बौद्ध-धर्म पर योग-दर्शन का प्रचुर प्रभाव माना है।

किन्तु यह विचार बुद्धिग्राह्य नही हो सकता। क्योकि इसमे इतिहास की भूल (Anachronism) होगी। अधिकाश विद्वान योग-सूत्र का समय ३०० ई० के आसपास मानते है जबकि "बोधिसत्त्व" शब्द पालि निकायो मे ही आता है[६], जिसका समय ५वी-४थी शती ई० पू० माना जाता है।

---

१ समाधिराजसूत्र fol 25a, 4

२, शतसाहस्रिका-प्रज्ञापारमिता पृ० २, note 2 (Chapter 1 xii)

३ बोधिचर्यावतारपजिका, पृ० ४२१

४ सतसाहस्रिका-प्रज्ञा पारमिता, पृ० २ टिप्पणी ३

५. H S Gaur—Buddhism, P xi —
"In whom knowledge is latent and undeveloped."

६, "मय्ह पि खो अनभिम्बुद्धस्स बोधिसत्तस्सेव ।" —मज्झिमनिकाय, १।१७।६

एच० कर्न ने बोधि शब्द को साख्य-योग के 'बुद्धि" शब्द का समानार्थी माना है। "बुद्धिसत्त्व" शब्द योग-साहित्य मे पाया जाता है। इस आधार पर उन्होने बोधिसत्त्व का अर्थ किया है—अन्तर्निहित बुद्धि का मानवाकार रूप (Personification of Potential intelligence)[१]

किन्तु यह अर्थ उपयुक्त नही प्रतीत होना है, क्योकि बौद्धतत्त्व-मीमासा के अनुसार "बुद्धि" सत्ता के निम्नतर स्तर से सम्बद्ध है, जबकि "बोधि" का सम्बन्ध उच्चतम ज्ञान मे है। बोधिचर्यावतार मे कहा गया है —

'बुद्धि. सम्वृत्तिरुच्यते।"[२]

(६) सत्त्व पालि सत्त का रूपान्तर है जो सस्कृत सक्त से वना प्रतीत होता होता है। सक्त (✓ सञ्ज्+क्त) का अर्थ है—सटा हुआ, सम्बद्ध, भक्त, संलग्न। तदनुसार बोधिसत्त्व (बोधिसक्त) का अर्थ है—बोधि मे सलग्न।[3]

किन्तु पी० ओल्ट्रामार द्वारा इस मत का खण्डन इस आधार पर किया गया है कि ✓ सज्ज का प्रयोग कभी भी नैतिक तथा आध्यात्मिक आदर्शो के प्रति संसक्ति के अर्थ मे नही हुआ है।[४]

(७) मोनियर विलियम कृत संस्कृत अग्रेजी कोश मे "सत्त्व" का अर्थ है—शक्ति, बल, साहस, उत्साह।[५] तदनुसार जिस व्यक्ति की शक्ति बोधि (जागृति, ज्ञान) की ओर अभिमुख है। इस अर्थ मे सत्त्व शब्द क्षेमेन्द्र की "अवदानकल्पलता" मे अनेक बार प्रयुक्त हुआ है। यथा—

"सत्त्वाब्धि।"[६]
"सत्त्वोज्ज्वलं भगवतश्चरित निशम्य।"[७]
"सत्त्वनिधिर्।"[८]
"बोधिसत्त्व सत्त्वविभूषित।"[९]
बुद्धचरित मे भी यह शब्द प्रयुक्त हुआ है —
"बोधिसत्त्व परिपूर्णसत्त्व।"[१०]

---

१ "Manual" P 65, note 5 "Histoire" 1, 383, note
—H kern
२ बोधिचर्यावतार—ix 2
३ K E Neumann, Massh, tr vol 1, P 620 note 5—
"One who is devoted or attached to bodhi"
४ P Oltramare, 'Bouddhique" P 250
५ Skt Dicy M W P 1052—"Strength, energy, vigour, power, courage"
६ Avadan Kalplata—II, P 713, verse 42
७ Do —II, P 85, verse 74
८ Do —II, P. 945, verse 21
९ Do —II, P 113, verse 8
१० बुद्धचरित ६।३०

तिब्बती कोशकारो ने भी बुद्धि और उत्साह-सम्पन्नता पर बल दिया है। चीनी कोशकार के अनुसार बोधिसत्त्व वह है जिसकी प्रकृति बोधि हो गयी है।

डॉ० हरदयाल का निष्कर्ष है कि पालि वाङ्मय मे आये हुए "बोधिसत्त" शब्द का सम्बन्ध वैदिक "सत्त्वन्" (वीर, साहसी) शब्द से है जिसके अनुसार हम "अध्यात्म वीर"[1] के रूप मे इसका अर्थ कर सकते हैं। वास्तव मे 'बोधिसत्त्व" शब्द मे दो भावनाये अन्तर्निहित है—एक तो सत्ता की भावना और दूसरी सघर्षमय जीवन की। केवल सत्ता की भावना से बोधिसत्त्व का सम्बन्ध दिखाना भ्रामक है। अत दूसरो के कल्याण के लिए निरन्तर सघर्षशील रह कर इस संसार मे "अध्यात्म वीर" की भूमिका का निर्वाह करने वाला व्यक्ति ही बोधिसत्त्व है। इसे महासत्त्व भी कहते है।

बोधिसत्त्व की अवस्था को प्राप्त करनेवाले साधक के जीवन का लक्ष्य नितान्त उदात्त, महनीय तथा व्यापक होता है। उसके जीवन का उद्देश्य जगत् का परम कल्याण साधन होता है। बोधिसत्त्व का स्वार्थ इतना विस्तृत रहता है कि उसके "स्व" की परिधि मे जगत् के समस्त जीव समा जाते है। उसके प्रधान गुण होते है—महामैत्री और करुणा। पिपीलिका से लेकर हस्ति-पर्यन्त विश्व के जीवो मे जब तक एक भी प्राणी दु ख का अनुभव करता है, तब तक वह अपनी मुक्ति नही चाहता है। उसका हृदय प्राणियो के क्लेशो के निरीक्षण से स्वभावत द्रवीभूत हो उठता है। बोधिचर्यावतार तृतीय परिच्छेद मे बोधिसत्त्व के आदर्श का सुन्दर वर्णन है—

"एव सर्वमिद कृत्वा यन्मयाऽऽसादित शुभम्।
तेन स्या सर्वसत्त्वाना सर्वदु.खप्रशान्तिकृत्॥
मुच्यमानेषु सत्त्वेषु ये ते प्रामोद्यसागरा.।
तैरेव ननु पर्याप्त मोक्षेणारसिकेन किम्॥"

बोधिसत्त्व की यही अन्तिम कामना रहती है कि सौगत मार्ग के अनुष्ठान से मैने जिस पुण्य-सभार का अर्जन किया है, उसके द्वारा समग्र प्राणियो के दु खो की शान्ति हो। मुक्त जीवो के हृदय मे जो आनन्द-सागर हिलोरें मारने लगता है, वही मेरे जीवन को आनन्दमय बनाने के लिये पर्याप्त है। रसहीन सूखे मोक्ष को लेकर क्या करना है ?

बोधिसत्त्व को प्रथमत बोधिचित्त का ग्रहण करना पडता है। सब जीवो के उद्धार के लिये सम्यक् संबोधि मे चित्त को प्रतिष्ठित करना बोधिचित्त का ग्रहण है। उसके लिये वन्दना, पूजा, पापदेशना, पुण्यानुमोदन, अध्येषणा बोधिचित्तोत्पाद तथा परिणामना—इन सप्तविध अनुत्तर पूजा का विधान है। षट् पारमिताओ

---

1. Bodhisattwa Doctrine, P 9—
"Heroic being, Spiritual warrior."

का—अर्थात् पूर्णत्व का—अनुशीलन भी नितान्त उपयोगी साधन है। दान अर्थात् आत्मभाव का त्याग तथा नि स्वार्थबुद्धि की प्रकृष्टता, शील अर्थात् प्राणातिपात आदि गर्हित कृत्यो मे चित्त की विरति, क्षान्ति अर्थात् दूसरो के अपकार किए जाने पर भी चित्त की अकोपनता, वीर्य, ध्यान तथा प्रज्ञा—इन षट्पारमिताओ का अर्जन बुद्धत्व प्राप्ति का नैसर्गिक उपाय है। दान आदि पचपारमिताओ का उद्देश्य प्रज्ञा-पारमिता का उदय कराना है। प्रज्ञापारमिता अर्थात् पूर्णज्ञान या सर्वज्ञता की प्राप्ति शून्यता मे प्रतिष्ठित होने वाले व्यक्ति की होती है। प्रज्ञापारमिता प्राप्त करने वाले बोधिसत्त्व के लिए इस जगत के समस्त व्यवहार मायिक तया स्वप्नवत् प्रतीत होते है। बोधिचित्त नि.स्वभाव, निरालम्ब, सर्वशून्य, निरालय तथा प्रपंच-समतिक्रान्त आदि गुणो से युक्त होता है। नैरात्म्यपरिपृच्छासूत्र मे बोधिचित्त का लक्षण इस प्रकार किया गया है—

"नि स्वभाव निरालम्ब सर्वशून्य निरालयम्। प्रपञ्चसमतिक्रान्त बोधिचित्तस्य लक्षणम्॥
न काठिन्य न च मृदुत्व न चोष्ण नैव शीतलम्। न सस्पर्श न च ग्राह्य बोधिचित्तस्य लक्षणम्॥
न दीर्घ नापि वा ह्रस्व न पिण्ड न त्रिकोणकम्। न कृश नापि च स्थूल बोधिचित्तस्य लक्षणम्॥
न श्वेत नापि रक्त च न कृष्ण न च पीतकम्। अवर्ण च निराकार बोधिचित्तस्य लक्षणम्॥
निर्विकार निराभास निरूह निर्विबन्धकम्। अरूप व्योमसकाश बोधिचित्तस्य लक्षणम्॥
भावनासमतिक्रान्त तीर्थिकानामगोचरम्। प्रज्ञापारमितारूप बोधिचित्तस्य लक्षणम्॥
अनौपम्यमनाभासम् अदृश शान्तमेव च। प्रकृतिशुद्धमद्रव्य बोधिचित्तस्य लक्षणम्॥"[१]
इत्यादि।

प्रज्ञापारमिता की देवीरूप से उपासना बौद्धो का प्रधान आचार है।[२] बोधि-सत्त्व मे ही प्राणियो को मुक्त बनाने की योग्यता रहती है।

जातकमाला का दूसरा नाम है—बोधिसत्त्वावदानमाला। अवदान का अर्थ है सुकर्म। इस प्रकार बोधिसत्त्वावदानमाला का अर्थ होगा—बोधिसत्त्व के अवदानो अर्थात् सुकर्मो की माला। इसमे भगवान् बुद्ध के पूर्व-जन्मो की कथाये है। बुद्ध ने एक जन्म के ही प्रयत्नो से बुद्धत्व नही पाया था। उन्होने असंख्य जन्मो तक बुद्धत्व प्राप्ति के लिये भगीरथ प्रयत्न किये थे। जब वे अपने पूर्व-जन्मो मे सद्गुणो का विकास और सत्कर्मो का आचरण कर रहे थे तब उनकी संज्ञा बोधिसत्त्व थी। बोधिसत्त्व को हम भावी बुद्ध भी कह सकते है। भगवान बुद्ध सर्वज्ञ थे। वे अपने

---

१ "नैरात्म्यपरिपृच्छासूत्र"—१२-१८

२ "सर्वेषामपि वीराणा परार्थनियतात्मनाम्।
बोधिका जनयित्री च माता त्वमसि वत्सला॥
बुद्धै. प्रत्येकबुद्धैश्च श्रावकैश्च निषेविता।
मार्गस्त्वमेका मोक्षस्य नास्त्यन्य इति निश्चय.॥"
—प्रज्ञापारमितासूत्र

पूर्व-जन्म की घटनाओ को भी जानते थे।[1] बोधिसत्त्व भी कभी-कभी अपने पूर्व जन्म का स्मरण कर सकते थे। बोधिसत्त्व कोशलाधिपति ने अपने अतीत जन्म का स्मरण करते हुए कहा था कि पूर्वजन्म मे जब वे मजदूर थे तब भिक्षुओ को कुछ भोजन देने के फलस्वरूप ही वे दूसरे जन्म मे कोशल के अधिपति हुए—

"सुप्तप्रबुद्ध इव जातिमनुस्मरामि
यस्यामिहैव नगरे भृतकोऽहमासम् ।
शीलान्वितोऽपि धनमात्रमपुच्छ्रितेभ्य
कर्माभिराधनसमर्जितदीनवृत्ति ॥
सोऽह भृति परिभवश्रमदैन्यशाला
त्राणाशयात्स्वयमवृत्तिभयाद्विविक्षु ।
भिक्षार्थिनश्च चतुर श्रमणानपश्य
वश्येन्द्रियाननुगतानिव भिक्षुलक्ष्म्या ॥
तेभ्य प्रसादमृदुना मनसा प्रणम्य
कुल्माषमात्रकमदा प्रयत स्वगेहे ।
तस्याङ्कुरोदय इवैष यदन्यराज-
चूडाप्रभाश्चरणरेणुषु मे निषक्ता ॥[2]

और उनकी धर्मपरायणा रानी ने भी (जो बोधिसत्त्व नही थी) अपने अतीत जन्म को स्मरण करते हुए कहा कि पूर्व-जन्म मे जब वह दासी थी तो किसी मुनि को कुछ भोजन देने के फलस्वरूप ही वह कोशलाधिपति की रानी हुई।

"बाल्येऽनुभूतमिव तत्समनुस्मरामि
दासी सती यदहमुद्धृतभक्तमेकम् ।
क्षीणाश्रवाय मुनये विनयेन दत्त्वा
सुप्तेव तत्र समवापमिह प्रबोधम् ॥
एतत् स्मरामि कुशल नरदेव ! येन
त्वन्नाथतामुपगतास्मि सम पृथिव्या ।
क्षीणाश्रवेषु न कृत तनु नाम किञ्चि—
दित्युक्तवानसि यथैव मुनिस्तथैव ॥[3]

---

१ तुलनीय—

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन ।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्व वेत्थ परंतप ॥
—श्रीमद्भगवद्गीता—४।५

२. जातक०—३।१०–१२

३. जातक० ३/१७–१८

जातकमाला के सभी जातकों के प्रधानपात्र बोधिसत्त्व हैं। वे मनुष्यों की योनि में कभी राजा[1], कभी आचार्य[2], कभी ब्राह्मण[3], कभी तपस्वी[4], कभी परिव्राजक[5], कभी श्रेष्ठी[6], और कभी नाविक[7] के रूप में प्रकट होते हैं। देवयोनि में देवताओं के अधिपति शक्र[8] होते हैं और पशु, पक्षियों की योनि में व्याघ्री[9], शशक[10], मत्स्य[11], मृग[12], कपि[13], हस्ती[14], वनमहिष[15] या हंस[16] होकर जन्म लेते हैं। जिस किसी भी योनि में उत्पन्न हों वे बचपन से ही बड़े होनहार होते हैं। अल्पकाल में ही सर्वगुणसम्पन्न हो जाते हैं।

बोधिसत्त्व के जीवन का प्रधान लक्ष्य—भागवत की इन पंक्तियों के उद्धरण में प्रायः प्रकट हुआ है—

> "न कामयेऽहं गतिमीश्वरात् परामष्टर्द्धियुक्तामपुनर्भवं वा।
> आर्तिं प्रपद्येऽखिलदेहभाजामन्तःस्थितो येन भवन्त्यदुःखाः ॥" ६।२१।१२

वे भूख की ज्वाला से व्याकुल होकर अपने सद्यःप्रसूत शावकों को खाने के लिए उद्यत बाघिन के आगे अपना शरीरोत्सर्ग कर उसकी प्राणरक्षा और धर्मरक्षा करते हैं।[17] वे सर्वस्वदान से ही संतुष्ट न होकर अपने शरीर का अवयव भी प्रसन्नतापूर्वक दे देते हैं।[18] दान-कर्म में भयानक विघ्न उपस्थित होने पर भी वे अपने कर्म

---

१ शिबि० कुल्माषपिण्डी० मैत्रीबल० विश्वन्तर० यज्ञ० उन्मादयन्ती० सुतसोम० तथा अयोगृहजातक

२. ब्राह्मणजातक

३. बिस० तथा चुड्डबोधिजातक

४. अगस्त्य तथा क्षान्तिजातक

५. महाबोधिजातक

६. श्रेष्ठि० अविषह्यश्रेष्ठि० तथा श्रेष्ठिजातक (२०वें)

७. सुपारग-जातक

८. शक्रजातक तथा कुम्भजातक

९. व्याघ्रीजातक

१०. शश-जातक

११. मत्स्य-जातक

१२. शरभजातक तथा रुरु-जातक

१३. महाकपि-जातक (२४वें तथा २७वें जातक)

१४. हस्ति-जातक

१५. महिष-जातक

१६. हंस-जातक

१७. व्याघ्री-जातक

१८. शिबि-जातक

से विचलित नही होते ।[1] तपस्याकाल मे जब वे केवल कमल-नाल खा कर रहते थे, लगातार कई दिनो तक इन्द्र के द्वारा उनका आहार लुप्त किये जाने पर भी उनके मन मे विकार का उदय नही होता है ।[2] मनुष्य का ताजा मास और गर्म रुधिर चाहने वाले भूखे और प्यासे यक्षो को अपने ही शरीर से मास के टुकडे खिला कर और रुधिर की धारा पिला कर वे उन क्रूर-हृदयो मे भी करुणा का संचार करने मे समर्थ होते है ।[3] शशक-योनि मे उत्पन्न होने पर वे भूखे अतिथि के लिए अपने सुन्दर शरीर को ही अग्नि मे डाल कर अतिथि-सत्कार का अलौकिक दृष्टान्त उपस्थित करते है ।[4] आजन्म आचरित अहिसा के प्रभाव से वे समुद्र मे सकटापन्न जहाज के संत्रस्त यात्रियो की प्राण-रक्षा करने मे समर्थ होते है ।[5] वे अपने अमात्य की रूपवती पत्नी को देख कर मोहित होते है और अमात्य द्वारा पत्नी अर्पित की जाने पर भी उसे अस्वीकार करते हुए शीघ्र ही मोहमुक्त होकर सन्मार्ग का उपदेश करते है ।[6] वे देवेन्द्र शक्र होकर मद्य-पान मे आसक्त राजा को मद्य-पान से विरत कर राजा और उसकी प्रजा का कल्याण करते है ।[7] विपत्ति मे पडे हुए प्राणियो को देख कर बोधिसत्त्व दया से द्रवीभूत हो उठते है और अपने अलौकिक पराक्रम से उनकी रक्षा करते है । उपकृत प्राणी कृतघ्नता या विश्वासघात करे, बोधिसत्त्व उनका उपकार ही करते है। वे रुरुमृग होकर प्रखर जलधारा मे बहते हुए, जीवन से निराश मनुष्य को जान की बाजी लगा कर बचाते है । किन्तु वह कृतघ्न उसका बदला लोभवश उन्हे राजा से पकडवा कर देता है । फिर भी राजा द्वारा उस पापी के बध की चेष्टा करते समय बोधिसत्त्व पुन उसकी प्राणरक्षा कर दया का अद्भुत दृष्टान्त उपस्थित करते है ।[8] शतपत्र पक्षी होकर वे कण्ठ मे अस्थिखण्ड के अटक जाने से व्याकुल सिह की प्राणरक्षा करते है और कालान्तर मे आहार ग्रहण करते हुए उसी सिह के पास क्षुधार्त्त होकर पहुँचने पर भी फटकार कर भगाये जाते है । समर्थ होकर भी वे उसका बदला नही लेते है और उसे क्षमा कर देते है ।[9] वे क्षान्तिवादी ऋषि होकर क्रोधी, हिसक एवं कर्त्तव्यच्युत राजा के द्वारा अंग-अंग काट डालने पर भी क्षमाशील बने रहते है और उसके कल्याण की कामना करते है ।[10]

---

१ श्रेष्ठि-जातक (४थ)
२ बिस-जातक
३ मैत्रीबल-जातक
४ शश-जातक
५ सुपारग-जातक
६. उन्मादयन्ती-जातक
७ कुम्भ-जातक
८. रुरु-जातक
९ शतपत्र-जातक
१०. क्षान्ति-जातक

कुमार्गगामी हिंसक प्राणियो पर करुणा करते हुए वे सदुपदेश और सदाचरण के द्वारा उनका हृदय-परिवर्तन कर उन्हे सन्मार्ग पर लाते है। वे क्रूर नरभक्षी सौदास को सत्यनिष्ठा और सुभाषितो के द्वारा प्राणिहिंसा एवं नरमास भक्षण से विरत कर देते हैं।[1] वानरपति होकर वे अपने आश्रित वानरो को संकट से पार करने के लिए स्वय सेतु बन जाते है और इस प्रकार प्राणत्याग कर परम सुखशान्ति का अनुभव करते है।[2] हाथी होकर वे भूख-प्यास से व्याकुल मरुभूमि मे भटकते हुए सात सौ मनुष्यो को जल से भरा हुआ सरोवर दिखाते है और उनके आहार के लिए अन्य कोई उपाय न देख अपने को ही पहाड से नीचे गिरा कर अतिथिसेवा मे अपना सर्वस्व उत्सर्ग कर देते है।[3]

उनके इस प्रकार के उत्तम आचरण का उद्देश्य भी कितना महान और पवित्र है, इसे उन्ही के शब्दो मे सुनिये—

"नाय प्रयत्न सुगति समाप्तु नैकातपत्रा मनुजेन्द्रलक्ष्मीम्।
सुखप्रकर्षैकरसा न च द्या ब्राह्मीं श्रिय नैव न मोक्षसौख्यम्॥
यत्त्वस्ति पुण्य मम किञ्चिदेव कान्तारमग्न जनमुज्जिहीर्षो।
ससारकान्तारगतस्य तेन लोकस्य निस्तारयिता भवेयम्॥[4]

सुकर्मो द्वारा पुण्य का संचय वे संसार रूपी कान्तार मे फँसे हुए लोगो के उद्धार की भव्य भावना से ही करते है, न कि सासारिक या पारलौकिक सुख-समृद्धि, यश या मोक्ष की प्राप्ति के लिए। लोकरक्षा ही उनका प्रधान लक्ष्य है और इसी के अनुष्ठान मे वे सदैव यत्न करते हैं—

"नाय यत्न सार्वभौमत्वमाप्तु नैव स्वर्गं नापवर्गं न कीर्तिम्।
त्रातु लोकानित्यय त्वादरो मे याच्ञाक्लेशो मा च भूदस्य मोघ.॥[5]

इस प्रकार बोधिसत्त्व के कर्म दिव्य आर अद्भुत है। उनका जीवन अलौकिक और आदर्श है। उनके सदाचरण से हमे प्रेरणा मिलती है। हम भूखी बाघिन के आगे अपना शरीर उत्सर्ग न कर सके, किन्तु भूखे प्राणियो—पशुओ और मनुष्यो की वेदना से द्रवीभूत होकर उनकी भूख की ज्वाला शान्त करने के लिए कुछ उद्योग अवश्य करें। हम परोपकार करना सीखें। उससे प्राप्त होनेवाला दिव्य आनन्द ही हमारा अपूर्व पुरस्कार होगा।

---

१ सुतसोम-जातक

२. महाकपि-जातक

३ हस्ति-जातक

४. जातक० ३०/२१

५ जातक० ९/२८

३—निर्वाण और पुनर्जन्म-सिद्धान्त

द्वितीय आर्यसत्य मे भगवान् बुद्ध ने दु ख के कारणो को बताया है। यदि दु:ख के कारण का अन्त हो जाय तो दु ख का भी अन्त अवश्य हो जायगा। वह अवस्था जिसमे दु खो का अन्त होता है, "दु ख-निरोध" कहलाती है। इसी दु ख-निरोध को भगवान बुद्ध ने निर्वाण कहा है। अन्य भारतीय दर्शनो मे जिस स्थिति को मोक्ष कहा गया है उसी को बौद्ध दर्शन मे "निर्वाण" की संज्ञा दी गयी है। इस प्रकार वस्तुत निर्वाण और मोक्ष समानार्थक है। बौद्ध दर्शन मे निर्वाण का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसे जीवन का चरम लक्ष्य माना गया है। यही बौद्धधर्म का मूलाधार है।

विद्वानो ने "निर्वाण" शब्द का अर्थ दो प्रकार से लगाया है। कुछ लोगो ने इसका अर्थ "बुझा हुआ" (Blowing out or extinguishing) तथा कुछ लोगो ने शीतलीकरण (Cooling) लगाया है। प्रथम प्रकार के मत को निषेधात्मक तथा द्वितीय प्रकार के मत को भावात्मक समझा जाता है।

निषेधात्मक मत के समर्थको ने निर्वाण की तुलना दीपक के बुझ जाने से की है। तेल के समाप्त हो जाने पर जिस प्रकार दीपक बुझ जाता है और उसके प्रकाश का अन्त हो जाता है, उसी प्रकार काम, भोग, तृष्णा आदि आस्रवो के क्षीण होने पर आवागमन नष्ट हो जाता है और व्यक्ति का समस्त दु ख मिट जाता है। मुक्त जीव को बुझी हुई अग्नि के समान कहा गया है।[1]

निर्वाण के इस अर्थ से प्रभावित होकर कुछ बौद्ध तथा अन्य दार्शनिको ने निर्वाण का अर्थ पूर्ण विनाश (Extinction) समझा है। इन लोगो के अनुसार निर्वाण प्राप्त करने के बाद व्यक्ति के अस्तित्व का विनाश हो जाता है। अत इन लोगो ने निर्वाण का अर्थ जीवन का अन्त समझा है। किन्तु यह मत तर्कसंगत नही है। यदि निर्वाण का अर्थ पूर्ण विनाश अर्थात् जीवन का अन्त माना जाय तब यह नही कहा जा सकता कि मृत्यु के पूर्व बुद्ध ने निर्वाण को प्राप्त किया। किन्तु बुद्ध के सारे उपदेश इस बात के प्रमाण है कि उन्होने मृत्यु के पूर्व ही निर्वाण को प्राप्त किया था। अत निर्वाण का अर्थ जीवन का अन्त समझना भ्रमात्मक है। प्रो० मैक्समूलर और चाइल्डर्स ने निर्वाण विषयक समस्त उद्धरणो का सम्यक् अध्ययन

---

१ (क) दीघनिकाय ii—१५
(ख) मज्झिमनिकाय—७२
(ग) श्वेताश्वतरोपनिषद्—४/१६

कर यह निष्कर्ष निकाला है कि निर्वाण का अर्थ पूर्ण विनाश नही है ।[1] बल्कि इसका आशय लोभ, घृणा, हिंसा आदि प्रवृत्तियो का विनाश है ।[2]

भावात्मक मत के समर्थको ने निर्वाण का अर्थ शीतलता लगाया है । बौद्ध-धर्म मे वासना, क्रोध, मोह, भ्रम, दु ख इत्यादि को अग्नि के तुल्य माना गया है । निर्वाण का अर्थ वासना एवं दु खरूपी आग का ठडा हो जाना है —"निर्वाण शान्तम् ।"[3] कुछ विद्वानो ने निर्वाण को आनन्द की अवस्था (The stat- of bli s) कहा है । इस मत के समर्थको मे प्रो० मैक्समूलर, चाइल्डर्स, श्रीमती राइज डेविड्स और डॉ० राधाकृष्णन् के नाम विशेष उल्लेखनीय है । पालि ग्रन्थो मे भी निर्वाण को आनन्द की अवस्था कहा गया है । धम्मपद मे निर्वाण को आनन्द, परमसुख, पूर्णशान्ति तथा लोभ घृणा और भ्रम से रहित अवस्था कहा गया है ।[4] यह अच्युत पद है ।[5] इसे भयहीन अवस्था कहा गया है ।[6] निर्वाण प्राप्त व्यक्ति की अवस्था का वर्णन नही किया जा सकता, क्योकि यह ज्ञानातीत अवस्था है । तर्क और प्रमाण के माध्यम से उस अवस्था को चित्रित करना असभव है । डॉ० दासगुप्ता ने कहा है कि लौकिक अनुभव के रूप मे निर्वाण कानिर्वचन मुझ एक अध्यास कार्य प्रतीत होता है । क्योकि यह एक ऐसी स्थिति है जहाँ सभी लौकिक अनुभव निरुद्ध हो जाते हैं । इसलिए इसका विवेचन भावात्मक प्रणाली से शायद ही सभव है । डॉ० कीथ ने भी इसी तथ्य की ओर ध्यान आकर्षित करते हुए कहा है कि "सभी व्यावहारिक शब्द अवर्णनीय का वर्णन करने मे असमर्थ है ।"

बौद्धधर्म के प्रसिद्ध धर्मोपदेशक नागसेन ने यूनान के राजा मिलिन्द (मिनेन्डर) के सम्मुख निर्वाण की व्याख्या उपमाओ की सहायता से की है । निर्वाण को उन्होने सागर की तरह गहरा, पर्वत की तरह ऊँचा और मधु की तरह मीठा कहा है । साथ ही उन्होने यह भी कहा है कि निर्वाण के स्वरूप का ज्ञान उसे ही

1, "There ıs not one passage whıch would requıre that ıts meanıng should be annıhılatıon "

—Quoted ın P 449 Vol I of Indıan Phılosophy by Radhakrıshnan

2 "Nırvana ıs only the destructıon of the fires of lust, hatred and ıgnorance"—Radhakrıshnan, Indıan Phılosophy, Vol I, P 447

३ "क्लेशशून्या चित्तसन्ततिर्मुक्तिरिति वैभाषिका ।" सेतु०—पृ० ७६

४ "निब्बाण परमं सुखम् "—धम्मपद-२०३

"इह नन्दति पेच्च नन्दति"—धम्मपद-१८

५ "निब्बाण पदमच्चुतम् ।"—सुत्तनिपात (विजनसुत्त)

६. "निब्बाणं अकुतोभयम् ।"

—इतिवुत्तक ११२

हो सकता है जिसे इसकी अनुभूति प्राप्त हो। जिस प्रकार अन्धे को रंग का ज्ञान प्राप्त कराना सभव नही है, उसी प्रकार जिसे निर्वाण की अनुभूति अप्राप्त है, उसे निर्वाण का ज्ञान प्राप्त करना सभव नही है।

निर्वाण की प्राप्ति इस जीवन मे भी सम्भव है। कोई मानव इस जीवन मे भी अपने दु.खो का निरोध कर सकता है। कोई यदि अपने जीवनकाल मे ही राग, द्वेष, मोह आसक्ति, अहकार इत्यादि पर विजय पा लेता है, तब वह मुक्त हो जाता है। क्योंकि निर्वाण तज्जन्य दु ख के नाश की अवस्था है। इस अवस्था मे ससार मे रह कर भी वह सासारिकता से निर्लिप्त रहता है। जैसे कमल जल मे रह कर भी जल से अलग रहता है।[1]

भगवान् बुद्ध ने पैंतीस वर्ष की अवस्था मे निर्वाण प्राप्त किया था। किन्तु तत्पश्चात् वे पैंतालीस वर्ष तक जीवित थे। बुद्ध की भाँति अन्य लोग भी अपने जीवन काल मे निर्वाण को प्राप्त कर सकते है। निर्वाण प्राप्ति के बाद भी शरीर कायम रहता है। क्योंकि शरीर पूर्व जन्म के कर्मो का फल है। बुद्ध की यह धारणा उपनिषदो की जीवन्मुक्ति से मेल खाती है।

जीवन्मुक्ति और विदेहमुक्ति की तरह कुछ लोग निर्वाण और परिनिर्वाण मे भेद करते है। परिनिर्वाण का अर्थ मृत्यु के उपरान्त निर्वाण की प्राप्ति से होता है। इसे अनुपाधिशेष निर्वाण भी कहा जाता है। इस अवस्था मे जीव के पूर्ण अस्तित्व का विनाश हो जाता है।[2] बुद्ध को परिनिर्वाण की प्राप्ति अस्सी वर्ष की अवस्था मे हुई, जब कि उन्हे निर्वाण पैंतीस वर्ष की अवस्था के बाद ही हो गया था। मिलिन्दप्रश्न के उद्धरणो से यह प्रतीत होता है कि बुद्ध परिनिर्वाण के बाद अस्तित्व-रहित हो गये थे।[3] अत निर्वाण का अर्थ जीवन का अन्त नही है, बल्कि यह अवस्था जीवन काल मे ही प्राप्य है।

निर्वाण निष्क्रियता की अवस्था नही है, जैसा कि कुछ लोग समझते है। यह सही है कि निर्वाण की प्राप्ति के लिये मनुष्य को सभी बाह्य वस्तुओ तथा आन्तरिक भावो से मन को हटा कर आर्यसत्यो पर केन्द्रीभूत होना पडता है और निरन्तर उनका मनन करना पडता है। किन्तु एक बार जब स्थायी रूप से ज्ञान की प्राप्ति हो जाती है, तब निरन्तर उसे समाधि मे मग्न रहने की आवश्यकता नही रहती ओर न जीवन के कर्मो से अलग रहने की ही आवश्यकता रहती है। उसे कल्याण की भावना से समन्वित देखा जाता है। दूसरो के प्रति उनकी दया और प्रीति और भी बढ़ जाती है जिससे उनके उद्धार के लिये वे अपने ज्ञान का अधिकाधिक

१ "लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा"—श्रीमद्भगव० ५।१०

२ मिलिन्द०—II-2,4

३ मिलिन्द०—III-५,१०

प्रचार करते है। निर्वाण-प्राप्ति के बाद भगवान् बुद्ध ने ससार के लोगो को दु खों से पीडित देख कर लोक-कल्याण की भावना से प्रेरित हो अपने उपदेशो को जनता के बीच घूम-घूम कर रखा। दु खो से पीडित मानव को आशा का सन्देश दिया, अनेक सघो की स्थापना की। धर्मप्रचार के लिए अनेक शिष्यो को विदेशो मे भेजा। इस प्रकार निर्वाण के पश्चात् बुद्ध का सारा जीवन कर्म का अनोखा उदाहरण बन गया। अत निर्वाण का अर्थ कर्म संन्यास समझना भ्रान्तिमूलक है।

भगवान् बुद्ध का उपदेश है कि कर्म दो तरह के होते है। एक तरह का कर्म राग, द्वेष तथा मोह के कारण होता है, जो हमारी विषयानुरक्ति की वृद्धि करता है तथा ऐसे संस्कारो को पैदा करता है जिनके कारण जन्म-ग्रहण करना ही पडता है। दूसरे तरह का कर्म बिना राग, द्वेष तथा मोह के होता है, जो अनासक्त भाव से तथा संसार को अनित्य समझ कर किया जाता है। इससे पुनर्जन्म की संभावना नही रह जाती है। जैसे सामान्य ढंग से यदि बीज का वपन किया जाय तो पौधे की उत्पत्ति होती है, किन्तु यदि बीज को भूँज दिया जाय ता उसके वपन से पौधे की उत्पत्ति नही हो सकती है। उमी प्रकार राग, द्वेषादि का परित्याग कर अनासक्त भाव से किया गया कर्म पुनर्जन्म का कारण नही होता है। निर्वाण प्राप्त व्यक्ति भी इसी प्रकार के कर्म मे प्रवृत्त होते है।

निर्वाण से दो तरह के लाभ हैं। प्रथम तो यह कि निर्वाणप्राप्ति के बाद पुनर्जन्म और तज्जनित दु ख संभव नही है, क्योकि जन्म-ग्रहण के लिए जो आवश्यक कारण है, वे नष्ट हो जाते है। दूसरा लाभ यह है कि निर्वाण प्राप्त व्यक्ति का जीवन मृत्यु-पर्यन्त पूर्णज्ञान और शान्ति के साथ बीतता है। निर्वाण के बाद जो शान्ति मिलती है, उसकी तुलना सासारिक सुखो के साथ नही हो सकती है। निर्वाण की अवस्था पूर्णतया, शान्त, स्थिर तथा तृष्णाविहीन होती है। साधारण अनुभवो के द्वारा इसका वर्णन नही किया जा सकता।

जैन-दर्शन मे निर्वाण को मोक्ष कहा गया है। राग, द्वेष और मोह के कारण आस्रव होता है जिससे जीव बन्धन मे फँस जाता है। जीव और पुद्गल के सयोग को बन्धन कहते है। अत जीव का पुद्गल से वियोग होना ही मोक्ष है। यह तभी होता है जब नये पुद्गल का आस्रव बन्द हो और जो जीवन मे पहले से ही प्रविष्ट है, वह नष्ट हो जाय। पहले को 'संवर" और दूसरे को "निर्जरा" कहते हे। इस प्रकार कर्म-पुद्गलो से मुक्त होने से जीव सर्वज्ञ, सर्वद्रष्टा होकर मुक्ति का अनुभव करने लगता है। इस अवस्था को भाव-मोक्ष या जीवन्मुक्ति कहते है। यह अवस्था वास्तविक मोक्ष के पूर्व की अवस्था है। इस स्थिति मे चार घातीय कर्मो का अर्थात् ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय एवं अन्तराय का नाश हो जाता है। इसके पश्चात् क्रमश चार आघातीय कर्मो का अर्थात् आयु, नाम, गोत्र तथा वेदनीय का भी नाश हो जाता है। इस स्थिति मे द्रव्यमोक्ष की प्राप्ति होती है।

जीव मुक्त होने के पश्चात् सभी कर्मो से तथा औपशमिक, छायोपशमिक, औदयिक तथा भव्यत्व भावो से मुक्त हो जाता है। यह ऊर्ध्व गति होने के कारण ऊपर लोक की सीमा पर्यन्त पहुँच जाता है। आलोकाकाश मे धर्मास्तिकाय के न रहने के कारण जीव, लोक के परे नही जा सकता।[1] वह पुन लौट कर संसार मे नही आता है और न मुक्त जीव परमात्मा के साथ एकाकार ही होता है। वह सिद्धशिला मे अनत काल के लिये वास करता है।

जीव मे पुद्गल का आस्रव जीव के अर्न्तनिहित कषायो (क्रोध, मान, माया, लोभ) के कारण होता है। इन कषायो का कारण अज्ञान है। अर्थात् आत्माओ तथा अन्य द्रव्यो का यथार्थ ज्ञान प्राप्त न होने के कारण ही हमारे मन मे क्रोध, मान, माया और लोभ की उत्पत्ति होती है। अज्ञान का नाश ज्ञान-प्राप्ति से ही हो सकता है। अत जैन दार्शनिक सम्यक् ज्ञान को अधिक महत्त्व देते है। सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति पूर्ण ज्ञानी तीर्थकरो या मुक्त महात्माओ के उपदेशो के मनन से होता है। साथ-साथ यथार्थ ज्ञान के प्रति श्रद्धा का होना भी आवश्यक है। इसे सम्यग्दर्शन कहते है। कुछ लोगो मे यह स्वभावत विद्यमान रहता है और कुछ इसे विद्योपार्जन एव अभ्यास के द्वारा भी सीख सकते है। सम्यक् चरित्र भी इसके लिये एक आवश्यक साधन है। सम्यक् चरित्र के अनुसार हमे वासना, इन्द्रिय, मन, वचन तथा कर्म को सयत करना पडता है। परिणामत नये कर्मो का संचय बन्द हो जाता और पुराने कर्म भी नष्ट हो जाते है। फलस्वरूप उन पुद्गलो का भी नाश हो जाता है जिनके कारण जीव बन्धन मे पडा रहता है। जैन दार्शनिक सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन तथा सम्यक् चरित्र को ही मोक्ष का मार्ग बताते है—"सम्यग्दर्शनज्ञानचरित्राणि मोक्षमार्ग ।"[2] इन तीनो के सम्मिलित होने पर ही मोक्ष मिलता है।

साख्य-दर्शन मे त्रिविध दु खो—आध्यामिक, आधिभौतिक तथा आधिदैविक—से आत्यन्तिक निवृत्ति को अपवर्ग या मोक्ष कहा गया है। इसके अनुसार कर्म के द्वारा मोक्ष की प्राप्ति सभव नही है। क्योकि अच्छे कर्म से स्वर्ग की तथा बुरे कर्म से नरक की प्राप्ति होती है और दोनो ही बन्धन की अवस्था है। मोक्ष की प्राप्ति ज्ञान से ही सभव है। क्योकि बन्धन का मूल कारण अज्ञान है। अन्य पदार्थो से आत्मा के पृथक्त्व का जब ज्ञान हो जाता है, तब बन्धन के नष्ट होने से मोक्ष की प्राप्ति होती है। साख्यकारिका मे कहा गया है—

"एव तत्त्वाभ्यासान् नास्मि न मे नाहमित्यपरिशेषम्।
अविपर्ययाद्विशुद्ध केवलमुत्पद्यते ज्ञानम् ॥"[3]

---

१ तत्त्वार्थसूत्र १०।५

२. तत्त्वार्थाधिगमसूत्र १।२।३—उमास्वामी

३ साख्यकारिका—६४

साख्य-दर्शन जीवन्मुक्ति और विदेहमुक्ति स्वीकार करता है। ज्ञान की प्राप्ति हो जाने पर भी प्रारब्ध कर्म के कारण जीव शरीर धारण किये रहता है। यह जीवन्मुक्ति की अवस्था है। इस अवस्था मे वह ऐहिक जीवन से वितृष्ण रहता है। अतएव उसके कर्मो का फल संचित नही होता है।

"सम्यग्ज्ञानाधिगमात् धर्मादीनामकारणप्राप्तौ ।
तिष्ठति सस्कारवशात् चक्रभ्रमिवद् धृतशरीर ॥[1]

मृत्यु के अनन्तर विदेहमुक्ति होती है—

प्राप्ते शरीरभेदे चरितार्थत्वात् प्रधानविनिवृत्तौ ।
ऐकान्तिकमात्यन्तिकमुभय कैवल्यमाप्नोति ॥[2]

साख्य के अनुसार मुक्ति की अवस्था सुख-दु ख से रहित ह, क्योकि सुख और दु ख सापेक्ष है। सुख सत्त्व गुण का परिणाम है और मुक्ति की अवस्था मे तीनो गुणो का समापन हो जाता है। इसके अनुसार बन्धन और मुक्ति का विषय प्रकृति है, पुरुष नही। पुरुष न तो कभी बन्धन मे पडता है और न कभी मुक्त होता है—

"तस्मान्न बध्यतेऽद्धा न मुच्यते नापि ससरति कश्चित् ।
ससरति बध्यते मुच्यते च नानाश्रया प्रकृति ॥[3]

योगदर्शन मोक्ष के स्थान पर "कैवल्य" मानता है। पुरुष के गुणो से आत्यन्तिक वियोग को कैवल्य कहा जाता है। इस अवस्था मे पुरुष या चितिशक्ति स्वच्छ, ज्योतिर्मय अपने स्वरूप मे केवली होकर प्रतिष्ठित हो जाती है। **"सत्त्वपुरुषयो शुद्धिसाम्ये कैवल्यमिति"**[4] अर्थात् विवेकज ज्ञान प्राप्त होने पर या न होने पर बुद्धिसत्त्व तथा पुरुष की जो शुद्धि एव सादृश्य है, वही कैवल्य है।

न्यायवैशेषिक दर्शन मोक्ष विषयक विचार मे भी अपनी समानतन्त्रता का निर्वाह करते है। मोक्ष का पर्याय "अपवर्ग" के रूप मे (न्यायदर्शन) अथवा नि श्रेयस (वैशेषिक दर्शन) के रूप मे इन दर्शनो मे स्वीकार किया गया है। दोनो ही दर्शन अपवर्ग की विशुद्ध निषेधरूपता के आग्रही है। गौतम ने बाधना या पीड़ा के रूप मे दु ख का लक्षण मानकर[5] उससे आत्यन्तिकरूप से विमुक्त हो जाने को अपवर्ग स्वीकार किया है।[6] वात्स्यायन ने आत्यन्तिक दु खाभाव के अर्थ मे ही आगमोक्त

१ साख्य०—६७

२ साख्य०—६८

३. साख्य०—६२

४ पतञ्जलि—योगसूत्र—३।५५

५ न्यायसूत्र—१।१।२१—
"बाधनालक्षणं दु खम् ।"

६ वही १।१।२२—"तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्ग ।"

सुख की सिद्धि की है ।[1] मोक्ष की स्थिति मे आत्मा के सभी गुण नष्ट हो जाते है । इसीलिए किसी प्रकार के अनुभव की सत्ता नैयायिको को अपवर्गावस्था मे स्वीकार्य नही है ।

वैशेषिकदर्शन भी न्याय के समान नि श्रेयस की निषेधरूपता स्वीकार करता है । शंकरमिश्र ने वैशेषिक दर्शन (१।१।४) के अपने उपस्कार-भाष्य मे इस विषय का विशेष रूप से प्रदर्शन किया है कि आत्यन्तिकी दु खनिवृत्ति ही नि श्रेयस है । अन्य मोक्षसिद्धान्त उन्हे अमान्य है ।

मीमासा-दर्शन के अनुसार तीन प्रकार से प्रपञ्च अर्थात् ससार मनुष्य को बन्धन मे डालता है—भोगायतन शरीर, भोगसाधन इन्द्रियाँ तथा शब्द, स्पर्श, रूप आदि भोग्य विषय । इन तीनो के द्वारा मनुष्य सुख तथा दु ख के विषय का साक्षात् अनुभव करता हुआ बन्धन मे पडा रहता है । इन तीनो के आत्यन्तिक नाश होने से मुक्ति मिलती है ।

"त्रिविधस्यापि बन्धस्य आत्यन्तिको निलयो मोक्ष ।।[2]

पूर्व मे उत्पन्न शरीर, इन्द्रियाँ तथा विषयो का नाश एवं भविष्यत् काल मे होने वाले शरीर, इन्द्रियो तथा विषयो का पुन न होना आत्यन्तिक नाश कहलाता है । सुख तथा दु ख से रहित होकर मुक्त पुरुष स्वस्थ हो जाता है । अर्थात् ज्ञान, सुख, दु ख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म तथा सस्कार से रहित हो कर पुरुष अपने स्वरूप मे स्थित रहता है । भट्टमीमासको के मत मे पंचस्कन्धविलय ही मोक्ष है । मोक्षावस्था मे जीव मे न सुख है, न ज्ञान है—

"तस्मात् नि.सम्बन्धो निरानन्दश्च मो क्ष."[3]

प्रभाकर-मत मे धर्म तथा अधर्म का नि शेष रूप मे नाश होने से देह के आत्यन्तिक नाश को मोक्ष कहा गया है .—

"आत्यन्तिकस्तु देहोच्छेदो मोक्ष ।"[4]

मुक्तावस्था मे जीव की सत्ता मात्र रहती है ।

वेदान्त दर्शन मे निर्वाण का समानार्थक शब्द "मुक्ति" है । शांकर-

---

१ द्रष्टव्य वात्स्यायनभाष्य—१।१।२२—"यद्यपि कश्चिदागम स्यात् मुक्तस्यात्यन्तिक सुखमिति । सुखशब्द आत्यन्तिके दु खाभावे प्रयुक्त इत्येवमुपपद्यते । दृष्टो हि दु खाभावे सुखशब्दप्रयोगो बहुल लोके ।"

२ शास्त्रदीपिका—पृ० १२५

३ शास्त्रदीपिका—पृ० १२५-३०

४ प्रकरणपञ्चिका, पृ० १५६

वेदान्त (अद्वैत वेदान्त) के अनुसार जीव और ब्रह्म का ऐक्य ही मुक्ति है। ब्रह्मसाक्षात्कार के साथ समस्त अज्ञान तथा उसके कार्यो का नाश हो जाता है। पुन ब्रह्म को छोड कर और कुछ नही बचता। जीव और ब्रह्म के ऐक्य हो जाने से तथा उस जीव के लिये माया के विलीन हो जाने से इस श्रुति-वाक्य का उसे बोध हो जाता है—

"एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म नेह नानास्ति किञ्चन।"[1]

मुक्ति दो प्रकार की होती है—जीवन्मुक्ति और मुक्ति। सचित और क्रियमाण कर्मो के नाश होने पर जीवितावस्था मे ही तत्त्वज्ञान हो जाने पर जीव प्रारब्ध कर्म के क्षयपर्यन्त शरीर को पूर्ववत् धारण किये रहता है। इस अवस्था को जीवन्मुक्ति कहते है। प्रारब्ध कर्म के क्षय होने पर शरीर का पतन होता है। उस अवस्था को मुक्ति कहते है।

भास्कर वेदान्त उपाधियो से मुक्त होकर जीव के अपने स्वाभाविक स्वरूप-धारण करने को मुक्ति कहता है। इसके अनुसार मुक्ति के दो भेद है-सद्योमुक्ति और क्रममुक्ति। साक्षात्कारणस्वरूप ब्रह्म की उपासना करने पर मिलने वाली मुक्ति सद्योमुक्ति है। क्योकि यह तत्क्षण प्राप्त होती है।

कार्यस्वरूप ब्रह्म के द्वारा प्राप्त मुक्ति क्रममुक्ति है। अच्छे कार्य करने से मरने पर देवयान मार्ग से अनेक लोको मे घूमते हुए हिरण्यगर्भ के साथ जीव मोक्ष पाते है इसके अनुसार जीवन्मुक्ति की अवस्था नही होती। क्योकि शरीरपतन के उपरान्त ही मुक्ति होती है।

गीता-दर्शन मे मुक्ति दो प्रकार की बतायी गयी है—परा गति और अपरा गति। जो लोग बहुत ही पवित्र कार्य करते है, जिन्हे ज्ञान की प्राप्ति हो गयी हे और जिनके कर्म ज्ञान के तेज से दग्ध होकर भविष्य मे फल देने मे असमर्थ है, उन लोगो के मरने पर उनकी जीवात्मा देवयान मार्ग से सूर्य की रश्मि को पकड कर ऊपर की ओर जाती है और वहाँ से लौट कर पुन इस संसार मे नही आती है।[2] उनके कर्मो का भोग समाप्त हो जाता है। उन्हे मुक्ति मिल जाती है। इसे परा गति कहते हैं।

जो लोग साधारण रूप से अपना कर्म करते है, कुछ पुण्य और मृत्यु के पश्चात् उनकी जीवात्मा पितृयान मार्ग से चल कर चन्द्रलोक को जाती है, और कुछ समय तक वहाँ रह कर पुन अवशिष्ट कर्म वासनाओ का भोग करने के लिए इस संसार मे लौट आती है।[3] इसे अपरा गति कहते है।

---

१ आध्यात्मोपनिषद्—६३

२ श्रीमद्भगवद्गीता १५।६—"यद् गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम।"

३ "ते त भुक्त्वा स्वर्गलोक विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोक विशन्ति।"

—श्रीमद्भग० ६।२१

मुक्ति की दो अवस्थाये बतलायी गयी है—जीवन्मुक्ति और विदेहमुक्ति। ज्ञान प्राप्त करने पर भी जीव जब इसी संसार मे रहता है और परमात्मा का साक्षात्कार करता है, तब उसकी वह अवस्था जीवन्मुक्ति कही जाती है। प्रारब्ध कर्म के अनुसार जब वर्त्तमान शरीर का सभी भोगो को समाप्त करने के बाद क्षय होता है, तब वह जीवन्मुक्त जीव स्वतंत्र होकर अनन्त धाम मे भगवान मे मिल जाता है। ऐसे जीव जब शरीर से रहित हो जाते है, तब उनकी अवस्था विदेहमुक्ति कहलाती है।

पुनर्जन्म सिद्धान्त—

निर्वाण के सिद्धान्त की आवश्यक्ता तभी संभव हो सकती है, जब पुनर्जन्म का सिद्धान्त स्वीकार किया जाय। इसलिए प्राचीन काल से ही भारतीय दार्शनिको ने पुनर्जन्म के सिद्धान्त को स्वीकार कर इस पर पर्याप्त विचार किया है।

वेदों मे जीव के तीन जन्म स्वीकार किये गए है। प्रथमत शिशु के रूप मे, द्वितीयत आध्यात्मिक शिक्षा की प्राप्ति के द्वारा और तृतीयत मृत्यु के अनन्तर। आत्मा को जीवनचक्र से सम्बद्ध माना गया है।

पुनर्जन्म के सिद्धान्त का प्रारम्भिक रूप शतपथ ब्राह्मण मे दिखाई पडता है। इसके अनुसार जिन्हे सम्यक् ज्ञान है तथा जो अपने कर्त्तब्यो का पालन उचित रूप से करते है, मृत्यु के उपरान्त अमरत्वप्राप्ति के लिए उनका पुनर्जन्म होता है। इसके विपरीत जो अज्ञानी है तथा अपने कर्त्तव्यो की अवहेलना करते है, उन्हे मृत्यु का शिकार बनने के लिए बार-बार जन्मग्रहण करना पड़ता है।

उपनिषदो मे पुनर्जन्म का अस्तित्व इहलोक मे माना गया है। अच्छे एवं बुरे कार्यों का प्रतिफल दो रूपो मे प्राप्त होता है। (१) परलोक मे और (२) पुन इस पृथ्वी पर जन्मग्रहण करने पर।

"अथैनमग्नये हरन्ति तस्याग्निरेवाग्निर्भवति समित्समिद्धमो धूमोऽर्चिरर्चिरङ्गारा अङ्गारा विस्फुलिङ्गा विस्फुलिङ्गास्तस्मिन्नेतस्मिन्नौ देवा. पुरुष जुह्वति तस्या आहुत्यै पुरुषो भास्वरवर्ण सभवति ॥[1]

पुनर्जन्म के विषय मे प्राचीनतम वर्णन छान्दोग्योपनिषद् और बृहदारण्यकोपनिषद् में प्राप्त होता है।

ब्रह्म से ऐक्य की अवस्था उत्तम प्रकार का अमरत्व है। जब हम इस अवस्था से च्युत होते है। तब संसार मे एक जन्म से दूसरे जन्म मे भटकने लगते है। इस जीवन मे किए गए कर्मो के अनुसार हमारा अगला जन्म निर्धारित होता है।

---

१ बृहदा० ६।२।१४

"आकाशो वै नाम नामरूपयोर्निर्वहिता ते यदन्तरा तद्ब्रह्म तदमृतं स आत्मा प्रजापते· सभा वेश्म प्रपद्ये यशोऽहं भवामि ब्राह्मणानां यशो राज्ञा यशो विशा यशोऽहमनुप्रापत्सि स हाह यशसा यश· श्येतमदत्कमदत्क श्येत लिन्दुमाऽभिगा लिन्दु माऽभिगाम् ।।"[1]

अच्छे कर्म करने वाले मृत्यु के उपरान्त शीघ्र ही अच्छा जन्म—ब्राह्मण, क्षत्रिय अथवा वैश्य का जन्म पाते है, किन्तु जिनका आचरण बुरा होता है, वे मरणोपरान्त शीघ्र बुरे जन्म श्वान या चाण्डाल का जन्म पाते है।

"तद्य इह रमणीयचरणा अभ्याशो ह यत्ते रमणीया योनिमापद्येरैन् ब्राह्मणयोनिं वा क्षत्रिययोनिं वा वैश्ययोनिं वाऽथ य इह कपूयचरणा अभ्याशो ह यत्ते कपूया योनिमापद्येरञ्श्वयोनिं वा सूकरयोनिं वा चण्डालयोनिं वा ।।[2]

छान्दोग्य कौषीतकि की तरह बृहदारण्यक उपनिषद् की कुछ उत्तरवर्ती पंक्तियो मे आत्मा का प्रवेश पशुयोनि मे भी निर्दिष्ट है। यह विचार सभवत यहाँ आर्येतर जातियो से आया प्रतीत होता है। संसार के प्राय सभी अविकसित जातियो के बीच यह धारणा रही है कि मानव आत्मा पशुयोनि मे स्थानान्तरित हो सकती है।

आत्मा अपने कृतकर्मो के फल भुगतने के लिए मृत्यु के पश्चात् दो मार्गो से पार हो सकती है—

(१) देवयानमार्ग (प्रकाशमार्ग)
(२) पितृयानमार्ग, (धूममार्ग अथात् तम.मार्ग)

प्रथम मार्ग अग्नि आदि विभिन्न लोको से होकर ब्रह्म या सत्य लोको को जाता है जहाँ से पुनरावर्त्तन नही होता। पितृयान धूमरात्रि आदि विभिन्न लोको से होते हुए चन्द्रलोक को ले जाता है जहाँ से अपने सुकर्मो का फल भोगने के उपरान्त जीव को पुन. इस संसार मे आना पड़ता है।[3]

---

१. छादोग्य० ८।१४।१
२ छान्दोग्य० ५।१०।७
३ "अग्निर्ज्योतिरहः शुक्ल· षण्मासा उत्तरायणम्।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जना ।।
धूमो रात्रिस्तथा कृष्ण षण्मासा दक्षिणायनम्।
तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तते ।।
शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगत शाश्वते मते।
एकया यात्यनावृत्तिमन्ययावर्तते पुन ।।" —श्रीमद्भगवद्· ८।२४-२६

कौषीतकि उपनिषद् के अनुसार मृत्यु के उपरान्त सभी चन्द्रलोक को जाते हैं जहाँ कुछ पितृमार्ग होते हुए ब्रह्म तक पहुँचते है जब कि शेष अपने कर्म और ज्ञान के अनुसार मानव से लेकर कीट पर्यन्त विभिन्न योनियो मे जन्मग्रहण कर संसार मे लौट आते है।

एक तीसरे आनन्दविहीन तिमिराच्छन्न लोक को ले जाने वाले मार्ग का भी निर्देश है—

"पीतोदका जग्धतृणा दुग्धदोहा निरिन्द्रिया ।
अनन्दा नाम ते लोकास्तान् स गच्छति ता ददत् ।"[१]

अर्थात् जो (अन्तिम बार) जल पी चुकी है, जिनका घास खाना समाप्त हो चुका है, जिनका दूध भी दुह लिया गया है और जिनमे प्रजनन शक्ति का भी अभाव हो गया है उन गौओ का दान देने वाला अनन्दलोको को जाता है।

यह वह मार्ग है जहाँ जीव कीट पतंग आदि निकृष्ट योनियो मे गुजरता हुआ जन्न-मृत्यु का शिकार होता है।[२]

मुक्त मानव, जो ब्रह्म से अपना ऐक्य समझ लेता है, उसे मुक्ति के लिए कही भटकने की आवश्यकता नही है। जहाँ कही वह रहता है वह ब्रह्म का साक्षात् अनुभव करता है।

गीता-दर्शन स्पष्ट शब्दो मे पुनर्जन्म के सिद्धान्त को स्वीकार करता है। अर्जुन को उपदेश देते हुए स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण कहते है —

"बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन ।
तान्यह वेद सर्वाणि न त्व वेत्थ परतप ॥"[३]

अर्थात् हे परंतप (शत्रुतापन) अर्जुन, मेरे और तुम्हारे अनेक जन्म व्यतीत हो चुके है जिन्हे मै तो जानता हूँ किन्तु तुम नही।

पुन द्वितीय अध्याय मे वे कहते है—

"जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुव जन्म मृतस्य च ॥[४]

अर्थात् प्रत्येक जन्म लेने वाले की मृत्यु और मरने वाला का जन्म लेना निश्चित है। जन्मने और मरने की क्रियायें अनादि काल से जारी है और तब तक जारी रहेगी जब तक यह सृष्टि रहेगी।

---

१. कठोपनिषद् १।१।३
२ "ते कीटा॰ पतङ्गा. यदिदं दन्दशूकम् ।" बृहदा॰ ६।२।१६
३ श्रीमद्भग॰—४।५
४ वही—२।२७

आत्मा के स्वरूप के प्रतिपादन क्रम मे कहा गया है कि जिस प्रकार मनुष्य जीर्ण वस्त्र का परित्याग कर नवीन वस्त्र धारण करता है, उसी प्रकार आत्मा भी एक शरीर छोड कर दूसरे शरीर को धारण करती है —

"वासासि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-
न्यन्यानि संयाति नवानि देही ।"[1]

मनुष्य का भावी जन्म उसके गुणो के आधार पर निर्धारित होता है । सत्त्व गुण के उत्कर्ष मे मृत्यु प्राप्त करने वाले प्राणी स्वर्ग आदि निर्मल लोक को प्राप्त होते है । रजो-गुण की प्रबलता मे मरने वालो को अगले जन्म मे इसी ससार मे आकर उन्ही कर्मो मे फँसना पडता है, जिनमे वे पहले लिप्त थे । तमो-गुण धारी मनुष्य का सारा जीवन इन्द्रियो के लालन-पालन मे ही बीतता है । अतएव मरणोपरान्त इनकी सद्गति का तो प्रश्न ही नही उठता । इन्हे कीट-पतग इत्यादि निकृष्ट योनियो मे जन्म-ग्रहण करना पडता है, जहाँ ज्ञानरूपी सूर्य के प्रकाश का सर्वथा अभाव रहता है—

"यदा सत्त्वे प्रवृद्धे तु प्रलय याति देहभृत् ।
तदोत्तमविदा लोकानमलान्प्रतिपद्यते ।।
रजसि प्रलय गत्वा कर्मसङ्गिषु जायते ।
तथा प्रलीनस्तमसि मूढयोनिषु जायते ।।[2]

जन्म-मरण के चक्र से छुटकारा तभी मिलता है जब कर्म-बन्धन का नाश हो जाता है और ज्ञान से ही यह कर्म-बन्धन नष्ट होता है—

"यथैधासि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन ।
ज्ञानाग्नि सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा ।।[3]

अर्थात् जैसे अच्छी प्रकार से प्रज्ज्वलित अग्नि काष्ठ-समूह को भस्मरूप कर देता है, वैसे ही ज्ञान-रूप अग्नि सब कर्मो को भस्मरूप अर्थात् निर्बीज कर देता है ।

जगत् की सारी लीलाये त्रिगुणात्मक (सत्त्व-रज-तमात्मक) है तथा इनके आधार रूप जो आत्मतत्त्व है, वह इनसे सर्वथा भिन्न, त्रिगुणातीत, निर्विकार और सच्चिदानन्द स्वरूप है । इस रहस्य का ज्ञान जब मनुष्य को हो जाता है तो वह सम्पूर्ण विश्व मे परम पिता परमात्मा को ही देखता, सुनता और पाता है । सृष्टि के रंगमंच पर अपना अभिनय करता हुआ वह उसके विकारो से अलिप्त रहता

---

१. श्रीमद्भग०—२।२२

२ वही—१४।१४-१५

३. वही—४।३७

है तथा सदा परमात्मा मे ही रमण करता है। ऐसा व्यक्ति तीनो गुणो से परे होकर जन्म, मृत्यु और जरा के दु.खो से विमुक्त हो जाता तथा मोक्ष की प्राप्ति करता है—

"गुणानेतानतीत्य त्रीन्देही देहसमुद्भवान्।
जन्ममृत्युजरादु.खैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते ।।"[१]

तत्त्व रूप से भगवान के दिव्य जन्म तथा कर्मो को जान लेने वाले व्यक्ति को शरीर त्याग के अनन्तर पुन इस संसार मे आना नही पडता है—

"जन्म कर्म च मे दिव्यमेव यो वेत्ति तत्त्वत ।
त्यक्त्वा देह पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ।।"[२]

राग, भय और क्रोध से रहित होकर भगवान के परायण हुए अनेक लोगो ने इस प्रकार ज्ञान रूप तप से शुद्ध होकर भगवत्भाव को प्राप्त किया है—

"वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिता.।
बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागता. ।।"[३]

मरण-काल मे विष्णु का स्मरण करता हुआ शरीर त्याग करने वाला मनुष्य निस्सन्देह परम पद को प्राप्त करता है—

"अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम्।
य. प्रयाति स मद्भाव याति नास्त्यत्र स शय ।।[४]

परमात्मभाव को प्राप्त व्यक्ति का पुनर्जन्म नही होता है—

"मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते ।"[५]

बौद्धमत में पुनर्जन्म

यद्यपि आत्मा के जन्म-जन्मान्तर मे स्थानान्तरण के उपनिषदो के सिद्धान्त को बौद्ध-दर्शन स्वीकार नही करता है, तथापि पुनर्जन्म के सिद्धान्त को यह स्वीकार करता है। इसके अनुसार पुनर्जन्म का सिद्धान्त वस्तुत भव-चक्र पर आधारित है। उत्पत्ति-प्रक्रिया ही भव-चक्र है। कर्म से तथा अविद्या आदि क्लेशो से अभिसंस्कृत पंचस्कन्ध ही पूर्वभव सन्तति-क्रम मे एक प्रदीप से दूसरे प्रदीप के जलने की तरह गर्भ मे प्रवेश पाता है।

ऐसे कारण, जिनके होने पर जरा-मरण रूप दु.ख उत्पन्न होता है, बुद्ध ने बारह बतलाये है—

---

१ श्रीमद्भग० १४।२०

२ वही ४।९

३. वही ४।१०

४ श्रीमद्भग० ८।५

५. वही ८।१६

१—अविद्या
२—सस्कार } —भूत-जीवन।

३—विज्ञान
४—नाम-रूप
५—षडायतन
६—स्पर्श
७—वेदना } —वर्त्तमान जीवन
८—तृष्णा
९—उपादान
१०—भव
११—जाति

१२—जरा-मरण } भविष्य जीवन

बुद्ध का कथन है कि जीव का वर्त्तमान जीवन से भी पहले कोई जन्म अवश्य था, जिसके कारण मनुष्य अनादिकाल से अज्ञान (अविद्या) के अन्धकार मे पडा हुआ है। उन कर्मो को भोगने के लिए मनुष्य इस जन्म मे आया। इसका रहस्य विज्ञान बताता है। जन्म-धारण करने के बाद मनुष्य को नाम-रूप अर्थात् भौतिक और मानसिक स्वरूप मिले। इसके बाद छ इन्द्रियो का समावेश हुआ और इसको षडायतन कहा गया। इन्द्रियो के प्राप्त हो जाने पर जीव मे बाह्यजगत् के रूपो का आधान हुआ जिसके फलस्वरूप उसको वेदना का अनुभव हुआ। इन्द्रिय तथा विषयो का सयोग होने के बाद उसमे तृष्णा का आधान हुआ, जिससे उसकी सुखप्रद वस्तुओ के प्रति रुचि हुई। इसी को उपादान या आसक्ति कहा जाता है। इस प्रकार वह भव के अच्छे बुरे कार्यों की ओर प्रवृत्त हुआ। इन कर्मों के परिणामस्वरूप उसको दूसरे जन्म मे लिप्त होना पडा, जिसका परिणाम मृत्यु अर्थात् जरा-मरण है।

इस दृष्टि से पुनर्जन्म का सम्बन्ध भूत, वर्त्तमान और भविष्य तीनो कालो से है। बुद्ध का कहना है कि मनुष्य या जीव तब तक इस भवचक्र मे घूमता रहता है, जब तक उसका वह अज्ञान नष्ट न हो जाय जो तृष्णा का कारण है। अविद्या-तृष्णा के नाश होने तक अच्छा बुरा कर्म ही उसका सब कुछ है। भगवान् बुद्ध का उपदेश है —

"कम्मस्सकोम्हि, कम्मदायादो, कम्मयोनि, कम्मबन्धु, कम्मपरिसरणो, यं कम्मं करिस्सामि कल्याण वा पापक वा, तस्स दायादो भविस्सामिति अभिण्ह पच्च-वेक्खतब्बं गहट्ठेन वा पब्बजितेन वा।"[1]

अर्थात् सभी को इस बात पर सदा मनन करना चाहिये कि मेरा जो कुछ भी है, कर्म ही है, कर्म ही दायाद है, कर्म से ही उत्पत्ति है। कर्म ही बन्धु है, कर्म ही शरण स्थान है। जो मै अच्छा बुरा कर्म करूँगा उसका मै उत्तराधिकारी होऊँगा।"

१ अगुत्तरनिकाय—पंचक निपात (२।१।७)

अतीत जीवन के कर्म ही वर्तमान और भविष्य जीवन की स्थिति के निर्धारक होते है।

"कर्मो की भिन्नता के कारण ही सभी मनुष्य समान नही होते है। कुछ मनुष्य दीर्घायु होते हैं और कुछ अल्पायु, कुछ स्वस्थ तथा कुछ रुग्ण।"[1]

तृष्णा का क्षय हो जाने पर कर्म का भी क्षय हो जाता है और पुनर्जन्म का भी। किन्तु जब तक तृष्णा का क्षय नही होता, तब तक तो जीव को जन्म-जामान्तर तक जन्मो के चक्कर मे रहना ही पडता है। बुद्ध ने जब उरुबेला के निकट बोधि-वृक्ष के नीचे ज्ञान प्राप्त किया, उस समय इन्होने सर्वप्रथम यही कहा—

"अनेकजातिससार सन्धाविस्सं अनिब्बिस।
गहकारक गवेस्सन्तो दुक्खा जाति पुनप्पुन॥
गहकारक दिट्ठोसि पुन गेह न काहसि।
सब्बा ते फासुका भग्गा गहकूट विसङ्खित।
विसखारगतं चित्त तण्हान खयमज्झगा॥"[2]

अर्थात् दुःखदायी जन्म बार-बार लेना पडा। मै संसार मे (शरीर-रूपी गृह को बनाने वाले) गृहकारक को पाने की खोज मे निष्फल भटकता रहा। लेकिन गृहकारक! अब मैने तुझे देख लिया। अब तू फिर गृह-निर्माण न कर सकेगा। तेरी सब कडियाँ टूट गयी। गृह-शिखर बिखर गया। चित्त निर्वाण प्राप्त हो गया। तृष्णा का क्षय हो गया।

बुद्ध की शिक्षा के अनुसार रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार तथा विज्ञान इन पाँच स्कन्धो का ही यह व्यक्ति वा संसार बना है। उन पञ्चस्कन्धो की धारा अच्छे बुरे कर्मानुसार बहती रहती है और तब तक बहती रहेगी, जब तक कोई भी व्यक्ति तृष्णा का सम्पूर्ण क्षय नही कर लेता।

अपनी प्रारम्भिक अवस्था मे बौद्धधर्म ने जातक-कथाओ के द्वारा पुनर्जन्म के सिद्धान्त को अधिक लोकप्रिय बनाया, जिनमे बुद्ध के पूर्वजन्मो के उन सुकर्मो का वर्णन है, जिनके द्वारा उन्होने अपने आपको बोधिवृक्ष के नीचे निर्वाणप्राप्ति के योग्य बनाया था।

---

१. मज्झिम—३, २०३

बुद्धघोष—अट्ठसालिनी—पृ० ८८

२ धम्मपद, जरावग्ग १५३, १५४

चतुर्थ अध्याय

संस्कृत-साहित्य मे जातकमाला की पृष्ठभूमि

संस्कृत साहित्य मे कठिन एवं गम्भीर विषयो का विवेचन तथा नीतिशास्त्र जैसे दुरूह शास्त्रो का उद्देश्य एवं साधारण कथाओ के व्याज से उपदेश की परम्परा सुदूर पूर्वकाल से पायी जाती है। पूर्व मे सूत्रशैली का अवलम्बन कर समास मे ही जीवन को उन्नत करने के लिए अपेक्षित उपदेशो का निदर्शन मिलता है। दार्शनिक तत्त्वो की व्याख्या कथोपकथन एव सुन्दर हृदयग्राही कथाओ के उदाहरणो से उपनिबद्ध मिलती है। जैसे—छान्दोग्योपनिषद् मे आत्मतत्त्व को समझाने के लिए इन्द्रविरोचन के प्रजापति के पास गमन के उपाख्यान को बहुत ही सुन्दर शब्दो मे संगृहीत किया गया है। प्रजापति ने किसी समय कहा कि जो आत्मा पापशून्य, जरारहित, मृत्युहीन, विशोक, क्षुधारहित, पिपासारहित, सत्यकाम और सत्यसंकल्प है, उसका अन्वेषण करना चाहिए। उस आत्मतत्त्व को विशेषरूप से जानने की इच्छा करनी चाहिए। शास्त्र और आचार्य के उपदेशो से उसका ज्ञान प्राप्त करना चाहिए।[1] इस आत्मतत्त्व की उपलब्धि के लिए हृदय पुण्डरीक को स्थान कहा गया है, वहाँ पर अविद्या—मिथ्या से अपिहित सत्यकाम अवस्थित है। उस सत्यस्वरूप को आवृत कर अज्ञान अपनी विक्षेपशक्ति के द्वारा जगत्-प्रपञ्च को प्रदर्शित करती है। उस आत्मतत्त्व की प्राप्ति अर्थात् स्वसम्बन्ध-तत्त्व की प्राप्ति के द्वारा समस्त लोको के भोगो एवं सर्वात्मरूप की प्राप्ति हो जाती है। उस व्यापक तत्त्व-आत्मा के सर्वात्मरूप की उपलब्धि के अनन्तर कोई भी वस्तु उससे अतिरिक्त शेष ही नही रह जाती है। अत सकल कामनाओ की प्राप्ति का एकमात्र साधन आत्मतत्त्व ही है। यह बात कदाचित् सुर और असुर के मध्य मे कही गयी थी।

यह बात स्वत सिद्ध है कि कामना की प्राप्ति के लिए सतृष्ण व्यक्ति के सम्मुख सकल कामनाओ की पूर्त्ति का साधन हो, तो उसकी प्राप्ति से अपने को विमुख कौन कर सकता है? इस गहन आत्मतत्त्व विवेचन के लिए उपनिषद् मे इन्द्रविरोचन को प्रजापति के समक्ष उपस्थित कर बहुत ही सरल उदाहरणो के द्वारा आत्मतत्त्व के क्रमिक उपदेश देने की चेष्टा की गई है। तदनन्तर भोग की प्राप्ति के लिए प्रतिरूप को विसर्जन करने वाले इन्द्र और विरोचन अपनी भोग सामग्रियो का परित्याग कर तथा हाथ मे समिधाओ का आश्रयण कर उनके समक्ष उपस्थित

---

१ "य आत्मापहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपास सत्यकामः सत्यसकल्प सोऽन्वेष्टव्य स विजिज्ञासितव्य स सर्वांश्च लोकानाप्नोति सर्वांश्च कामान्यस्तमात्मानमनुविद्य विजानातीति।"

—छान्दो० ८।७।१

हुए। इस गमन के प्रकार की सूचना से एक अमिट् छाप हृदयपटल पर अंकित हो जाती है कि गुरु के समीप मनुष्य को किस रूप मे जाना चाहिए एव तृष्णा का अवसान इन्द्रत्व प्राप्ति के बाद भी सम्भव नही है। बत्तीस वर्षो तक ब्रह्मचर्य-धारण कराने के उपरान्त प्रजापति ने कहा—किस कामना की पूर्त्ति के लिए आपलोग यहाँ उपस्थित हुए हैं ? तब उन लोगो ने उस आत्मा के विषय मे पूछा जिसकी प्राप्ति से समस्त लोक एवं समस्त कामनाओ की प्राप्ति हो जाती है। प्रजापति ने ब्रह्मचर्य के द्वारा एवं योग्य व्यक्ति समझ कर उन्हे आत्मा का उपदेश दिया कि पुरुष के नेत्रो मे जो द्रष्टा पुरुष दिखाई देता है, वही पूर्वोक्त आत्मा है।[१] इसका ज्ञान होने पर सम्पूर्ण कामनाओ की प्राप्ति हो जाती है। उन लोगो ने छायापुरुष को ही आत्मा समझ कर जिज्ञासा की कि जल मे, दर्पण मे, तलवार आदि स्वच्छ पदार्थो मे जो प्रतिबिम्ब दिखाई देता है, इनमे आत्मा कौन है।[२] इस जिज्ञासा के उत्तर मे ब्रह्मा ने कहा—वह इन सबो क भीतर दिखाई देता है।[३] रहस्य यह है कि ब्रह्मा ने द्रष्टा को आत्मा बताया और इन लोगो ने दृश्य को आत्मा समझा। जलपूर्ण पात्र मे उन लोगो ने देखा। तब प्रजापति ने जिज्ञासा की कि तुम क्या देखते हो। उनलोगो ने कहा—नख और लोमपर्यन्त को देखते है।[४] पुन प्रजापति ने कहा—अलंकृत होकर सुन्दर वस्त्र पहन कर जल मे देखो। उन लोगो ने वैसा ही किया। तब प्रजापति ने जिज्ञासा की कि अब क्या देखते हो ? उन्होने कहा—जिस प्रकार से अलकृत रूप मे हम लोग है, उसी रूप मे आत्मा को देखते है।[५] प्रजापति ने कहा—वही आत्मा है।[६] वे दोनो शान्तचित्त से चले गये। विरोचन असुरो के पास पहुँचा और देह ही आत्मा है, यही पूजनीय है, यही सेवनीय है, इसकी सूचना दे दी। यही कारण है कि आज भी शुभ कर्म न करने वाले, मात्र शरीर के भोगविलास मे रत व्यक्ति को आसुरी भाव सम्पन्न कहा जाता है।[७] ऐसे व्यक्ति शव को अलंकृत करने के समान ही अपने को अलंकृत कर सन्तुष्ट होकर चले जाते हैं, किन्तु देवत्व के समीप नही पहुँच सकते है। इन्द्र आत्मचिन्तन करता हुआ इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि यह आत्मा अलंकृत करने पर अलंकृत होता है, अन्धे होने पर अन्धा होता है और शरीर के नाश होने पर नष्ट हो जाता है। अत पूर्वोक्त आत्मा तो नही हो सकता। अतएव

---

१ "य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यत एष आत्मेति।"—छान्दो० ८।७।४

२. "योऽयं भगवोऽप्सु परिख्यायते यश्चायमादर्शे कतम एष इति।"—छान्दो० ८।७।४

३ "एष उ एवैषु सर्वेष्वन्तेषु परिख्यायत इति।" —छान्दो० ८।७।४

४ "सर्वमेवेदमावा भगव आत्मान पश्याव आ लोमभ्य आ नखेभ्य प्रतिरूपमिति।" —छान्दो० ८।८।१

५ "यथैवेदमावा भगव साध्वलकृतौ सुवसनौ परिष्कृतौ स्व एवमेवेमौ भगव साध्वलकृतौ सुवसनौ परिष्कृताविति।" —छान्दो०—८।८।३

६. "एष आत्मेति · एतदमृतमभयमेतद्ब्रह्मेति।" —छान्दो० ८।८।३

७ "तस्मादप्यद्येहाददानमश्रद्दधानमयजमानमाहुरासुरो०।" —छान्दो० ८।८।५

छाया-दर्शन से असन्तुष्ट वह पुन प्रजापति के समक्ष उपस्थित हुआ। प्रजापति ने पूछा – तुम तो विरोचन के साथ शान्तचित्त होकर गया था, फिर क्यो लौटा ? उसने शरीर को आत्मा मानने पर अपनी चिन्ता व्यक्त की[1] और पुन इस अजर-अमर आत्मा के उपदेश के लिए आग्रह किया। ब्रह्मा ने पुन बत्तीस वर्ष ब्रह्मचर्य धारण करने का निर्देश दिया।

ब्रह्मचर्य के बाद प्रजापति के सम्मुख उपस्थित होने पर प्रजापति ने 'स्वप्न मे जो अनेक प्रकार के भोगो का अनुभव करता है, वही आत्मा है।", यह निर्देश किया। यह सत्य है कि स्वप्न-शरीर इस शरीर के अन्धादि होने पर भी अन्धा नही होता है। इस देह के वध होने से उसका नाश नही होता है। फिर भी उसके उत्पीडन, रुदन की अनुभूति आदि वह करता है। अत इस आत्म-दर्शन से किसी फल की अनुभूति मै नही देखता हूँ, यह सोचता हुआ इन्द्र पुन प्रजापति के पास पहुँच कर पूर्वोक्त निवेदन किया। प्रजापति ने पुन बत्तीस वर्षो के ब्रह्मचर्यव्रत का निर्देश किया। इस प्रकार क्रमिक सुप्तादिपुरुष मे आत्मोपदेश कर अन्त मे सत्यज्ञान का उपदेश दिया।

इसी तरह सहज बोधगम्य कथाओ के माध्यम से कठिन विषयो के उपदेश करने की परम्परा वृहदारण्यकोपनिषद् मे यत्र-तत्र मिलती है। याज्ञवल्क्य-मैत्रेयी-सवाद इसका सुन्दर उदाहरण है। एक समय याज्ञवल्क्य ने मैत्रेयी से कहा कि मै दूसरे आश्रम मे (गार्हस्थ्य से संन्यास मे) जाना चाहता हूँ। अत तुमको कात्यायनी से अलग कर देना चाहता हूँ। इसके उत्तर मे मैत्रेयी ने कहा—कि भगवन् धन से पूर्ण सम्पूर्ण पृथ्वी यदि मुझे प्राप्त हो जाय तो क्या मुझे अमरत्व की प्राप्ति हो सकती है ?[2] याज्ञवल्क्य ने कहा - नही। अनेक भोग सामग्रियो के रहने पर जैसा जीवन व्यतीत होता है, वैसा ही जीवन तुम्हारा भी व्यतीत होगा। अमरत्व की प्राप्ति धन के द्वारा नही हो सकती।[3] इस विषय मे अनेक उदाहरण प्रस्तुत कर आत्मज्ञान को समझाया गया। उपनिषदो मे मकरी, वृषभ आदि की अनेक गाथायें कठिन विषयो की उपलब्धि के लिए कही गयी है।

कथाओ के माध्यम से उपदेश की परम्परा ब्राह्मण ग्रंथो मे भी पायी जाती है। उदाहरण के लिए ऐतरेय ब्राह्मण के तैंतीसवें अध्याय मे वर्णित हरिश्चन्द्रो-

---

१ 'यथैव खल्वय मगवोऽस्मिञ्छरीरे साध्वलङ्कृते साध्वलङ्कृतो भवति सुवसने सुवसन परिष्कृते परिष्कृत एवमेवायमस्मिन्नन्धेऽन्धो भवति स्रामे स्राम परिवृक्णे परिवृक्णोऽस्येव शरीरस्य नाशमन्वेष नश्यति नाहमत्र भोग्य पश्यामीति।"

—छान्दो० ८।६।२

२ 'यन्नु, म इय भगो सर्वा पृथिवो वित्तेन पूर्णा स्यात् कथ तेनामृता स्याम्।"

—बृहदा० २।४।२

३ "नेति यथैवोपकरणवता जीवित तथैव ते जीवित स्यादमृतत्वस्य तु नाऽशास्ति वित्तेनेति।"—बृहदा० २।४।२

पाख्यान को लिया जा सकता है। पुत्र एवं भ्रमण के महत्त्व को प्रतिपादित करने मे यह कहानी कही गयी है। इक्ष्वाकुवंश मे उत्पन्न हरिश्चन्द्र नामक एक राजर्षि थे। एक दिन पर्वत एवं नारद नामक दो महर्षि इनके यहाँ उपस्थित हुए। सन्तान सुख से वंचित राजा हरिश्चन्द्र ने नारद से पुत्र के महत्त्व के विषय मे प्रश्न किया—"ज्ञानी और अज्ञानी सभी पुत्र की कामना करते है, आखिर इस पुत्र मे क्या रखा है।"[1] इस पर नारद ने दश गाथाओ (श्लोको) के द्वारा पुत्र के महत्त्व का वर्णन किया। पृथ्वी, अग्नि और जल से अधिक सुखद या उपकारी कोई भी क्या हो सकता है, किन्तु पुत्र का महत्त्व इनसे भी अधिक उन्होने बताया—

"यावन्त. पृथिव्या भोगा यावन्तो जातवेदसि।
यावन्तो अप्सु प्राणिना भूयान्पुत्रे पितुस्तत ॥"[2]

अनन्तर राजा के जिज्ञासा करने पर उन्होने पुत्रप्राप्ति के लिए बताया कि तुम वरुण की प्रार्थना करो कि मुझे पुत्र हो जाय तो मै उससे आपका यज्ञ करूँ। राजा के वैसा ही करने पर वरुण ने प्रसन्न होकर कहा—तुम्हे पुत्र का मुख तो देखने को मिलेगा, किन्तु जन्म लेते ही उसे तुम्हे मुझे बलिरूप मे दे देना होगा। राजा ने यह शर्त मान ली, क्योकि "अपुत्रस्य गतिर्नास्ति' वाली बात थी। कुछ समय के उपरान्त उसे रोहित नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। तब वरुण ने उपस्थित होकर कहा—"अब तुम्हे पुत्र उत्पन्न हो गया है, इससे मेरा यज्ञ करो।"[3] राजा ने कहा—जब पशु दश दिनो का हो जाता है, तभी वह यज्ञ के योग्य होता है, क्योकि गर्भ के मल को दूर होने मे इतने दिन लगते हैं। कहा भी गया है—

अजा गावो महिष्यश्च ब्राह्मणी च प्रसूतिका।
दशरात्रेण शुध्यन्ति • ॥

अत उसे दश दिनो का होने दीजिये, तब उससे आपका यज्ञ करूँगा। ऐसा ही हो कह कर वरुणदेव उस समय तो चले गये। पर दश दिनो के बाद पुन आ पहुँचे। तब राजा ने पशु के दाँत उगने का बहाना बनाया। अनन्तर वरुणदेव से राजा ने क्रमश पशु के दाँत गिरने, उसके फिर उगने और क्षत्रिय के अपनी रक्षा के लिए योग्य होने का बहाना बनाया। तब वरुण-देव एक दिन अचानक आ गये। उस दिन राजा कोई बहाना नही बना सका। पुत्र को बुला कर उसने अपनी समस्या बतलाई। बलि दिये जाने की बात सुनते ही रोहित तुरत धनुष लेकर वहाँ से जंगल की ओर भाग गया। उसके भाग जाने पर हरिश्चन्द्र को ही वरुणदेव ने

---

१ "य न्विमं पुत्रमिच्छन्ति ये विजानन्ति ये च न।
किं स्वित्पुत्रेण विन्दते तन्म आचक्ष्व नारद ॥इति॥
—हरिश्चन्द्रो० अ० ३३।१

२. हरिश्चन्द्रो०—अ० ३३।१।२

३ "अजनि वै ते पुत्रो, यजस्व माऽनेनेति"—हरिश्चन्द्रो० ३३।१।

पकडा। उसे जलोदर[१] रोग हो गया। रोहित ने कुछ दिनो के बाद जब यह सुना तो घर लौट आने का विचार किया, किन्तु इन्द्र ने मनुष्य का रूप धारण कर उसे भ्रमण करने का ही उपदेश दिया। "चरेवेति" का अमूल्य उपदेश उसके हृदय मे बैठ गया इसका प्रभाव वर्ष भर रहा। पुन दूमरे, तीसरे, चौथे, पाँचवे एव छठे वर्ष भी इन्द्र ने उसे भ्रमण का उपदेश दिया। इस प्रकार कुल ६ वर्षो तक वह वन मे भ्रमण करता रहा। भ्रमणशील व्यक्ति का भाग्य भी भ्रमण करता रहता है।[२] रोहित के भाग्य मे भी इस भ्रमण से परिवर्तन आया। भ्रमण क्रम मे वन मे उसने सौयवसि अजीगर्त्त नामक एक भूखे ब्राह्मण परिवार को पाया जिसके तीन पुत्र थे – शुन पुच्छ, शुन शेप और शुनो लागूल। उनमे से शुन शेप को रोहित ने वलि देने के लिए दम्पति को एक सौ गाये देकर खरीद लिया और घर लौटा। छ वर्षो से जलोदर रोग से पीडित पिता समाचार जान कर परम प्रसन्न हुए एवं तुरत वरुणदेव से वलि लेने के लिए उसने निवेदन किया। वरुण ने राजसूय यज्ञ करने तथा उसमे अभिषेक के दिन पुरुष-पशु को वलिदान करने का आदेश दिया। उनके आदेशानुसार यथासमय राजसूय यज्ञ की तैयारी हुई। अभिषेक के दिन वलि-पशु को स्वीकार करने के बाद खूँटे मे बाँधने के लिए कोई तैयार नही हुआ। तब लोभासक्त अजीगर्त ही पुन सौ गायो के दिये जाने पर उस निन्दनीय कर्म के लिए तैयार हुआ। बाँधने के बाद मारने के लिए भी कोई तैयार नही हुआ। पुन एक सौ गायो के लोभ पर अजीगर्त अपने-पुत्र को अपने ही हाथो से बध करने के लिए भी तैयार हो गया। सच है—"लोभ पापस्य कारणम्।' तलवार की धार तेज करते हुए निकट आते अपने पिता को देख कर शुन शेप से रहा न गया और अधीर होकर वह देवताओ की शरण मे गया। क्रमश प्रजापति, अग्नि, सविता, वरुण पुन अग्नि, विश्वेदेव, इन्द्र, अश्विनो आदि की प्रार्थना करने के उपरान्त उसने तीन ऋचाओ से उषा की स्तुति की ओर अन्तिम ऋचा के उच्चारण होते ही एक ओर शुन शेप मुक्त हो गया तथा दूसरी ओर हरिश्चन्द्र नीरोग हो गया। शुन शेप के इस प्रभाव को देख पुरोहितो ने उसे ही उस यज्ञ का अध्यक्ष बना यज्ञ सम्पन्न कराया तथा यज्ञ-समाप्ति के बाद विश्वामित्र ने उसे अपना पुत्र वनाया।

१ जलोदर रोग का लक्षण आयुर्वेद मे इस प्रकार है—

"य स्नेहपीतोऽप्यनुवासितोऽपि वान्तो निरक्तोऽप्यथवा निरूढ ।
पिबेज्जल शीतलमाशु तस्य स्रोतासि दुष्यन्ति हि तद्वहानि ॥
स्नेहोपलिप्तेष्वथवापि तेषूदकोदर पूर्ववदभ्युपैति ।
स्निग्ध महत्तत्परिवृत्तनाभि समानतं पूर्णमिवाम्बुना च ॥
यथा दृति क्षुम्यति कम्पने च शब्दायते चाप्युदकोदरं तत् ।"

—शब्दकल्पद्रुम, पृ० २६२

२ "आस्ते भग आसीनस्योर्ध्वंस्तिष्ठति तिष्ठत ।
शेते निपद्यमानस्य चराति चरतो भग ॥

—ऐतरेयब्राह्मण ३३।१।३

इस तरह के अनेकानेक उपाख्यानो के द्वारा ब्राह्मणग्रंथो मे उपदेशपूर्ण एवं दार्शनिक तत्त्वो की व्याख्या हुई है।

भारतीय साहित्यिक धारा मे सुदूर पूर्वकाल से ही कठिन विषयो की अवगति के लिए कथाओ एवं उदाहरणो का आश्रयण होता आ रहा है, यह पूर्व पृष्ठो से स्पष्ट होता है। महाभारत एवं रामायण मे आध्यात्मिक तथा राजनैतिक तत्वो को सहज सुवोध रीति से बुद्धिगम्य करने के लिए अनेक पशु-पक्षियो की कथाओ का आश्रयण किया गया है। उदाहरणार्थ महाभारत शान्तिपर्व के एक सौ तिरपनवें अध्याय की एक कथा यहाँ उद्धृत की जाती है।

किसी ब्राह्मण का शिशु अकाल कालकवलित हो गया था। उस शिशु को लेकर उसके बन्धुवर्ग श्मशानघाट पर उपस्थित होते हैं। बालक के पूर्व-भाषणो का स्मरण कर वे लोग अत्यधिक व्यथित हो जाते हैं और पृथ्वी पर उस बालक को निक्षिप्त कर लौट जाने मे समर्थ नही होते है। उन लोगो के करुण-क्रन्दन को सुन गृध्र उपस्थित होता है और उस बालक को छोड कर जाने के प्रसंग मे अनेक प्रकार से उपदेश देता है। वह कहता है—हजारो पुरुष, हजारो स्त्रियाँ काल द्वारा ग्रसित होकर यहाँ आयी और बन्धुवर्ग उनको छोड कर चले गये। यह संसार सुख दु.ख से परिपूर्ण है। संयोग और वियोग यहाँ आता ही रहता है। अत इस भयंकर, कंकालपूर्ण गृध्र और गोमायु से युक्त श्मसान मे रहने की आवश्यकता नही है। प्रिय हो या अप्रिय कोई भी काल के आ जाने पर जीवित नही रह सकता है। यह मर्त्यलोक है। अत सबों को एक दिन जाना है। यमराज के द्वारा निहत व्यक्ति को कौन जिला सकता हे ?[1] अनन्तर गोमायु अनेक प्रकार के मृदु भाषणो से उन लोगो को भास्कर के स्थितिकाल तक रुकने के लिए कहता है। इस संसार मे किस मुहर्त मे क्या होगा, यह कौन जानता है। संभव है कोई ऐसा भी मुहूर्त आ जाय

---

१ "अल स्थित्वा श्मशानेऽस्मिन् गृध्रगोमायुसकुले।
कङ्कालबहुले रौद्रे सर्वप्राणिभयकरे ॥
न पुनर्जीवित कश्चित् कालधममुपागत।
प्रियो वा यदि वा द्वेष्य प्राणिना गतिरीदृशी ॥
सर्वेण खलु मर्त्तव्य मर्त्यलोके प्रसूयता।
कृतान्तविहिते मार्गे मृत को जीवयिष्यति ॥
कर्मान्तविरते लोके अस्त गच्छति भास्करे।
गम्यतां स्वमधिष्ठान सुतस्नेह विसृज्य वै ॥"

—म० भा० शा० प० १५३।११-१४

जिसमें यह बालक जीवित हो जाय।[1] तत्पश्चात् गृध्र बहुत सुन्दर उपदेश देकर शीघ्र ही लौट जाने के लिए बाध्य करता है। इन लोगो के परस्पर कथनो से अनेक प्रकार की शिक्षाओ की प्राप्ति होती है।

पञ्चतंत्र जीवजन्तुओ की कथाओ का एक अभूतपूर्व सग्रह है। भारतीय सस्कृति के अनुसार जीवन को उदात्त और उन्नत बनाने के लिए अपेक्षित सभी सामग्रियाँ इसमे उपलब्ध होती है। इस ग्रंथ मे राजनीति के प्राथमिक ज्ञान के लिए अनेक कठिन शास्त्रो से विषयो का संग्रह कर उन सामग्रियो को सन्निहित किया गया है, जिनके आधार पर मानव चरित्र उन्नत हो सकता है। मनुष्य सदाचार से परिपूत जीवन बिता सकता है तथा जीवन के चरम प्रयोजन की उपलब्धि कर सकता है। इसके अनुरूप आचरण करने से मानवता का पूर्ण विकास सभव है। साथ ही मर्यादित जीवन व्यतीत करने के लिए अर्थशास्त्र, धर्मशास्त्र एव आन्विक्षिकी आदि विद्याओ के सभी गुणो का निर्देश इसमे किया गया है। ससार मे सहजीवन व्यतीत करने अर्थात् जीवलोक मे सामाजिक तथा लोकतान्त्रिक जीवन व्यतीत करने के लिए किस नीति का अवलम्बन और कैसा आचार अपेक्षित है, इसकी सहज सुबोध शिक्षा यदि कही उपलब्ध होती है तो पचतत्र मे ही होती है। अनेक पशुओ के उपाख्यानो का अवलम्बन कर विरुद्ध दिशाओ की ओर चलने वाले पशुओ का सहवास, यहाँ तक कि भक्ष्य और भक्षक की सहस्थिति का भी सुन्दर और सजीव चित्र इन शब्दराशियो मे अंकित हुआ है। इसका साक्षी विश्व-साहित्य मे अनेकानेक भाषाओ मे अनूदित यह ग्रंथ ही वर्तमान है। इसकी आचार-शिक्षा एवं सहज सुबोध शैली से आकृष्ट होकर ही ससार के मनीषियो ने इसे अपना बनाने का प्रयास किया और लोगो को सहजनीति का उपदेश देकर कैसे विरुद्ध प्राणियो की सह-स्थिति संभव होती है, इस उदाहरण से सामाजिक जीवन व्यतीत करने के लिए प्रेरणा प्रदान की। इसे किसी भी रूप मे अस्वीकार नही किया जा सकता कि सासारिक जीव एक दूसरे का भक्ष्य है। सृष्टि का कण-कण सृजन के साथ ही किसी की भक्ष्य-सामग्री बन जाती है, किन्तु सृष्टि का कभी भी विलोप तो नही होता है। पंचतंत्रकार ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि विज्ञान-कोष से

१ "आदित्योऽय स्थितो मूढा स्नेह कुरुत मा भयम् ।
बहुरूपो मुहूर्त्तश्च जीवेदपि कदाचन ॥
भूयो भूमौ विनिक्षिप्य पुत्रस्नेहविनाकृता ।
श्मशाने सुतमुत्सृज्य कस्माद् गच्छत निर्घृणा ॥
न वोऽस्त्यस्मिन् सुते स्नेहो बाले मधुरभाषिणि ।
यस्य भाषितमात्रेण प्रसादमधिगच्छत ॥
ते पश्यत सुतस्नेहो यादृशः पशुपक्षिणाम् ।
न तेषा धारयित्वा तान् कश्चिदस्ति फलागम ॥"

—म० भा० शा० प० १५३।१६-२२

पूर्ण प्राणी की तो बात ही क्या, जिनमे विज्ञान का पूर्ण विकास नही हुआ है, वह भी कतिपय नीतियो के आधार पर एकत्र रखे जा सकते है। सामाजिक एवं राजनैतिक व्यवस्थित जीवन व्यतीत करने के लिए पंचतंत्र की कथाये चिरकाल तक सक्षम बनी रहेगी।

बौद्धदर्शन मे अपने दार्शनिक सिद्धान्तो को सामान्यजनो तक पहुँचाने के लिए अनेक मार्गो का अवलम्बन किया गया है। उन लोगो ने उसी भाषा को उपदेश का माध्यम बनाया, जिसके द्वारा उनके सिद्धान्त जन-मानस का विषय बन सके। यही कारण था कि उनके सिद्धान्त बहुधा पालि भाषा मे ही उपनिबद्ध हुए। शैली की दृष्टि से उन लोगो ने शास्त्रीय शैली को अपने सिद्धान्त विश्लेषण का माध्यम नही बनाया, वरन् उस काव्य शैली को अपनाया जिसमे सरल ढंग से विषयो की अवगति हो सके। भाषा की सरलता, छन्दो की हृदयग्राहकता तथा सामान्य पशु और प्रसिद्ध पौराणिक व्यक्तियो का कथानक के रूप मे अवलम्बन यहाँ मिलता है। सामान्यतया ये सभी वैशिष्ट्य राजनीति और सदाचार के उन्नायक पचतत्र मे उपलब्ध होते है। यहाँ कवि ने न तो कादम्बरी के सघन अलङ्कारो से बोझिल तथा कठिन पदावलियो एवं निरन्तर श्लेषो से युक्त गद्यो को अपनी भावाभिव्यक्ति का माध्यम बनाया है और न भारवि एव भवभूति की तरह कठिन पद्यो को ही अपनी विषयाभिव्यक्ति के लिए अवलम्बन किया है। यही कारण है कि अनेक भाषाओ मे अनुवादो की उपलब्धि होने पर भी इस सरल सुबोध ग्रंथ की अर्थावगति के लिए किसी टीका की आवश्यकता आज तक किसी ने नही समझी। कवि ने अपनी विषयाभिव्यक्ति के लिए प्रसादगुणगुम्फित छोटे-छोटे गद्यो को ही अपने काव्य मे उपनिबद्ध किया है। परिणामत भाषा एवं शब्द की ओर दृष्टि निक्षिप्त करने की अपेक्षा अर्थ की ओर ही पाठको की दृष्टि केन्द्रित हुई और पंचतंत्र के रचयिता मे उत्थित भावो का अवलम्बन करने वाले कोमलकान्त पदावलियो के द्वारा पाठक के मनोमुकुर मे वे भाव सदा के लिए एक अमिट छाप देकर स्थिर हो गये। साथ ही कवि ने उन विषयो की सुदृढता के लिए ऐसे उदाहरणो को अपनाया जिनकी फलश्रुति सदाचार के आचरण की ओर दृढप्रतिज्ञ होने के लिए वाध्य किया।

पचतंत्र एक ऐसा काव्य है जिसकी मधुर छाया मे कुछ क्षणो तक अवस्थित होने से मनुष्य सभी अनुचित आचरण-जन्यश्रम से शून्य हो एक नवीन चेतना, नवीन दृष्टि से प्रभावित हो ऐसे कर्तव्य-पथ का पथिक हो जाता है जिस पथ पर पग-पग पर विकसित पुष्पो की मन्द-गन्ध से सरस तथा मन्द-मलयानिल से आन्दोलित होता हुआ स्निग्ध आर्यजनोचित कर्तव्य-कल्पतरु की छाया मे बढ़ता हुआ वह एक दिन उस शान्ति की प्राप्ति कर लेता है जिसके लिए देव-दानव सभी लालायित रहते है और अपने मर्त्यलोक के आगमन को भी सर्वथा सार्थक कर लेता है। इसमे कवि कर्तव्य-पथ पर आरूढ होने के लिए अनेक मनीषियो द्वारा रचित नीतिशास्त्र के सारो को संगृहीत कर तथा हृदयावर्जक पशु-पक्षी की कथाओ द्वारा उन्हे सयोजित

कर एक सुन्दर मार्ग पर चलने का निर्देश प्रदान करता है। उस मार्ग पर चलने से मनुष्य लौकिक एवं पारलौकिक दोनो सफलताओ को प्राप्त करता हुआ जीवन सार्थक कर लेता है। न उसे वेदान्त की कठोर चपेटिका को वहन करना पडता है और न उसके कठोर सिद्धान्तो के पालन के लिए अनेक कठिन ग्रंथो के अध्ययन की ओर प्रवृत्त ही होना पडता है। वह कर्तव्य-सिद्धान्तो को वेद, धर्मशास्त्र, पुराणादि के अध्ययन के बिना ही समझ लेता है। आचार्यो ने जो काव्य के फलो के निर्देश क्रम मे—"यशसे अर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये"[१] एवं धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष मे विचक्षणता[२] आदि जिन फलो का वर्णन किया है, वस्तुत उन फलो की ओर अभिनिवेश इन काव्यो के अध्ययन से सहसा ही हो जाता है।" रामादिवत् प्रवर्तव्य न रावणादिवत्" यह जो काव्य के फल की श्रुति आलङ्कारिको ने दी है, वह एकान्तत इसी ग्रथ के अध्ययन से सार्थक होती है। बौद्धकवियो ने भी जातकादि-ग्रथो मे इसी शैली को अपनाया है। जातकमाला तो इसका एक ज्वलन्त उदाहरण है।

जातकमाला बुद्ध की कीर्त्ति-गाथाओ एवं अनवद्य चरित्रो का एक मनोहर संकलन है। आर्यशूर ने कोमलकान्त पदावलियो मे गाथाओ की कुसुमाजलि विश्व के समक्ष उपस्थित करने का एक सफल प्रयास किया है। सुबन्धु और बाणभट्ट की कठोर एवं समस्त पदावलियाँ यहाँ नही मिलती है। यह एक सरल संस्कृतनिष्ठ प्रसादगुणगुम्फित मनोहर काव्य है। कान्तासम्मित उपदेश के रूप मे हृदय को आह्लादित करती हुई, सुन्दर मार्ग पर चलने की शिक्षा देना इसका प्रधान उद्देश्य है। सुन्दर अभिधा वृत्ति के द्वारा अर्थ को प्रतिपादित करनेवाले शब्दो की योजना इसमे सुन्दर ढंग से हुई है। कवि ने वैदर्भी रीति का अधिक आश्रयण तथा प्रसाद गुण का सर्वाधिक ग्रहण इसमे किया है। कवि ने ग्रंथ के उपक्रम मे ही अपने काव्य के प्रतिपाद्य विषय के सम्बन्ध मे कहा है कि स्तुत्य मार्ग के चिह्न स्वरूप कर्मो से बोधिमार्ग का उपदेश एव सभी व्यक्तियो को प्रसन्नतापूर्वक धर्मकथाओ की अवगति इसका उद्देश्य है।[३] आगे उन्होने कहा है कि मैं लोक-कल्याण के उद्देश्य से परम्परा

---

१ "काव्य यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।
सद्य परनिर्वृत्तये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे॥"
—का० प्र० १।२

२ "धर्मार्थकाममोक्षेषु वैचक्षण्य कलासु च।
करोति कीर्त्तिं प्रीतिञ्च साधुकाव्यनिषेवणम्॥"
—भामह० १।२

३ "श्लाघ्यैरमीभिरभिलक्षितचिह्नभूतै-
रादेशितो भवति यत्सुगतत्वमार्ग।
स्यादेव रूक्षमनसामपि च प्रसादो
धर्म्या कथाश्च रमणीयतरत्वमीयु'॥
—जातक०—२॥

और शस्त्रसम्मत पद्धति के अनुसार लोकोत्तम बुद्ध के उत्तम चरित्रो का वर्णन करने का प्रयत्न कर रहा हूँ और इस कार्य के द्वारा अपनी काव्य-प्रतिभा को श्रुतिप्रिय बनाने का यत्न करूँगा।[1] बुद्ध के चरित्र की महत्ता इस काव्य के लेखन से अणुमात्र भी वृद्धि नही प्राप्त करेगी, किन्तु इतना सत्य है कि सदाचरण के अनुकरण की ओर प्रवृत्त कराने मे यह ग्रंथ अवश्य सहायक होगा। कवि ने छोटे-छोटे गद्यो एव सरल श्लोको के द्वारा सच्चरित्र की गाथाओ की माला समुपस्थित करने का प्रयास किया है। आरम्भ से ही सहज क्रियाओ का प्रयोग एवं छोटे-छोटे वाक्य बरबस अर्थों की परिचिति के लिए अपनी ओर आकृष्ट कर लेते है। इनकेग्रथ को देख कर जयदेव की वे पंक्तियाँ बरबस स्मृति-पथ पर आ जाती है .—

"यदि हरिस्मरणे सरस मनो
यदि विलासकलासु कुतूहलम्।
मधुरकोमलकान्तपदावलि
शृणु तदा जयदेवसरस्वतीम्॥"[2]

जातकमाला मे भी वही स्थिति है। इन्होने बुद्ध के संस्मरणो को सरस कोमलकान्त पदो मे हम लोगो के सम्मुख उपस्थित करने का प्रयास किया है। इसमे उन्हे पूरी सफलता भी मिली है। इतनी सरस, एवं सरल शैली अन्यत्र सुदुर्लभ है। अश्वघोष एवं कालिदास की प्रतिभा से ही ऐसे सरस एवं कोमल पद्य निःसृत हुए है। शूर के वे पद्य यहाँ द्रष्टव्य है जो उन्होने उन सन्तानो के मुख से कहलाये है, जिनके पिता ने असाधारण उदारतावश उन्हे दान कर दिया है तथा निर्दयतापूर्वक ब्राह्मण उन्हे खीच कर ले जा रहा है। पुत्री कृष्णाजिना कहती है —

"अय मा ब्राह्मणस्तात लतया हन्ति निर्दय।
न चाय ब्राह्मणो व्यक्त धार्मिका ब्राह्मणा. किल॥
यक्षोऽय ब्राह्मणच्छद्मा नूनं हरति खादितुम्।
नीयमानौ पिशाचेन तात किं नावुपेक्षसे॥"[3]

अनन्तर पुत्र जाली सरल किन्तु करुण शब्दो मे जो कहता है वह है —

"नैवेदं मे तथा दुःख यदय हन्ति मा द्विज।
नापश्यमम्बा यत्वद्य तद्विदारयतीव माम्॥

---

१ "लोकार्थमित्यभिसमीक्ष्य करिष्यतेऽयं
श्रुत्यार्षयुक्त्यविगुणेन पथा प्रयत्न।
लोकोत्तमस्य चरितातिशयप्रदेशै.
स्व प्रातिभ गमयितु श्रुतिवल्लभत्वम्॥"
—जातकमाला म० ३

२ गीतगोविन्द—३

३ जातक०—९।६५-६६

रोदिष्यति चिरं नूनमम्बा शून्ये तपोवने।
पुत्रशोकेन कृपणा हतशावेव चातकी॥
अस्मदर्थे समाहृत्य वनान्मूलफलं बहु।
भविष्यति कथं न्वम्बा दृष्ट्वा शून्यं तपोवनम्॥
इमे नावश्वकास्तात हस्तिका रथकाश्च ये।
अतोऽर्द्धं देयमम्बायै शोकं तेन विनेष्यति॥
वन्द्यास्मद्वचनादम्बा वार्या शोकाच्च सर्वथा।
दुर्लभं हि पुनस्तात तव तस्याश्च दर्शनम्॥
एहि कृष्णे मरिष्याव को न्वर्थो जीवितेन नौ।
दत्तावावां नरेन्द्रेण ब्राह्मणाय धनैषिणे॥"[1]

अधिक प्रयाससापेक्ष विषयों मे भी आर्यशूर इसी प्रकार प्रसादयुक्त है जैसे न्यायप्रिय राजा के शासन के वर्णन मे—

"समप्रभावा स्वजने जने च
धर्मानुगा तस्य हि दण्डनीतिः।
अधर्म्यमावृत्य जनस्य मार्गं
सोपानमालेव दिवो बभूव॥"[2]

जातकमाला पर प्रभाव डालनेवाली शैलियो मे शिलालेख साहित्य का उल्लेख न करना असंगत है। यद्यपि संस्कृत का प्रथम शिलालेख ७९ ई० मे उत्कीर्ण मथुरा का लेख है किन्तु उसका शैलीगत महत्त्व नही है। इसके अनन्तर गिरिनगर के शकवंशीय क्षत्रप रुद्रदामन् (१५० ई०) का शिलालेख आता है, जिसका संस्कृत साहित्य मे पर्याप्त महत्त्व अंकित किया गया है। सम्पूर्ण लेख गद्य मे होने के कारण तात्कालिक गद्य शैली के विकास का अध्ययन करने के लिए इसका महत्त्व बहुत अधिक है। शब्दयोजना, वाक्य-विन्यास, समासप्रयोग, अलङ्कारप्रयोग इत्यादि की दृष्टि से रुद्रदामन् का यह शिलालेख आर्यशूर की शैली का मानो अग्रदूत है। इनके निम्नलिखित कतिपय वाक्यखडो का उदाहरण अनपेक्षित न होगा—

(१) "सर्वक्षत्राविष्कृतवीरशब्दजातोत्सेकाविधेयाना यौधेयानाम्'

(२) "कनकरजतवज्रवैडूर्यरत्नोपचयविष्यन्दमानकोशेन "

(३) "शब्दार्थगान्धर्वन्यायाद्याना विद्याना महतीना पारणधारणविज्ञानप्रयोगावाप्त विपुलकीर्त्तिना (रुद्रदाम्ना)"[3]

---

१ जातक ९।६७-७२

२ जातक० १३।२

३ उत्कीर्णलेखाञ्जलि पृ० ९-११

इन पंक्तियो की छाप हम जातकमाला मे स्पष्ट देख सकते है, जहाँ बोधिसत्त्व के आरम्भिक वर्णनो मे ऐसी ही शैली एवं भावो का भी प्रयोग हुआ है।[1] इससे अनुमान होता है कि १०० ई० के निकट संस्कृत भाषा मे अलकृत गद्यलेखन की प्रणाली आ गयी थी, यद्यपि अभी कोमल कान्तपदावली तथा अलंकारो का मसृण-विन्यास आने मे शताब्दियो की देर थी। तात्पर्य यह कि गद्य की रुक्षता अभी भी यथापूर्व विद्यमान थी।

शिलालेख का दूसरा उदाहरण हमे समुद्रगुप्त का प्रयागस्तम्भलेख के रूप मे मिलता है, जो जातकमाला की गद्यपद्यात्मक शैली का समुचित अग्रदूत माना जा सकता है। समुद्रगुप्त के जीवनवृत्त सम्बन्धी तथ्यो के आधार पर कुल ८२ श्लोको तथा यथेष्ट गद्य से युक्त यह शिलालेख अलङ्करण का आदर्श है। इसके श्लोको की प्रसादपूर्ण शैली जातकमाला के श्लोको की शैली से बहुत कुछ मिलती है। समुद्रगुप्त के युवराजपद पाने का इतिवृत्त विशुद्ध गद्यात्मक रूप मे श्लोकबद्ध किया गया है—

आर्यो हीत्युपगुह्य भावपिशुनैरुत्कर्णितै रोमभि
सभ्येषूच्छ्वसितेषु तुल्यकुलजम्लानाननोद्वीक्षित.।
स्नेहव्याकुलितेन बाष्पगुरुणा तत्त्वेक्षिणा चक्षुषा
य. पित्राभिहितो निरीक्ष्य निखिला पाह्येवमुर्वीमिति ॥[2]

प्रस्तुत श्लोक मे अनेक तथ्यो से परिपूर्ण एक संसृष्ट वाक्य की रचना की गई है, जो लेखक हरिषेण की प्रतिभा का परिचायक है। आर्यशूर मे ऐसे श्लोक प्रचुर संख्या मे मिलते हैं, किन्तु वाक्य की संसृष्टता उतनी अधिक नही। उदाहरण के लिए—

दानं नाम महानिधानमनुग चौराद्यसाधारण
दान मत्सरलोभदोषरजस प्रक्षालन चेतस·।
ससाराध्वपरिश्रमापनयनं दान सुख वाहन
दानं नैकसुखोपधानसुमुख सन्मित्रमात्यन्तिकम् ॥[3]

वाक्यो की सरलता की पृष्ठभूमि मे व्यक्ति और विषय की सरलता काम करती है। इसलिए आर्यशूर पर अक्षमता का दोष नही लगाया जा सकता। अन्यथा गद्य के

---

१ (क) "चाधिगतविपुलधनसमृद्धिरविषमव्यवहारशीलत्वाल्लोके बहुमाननिकेतनभूत उदाराभिजनवाननेकविद्याकलाविकल्पाधिगमविमलतरमतिर्गुणमाहात्म्यात् •
—जातक० ४।१ के पहले का गद्य

(ख) अथ बोधिसत्त्वो नैकशतसहस्रसंख्य मणिकनकरजतपरिपूर्णकोश विविधधन-धान्यनिचयवन्ति कोशकोष्ठागाराणि दासीदासयानवाहनवसनपरिच्छदादि च सर्वमर्थिभ्यो यथार्हमतिसृज्य ··· "—जातक ६।४३ के बाद का गद्य

२ समुद्रगुप्त का प्रयागस्तम्भलेख श्लोकसख्या ४

३ जातक० ३।२१

उदाहरणो मे जब हम आर्यशूर की असाधारण वाक्यविन्यास शक्ति देखते है, तो हरिषेण का गद्य महत्त्वपूर्ण नही लगता। यह दूसरी बात है कि हरिषेण ने अपने शिलालेख मे समुद्रगुप्त द्वारा पराजित राजाओ की सूची देने मे बहुत लम्बे समस्तपद का प्रयोग किया है।[1]

दशपुर शिलालेख के पद्यो का स्पष्ट प्रभाव जातकमाला के पद्यो मे परिलक्षित होता है।

च–त्पताकान्यबलासनाथान्यत्यर्थशुक्लान्यधिकोन्नतानि।
तडिल्लताचित्रसिताभ्रकूटतुल्योपमानानि गृहाणि यत्र ॥[2]

जातकमाला के अधोलिखित श्लोक पर इसका प्रभाव है—

निर्जनान्यनुपमुक्तसरित्तृणानि नानाविहङ्गविरुतानि मृगाकुलानि।
वैडूर्यकुट्टिमनोहरशाद्वलानि क्रीडावनाधिकसुखानि तपोवनानि ॥[3]

जातकमाला की शैली बौद्धेतर साहित्य से तो प्रभावित है ही, यदि हम ध्यान से देखे तो बौद्ध संस्कृत साहित्य का प्रभाव भी इस पर कम नही है। महायान बौद्धधर्म के नो धर्मों[4] मे जो अष्टसाहसिकाप्रज्ञापारमिता, गण्डव्यूहसूत्र इत्यादि

---

१ P E A–P 28
कौसलकमहेन्द्रमाहाकान्तारकव्याघ्रराजकैरलकमण्डराजपैष्टपुरकमहेन्द्रगिरिकौट्टूरकस्वामिदत्तैरण्डपल्लकदमनकाञ्चेयकविष्णुगोपावमुक्तकनीलराजवैगेयकहस्तिवर्मपालक्क-कोग्रसेनदेवराष्टककुबेरकौस्थलपुरकधनञ्जयप्रभृतिसर्वदक्षिणापथराजग्रहणमोक्षानुग्रहजनितप्रतापोन्मिश्रमहाभाग्यस्य, रुद्रदेवमतिलनागदत्तचन्द्रवर्मगजपतिनागनागसेनाच्युतनन्दिबलवमद्यनेकार्यावर्तराजप्रसभोद्धरणोद्वृत्तप्रभावमहत ।

२. दशपुर शिलालेख स० ५२९ श्लो० ०

३ जातक० ९।३३

४ नवधर्मा —
१. ललितविस्तर
२ समाधिराजसूत्रम्
३ लंकावतारसूत्रम्
४ अष्टसाहस्रिका (प्रज्ञापारमिता)
५ गणडव्यूहसूत्रम्
६ सद्धर्मपुण्डरीकसूत्रम्
७ दशभूमिकसूत्रम्
८ सुवर्णप्रभाससूत्रम्
९ तथागतगुह्यकम्
—पृ० ३४५ ललित

आते है, इनका प्रभाव जातकमाला की शैली पर बहुत अधिक है, इनमे ललितविस्तर की गद्यपद्यमयीशैली की तुलना जातकमाला के कई अंशो से की जा सकती है। यह ध्यातव्य है कि ललितविस्तर में भी यद्यपि बुद्ध का जीवनचरित धर्मचक्रप्रवर्तनपर्यन्त चम्पूशैली मे निबद्ध है किन्तु प्रथम पाच परिवर्त्तो मे उनके जन्म के पूर्व की कथा भी वर्णित है। बोधिसत्त्व की कल्पना से प्रत्येक परिवर्त्त ग्रन्थित है। ललितविस्तर के सभी परिवर्त्त भिक्षुओ को सम्बोधित है तथा बुद्ध को भी बोधिसत्त्व के रूप मे स्थापित करके परिवत्तो का आरम्भ किया गया है। हमे स्थान-स्थान पर "इतिभिक्षव बोधिसत्वेन" इत्यादि शब्द मिलते हैं। इस प्रसग मे वह भी ज्ञातव्य है कि ललितविस्तर की भाषा विशुद्ध संस्कृत नही है। न तो इसमे अश्वघोष के काव्यग्रन्थो के समान पाणिनीय व्याकरण का अनुसरण दिखलाई पडता है और न जातकमाला के समान ही परम्परित बौद्धेतर संस्कृत रचनाशैली के दर्शन होते है। इसकी भाषा संकरसस्कृत (Hybrid Sanskrit) कहलाती है, तथा ऐसे बहुत कम स्थल है जहाँ पालि भाषा के प्रभाव से संस्कृत के विकृतरूप दृष्टिगोचर होते है।

ललितविस्तर भी गद्यपद्यात्मक चम्पूशैली मे निबद्ध संस्कृतग्रन्थ है और जातकमाला की भी यही स्थिति है। ललितविस्तर मे जहाँ प्रदर्शन की भावना बहुत अधिक है, जातकमाला इससे सर्वथा शून्य है। यदि हम ललितविस्तर के द्वितीय समुत्साह परिवर्त्त के आरम्भ मे स्थित प्राय' दो पृष्ठो के लम्बे वाक्य[1] का अवलोकन करें, तो ज्ञात होगा कि बाणभट्ट की कादम्बरी की शैली की पूर्वकल्पना बहुत पहले ही हो चुकी थी, यद्यपि इस शैली मे बाण के विपरीत इतिवृत्तात्मक रूप मात्र रख कर शब्दो का केवल संग्रह किया गया था। कोई काव्यचमत्कृति इसमे नही मिलती, फिर भी कुछ शब्दो का चयन बहुत अलङ्करण प्रधान है, जैसे—

"गम्भीरवीर्यसलिलाभिषिक्तस्य उपायकौशलकर्णिकस्य बोध्यङ्गध्यानकेशरस्य समाधिकिञ्जल्कस्य गुणगणविमलसरसिसुजातस्य विगतमदमानपरिवाहशशिविमलविस्तीर्णपत्रस्य (बोधिसत्त्वस्य)"[2]

दूसरी ओर ललितविस्तर मे पालिवाङ्मय मे बहुधा प्राप्त "**परियायो**" का निवेश करने मे भी संकोच नही किया गया है। उदाहरण के लिए कुलपरिशुद्धिपरिवर्त्त नामक तीसरे परिवर्त्त मे एक लम्बा उद्धरण देखा जा सकता है[3] जिसमे प्रत्येक का अन्त "**तत्कुलम् भवति**" से होता है। इस सन्दर्भ मे चौसठ आकारो या रूपो से किसी के कुल की सम्पन्नता बतलायी गयी है, जिसमे चरमभविक (अंतिमजन्य) बोधिसत्त्व का जन्म हो सकता है। इस तरह के उदाहरण ललितविस्तर मे

---

१ द्रष्टव्य ललित० पृ० ७-८

२. ललित० पृ० ७

३ ललित, पृ० १६-१९।

कई स्थानो पर मिलते है। उक्त परिवर्त मे ही जो ललित गद्य मे शुद्धोदन की पत्नी माया देवी का वर्णन किया गया है, वह शीलसौन्दर्य से परिपूर्ण है—

"नवतरुणी रूपयौवनसम्पन्ना अप्रसूता अपगतपुत्रदुहितृका दर्शनीया देवकन्येव सर्वालङ्कारभूषिता अपगतमातृग्रामदोषा सत्यवादिनी ... कोकिलस्वरा ... समसंहतशिर कर्णनासा भ्रमरवरसदृशकेशी ... स्मितमुखी ... श्लक्ष्णमधुरवचना ... ... मृदुतरुणहस्तपादा ... चारुदशना ... ... गजभुजसमसमाहितसदृशोरू ऐणेयमृगसदृशजङ्घा ."[1]

गद्य और पद्य मे शैली का पार्थक्य स्पष्ट है। ललितविस्तर के पद्य गद्य की अपेक्षा अधिक अपाणिनीय है। गद्य की अपेक्षा पद्य प्राचीन है, यह कुछ लोगो का कहना है।[2] विशेष रूप से इसकी शैली और पाणिनीय व्याकरण के प्रति उनके दृष्टिकोण के आधार पर ऐसा कहा जा सकता है। ललितविस्तर का समय प्राय: दूसरी शताब्दी ई० है।[3] इससे जातकमाला पर इसका स्पष्ट प्रभाव पडना सम्भव है। यह विशेष रूप से कहा जा सकता है कि आर्यशूर ने ललितविस्तर के गद्य का तो अधिकाधिक अनुकरण किया है, किन्तु इसके पद्यो मे जो पालि वाङ्मय की छाप है, तथा सस्कृत के अशुद्ध प्रयोग है, उनकी प्रतिक्रिया मे आर्यशूर ने जातकमाला मे अपने मौलिक श्लोक लिख कर यह दिखलाया है कि पालि की गाथाओ को किस प्रकार सफलतापूर्वक संस्कृत मे उतारा जा सकता है।

जातकमाला के लेखक ने ललितविस्तर का अनुकरण करते हुए भी अपनी गद्यशैली को कही भी प्रदर्शन का विषय नही बनाया है। सर्वत्र एक समान अल्पसमासयुक्त गद्य की धारा बहती रही है। ललितविस्तर मे जहाँ बाण के समान शब्दचित्र खीचने का प्रयास हुआ है,[4] जातकमाला मे ऐसे स्थल नही है। गद्य केवल कथा का विस्तार करता है। शब्दो का संग्रह करने की प्रवृत्ति जो ललितविस्तर के गद्य मे दिखलाई पडती है, उसकी अनुकृति जातकमाला की इन पंक्तियो मे स्पष्ट देखी जा सकती है—

"बोधिसत्त्व किल सालबकुलपियालहिन्तालतमालनक्तमालविदुलनिचुलक्षुपबहुले शिंशपातिनिशशमीपलाशशाककुशवशशरवणगहने कदम्बसर्जार्जुनधवखदिरकुटजनिचिते विविधवल्लीप्रतानावगुण्ठितबहुतरुविटपे रुरुपृषतसृमरचमरगजगवयमहिषहरिणन्यङ्कुवराहद्वीपितरक्षुव्याघ्रवृकसिंहर्क्षादिमृगविचरिते मनुष्यसम्पातविरहिते महत्यरण्यवनप्रदेशे ।"[5]

१ ललित०, पृ० १८

२. ललित० P. IX—"It is suggested by some scholars that portions in verse constitute older stratum, while prose portions are added later"

3 ललित० P XII—"It must have been in existence in the first or second century A D, the age of the composition or Compilation of the Mahayanasutras in general."

४. ललित० पृ० १४६

५ जातक० २६।१ के पहले का गद्याश

इस पूरे सन्दर्भ मे अरण्य का वर्णन करते हुए जीव-जन्तुओ तथा पेड-पौधो के नाम गिनाने मे ही आर्यशूर कृतकृत्य मालूम पडते है ।

संवादों का निरूपण करते हुए आर्यशूर एकाध स्थानो पर समासरहित शैली का भले ही प्रयोग करते है, किन्तु ललितविस्तर की वह सरलता नही छू सकते, जिसमे "इह ते बाला बध्यन्ते कपय इव लेपेन"[1] जैसे वाक्य कहे गए है। कुल मिला कर इनकी विशुद्धोक्ति अक्षुण्ण रह जाती है । इस प्रकार गद्य के विषय मे आर्यशूर की शैली मे हम निम्नलिखित तथ्य पाते है—

१—ललितविस्तर जैसे ग्रन्थो से इनकी गद्यशैली प्रभावित है, किन्तु क्लिष्ट और सरल इन दोनो विपरीत शैलियो का मिश्रण कर इन्होने एक मध्यम मार्गीय शैली आविष्कृत की है ।

२—इनके गद्य मे मुख्यत कथावस्तु का इतिवृत्तात्मक रूप आगे बढता है । धर्मोपदेश या चिन्तन नही होता । तात्पर्य यह है कि गद्य मे आर्यशूर स्वय बोलते है ।

३—इनका गद्य सर्वत्र एकरूप है, कही भी आरोह-अवरोह की शैली नही है।

४—किसी भी कथाश मे साहित्यिक या रसमय वातावरण आने पर ये उनकी सर्वथा उपेक्षा नही करते । प्रचलित प्रणाली तथा शब्दावली मे उसका चित्र खीचते है ।

जहाँ तक आर्यशूर की पद्यशैली का प्रश्न है, इसका विषय गद्य से भिन्न है । पद्यो मे जातकमाला के पात्रो का चिन्तन, भाषण, धर्मोपदेश इत्यादि मिलते है । आर्यशूर इन पद्यो मे स्वयं प्रत्यक्षत नही उतरते । उनका तथ्य-कथ्य पात्रो के माध्यम से होता है । इस विषय वस्तु की पृष्ठभूमि मे पद्यो की शैली विचारणीय है । आर्यशूर के पूर्व अश्वघोष की शैली बौद्ध-संस्कृत साहित्य मे अत्यधिक प्रचलित रही होगी । इनकी प्रसन्न शैली का प्रभाव जातकमाला की रचना पर भी अवश्य पडा होगा। दूसरी ओर ललितविस्तर मे जो पालिवाङ्मय की गाथाओ को संस्कृत मे रखने की पद्धति पायी जाती है, उससे भी आर्यशूर पर उद्वेगमूलक प्रभाव पडा होगा। कदाचित् उन्होने इसीलिए संस्कृत की स्वाभाविक शैली मे (न कि पालि की छाया छूते हुए) उन गाथाओ को मौलिकरूप से नवजीवन देकर लिखने का प्रयास किया होगा । इसमे दो मत नही हो सकते कि उन्हे पर्याप्त सफलता मिली है तथा सस्कृत नीति-कथाओ के श्लोको के समान जातकमाला के पद्यो मे भी नैसर्गिक प्रवाह प्राप्त होता है। न तो कही छन्दोभग है और न कही अपाणिनीय प्रयोग। भाषा की स्वच्छता तथा रमणीयता तो अश्वघोष से भी कही अधिक है । निम्नलिखित श्लोक मे भाषा का नैसर्गिक प्रवाह होने के साथ-साथ समुचित उपमा का प्रयोग आर्यशूर की स्वाभाविक शैली का अच्छा आदर्श प्रस्तुत करता है :—

---

१. ललित० पृ० १४६ प० २४

"पाप समाचरति वीतघृणे जघन्य
प्राप्यापद सघृण एव तु मध्यबुद्धि.।
प्राणात्ययेऽपि तु न साधुजन स्ववृत्ति
वेला समुद्र इव लङ्घयितु समर्थं ।[1]"

इस प्रसंग मे ललितविस्तर के छन्दोभंग स्मरणीय है। केवल लय पर आश्रित छन्द का यह उदाहरण प्रस्तुत है जो द्रुतविलम्बित छन्द मे निबद्ध है, किन्तु छन्द की रक्षा प्रथम दो चरणो मे नही हो सकी है—

"अतिमोहतमावृत दुर्मति कामगुणैर्निगुणैगुणसञ्जिन ।
विहगपञ्जरमध्यगता यथा न हि लभन्ति कदाचि विनि सृतिम् ।।[2]

इसमे "कदाचित्" का "कदाचि" तथा "लभन्ते" का "लभन्ति" निश्चितरूप से पालिप्रभाव है। किन्तु इस प्रकार के प्रयोग जातकमाला मे कही भी नही है। यदि यह मालूम न हो कि जातकमाला पालिजातक पर आश्रित है, तो कहा भी नही जा सकता कि यह मौलिक नही है। इन पद्यो मे भी कई स्थलो पर लालित्यपूर्ण तथा सौन्दर्यवर्णन के तथ्य प्राप्त होते है, जैसे—

"कनकगिरिशिलाविशालवक्षा·
शरदमलेन्दुमनोज्ञवक्त्रशोभः।
कनकपरिघपीनलम्बबाहु-
र्वृषभनिभेक्षणविक्रमो नरेन्द्र ।।"[3]

(सुवर्णपर्वत की शिला के समान विशाल वक्षस्थल वाला, शरद ऋतु के विमलचन्द्र के समान मुखवाला, सुवर्णदण्ड के समान मोटी और लम्बी भुजाओ वाला, साँढ़ की-सी दृष्टि और पराक्रमवाला, हमारा राजा है)।

"ततश्चकम्पे सधराधरा धरा
व्यतीत्य वेला प्रससार सागर.।
प्रसक्तगम्भीरमनोज्ञनि·स्वना.
प्रसस्वनुर्दुन्दुभयो दिवौकसाम् ।।"[4]

(उस समय पर्वतो सहित पृथ्वी काँपी, सागर अपने तीर का अतिक्रमण कर आगे बढ़ा और लगातार गम्भीर एवं मनोरम ध्वनि करती हुई देव दुन्दुभियाँ बजी)।

इस प्रकार इनके पद्यभाग मे विषयवस्तु के अनुरूप भाषा-प्रवाह, प्रसाद-गुण, एवं सौम्यशैली का रूप मिलता है। इन पद्यो मे वाल्मीकि की चित्रात्मकता,

१ जातक० ११।१८
२ ललित० पृ० १४६-१५।२७
३ जातक० ८।११
४ जातक० २।३८

भास की सरलता तथापि चतन्त्र का प्रवाह भी समवेत है। इनकी भाषा मे वैसे सामान्यतया पालि वाङ्मय का प्रभाव बहुत अधिक नही है, किन्तु अपेक्षित शास्त्रीय शब्दावली का प्रयोग करने से ये विमुख नही रहे है। इसीलिए विनय-विषयक अनेक शब्द कथाओ के आरम्भ और अन्त मे आए है, जैसे—

रत्नत्रय[1], गुणप्रतिपत्ति[2], प्रज्ञापरिग्रह[3], पोषध[4], इत्यादि। इसी प्रकार उत्साह, मन्त्र, प्रसाद इन तीन शक्तियो का भी उल्लेख एक स्थान पर किया है।[5] कतिपय अप्रचलित शब्दो का भी प्रयोग जातकमाला मे प्राप्त होता है—प्रक्ष्वेडित[6], खट्वङ्कता[7], कुहनी[8], शीभर[9], कुचेल[10], जातिस्मर[11], तिनिश[12], प्रत्येकबुद्ध[13], हालहलम्[14], शौटीर्यम्[15], इत्यादि।

जातकमाला की भाषा कादम्बरी और पचतंत्र के बीच की है। पंचतंत्र से इसका अधिक साम्य है। जातकमाला गद्य-पद्य मिश्रित संस्कृत मे है। गद्य से कथा का आरम्भ कर पद्य मे इसका विस्तार हुआ है। कभी एक और कभी बहुत-से पद्यो से मिश्रित गद्य मे लिखी हुई इनकी कथाओ के स्वरूप का ऐतिहासिक महत्व है। इस शैली के प्रयोग मे इन्होने कुमारलात एवं अन्य पूर्ववर्त्ती लेखको का अनुकरण किया है। कही-कही जातकमाला के गद्य के वाक्य बडे-बडे है और उनमे लम्बे समासो का प्रयोग भी हुआ है, किन्तु सर्वत्र अर्थ स्पष्ट है और सरलता वर्तमान है। जैसे।

"अथ तस्य राज्ञः क्रमात्वरूढ़नयनव्रणस्यावगीतप्रतनूभूतान्त पुरपौरजानपदशोकस्य प्रविवेककामत्वादुद्यानपुष्करिण्यास्तीरे कुसुमभरावनतरुचिरतरुवरनिचिते मृदुसुरभिशिशिरसुख-पवने मधुकरगणोपकूजिते पर्यङ्केण निषण्णस्य शक्रो देवेन्द्र. पुरस्तात्प्रादुरभवत्।"[16]

---

१. जातक० १।४ के बाद का गद्य
२. वही १।४ के बाद का गद्य
३. वही १।४
४. वही ६।५
५ वही २।१ के पहले का गद्य
६ वही ८।६ के बाद का गद्य
७. वही १।३६
८ वही १।१०
९. वही २२।८२
१० वही १८।६, २२
११ वही २९।८
१२ वही २६।१ के पहले का गद्य
१३ वही ७।३९ के पहले का गद्य
१४ वही ३१।६७
१५ वही २।३२ के बाद का गद्य
१६. वही २।३१ के बाद का गद्य

जातकमाला एक कलाकार की कृति है। इसकी शैली उदात्त, ओजस्वी और अलंकृत है। आर्यशूर ने इसमे विविध छन्दो का सफल प्रयोग किया है जिसका दिग्दर्शन पंचम अध्याय मे प्रस्तुत है। इसकी भाषा मे यत्र-तत्र पालि का प्रभाव दिखाई पडता है, किन्तु इससे भाषा की शुद्धता मे कोई अन्तर नही पडता है। इसकी भाषा पाणिनीय व्याकरण की अनुगामिनी है।



पञ्चम अध्याय

जातकमाला और संस्कृत-आलोचना के सिद्धान्त

इस अध्याय मे जातकमाला का संक्षिप्त विवेचन कर संस्कृत आलोचना के उपादान-भूत रस, रीति, गुण तथा अलङ्कारो के अनुसार इसका साहित्यिक मूल्याकन करना अभीष्ट है। काव्य-साहित्य विभिन्न दुरूह विषयो (जैसे धर्म मीमासा आदि) को जनसाधारण के हृदय तक सरलतम रीति से पहुँचाने मे समर्थ है।[१] अतएव धर्मप्रचारक मनीषियो ने अत्यन्त प्राचीनकाल से ही अपने धर्म के प्रचार-प्रसार के लिए काव्य की सहायता ली है। उनमे अश्वघोष एवं आर्यशूर ने बौद्ध-धर्म के तत्त्वों को काव्य द्वारा जन-मानस तक पहुँचाने का सुन्दर प्रयास किया है।

आर्यशूर की दिगन्तविश्रुत कीर्त्ति का महास्तम्भ इनका एकमात्र ग्रंथ जातक-माला है, जिसमे सुन्दर परिष्कृत काव्य-शैली का प्रयोग तथा भव्य संस्कृत साहित्यिक भाषा का संगुम्फन हुआ है। इसमे चौतीस जातक हैं, जिनके आधार पर भगवान् बुद्ध को "चतुस्त्रिंशज्जातकज्ञ" (चतुस्त्रिंशत् जातकानि व्याघ्रीप्रभृतीनि जानातीति स) कहा गया है .—

"बुद्धस्तु सुगतो धर्मधातुस्त्रिकालविज्जिनः।
बोधिसत्त्वो महाबोधिरार्य. शास्ता तथागत ॥
पञ्चज्ञान षडभिज्ञो दशार्हो दशभूमिग.।
चतुस्त्रिंशज्जातकज्ञो दशपारमिताधर.॥"[२]

ये जातक पालि-जातको के आधार पर तथा प्राचीन बौद्ध अनुश्रुति पर अवलम्बित है। बौद्ध-देशना के प्रचार की भव्य-भावना ने ही प्रधान रूप से आर्यशूर की वाणी को काव्यमय बनाने का सौभाग्य प्रदान किया। अपने उद्देश्य का प्रतिपादन करते हुए ग्रन्थ के प्रारम्भ मे उन्होने कहा है—

"स्यादेव रूक्षमनसामपि च प्रसादो
धर्म्या. कथाश्च रमणीयतरत्वमीयुः।"[३]

---

१ तुल०—(क) धर्मार्थकाममोक्षेषु वैचक्षण्य कलासु च।
करोति कीर्त्ति प्रीतिं च साधुकाव्यनिबन्धनम् ॥ भामह० १।२
(ख) चतुर्वर्गफलप्राप्ति सुखादल्पधियामपि।
काव्यादेव यतस्तेन तत्स्वरूप निगद्यते ॥—सा० द० १।२

२ अभिधान०—२।१४६-४७

३ जातक० — मं० २

अर्थात् इससे रूक्ष जन-मानस को भी प्रसन्नता होगी और धार्मिक कथाएँ अधिक रमणीय होंगी।

बौद्ध-कथाओं को काव्यात्मक तथा रोचक शैली में जातकमाला में उपनिबद्ध कर कवि ने अपने उद्देश्य में पूर्ण सफलता प्राप्त की है। पालि-जातक बौद्ध-कथाओं का विशाल भाण्डागार है। उस भाण्डागार से चुनी हुई उपदेशमयी कथाओं को रत्न रूप से संग्रह कर आर्यशूर ने संस्कृत में इस प्रकार की गद्य-पद्यात्मक रचना की है, जो पालि जातकों का अनुवाद न होकर एक सर्वविद्वन्मान्य स्वतंत्र ग्रन्थ हो गया है। इनकी "जातकमाला" एक आख्यानग्रन्थ है, जिसका उद्देश्य सरलतम भाषा, सहज शैली तथा उपदेशात्मक चरितोपन्यास के द्वारा अधिक से अधिक पाठकों को आकृष्ट करना है। इस अवस्था में उसकी साहित्यिक विशेषताओं के अन्वेषण में अधिक उपलब्धि की संभावना बहुत कम है। इसलिए परवर्त्ती साहित्यिक आचार्यों ने आर्यशूर को विशुद्धोक्ति के लिए ही स्मरण किया है—

"सुबन्धौ भक्तिर्नः क इह रघुकारे न रमते
धृतिर्दाक्षीपुत्रे हरति हरिचन्द्रोऽपि हृदयम्।
विशुद्धोक्तिः शूरः प्रकृतिमधुरा भारविगिर-
स्तथाप्यन्तर्मोदं कमपि भवभूतिर्वितनुते॥"[1]

विशुद्धोक्ति शब्द से उनका तात्पर्य अनलंकृत तथा अकृत्रिम भाषा से ही रहा है। यहाँ "शुद्धि" से व्याकरण की शुद्धि-मात्र विवक्षित नहीं है; क्योंकि वह तो भाषा का जीवन ही है। उसके बिना भाषा भाषा ही नहीं हो सकती। ऐसी स्थिति में विशेष रूप से रस, रीति, गुण, अलंकार—इन चार साहित्यिक तत्त्वों पर आर्यशूर ने विशेष ध्यान न दिया हो, यह स्वाभाविक है। आर्यशूर की शैली से यह स्पष्ट है कि उन्होंने जान-बूझ कर भाषा को अनलंकृत रखा है। "जातकमाला" लिखते समय उनका ध्यान साधारण पाठकों पर था, जिनका आवर्जन सरलतम भाषा के द्वारा ही संभव था। इसमें वर्णन की प्रधानता है; फिर भी सरल सुबोध शैली में सरसता की कमी नहीं है।

"रसो वै सः", "रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति", इन श्रुतियों से स्पष्ट होता है कि काव्य में रसानुभूति होने पर ही सहृदय पाठकजन लोकोत्तर आह्लाद से चमत्कृत हो सकते हैं। रसानुभूति की प्रक्रिया में आलम्बन एवं उद्दीपन विभावों को उसका बाह्य कारण तथा स्थायी भाव को आन्तरिक एवं मुख्य कारण माना गया है। स्थायी भाव मन के भीतर स्थिर रूप से रहनेवाला वासनात्मक संस्कार है, जो स्वानुकूल आलम्बन एवं उद्दीपन स्वरूप उद्बोधक साधनों को प्राप्त कर

१: (क) सदुक्ति०—५।२६।५
(ख) सुभाषित०—१६६६

अभिव्यक्त हो जाया करता है। स्थायी भाव की अभिव्यक्ति होने पर सहृदय पाठको के हृदय मे लोकोत्तर आह्लाद की अनुभूति होने लगती है। अत भरत के अनुयायी रस-सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक अभिनवगुप्त आदि आचार्यो ने स्थायी भाव की अभिव्यक्ति को ही रसास्वादन मे प्रधान समझ कर "रस" शब्द से व्यवहृत किया है। इसी आशय को आचार्य मम्मट प्रकट करते है—

"कारणान्यथ कार्याणि सहकारीणि यानि च।
रत्यादे. स्थायिनो लोके तानि चेन्नाट्यकाव्ययोः॥
विभावा अनुभावास्तत् कथ्यन्ते व्यभिचारिण।
व्यक्तः स तैर्विभावाद्यै. स्थायी भावो रस स्मृतः।"[1]

इन कारिकाओ से स्पष्ट किया है। व्यवहारदशा मे सहृदय पाठको को जिस प्रकार की अनुभूतियाँ होती है, उन्ही को ध्यान मे रखकर रस-सम्प्रदाय के आचार्यो ने स्थायी भाव की गणना करते हुए इसके नव भेद कहे हैं। शृङ्गार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, बीभत्स, अद्भुत और शान्त—इन नवविध रसो के क्रमश रति, हास, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, जुगुप्सा, विस्मय और निर्वेद स्थायी भाव होते है।

जिस "रस" शब्द से शृङ्गार आदि नव रसो का ग्रहण होता है, उससे "रस्यते इति रस" इस व्युत्पत्ति के द्वारा भाव का भी ग्रहण होता है।[2]

भाव की परिभाषा करते हुए आचार्यो ने कहा है—

"रतिर्देवादिविषया व्यभिचारी तथाञ्जितः। भाव प्रोक्त"[3]

अर्थात् देव, मुनि, गुरु, नृप, पुत्र, शिष्य आदि के विषय मे उत्पन्न होनेवाली रति (प्रीति) और प्रधानतया प्रकटीकृत अथवा व्यक्त व्यभिचारी को भाव कहते है। जैसे—

"शैलेन्द्रप्रतिपाद्यमानगिरिजाहस्तोपगूढोल्लस-
द्रोमाञ्चादिविसस्थुलाखिलविधिव्यासङ्गभङ्गाकुल।
आः शैत्य तुहिनाचलस्य करयोरित्यूचिवान् सस्मित
शैलान्त पुरमातृमण्डलगणैर्दृष्टोऽवताद्व शिवः॥"[4]

(हिमाचल के कन्यादान के समय पार्वती के कर-स्पर्श से रोमाञ्चादि सात्त्विक विकारो के उदय होने पर विधिभंग से व्याकुल होकर बात छिपाने के लिए, "अहो

---

१. का० प्र०—४।२७-२८

२. सा० द०—१।३—"रस्यते इति रसः" इति व्युत्पत्तियोगाद्भावतदाभासादयोऽपि गृह्यन्ते।"

३ का० प्र०—४।३५

४. सा० द०—१०।६२ मे उद्धृत

हिमाचल के हाथो मे बडी ठण्ड है", यह कहते हुए और उसी समय हिमालय के अन्त पुर मे स्थित मातृमण्डल से स्मितपूर्वक देखे गये शिवजी तुम्हारी रक्षा करें।)

विवाह के समय शिवजी ने जब पार्वती का हाथ पकडा तो सात्त्विक भाव—रोमाञ्च और कम्प का आविर्भाव हुआ। इससे उस समय की पूजन आदि विधि मे कुछ गडबडी हुई। इससे व्याकुल होकर शिवजी ने असली बात छिपाने के लिये ठण्ड का बहाना किया। उधर अन्त पुर मे बैठी हुई देवमातायें—जो यह जानती थी कि इस रोमाञ्च और कम्प का कारण शीताधिक्य नही, कुछ और ही है—शिवजी के—"आः शैत्यम्"—इस बहाने को सुनकर इनकी ओर कुछ मुस्करा कर देखने लगी।

इस श्लोक मे श्रृङ्गार रस की पूरी सामग्री वर्त्तमान है, तथापि रसात्मकता नही है। वह कविनिष्ठ शिवविषयक भाव का ही पोषक है। ऐसे स्थल मे श्रृंगारादि रस प्रधान नही हो पाने के कारण रस-सज्ञा नही प्राप्त कर सकते है।

जातकमाला मे भाव ही प्रधान है। इस ग्रन्थ मे भगवान् बुद्ध के प्रति जो कवि के हृदय मे रति वर्तमान है, वही भाव रस-स्थानीय है। ऐसी स्थिति मे अन्यान्य रसो की कल्पना करना अनुचित है। कथाविशेष मे, वर्णनक्रम मे, जो श्रृंगारादिरस आपातत. प्रतीत होते हैं, उन्हे विश्रान्तिधाम न होने के कारण रस नही कहा जा सकता है। वे तो भाव के पोषकमात्र होते है। जैसे—

"स्वार्थोद्यतैरपि परार्थचरस्य यस्य
नैवान्वगम्यत गुणप्रतिपत्तिशोभा।
सर्वज्ञ इत्यवितथाक्षरदीप्तकीर्ति
मूर्ध्ना नमे तमसमं सहधर्मसघम्॥"[1]

(स्वार्थ मे तत्पर रहनेवाले लोग जिन लोकोपकारी के सुन्दर सदाचरण का अनुकरण न कर सके तथा "सर्वज्ञ" इस सार्थक शब्द से जिनकी कीर्ति प्रज्वलित है, धर्म और संघ के साथ उस अनुपम मुनि के आगे सिर नवाता हूँ।)

इस श्लोक मे भगवान् बुद्ध के प्रति रति का वर्णन है। भाव का दूसरा उदाहरण निम्नलिखित श्लोक हो सकता है—

"अल्पेच्छभावात्कुहनानभिज्ञ-
स्त्यक्तस्पृहो लाभयशःसुखेषु।
स देवतानामपि मानसानि
प्रसादभक्तिप्रवणानि चक्रे॥"[2]

---

१. जातक० १।४।

२. जातक० १।१०

इसी प्रकार—

'अनेन नाथेन सनाथता गत
न शोचितव्य खलु साम्प्रतं जगत् ।
पराजयाशङ्कितजातसम्भ्रमो
ध्रुव विनिश्वासपरोऽद्य मन्मथ. ।।"[1]

इस प्रकार के अनेकानेक श्लोक इसके उदाहरण हो सकते है । जातकमाला मे जितनी कथायें है, उनमे कही शृंगार, कही दानवीर, कही भयानक रस प्रतीत होते है, परन्तु उन सबो का तात्पर्य कविनिष्ठ बुद्धविषयक भाव के पोषण मे ही विश्रान्त होता है । अत उन्हे रस न मानकर खण्ड-रस मानना ही शास्त्रानुमोदित होगा ।

रीति

कवि अपनी रुचि तथा स्वभाव के अनुसार अपने हृदय के भावो को प्रकट करता है । कोई साधारण अर्थ के प्रतिपादन के लिए असाधारण शब्दो का प्रयोग करता है, तो कोई विशिष्ट अर्थो को प्रकट करने के लिए सामान्य शब्दो का ही व्यवहार करता है । अपने मनोगत भावो को अभिव्यक्त करने के लिए प्रत्येक लेखक एवं कवि एक विशिष्ट मार्ग का अवलम्बन किया करता है । इसी विशिष्ट लेखन-प्रकार को शैली या रीति कहते है । दण्डी तथा भामह ने इसे ही "मार्ग" शब्द से अभिहित किया है । प्रत्येक लेखक एवं कवि की अपनी विशिष्ट शैली या रीति होती है, जिसका प्रयोग वह अपने लेखो मे करता है । इसलिए कवि की संख्या के अनुपात मे रीतियाँ भी है । दण्डी ने इसी कारण कहा है कि रीतियाँ अनन्त है तथा इनका परस्पर भेद भी बहुत ही सूक्ष्म होता है,[2] जिसका सम्यक् प्रतिपादन कठिन है । अतएव आचार्यो ने रीति के स्वरूप तथा प्रकार का सामान्य विवेचन ही प्रस्तुत किया है ।

भोजराज ने "रीति" शब्द की निरुक्ति गमनार्थक "री" धातु से मानी है[3]—**रीणन्ति गच्छन्त्यस्या गुणा इति, रीयते क्षरत्यस्या वाङ्मधुधारेति वा रीति.** । अत. "रीति" शब्द "मार्ग" शब्द का ही पर्याप्त है । आचार्य वामन "विशेष प्रकार की पदरचना" को रीति कहते है और "विशेष" का अर्थ गुणस्थिति करते है ।[4]

रीतियाँ मुख्यत. तीन प्रकार की होती है—वैदर्भी, गौडी और पाञ्चाली ।[5]

---

१. जातक० १।३७ ।

२ "अस्त्यनेको गिरा मार्ग सूक्ष्मभेद परस्परम् ।"—काव्यादर्श १।४०

३ "वैदर्भादिकृत: पन्था: काव्ये मार्ग इति स्मृत ।
रीङ् गताविति धातो सा व्युत्पत्त्या रीतिरुच्यते ।"—सरस्वतीकण्ठाभरण २।५१

४ 'विशिष्टा पदरचना रीति ", "विशेषो गुणात्मा"—का० सू० वृ० १।२।७-८

५. "सा त्रिधा वैदर्भी, गौडीया पाञ्चाली चेति ।।'—का० सू० वृ० १।२।९

काव्य-दोषो से सर्वथा रहित, समग्र गुणो से समन्वित तथा वीणा के स्वर के समान श्रवणसुभगा रीति वैदर्भी कहलाती है —

"अस्पृष्टा दोषमात्राभि· समग्रगुणगुम्फिता ।
विपञ्चीस्वरसौभाग्या वैदर्भी रीतिरिष्यते ॥"[1]

इसकी प्रशंसा मे कहा गया है—

"सति वक्तरि सत्यर्थे सति शब्दानुशासने ।
अस्ति तन्न विना येन परिस्रवति वाङ्मधु ॥"[2]

अर्थात् सुकवि वक्ता, सुवर्ण्य अर्थ और शब्दशास्त्र पर अधिकार रहने पर भी जिसके विना कवि-वाणी से मधु का क्षरण नही होता है, वही वैदर्भी रीति है। उदाहरण—

"गाहन्ता महिषा निपानसलिलं शृङ्गैर्मुहुस्ताडित
छायाबद्धकदम्बकं मृगकुल रोमन्थमभ्यस्यतु ।
विस्रब्ध कुरुता वराहवितितिर्मुस्ताक्षति पल्वले
विश्रान्ति लभतामिद च शिथिलज्याबन्धमस्मद्धनु. ।"[3]

समासबहुल, अत्यन्त उग्र पदो से युक्त तथा ओज एवं कान्ति गुणो से समन्वित रीति को गौडी रीति कहते है —

"समस्तात्युद्भटपदामोज कान्तिगुणान्विताम् ।
गौडीयामिति गायन्ति रीतिं रीतिविचक्षणाः ॥"[4]

जैसे—

"दोर्दण्डाञ्चितचन्द्रशेखरधनुर्दण्डावभङ्गोद्यत-
ष्टकारध्वनिरार्यबालचरितप्रस्तावनाडिण्डिमः ।
द्राक्पर्यस्तकपालसंपुटमितब्रह्माण्डभाण्डोदर-
भ्राम्यत्पिण्डितचण्डिमा कथमहो नाऽद्यापि विश्राम्यति ॥"[5]

गाढत्वहीन एवं असमासबहुल तथा मधुर एवं सुकुमार पदो से युक्त रीति पाञ्चाली कहलाती है—

"अश्लिष्टश्लथभावां ता पूरणच्छायया श्रिताम् ।
मधुरा सुकुमारा च पाञ्चालीं कवयो विदुः ॥"[6]

---

१. "का० स० वृ० १।२।११ वृत्ति
२. का० सू० वृ० १।२।११ वृ०
३ अभिज्ञानशाकुन्तलम्—२।६
४ का० सू० वृ०—१।२।१२
५. महावीरचरितम् १।५४
६..का० सू० वृ० १।२।१३ वृ०

जैसे—

"ग्रामेऽस्मिन् पथिकाय नैव वसति पान्थाऽधुना दीयते
रात्रावत्र विहारमण्डपतले पान्थ. प्रसुप्तो युवा ।
तेनोत्थाय खलेन गर्जति घने स्मृत्वा प्रिया तत् कृत
येनाद्यापि करकदण्डपतनाशकी जनस्तिष्ठति ॥"[1]

दण्डी तथा वामन ने वैदर्भी रीति को सर्वाधिक महत्त्व दिया और कहा कि उक्त तीनो रीतियो मे वैदर्भी ही ग्राह्य है शेष दो नही । क्योकि वैदर्भी मे सभी गुण मिलते है शेष दो मे कम —

"तासा पूर्वा ग्राह्या गुणसाकल्यात् । न पुनरितरे, स्तोकगुणत्वात् ॥"[2]

वह वैदर्भी भी यदि समासरहित हो तो शुद्ध या उत्कृष्ट वैदर्भी कहलाती है .—

"साऽपि समासाभावे शुद्धवैदर्भी ॥"[3]

इस प्रकार की शुद्ध वैदर्भी मे अर्थगुण सम्पत्ति आस्वादयोग्य होती है । इतना ही नही, इसके सहारे अर्थ का लेश (सामान्य अर्थ) मात्र भी आस्वाद योग्य होता है ।[4] जैसा कि कहा भी गया है—

"किन्त्वस्ति काचिदपरैव पदानुपूर्वी
यस्या न किञ्चिदपि किञ्चिदिवावभाति ।
आनन्दयत्यथ च कर्णपथ प्रयाता
चेत सताममृतवृष्टिरिव प्रविष्टा ॥"[5]

अर्थात् वह वैदर्भी रीति कोई विलक्षण ही पदरचना है जिसमे असत् विषय भी असत् की तरह नही प्रतीत होता है । सहृदयो के कर्णगोचर होकर वह वैदर्भी इस तरह चित्त को आनन्दित करती है, मानो अमृत की वर्षा होती हो ।

"वचसि यमधिगम्य स्पन्दते वाचकश्री-
वितथमवितथत्व यत्र वस्तु प्रयाति ।
उदयति हि स तादृक् क्वापि वैदर्भरीतौ
सहृदयहृदयाना रञ्जकः कोऽपि पाक ॥"[6]

---

१. शार्ङ्गधरपद्धति० श्लोक संख्या ३८३९
२. का० सू० वृ० १।२।-१४, १५
३ का० सू० बृ० १।२।१६
४ तस्यामर्थगुसम्पदास्वाद्या । तदुपारोहादर्थगुणलेशोऽपि
—का० सू० बृ० १।२।२०, २१
५. का० सू० वृ० १।२।२१ वृ०
६. का० सू० वृ० १।२।२१ वृ०

अर्थात् काव्यरूप वाक्य मे जिस वैदर्भी रीति को प्राप्त कर शब्द-सौन्दर्य स्पन्दित होने लगता है, नीरस पदार्थ भी सरस हो जाता है, सहृदय-हृदयो को आनन्दित करनेवाला कोई ऐसा शब्दपाक उस वैदर्भी रीति मे उदित हो जाता है जो सहृदयाह्लादकारक बन जाता है।

जातकमाला मे वैदर्भी रीति का ही पोषण किया गया है। समस्त पदो का इसमे अल्पमात्रा मे ही प्रयोग हुआ है, वह भी अनिवार्य होने पर ही। अत गौडी आदि रीतियाँ यहाँ अपना स्थान नही बना सकी है। इसकी रचना-शैली प्रसाद-गुणगुम्फित है। कथानक के मार्मिक स्थानों का सुबोध शैली मे प्रकाशन इसकी विशिष्टता है। उदाहरणार्थ, विश्वन्तर जातक मे राजकुमार विश्वन्तर की पत्नी वन-गमन के समय तपोवन-सौन्दर्य का जो वर्णन करती है, वह बहुत ही सरस एव सरल होकर आर्यशूर की लेखनी से प्रवाहित होता है :—

"निर्दुर्जनान्यनुपभुक्तसरित्तरूणि
नानाविहगविरुतानि मृगाकुलानि।
वैडूर्यकुट्टिममनोहरशाद्वलानि
क्रीडावनाधिकसुखानि तपोवनानि॥

अपि च देव,

अलंकृताविमौ पश्यन्कुमारौ मालभारिणौ।
क्रीडन्तौ वनगुल्मेषु न राज्यस्य स्मरिष्यसि॥
ऋतुप्रयत्नरचिता वनशोभा नवा नवा:।
वने त्वा रमयिष्यन्ति सरित्कुञ्जाश्च सोदका॥
चित्र विरुतवादित्र पक्षिणा रतिकाङ्क्षिणाम्।
मदाचार्योपदिष्टानि नृत्तानि च शिखण्डिनाम्॥
माधुर्यनिवगीत च गीत मधुपयोषिताम्।
वनेषु कृतसगीतं हर्षयिष्यति ते मन॥
आस्तीर्यमाणानि च शर्वरीषु
ज्योत्स्नादुकूलेन शिलातलानि।
सवाहमानो वनमारुतश्च
लब्धाधिवास. कुसुमद्रुमेभ्यः॥
चलोपलप्रस्खलितोदकाना
कला विरावाश्च सरिद्वधूनाम्।
विभूषणानामिव सनिनादाः
प्रमोदयिष्यन्ति वने मनस्ते॥"[1]

---

1. जातक० ६।३३-३६।

इस सरस सुन्दर तपोवन-वर्णन मे मयूरो का मनोरम नृत्य, मधुकरियो का मधुर संगीत, कुसुमवृक्षो के परिमल से सुगंधित पवन एवं नदियो की कोमल कल-कल ध्वनि का वर्णन रूक्ष जन-मानस के लिए भी परम आकर्षक है।

इनकी रचना-शैली मे लंबे समासो का प्रयोग बहुत ही कम है। समासयुक्त वर्णन मे भी कही क्लिष्टता का अनुभव नही होता।[1] इनका गद्य-भाग जिस तरह सुश्लिष्ट, सुन्दर एवं सरस रूप मे प्रस्फुटित हुआ है, उसी तरह पद्य-भाग भी। आर्यशूर स्वाभाविक सौन्दर्य के प्रेमी है। अत वे कृत्रिम तथ्यो से कोसो दूर रहते है तथा किसी वस्तु का वर्णन स्वाभाविक ढंग से करते है। गद्य-पद्य मिश्रित आख्यान शैली मे रचित इनकी जातकमाला एक आदर्श ग्रथ है। उनके समय तक गद्य-मिश्रित पद्य-काव्य की शैली इस तरह परिमार्जित होकर उतनी विकसित नही हो पायी थी। अत इनका यह ग्रंथ निदर्शन के रूप मे उपस्थित हुआ है। जातकमाला मे वर्णन की प्रधानता है, फिर भी सरल सुबोध शैली मे सरसता की कमी नही है।

गुण

जिस प्रकार शूरता, वीरता, सत्यवादिता आदि गुणो के कारण व्यक्ति समाज मे आदर पाता है, उसी प्रकार काव्य भी माधुर्य आदि गुणो के कारण प्रशंसनीय होता है तथा सहृदय श्रोताओ के चित्त को आकृष्ट करता है। इस कारण अति प्राचीन काल से ही संस्कृत साहित्यशास्त्र के प्रधान आचार्यो ने इस पर पर्याप्त विचार किया है।

गुण काव्य के उत्कर्षसाधक तत्त्व है, इसे सभी सहृदय समालोचक स्वीकार करते है। किन्तु दण्डी तथा वामन[2] इन्हे शब्दार्थाश्रित मानते है, जबकि भरत, आनन्दवर्धन[3], मम्मट[4] तथा विश्वनाथ[5] इन्हे रसाश्रित मानते है। वास्तविकता यह

---

१ जैसे :—

"अथ कदाचित् स राजा . . . . . पुष्पोपहारशबलभूमिभागधवल प्रवृत्तनृत्तगीतहास्यलास्यवादित्र पुष्पधूपचूर्णवासमाल्यासवस्नानानुलेपनामोदप्रसृतसुरभिगन्धि प्रसारितविविधरुचिरपण्यं तुष्टपुष्टोज्ज्वलतरवेषपौरजानपदसबाधराजमार्गं पुरवरमनुविचरस्तस्यामात्यस्य भवनसमीपमुपजगाम।"

—जातक० १३।७ के बाद का गद्य

२. "ये खलु शब्दार्थयोर्धर्मा काव्यशोभा कुर्वन्ति ते गुणा.।"

—का० सू०—३।१।१ वृत्ति

३. "तमर्थमवलम्बन्ते येऽङ्गिनं ते गुणा स्मृता·।"

—ध्वन्या०—२।६

४. "ये रसस्याङ्गिनो धर्मा शौर्यादय इवात्मना।
उत्कर्षहेतवस्ते स्युरचलस्थितयो गुणा.॥"—का० प्र० ८।६६

५ "रसस्याङ्गित्वमाप्तस्य धर्मा शौर्यादयो यथा गुणा॥"

—सा० द०—८।१

है कि गुण मुख्यत रस के धर्म है, साथ ही वे शब्दार्थ से सर्वथा असम्बद्ध नही है। पण्डितराज जगन्नाथ ने इस तथ्य को स्पष्टत स्वीकार किया है। मम्मट और विश्वनाथ ने भी माधुर्यादि का वर्णो से स्पष्ट सम्बन्ध माना है। माधुर्यादि के स्वरूप-निर्धारण मे वर्णगुम्फ तथा शब्दगुम्फ का आधार सदा ही निश्चयपूर्वक ग्रहण किया गया है। अतएव गुणो को रस के धर्म तो मानना ही चाहिये, किन्तु शब्दार्थ के धर्म मानने मे भी आपत्ति नही करनी चाहिये। शौर्यादि की उपमा भी इस मंतव्य को पुष्ट करती है। क्योकि वे मूलत आत्मा के अन्तरङ्ग व्यक्तित्व के धर्म है, परन्तु बाह्य व्यक्तित्व से उनका कोई सम्बन्ध ही न हो, यह भी नही माना जा सकता। मधुर अथवा ओजस्वी व्यक्तित्व के लिए आत्मा के ही माधुर्य अथवा ओज की अपेक्षा नही होती, आकृति के माधुर्य और तेज की भी आवश्यकता होती है।

अत. गुण काव्य के उन उत्कर्षसाधक तत्त्वो को कहते है, जो मुख्य रूप से रस के और गौण रूप से शब्दार्थ के नित्य धर्म है।

गुणो की संख्या—

आचार्य भरत, दण्डी तथा वामन ने दश गुणो का प्रतिपादन किया था।[1] जिनका खण्डन कर भामह, मम्मट, आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्त तथा विश्वनाथ आदि अलंकारशास्त्र के प्रसिद्ध आचार्यो ने केवल तीन गुणो का अस्तित्व स्वीकार किया। तीन गुण विद्वानो को मान्य हुए। काव्यास्वादन की स्थिति मे चित्त की तीन अवस्थाये होती है—द्रुति, दीप्ति और व्यापकत्व। गुण भी तदनुसार तीन हुए—माधुर्य, ओज और प्रसाद।[2]

चित्त का द्रुति-स्वरूप आह्लाद जिसमे अन्त करण अद्भुत सुकुमारता से भर उठे ऐसा आनन्दविशेष माधुर्य कहलाता है। इसमे चित्त एकदम पिघला सा बन जाता है। संभोग शृंगार, करुण, विप्रलम्भ शृङ्गार और शान्त रसो मे यह क्रमश बढ़ा हुआ रहता है।[3]

---

१ (क) "श्लेष प्रसाद समता समाधि माधुर्यमोज पदसौकुमार्यम्।
अर्थस्य च व्यक्तिरुदारता च कान्तिश्च काव्यस्य गुणा दशैते॥"
ना० शा० २।६२

(ख) "श्लेष. प्रसाद समता माधुर्यं सुकुमारता।
अर्थव्यक्तिरुदारत्वमोज कान्ति. समाधय: ॥"—काव्यादर्श–१।४१

२. "माधुर्यौज प्रसादाख्यास्त्रयस्ते न पुनर्दश ॥"
—का० प्र०—८।६८

३ "चित्तद्रवीभावमयो ह्लादो माधुर्यमुच्यते।
संभोगे करुणे विप्रलम्भे शान्तेऽधिक क्रमात्॥"
—सा० द० ८।२

माधुर्य के व्यंजक वर्ण है—अपने वर्ग के अन्तिम वर्ण से संयुक्त स्पर्श वर्ण, तथा लघु र, ण। समास का सर्वथा अभाव होता ह अथवा छोटा समास होता है। रचना मधुर होती है,[1] जैसे—

"अनङ्गरङ्गप्रतिमं तदङ्गं
भङ्गीभिरङ्गीकृतमानताङ्ग्या ।
कुर्वन्ति यूना सहसा यथैत.
स्वान्तानि शान्तापरचिन्तनानि ।"[2]

यहाँ माधुर्यस्रोत के रूप मे विप्रलम्भ शृंगार रस विराजमान है।

चित्त का विस्तारस्वरूप दीप्तत्व ओज गुण कहलाता है। वीर, बीभत्स और रौद्र रसो मे क्रमश इसकी अधिकता होती है।[3] इसके अभिव्यंजक हैं— वर्ग के प्रथम वर्ण का द्वितीय से और तृतीय का चतुर्थ से योग (जैसे पुच्छ, बद्ध आदि मे), रेफ का ऊपर, नीचे अथवा दोनो ओर से किसी वर्ण से संयोग (जैसे कि वक्त्र निर्ह्लाद आदि मे), समान वर्णो का परस्पर सयोग (जैसे वित्त, चित्त आदि मे), ट, ठ, ड, ढ, श, ष का प्रयोग, दीर्घ समास तथा उद्धत पदसंघटना।[4] जैसे —

"चञ्चद्भुजभ्रमितचण्डगदाभिघात-
संचूर्णितोरुयुगलस्य सुयोधनस्य ।
स्त्यानावनद्धघनशोणितशोणपाणि-
रुत्तंसयिष्यति कचास्तव देवि भीम. ॥"[5]

जैसे सूखे इन्धन मे अग्नि झट से व्याप्त होती है, उसी प्रकार जो गुण चित्त मे सद्य व्याप्त हो, उसे प्रसाद कहते है। यह गुण सभी रसो और सम्पूर्ण रचना मे रह सकता है।

---

१ "मूर्ध्नि वर्गान्त्यवर्णेन युक्ताष्टठडढान्विना ।
रणौ लघू च तद्व्यक्तौ वर्णा कारणता गता ॥
अवृत्तिरल्पवृत्तिर्वा मधुरा रचना तथा ॥"—सा० द० ८।३

२ का० प्र०—८।७४ मे उद्धृत।

३. "ओजश्चित्तस्य विस्ताररूपं दीप्तत्वमुच्यते ।
वीरबीभत्सरौद्रेषु क्रमेणाधिक्यमस्य तु ॥"—सा० द० ८।४

४. "योग आद्यतृतीयाभ्यामन्त्ययो रेण तुल्ययो ।
टादि. शषौ वृत्तिदैर्ध्यं गुम्फ उद्धत ओजसि ॥
—का० प्र०—८।७५

५ बेणीसंहारनाटक—१।२१

सुनते ही जिनका अर्थ प्रतीत हो जाय, ऐसे सुबोध और सरल पद प्रसाद के व्यंजक होते है।[1] जैसे—

"परिम्लान पीनस्तनजघनसङ्गादुभयत-
स्तनोर्मध्यस्यान्त परिमिलनभप्राप्य हरितम् ।
इद व्यस्तन्यास श्लथभुजलताक्षेपवलनै
कृशाङ्ग्या' सन्ताप वदति विसनीपत्रशयनम् ।।"[2]

यहाँ माधुर्योचित वर्ण, मध्यम समास सब के सब प्रसाद के ही अभिव्यंजन करते लग रहे है।

जातकमाला मे गुणो की चर्चा करते समय यह ध्यान मे रखना है कि इसका उद्देश्य सरलतम भाषा मे भगवान् बुद्ध के पूर्व जन्मो की आख्यायिकाओ का वर्णन है। ऐसी स्थिति मे प्रसाद के अतिरिक्त गुण का अन्वेषण यहाँ व्यर्थ है। प्रसाद गुण के लिए जिस सरलता की आवश्यकता होती है, वही इस रचना का आधार है। बिना अन्वय किये प्रकरण का प्रकरण अपने अर्थ को कहता चला जाता है। इसीलिए प्रसाद गुण की मात्रा इसमे पर्याप्त है। आर्यशूर और अश्वघोष के पद्य कुछ अधिक सरल है। कही-कही शूर के पद्य भी अत्यन्त सरल है। देखिये उन पद्यो को जो उन्होने उन सन्तानो के मुख से कहलाये है जिनके पिता ने असाधारण उदारतावश उन्हे दान कर दिया है तथा निर्दयतापूर्वक ब्राह्मण उन्हे खीच कर ले जा रहा है। पुत्री कृष्णाजिना कहती है —

"अय मा ब्राह्मणस्तात लतया हन्ति निर्दयः ।
न चाय ब्राह्मणो व्यक्त धार्मिका ब्राह्मणा. किल ।।
यक्षोऽय ब्राह्मणच्छद्मा नून हरति खादितुम् ।
नीयमानौ पिशाचेन तात कि नावुपेक्षसे ।।"[3]

अनन्तर पुत्र जाली सरल किन्तु करुण शब्दो मे जो कहता है, वह है—

"नैवेद मे तथा दुःख यदय हन्ति मा द्विज. ।
नापश्यमम्बा यत्त्वद्य तद्विदारयतीव माम् ।।
रोदिष्यति चिर नूनमम्बाशून्ये तपोवने ।
पुत्रशोकेन कृपणा हतशावेव चातकी ।।
अस्मदर्थे समाहृत्य वनान्मूलफल बहु ।
भविष्यति कथ न्वम्बा दृष्ट्वा शून्य तपोवनम् ।।

---

१ "चित्त व्याप्नोति य क्षिप्र शुष्केन्धनमिवानल ।
स प्रसाद. समस्तेषु रसेषु रचनासु च ।।
शब्दास्तद्व्यञ्जका अर्थबोधका श्रुतिमात्रत ।।" —सा० द० ८।७-८

२ रत्नावलीनाटिका—२।१३

३ जातक०—९।६५-६६

इमे नावश्वकास्तात हस्तिका रथकाश्च मे ।
अतोऽर्द्धं देयमम्बायै शोक तेन विनेष्यति ।।
वन्द्यास्मद्वचनादम्बा वार्या शोकाच्च सर्वथा ।
दुर्लभ हि पुनस्तात तव तस्याश्च दर्शनम् ।।
एहि कृष्णे मरिष्याव· कोन्वर्थो जीवितेन नौ ।
दत्तावावा नरेन्द्रेण ब्राह्मणाय धनैषिणे ।।"[1]

अधिक गहन तथा दुरूह विषयो मे भी आर्यशूर इसी प्रकार प्रसादयुक्त है, जैसे न्यायप्रिय राजा के शासन के वर्णन मे—

"समप्रभावा स्वजने जने च
धर्मानुगा तस्य हि दण्डनीति ।
अधर्म्यमावृत्य जनस्य मार्ग
सोपानमालेव दिवो बभूव ।।"[2]

जातकमाला मे प्रसाद गुण की पुष्टि के लिए लेखक ने यथासंभव प्रचलित छन्दो का ही प्रयोग किया है। मुख्यत अनुष्टुप्, उपजाति, इन्द्रवज्रा तथा वसन्ततिलका का अधिक प्रयोग किया गया है। ये छन्द सरलता के लिए प्रसिद्ध है। इन छन्दों के चुनाव के द्वारा भी आर्यशूर ने प्रसाद गुण को पुष्ट करते रहने की भावना दृढ़ रखी है। जातकमाला मे कुल मिला कर सत्ताईस तरह के छन्द प्रयुक्त हुए है जो इस प्रकार है —

१—अनुष्टुभ् (अनुष्टुप्) या श्लोक[3]—
जैसे —

"महत्स्वपि स्वदु खेषु व्यक्तधैर्या कृपात्मका ।
मृदुनाप्यन्यदु खेन कम्पन्ते यत्तदद्भु तम् ।।"[4]

लगभग ४१८ श्लोको मे इस छन्द का प्रयोग जातकमाला मे हुआ है।
२—इन्द्रवज्रा[5] जैसे—

"तर्प विनिन्येऽर्थिजनस्तमेत्य
न त्वर्थिन प्राप्य स दानशौण्ड. ।
न ह्यस्य दानव्यवसायमर्थी
याच्ञाप्रमाणेन शशाक जेतुम् ।।"[6]

---

१. जातक०—९।६९-७२
२. जातक० १३।२
३. श्लोके षष्ठ गुरु ज्ञेय सर्वत्र लघु पञ्चमम् ।
द्विचतुष्पादयोर्ह्रस्व सप्तम दीर्घमन्ययो ।।—श्रुतबोध-१०
४ जातक० १।१७
५ स्यादिन्द्रवज्रा यदि तौ जगौ ग ।"—वृत्तरत्नाकर ३।३०
६. जातक० २।७

लगभग ८५ श्लोको मे वह प्रयुक्त हुआ है।

३—उपजाति[1] जैसे—

"येनाभ्युपेतोऽस्मि मनोरथेन
तमेष ते ब्राह्मण पूरयामि।
आकाङ्क्षमाणाय मदेकमक्षि
ददामि चक्षुर्द्वयमप्यहं ते ॥"[2]

लगभग ४६१ श्लोक इस छन्द मे है।

४—वसन्ततिलका[3] जैसे—

"पाप समाचरति वीतघृणो जघन्य
प्राप्यापद सघृण एव तु मध्यबुद्धि ।
प्राणात्ययेऽपि तु न साधुजन स्ववृत्ति
वेला समुद्र इव लङ्घयितु समर्थ ॥"[4]

११३ श्लोको मे यह छन्द प्रयुक्त हुआ है।

५—बंशस्थ[5] (बंशस्थविल) जैसे—

"सुखानुलोमे गुणबाधिनि क्रमे
गुणानुकूले च सुखोपरोधिनि।
नरोऽपि तावद्गुणपक्षसश्रया-
द्विराजते किम्वथ तिर्यगाकृति ॥"[6]

६—दुतविलम्बित[7] जैसे—

"उपकृत किल न मे वेत्ति परस-
तदपकारमिति प्रकरोति न
ननु विशोध्य गुणै. स यशस्तनु
द्विरदवृत्तिमभिप्रतिपद्यते ॥"[8]

---

१ "अनन्तरोदीरितलक्ष्मभाजौ, पादौ यदीयावुपजातयस्ता ।
इत्थ किलान्यस्वपि मिश्रितासु वदन्ति जातिस्त्विदमेव नाम ॥"—वृत्तरत्ना० ३।३२

२ जातक० २।१३

३ "उक्ता वसन्ततिलका तभजा जगौ ग ।"—वृत्तरत्नाकर ३।७८

४. जातक० ११।१८

५ "जतौ तु वशस्थमुदीरित जरौ।"—वृत्तरत्नाकर ३।४७

६ जातक० ६।४

७ "द्रुतविलम्बितमाह नभौ भरौ।"—वृत्तरत्नाकर ३।५०

८ जातक० ३४।२०

७—पुष्पिताग्रा[1] जैसे—

"अभयमभयदो ददाति राजा
स्थिरशुचिशीलधनाय सज्जनाय ।
अविनयनिरतै प्रजाहितार्थं
नरपशुभिस्तु सहस्रसो यियक्षु ॥"[2]

इसमे लगभग १६ श्लोक है ।

८—भुजङ्गप्रयात[3] जैसे—

"समुत्कृत्तसर्वत्वचो वेदनार्ता
विमासीकृता केचिदर्थ्यास्थशेषा ।
न चायान्ति नाश धृता दुष्कृतै स्वै-
स्तथा चापरे खण्डशश्छिद्यमाना ॥"[4]

९—शार्दूलविक्रीडित[5] जैसे—

"दान नाम महानिधानमनुग चौराद्यसाधारण
दान मत्सरलोभदोषरजस प्रक्षालन चेतस ।
ससाराध्वपरिश्रमापनयन दानं सुख वाहन
दान नैकसुखोपधानसुमुख सन्मित्रमात्यन्तिकम् ॥"[6]

लगभग १५ श्लोक इस छन्द मे है ।

१०—शालिनी[7] जैसे—

"सारादान दानमाहुर्धनाना-
मैश्वर्याणा दानमाहुर्निदानम् ।
दान श्रीमत्सज्जनत्वावदान,
बाल्यप्रज्ञै पासुदान सुदानम् ॥"[8]

---

१. "अयुजि नयुगरेफतो यकारो ।
युजि च नजौ जरगाश्च पुष्पिताग्रा ॥" वृत्त० ४।१०

२ जातक० १०।१७

३ "भुजङ्गप्रयात चतुर्भिर्यकारै ।"—छन्दोमञ्जरी २।११६

४ जातक० २६।२६

५ "सूर्याश्वैर्मसजस्तता सगुरव शार्दूलविक्रीडितम् ॥" वृत्त० ३।६६

६ जातक० ३।२१

७ "शालिन्युक्ता म्तौ तगौ गोऽब्धिलोकै ।" वृत्त० ३।३५

८. जातक० ३।२३

लगभग ११ श्लोक इस छन्द मे है।

११—मालिनी[1] जैसे—

"न सुगतपरिचर्या विद्यते स्वल्पिकापि
प्रतनुफलविभूतिर्यच्छ्रुत केवलं प्राक्।
तदिदमलवणाया शुष्करुक्षारुणाया
फलविभवमहत्व पश्य कुल्माषपिण्ड्या ॥"[2]

लगभग ५ श्लोक इस छन्द मे है।

१२—शिखरिणी[3] जैसे—

"दयालुर्नोद्वेग जनयति परेषामुपशमा-
द्दयावान् विश्वास्यो भवति जगता बान्धव इव।
न सरम्भक्षोभ प्रभवति दयाधीरहृदये
न कोपाग्निश्चित्ते ज्वलति हि दयातोयशिशिरे ॥"[4]

शिखरिणी ४ श्लोको मे प्रयुक्त हुआ है।

१३—प्रहर्षिणी[5] जैसे—

"यत्पीत्वा वमथुसमुद्गतान्नलिप्ता
निशङ्कं श्वभिरवलिह्यमानवक्त्रा.।
नि सज्ञा नृपतिपथिष्वपि स्वपन्ति
प्रक्षिप्त क्रयसुभग तदत्र कुम्भे ॥"[6]

४ श्लोक इसमे है।

१४—प्रमिताक्षरा[7] जैसे—

"मदमानमोहभुजगोपलय
प्रशमाभिरामुखविप्रलयम्।
क इवाश्रयेदभिमुख बिलय
बहुतीव्रदु खनिलय निलयम् ॥"[8]

---

१ "ननमयययुतेय मालिनी भोगिलोकै।"—वृत्त० ३।८३

२ जातक० ३।४

३ "रसै रुद्रैश्छिन्ना यमनसभलाग शिखरिणी।"—वृत्तरत्नाकर ३।९१

४ जातक० २६।४३

५ "म्नौ ज्रौ गस्त्रिदशयति· प्रहर्षिणीयम्।"—वृत्तरत्नाकर ३।७

६ जातक० १७।१६

७ प्रमिताक्षरा सजससैरुदिता।"— वृत्तरत्नाकर ३।६१

८. जातक० १८।२०।

लगभग ६ श्लोक इसमे है।

१५—उपेन्द्रवज्रा[1] जैसे—

"पटुत्वहीनेऽपि मतिप्रभावे
जडप्रकारेष्वपि चेन्द्रियेषु।
विनोपदेशात्प्रतिपद्यते य-
त्प्रसूतमात्रः स्तनपानयत्नन्॥"[2]

१६—आर्या[3] जैसे—

"स्वाधीनसुलभमेतन्निरवद्यं विद्यते ममैव खलु।
अतिथिजनप्रतिपूजनसमर्थरूप शरीरधनम्॥"[4]

४ श्लोक इस छन्द मे है।

१७—तोटक[5] जैसे—

"यदि कारणमीस्वर एव विभु-
र्जगतो निखिलस्य तवाभिमत।
ननु नार्हसि मय्यधिरोपयितु
विहित विभुना कपिराजवधम्॥"[6]

१८—वियोगिनी[7] जैसे—

"ह्रियमाणमनाथमप्लव
सरितोदीर्णजलौघवेगया।
अभिधावत दीनवत्सलाः
कृपण तारयितुं जवेन माम्॥"[8]

१२ श्लोक इस छन्द मे है।

---

१. "उपेन्द्रवज्रा जतजास्ततो गौ।"—वृत्तरत्ना० ३।३१
२. जातक० २६।१२
३ यस्या पादे प्रथमे, द्वादश मात्रास्तथा तृतीयेऽपि।
अष्टादश द्वितीये चतुर्थके पञ्चदश साऽऽर्या॥—श्रुतबोध ४
४. जातक० ६।१६
५ "वद तोटकमब्धि सकारयुतम्।"—छन्दोमञ्जरी २।१२१
६ जातक० २३।४०
७. 'विषमे ससजा गुरु' समे सभरा लोऽथ गुर्वियोगिनी।"—छन्दसार ८
८. जातक २६।२

१९—पृथ्वी[1] जैसे—

"दयामृदुषु दुर्जनः पटुतरावलेपोद्धतः
परां व्रजति विक्रियां नहि भयं ततः पश्यति ।
यतस्तु भयशङ्कया सुकृशयापि संस्पृश्यते-
विनीत इव नीचकैश्चरति तत्र शान्तोद्धवः ॥"[2]

२ श्लोक इस छन्द मे है।

२०—वैतालीय[3] जैसे—

"व्रजति गुणपथेन च स्वयं
नयति परानपि तेन वर्त्मना ।
वचनमपि न रूक्षमक्षमा
जनयति तस्य हितोपसंहितम् ।'[4]

लगभग २० श्लोक इस छन्द मे है।

२१—औपच्छन्दसिक[5] जैसे—

"स्वगुणातिशयोदितैर्यशोभि-
र्जगदावर्जनदृष्टशक्तियोगः ।
रचनागुणमात्रसत्कृतेषु
ज्वलयत्येव परेष्वमर्षवह्निम् ॥"[6]

इस छन्द मे ७ श्लोक है।

२२—मत्तमयूर[7] जैसे—

"आत्मार्थं स्याद्यस्य गरीयान् परकार्या-
त्तेनापि स्याद्द्येयमनादृत्य समृद्धिम् ।
नैति प्रीतिं तां हि महत्यापि विभूत्या
दानैस्तुष्टिं लोभजयाद्यामुपभुङ्क्ते ॥"[8]

---

१. "जसौ जसयला वसुग्रहयतिश्च पृथ्वी गुरु ।"—वृत्तरत्नाकर ३।९२

२ जातक० ३३।४

३. षड् विषमेऽष्टौ समे कला. ताश्च समे स्युर्नो निरन्तरा ।
न समाऽत्र पराश्रिता कला, वैतालीयेऽन्ते रलौ गुरु ॥"—वृत्तरत्नाकर २।१२

४ जातक ७।३०

५ "पर्यन्ते र्यौ तथैव शेषं त्वौपच्छन्दसिकं सुधीभिरुक्तम् ॥"—वृत्तरत्नाकर २।१३

६ जातक० २३।४

७ वेदैरन्ध्रैर्म्तौ यसगा मत्तमयूरम् ।"—वृत्त० ३।७२

८ जातक० ५।२२

५ श्लोक इस छन्द मे है।

२३—वक्त्र[1] —जैसे—

"पुष्पमालाहसत्कण्ठमिम भरितमाकण्ठम्।
अवतसकृताकुम्भ क्रेतुमिच्छति क कुम्भम्।"[2]

२४—रुचिरा[3] —जैसे—

"न वेत्ति चेदुपकृतमातुर परो
न योक्ष्यतेऽपि स गुणकातया श्रिया।
सचेतस पुनरथ को भवेत्क्रम
समुच्छ्रित प्रमथितुमात्मनो यश॥"[4]

२ श्लोक इस छन्द मे है।

३५—उद्धता[5] .—जैसे—

"त्वत्कृताथ यदीज्या न त्वसो तदकर्ता।
आत्मनो हि विभूत्या य करोति स कर्त्ता॥"[6]

२६—आर्यागीति (या स्कन्धक)[7], जैसे—

"प्रात पराभव त दु खानि महान्ति कस्तदानुभवन्तम्।
याचेद्दण भवन्तं प्रतिवचनमपि प्रदातुमप्रभवन्तम्॥"[8]

२७—उष्णिग् जाति —उद्यता[9], जैसे—

"ईश्वर कुरुते चेत्पातकान्यखिलानि।
तत्र भक्तिनिवेश क गुण नु समीक्ष्य॥"[10]

---

१. "वक्त्र नाद्यान्नसौ स्यातामब्धेर्योऽनुष्टुभि ख्यातम्।"
—वृत्त० २।२१

२ जातक०—१७।५

३ "जभौ सजौ गिति "रुचिरा" चतुर्ग्रहै।"
—छन्दोमजरी २।१६३

४ जातक० ३४।२१

५. "सैगि उद्धता।"
—हेमचन्द्रकृत छन्दोऽनुशासनम्—२।१६

६ जातक० २३।३५

७ "आर्यापूर्वार्द्धं यदि गुरुणैकेनाधिकेन निधने युक्तम्।
इदरतद्वन्निखिल यदीयमुदितैवमार्यागीति॥"—वृत्त० २।११

८. जातक० २६।४२

९ "उद्यता पौ"—छन्दो वेविति ४।१७

१० जातक० २३।३६

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि आर्यशूर विविध छन्दो के विषयानुरूप प्रयोग मे अत्यधिक प्रवीण है।

अब जातकमाला मे प्रयुक्त अलंकारो पर विचार करना है। यह पहले कहा जा चुका है कि जातकमाला यथासंभव अलकारो से बच कर लिखी गई है। फिर भी शब्द एवं अर्थ जहाँ प्रयुक्त होगे वहाँ अलंकारो से बच कर रहना साधारण कार्य नही होता है। अत इस ग्रन्थ मे भी यत्र-तत्र स्वाभाविक रूप मे अर्थ की अभिव्यंजना के लिए नितान्त अपेक्षित हो जाने पर अलंकार आ ही गए है। कुछ उदाहरणो के द्वारा जातकमाला मे प्रयुक्त अलंकारो के स्वरूप का यहाँ दिग्दर्शन कराया जाता है। जैसे—

१—यमक[१] —

'ततश्चकम्पे सधराधरा धरा
व्यतीत्य वेला प्रससार सागर ।
प्रसक्तगम्भीरमनोज्ञनिस्वना
प्रसस्वनुर्दुन्दुभयो दिवौकसाम् ॥''[२]

"धरा" का तीन बार प्रयोग दिखा कर यमक अलंकार तथा "ससारसागर" मे अनुप्रासजन्य माधुर्य का प्रयोग सौन्दर्यपूर्ण है। एक दूसरा उदाहरण—

"मदमानमोहभुजगोपलय
प्रशमाभिरामसुखविप्रलयम् ।
क इवाश्रयेदभिमुख विलय
बहुतीव्रदु.खनिलय निलयम् ॥''[३]

यहाँ प्रथम तीन चरणो के अन्त मे "लयम्" का अन्त्यानुप्रसास तथा अंतिम चरण मे "निलयम्" शब्द के द्वि प्रयोगजन्य यमक का निवेश माधुर्यपूर्ण है। इनके गद्य मे भी कही-कही यमक का प्रयोग मिलता है, जैसे—

"स्वा इव प्रजा. प्रजा. पालयति स्म ।''[४]

२—अनुप्रास[५] —

गद्य मे अनुप्रास का प्रयोग ग्रन्थारम्भ मे ही परिलक्षित हो जाता है—

---

१. "सत्यर्थे पृथगर्थाया· स्वरव्यजनसहते ।
क्रमेण तेनेवावृत्ति. यमकं विनिगद्यते ॥''—सा० द० १०।८

२ जातक० २।३८

३. जातक १८।२०

४ जातक० २।१ के पहले का गद्य

५ "वर्णसाम्यमनुप्रास.''—का० प्र० ९।७९

"रत्नत्रयगुरुभिः प्रतिपत्तिगुणाभिराधितगुरुभिर्गुणप्रश्चयगुरुभिरस्मद्गुरुभि परिकीर्त्यमानमिदं भगवत. पूर्वजन्मावदानम् ॥"[१]

श्रुत्नुप्रास[२] —जैसे

"परिक्षामेक्षणयुगां क्षुधा छाततरोदरीम् ।
आहारमिव पश्यन्तीं बालान् स्वतनयानपि ॥"[३]

३—उपमा[४] —

यह अलंकारो का शिरोरत्न है ।[५] जिस प्रकार नाट्य रंगमंच पर नटी अनेक भूमिका-भेद से नृत्य करती हुई प्रेक्षको का मनोरंजन करती है, उसी प्रकार उपमा रूपी नटी अनेक उक्ति-वैचित्र्य से नृत्य करती हुई काव्य-मर्मज्ञो को मनोमुग्ध करती है ।[६] आर्यशूर ने जातकमाला मे उपमालंकार का प्रचुर प्रयोग किया है । कुछ उदाहरण द्रष्टव्य है—

(क) "दानोद्भव. कीर्तिमय सुगन्ध-
स्तस्यार्थिना वागनिलप्रकीर्णः ।
मद जहारान्यनराधिपाना
गन्धद्विपस्येव परद्विपानाम् ॥"[७]

(दान से उत्पन्न होनेवाली उनकी (शिबिराज की) कीर्त्तिमय सुगन्ध ने, जिसे याचको ने अपनी वाणीरूपी वायु से दिशाओ मे फैलाया, दूसरे राजाओ के मद का अपहरण किया, जिस प्रकार गन्ध-कुंजर की सुगन्ध हवा मे फैल कर दूसरे हाथियो का अभिमान चूर्ण किरती है ।)

---

१. जातक १।४ के बाद का गद्य ।

२. "उच्चार्यत्वाद्यदेकत्र स्थाने तालुरदादिके ।
साद्दश्य व्यज्जनस्यैव श्रुत्यनुप्रास उच्यते ॥"—सा० द० १०।५

३ जातक० १।१४

४. "साद्दश्यप्रयोजकसाधारणधर्मसम्बन्धो ह्युपमा ।"
—का० प्र० १०।८७ बालबोधिनी व्याख्या

५ "अलंङ्कारशिरोरत्नं सर्वस्वं काव्यसम्पदाम् ।
उपमाकविवंशस्य मातैवेति मतिर्मम ॥"
—अलंकारशेखर ११।३ मे राजशेखर के नाम से उद्धृत

६. "उपमैषा शैलूषी सम्प्राप्ता चित्रभूमिकाभेदान् ।
रञ्जयति काव्यरङ्गे नृत्यन्ती तद्विदा चेतः ॥"
—चित्रमीमांसा—उपमाप्रकरणारम्भ

७. जातक० २।६

यहाँ राजा की उपमा "गन्धकुजर" (मतवाला हाथी) से दी गई है।

(ख) "अथ क्षितीशस्य तमत्युदारं
गात्रेष्वपि स्वेषु निवृत्तसङ्गम्।
विज्ञाय दानाश्रयिण वितर्कं
पतिप्रिया स्त्रीव मही चकम्पे ॥"[1]

(अंगो से भी आसक्ति हटा कर दान देने के सम्बन्ध मे राजा के उस उदार विचार को जान कर पति से प्रेम करनेवाली स्त्री की भाँति पृथ्वी काँपी।)

यहाँ "पतिप्रिया स्त्री" से "मही" की उपमा देकर कवि ने सुन्दर कल्पना की है। इस उपमा मे लिग एवं वचन तक का साम्य है।

(ग) "सत्या च शक्तौ मम यद्युपेक्षा
स्यादाततायिन्यपि दु.खमग्ने।
कृत्वेव पाप मम तेन चित्त
दह्येत कक्षं महताग्निनेव ॥"[2]

(यदि अत्याचारी भी दु ख मे पडा हो और शक्ति के रहते मै उसकी उपेक्षा करूँ तो मानो पाप करके उस पाप से मेरा चित्त ऐसे जलेगा जैसे अग्नि-पुंज से तृण जल जाय।)

यहाँ दु ख मे पडे आततायी के प्रति भी किये गये उपेक्षा-भाव मे पाप की उत्प्रेक्षा कर महान् अग्नि से उसकी उपमा दी गयी है। अतएव उत्प्रेक्षा पर आधारित उपमा होने के कारण यह अगागिभाव संकर अलंकार की शोभा से सुशोभित है।

(घ) अनुप्रास की छटा से युक्त उपमा का गद्य मे उदाहरण :—

"नीलोत्पलदलशकलरुचिरकान्तिनयनम्।"[3]

(नील-कमल की पंखुडी के समान मनोहर कान्तिमान् नेत्र · ।)

यहाँ "ल" वर्ण की आवृत्ति से उत्पन्न अनुप्रास की छटा से मंडित समासगत उपमा की शोभा विलक्षण आनन्ददायिनी है। राजा के नेत्र की उपमा नील-कमल की पंखुडी से देकर कवि ने मनोहर कल्पना की है।

---

१ जातक० २।८

२ जातक० १।२४

३ जातक० २।२८ के बाद का गद्य

(ङ) अनुप्रास के साथ उपमा का पद्य मे उदाहरण —

"अथ मुदितजनप्रहासनादा
प्रविततपाण्डुरशीतचारुपक्षा ।
सलिलनिधिगता रराज सा नौ-
र्गतजलदे नभसीव राजहसी ॥"[१]

(तब सफेद पाल के सुन्दर पंख फैल गये । प्रसन्न यात्रियो के हास्य से जहाज गूँज उठा । समुद्र मे चलता हुआ जहाज ऐसे शोभित हुआ जैसे मेघमुक्त निर्मल आकाश मे उडता हुआ राजहंस ।)

यहाँ समुद्र मे चलने हुए जहाज ("सलिलनिधिगता नौ") की उपमा आकाश मे चल रहे राजहंस (नभसि राजहंसी) से दी गयी है । यह उपमा "ल-ल" "र-र" तथा "सी-सी" से उत्पन्न अनुप्रास की शोभा से शोभित है ।

(च) यमक की छटा से मंडित उपमा —

"तत. स राजा नयने प्रदाय
विपद्मपद्माकरतुल्यवक्त्र ।
पौरैरसाधारणतुष्टिरासीत्
समग्रचक्षुर्ददृशे द्विजश्च ॥"[२]

(जब राजा ने अपने दोनो नेत्र दे दिये तब उनका मुख कमल-रहित सरोवर के समान कान्ति-हीन हो गया और उस ब्राह्मण के नेत्र अखण्ड दिखाई पडे । इससे राजा को असाधारण आनन्द हुआ ।)

यहाँ नेत्र-रहित राजा के मुख (वक्त्र) की उपमा कमलरहित सरोवर (विपद्मपद्माकर) से दी गयी है । यह उपमा समासगत रहने पर भी "पद्म" शब्द मे यमक के कारण अत्यन्त मनोहारिणी है ।

(छ) वाक्यगा श्रौती उपमा का उदाहरण—

"परीत्य कृत्स्नं मनसा नृलोक-
मन्येष्वलब्धप्रणयावकाशा ।
तमर्थिनः प्रीतमुखा. समीयु-
र्महाह्रदं वन्यगजा इवैव ।|'[३]

(चित्त द्वारा सम्पूर्ण मनुष्य-लोक मे विचरण कर और दूसरो के यहाँ याचना करने का अवसर न पाकर याचकगण उनके ही समीप गये जैसे जंगल के हाथी महासरोवर के पास जा रहे हों ।)

---

१. जातक० १४।३२

२. जातक० २।२६

३ जातक० २।४

यहाँ बोधिसत्त्व शिबिराज ("तम्") उपमेय, महासरोवर (महाह्लद") उपमान, प्रसन्न मुख से जाना ("प्रीतमुखा समीयु ") सामान्य धर्म और 'यथा" उपमावाचक शब्द है। इस प्रकार उपमेय, उपमान, सामान्य-धर्म एवं उपमावाचक शब्द – इन सबके उपस्थित रहने के कारण यह पूर्णोपमा का उदाहरण हुआ। साथ ही यह वाक्य मे है तथा श्रवणमात्र से बोध करानेवाली है। अतएव यह वाक्यगा श्रौती उपमा है।

(ज) वाक्यगा श्रौती उपमा का एक अन्य उदाहरण—

"यत प्रदानैरभिवर्ष याचकान्
ह्लदान् महामेघ इवाभिपूरयन्।
धनक्षय नाप्स्यसि मत्परिग्रहा-
दिद क्षमेथाश्च विचेष्टित मम।।"[1]

(सरोवरो को जल से भरते हुए महामेघ के समान याचको पर दान की वृष्टि करे। मेरी कृपा से आपका धन कभी क्षीण न होगा। आप मरे इस आचरण को क्षमा करे।)

यहाँ बोधिसत्त्वभूत श्रेष्ठी की उपमा महामेघ से दी गयी है। 'महामेघ" उपमान है, वृष्टि करना (जल की और दान की) सामान्य धर्म है तथा 'इव" उपमा-वाचक शब्द है, किन्तु उपमेय का स्पष्ट उल्लेख नही है। अत यह लुप्तोपमा का उदाहरण है।

(झ) एक ही स्थल मे कभी कभी उपमा-समूह का प्रयोग भी जातकमाला मे दिखाई पडता है। जैसे मैत्रीबल-जातक मे बोधिसत्त्व मैत्रीबल राजा के अपने ही शरीर के मास और रक्त से यक्षो के रूप मे आये अतिथि की सेवा करने का निश्चय जान कर पृथ्वी काँप उठी और सुमेरु पर्वत प्रकम्पित हो गये, जिससे वहाँ के वृक्षो से पुष्पवृष्टि होने लगी। उन पुष्पो का वर्णन करते हुए आर्यशूर कहते है—

"तदभ्रवद्व्योमनि मारुतेरित
पतत्रिपङ्क्तेव वितानवत्क्वचित्।
विसृत्य माला ग्रथितेव कुत्रचित्-
सम समन्तान्नृपतेर्व्यकीर्यत।।"[2]

(हवा से प्रेरित होते वे फूल आकाश मे कही बादल के समान, कही पक्षियों के झुण्ड के समान, कही चँदोबे के समान, कही गुंथी हुई विशाल माला के समान दिखाई पडे और एक साथ ही राजा के चारो ओर आकर फैल गये।)

---

१ जातक० ५।३३
२ जातक० ८।६२

यहाँ हवा से प्रेरित पुष्पो की उपमा बादल, पक्षियो के झुण्ड, चँदोबा तथा गुंथी हुई माला से दी गयी है। उपमेय तथा उपमान दोनो प्रकृति से गृहीत है। अतएव यह उपमा स्वाभाविक सौन्दर्य से युक्त है।

(ञ) वाक्यगा श्रौती पूर्णोपमा का एक सुन्दर उदाहरण—चुड्डबोधि-जातक" मे क्रोध के दोषो का वर्णन करते हुए बोधिसत्त्व कहते है—

"विस्मृत्य चात्मक्षमसिद्धिपक्षं
रोषात्प्रयात्येव तदुत्पथेन।
निहीयते येन यशोऽर्थसिद्धचा
तामिस्रपक्षेन्दुरिवात्मलक्ष्म्या॥"[1]

(क्रोध के कारण मनुष्य अपने योग्य कल्याणपक्ष को भूल कर कुमार्गगामी हो जाता है, जिससे वह कीर्त्ति-हीन होता है, जैसे कृष्ण-पक्ष का चन्द्रमा श्रीहीन होता है।)

यहाँ क्रोध के कारण कुमार्गगामी एवं कीर्त्तिहीन मनुष्य की उपमा कृष्ण-पक्ष के श्रीहीन चन्द्रमा से दी गयी है। मनुष्य उपमेय, चन्द्रमा उपमान, हीनता (कीर्त्ति एवं श्री की) सामान्य धर्म एवं इव उपमावाचक शब्द—इन चारो के स्पष्ट उल्लेख होने के कारण यह पूर्णोपमा का उदाहरण है। साथ ही यह पूरे वाक्य मे है तथा श्रवणमात्र से ही बोध होनेवाली है। अतएव वाक्यगा श्रौती पूर्णोपमा है।

(४) उत्प्रेक्षा[2] —

आर्यशूर उपमा के बाद उत्प्रेक्षलाङ्कार का सर्वाधिक प्रयोग करते है। कुछ उदाहरण यहाँ प्रस्तुत हैं :—

(क) वर्तकापोतक-जातक मे दावाग्नि की विभीषिका का वर्णन करते हुए कवि कहते है —

"चण्डानिलास्फालनचञ्चलानि
भयद्रुतानीव वने तृणानि।
सोऽग्नि ससरम्भ इवाभिपत्य
स्फुरत्स्फुलिङ्गप्रकरो ददाह॥

---

१. जातक० २१।३०

२. "सम्भावनमथोत्प्रेक्षा प्रकृतस्य समेन यत्।"—का० प्र० १०/९२
उत्प्रेक्षावाची शब्द :—
"मन्ये शङ्के ध्रुव प्रायो नूनमित्येवमादिभि।
उत्प्रेक्षा व्यज्यते शब्दैरिवशब्दोऽपि तादृश॥"—काव्यादर्श २।२३४

भयद्रुतोद्भ्रान्तविहङ्गसार्थं
परिभ्रमद्भीतमृग समन्तात् ।
धूमौघमग्नं पटुवह्निशब्द
वनं तदार्त्येव भृश ररास ॥"[1]

(प्रचण्ड वायु के स्पर्श से कांपते हुए या उडते हुए, मानो भय से भागते हुए, तृणो को क्रोध से पकड कर वह अग्नि अपनी चमकती हुई चिनगारियो से दग्ध कर रहा था। भय से व्याकुल होकर भागते हुए पक्षियो से युक्त, भयभीत होकर चारो ओर दौडते हुए जानवरो मे भरा हुआ, धूम-राशि मे डूबा हुआ तथा अग्नि के तीक्ष्ण शब्द से युक्त वह जगल मानो पीडा से कराह रहा था। यहाँ प्रथम श्लोक मे प्रचण्ड वायु के स्पर्श से उड हुए वन के तृणो मे दावाग्नि के कारण भयभीत होकर भागने की उत्प्रेक्षा की गयी है तथा द्वितीय श्लोक मे दावाग्नि के तीक्ष्ण शब्द मे जंगल के पीडा से कराहने की उत्प्रेक्षा की गयी है।

(ख) व्याघ्री-जातक मे बोधिसत्त्व के प्रव्रजित होकर वन-गमन का वर्णन करते हुए आर्यशूर कहते हैं—

"स तत्र नि सङ्गतया तया च
प्रज्ञावदातेन शमेन चैव ।
प्रत्यादिदेशेव कुकार्यसङ्गा-
द्विश्लिष्टशिष्टोपशम नृलोकम् ॥"[2]

(वहाँ उन्होने अपनी अनासक्ति और प्रज्ञा-विमल शान्ति के द्वारा मनुष्य-लोक को, जो कुकार्यो मे आसक्त होने के कारण सज्जनो की शान्ति से वंचित था, मानो तिरस्कृत और लज्जित किया।)

यहाँ मनुष्य लोक को छोड दिया, इस व्यापार को "तिरस्कृत और लज्जित किया", इस रूप मे संभावित कल्पना द्वारा कहा गया है। अत. यह क्रियास्वरूपोत्प्रेक्षा का उदाहरण है।

(ग) शिबि-जातक मे महाराज शिबि के गुणो का वर्णन करते हुए आर्यशूर कहते है —

"तस्मिंस्त्रिवर्गानुगुणा गुणौघाः
संहर्षयोगादिव संनिविष्टा ।
समस्तरूपा विबभुर्न चासु
विरोधसक्षोभविपन्नशोभा ॥"[3]

---

१ जातक० १६।५-६

२ जातक० १।७

३. जातक० २।१

(त्रिवर्ग—अर्थ, धर्म और काम की सिद्धि के अनुरूप सकल गुणगण मानो आनन्दातिरेक से उनमे प्रविष्ट हुए। एक साथ रहते हुए वे शोभित हुए, पारस्परिक विरोध-जन्य क्षोभ के अभाव से उनकी शोभा नष्ट नही हुई।)

सकल गुणो से युक्त होना इस क्रिया को आनन्दातिरेक से प्रविष्ट होना रूप मे संभावित किया गया है। अत. यहाँ भी क्रियोत्प्रेक्षा है।

(घ) गद्य मे उत्प्रेक्षा का उदाहरण—

व्याघ्री-जातक मे पवित्र शील वाले ब्राह्मण वंश मे उत्पन्न बोधिसत्त्व के प्रव्रजित होने का वर्णन करते हुए कवि कहते है—

"अथ कदाचित् स महात्मा परिनिष्पन्नभूयिष्ठे पृथूभूते शिष्यगणे प्रतिष्ठापितेऽस्मिन्कल्याणे वर्त्मन्यवतारिते नैष्क्रम्यसत्पथ लोके संवृत्तेष्विवापायद्वारेषु राजमार्गीकृतेष्विव सुगतिमार्गेषु दृष्टधर्मसुखविहारार्थं तत्कालशिष्येणाजितेनानुगम्यमानो योगानुकूलान् पर्वतदरीनिकुञ्जाननुविचचार।'[1]

(जब उनकी शिष्यमण्डली बहुत बढ़ गयी और उनमे से अनेको ने सिद्धि प्राप्त कर ली, संसार मे कल्याण-मार्ग स्थापित हो गया और लोग वैराग्य के सन्मार्ग पर आरूढ़ हो गये, दुर्गति के द्वार मानो बन्द हो गये और सुगति के मार्ग मानो राज-मार्ग की तरह प्रशस्त, समतल और सुगम बन गये, तब एक बार वह महात्मा इसी जन्म मे सुखपूर्वक विहार करने के लिए अपने तत्कालीन शिष्य अजित के साथ योग के अनुकूल पर्वतकन्दराओ और निकुंजो मे घूमने लगे।

५—रूपक[2] :—

"वर्तकापोतक-जातक" मे दावाग्नि की भयंकरता का वर्णन करते हुए आर्यशूर कहते है—

(क) "स मारुताघूर्णितविप्रकीर्णै-
ज्वालाभुजैर्नृत्तविशेषचित्रैः।
वल्गन्निव व्याकुलधूमकेश.
सत्त्वान तेषा धृतिमाददान ॥"[3]

(वह दावाग्नि वायु-द्वारा संचालित ज्वालारूपी भुजाओ को फैलाता हुआ, बिखरे हुए धुआँ रूपी बालो को हिलाता हुआ, विशेष प्रकार का नृत्य करता हुआ, उछल उछल कर आगे बढ़ता हुआ उन पशु-पक्षियो और वनस्पतियो का धैर्य हरण कर रहा था)

---

१ जातक० १।१२ के बाद का गद्य

२ "तद्रूपकमभेदो य उपमानोपमेययो ।"—का० प्र० १०।९३

३ जातक० १६।४

यहाँ ज्वाला उपमेय तथा भुजा उपमान है, इसी प्रकार धुआँ उपमेय तथा केश उपमान है। दोनो उपमेय तथा उपमान शब्द द्वारा कहे गये है। अतएव यह समस्तवस्तुविषयक[1] सागरूपक है।

(ख) निरंग रूपक[2] का उदाहरण—

शिबि जातक मे महाराज शिबि के नेत्र-दान का निश्चय जान कर घबराहट और दु ख से व्याकुल अमात्यगण उन्हे वैसा करने से रोकते हुए कहते हैं—

"एकस्यार्थे द्विजस्यास्य मा न सर्वान्पराकृथा. ।
अल शोकाग्निना दग्धु सुख संर्बधिता प्रजा ॥"[3]

(इस एक द्विज के लिए आप हम सबकी उपेक्षा न करें। सुख मे पली हुई प्रजा को आप शोक-रूपी अग्नि से न जलायें।)

यहाँ केवल शोक-रूप उपमेय को अग्नि-रूप उपमान बनाया गया है और उसके किसी अप्रधान वस्तु का पोषक रूप से निर्देश नही किया गया है। अतएव अंगो से रहित होने के कारण यह निरंग (शुद्ध) रूपक का उदाहरण है।

(ग) गद्य मे रूपक का उदाहरण .—

"प्रादुर्भूते च तस्मिन्नयनाश्चर्ये प्रमुदितमना: स राजा पुनरपि शक्रमुवाच ।"[4]

(नेत्र रूपी आश्चर्य के प्रकट होने पर प्रसन्नचित्त राजा ने पुन शक्र से कहा।)

यहाँ नेत्ररूप उपमेय को आश्चर्य रूप उपमान बनाया गया है तथा उसके किसी अंग का वर्णन नही हुआ है। अतएव यह भी निरंग (शुद्ध) रूपक है।

६—अर्थान्तरन्यास[5] ·—जैसे—

(क) व्याघ्री जातक मे भूख की ज्वाला से व्याकुल हो अपने सद्य प्रसूत शिशु को भी आहार बनाने के लिए उद्यत व्याघ्री की दयनीय दशा से द्रवीभूत बोधिसत्त्व का वर्णन करते हुए आर्यशूर कहते हैं —

---

१. "समस्तवस्तुविषय श्रौता आरोपिता यदा ।—का० प्र० १०।९३

२ "निरङ्गन्तु शुद्धम् ।"—का० प्र० १०।९४

३ जातक० २।१६

४ जातक० २।३६ के बाद का गद्य

५ "सामान्य वा विशेषेण विशेषस्तेन वा यदि ॥
कार्यं च कारणेनेद कार्येण च समर्थ्यते ।
साधर्म्येणेतरेणार्थान्तरन्यासोऽष्टधा तत ॥"—सा० द० १०।६१-६२

"बोधिसत्त्वस्तु तां दृष्ट्वा धीरोऽपि करुणावशात् ।
चकम्पे परदुःखेन महीकम्पादिवाद्रिराट् ॥
महत्स्वपि स्वदुःखेषु व्यक्तधैर्याः कृपात्मकाः ।
मृदुनाप्यन्यदुःखेन कम्पन्ते यत्तदद्भुतम् ॥"[१]

(उस बाघिन को देख कर धीर होने पर भी बोधिसत्त्व करुणा के वशीभूत हो गये और दूसरे के दुःख से ऐसे काँपने लगे जैसे भूकम्प से गिरिराज काँप रहा हो।

दयालु व्यक्ति अपने भारी दुःखो मे भी धैर्य धारण करते है और दूसरे के हल्के दुःख से भी विचलित हो जाते हैं, यह आश्चर्य है।)

यहाँ प्रथम वाक्य विशेष है और उसका समर्थन दूसरे सामान्य वाक्य से किया गया है। अतः विशेष का सामान्य से समर्थन-रूप अर्थान्तरन्यास है।

(ख) कारण का कार्य से समर्थनरूप अर्थान्तरन्यास—जैसे—

विश्वन्तर जातक मे विश्वन्तर के अद्भुत दान-कर्म की परीक्षा के लिए आये हुए देवराज इन्द्र ब्राह्मण का रूप धारण कर उनसे पत्नी की याचना करते हुए कहते है—

"महाह्लदेष्वम्भ इवोपशोषं
न दानधर्मः समुपैति सत्सु ।
याचे ततस्त्वां सुरसन्निभां यां
भार्यामिमामर्हसि तत्प्रदातुम् ॥"[२]

(जैसे बडे बडे सरोवरो का जल नही सूखता है, वैसे ही सज्जनो का दान-धर्म बन्द नही होता है। अतः मेरी प्रार्थना है कि आपकी देवता-तुल्य जो यह पत्नी है इसे आप मुझे दान कर दे।)

यहाँ पूर्वार्ध कारण रूप वाक्य का उत्तरार्ध कार्यरूप वाक्य के द्वारा समर्थन हुआ है। अतएव कारण का कार्य से समर्थन रूप अर्थान्तरन्यास है। साथ ही पूर्वार्ध मे उपमा है।

(घ) कार्य का कारण से समर्थनरूप अर्थान्तरन्यास का उदाहरण —

"चुकोप मद्री न तु नो रुरोद
विवेद सा तस्य हि तं स्वभावम् ।
अपूर्वदुःखातिभरातुरा तु
तं प्रेक्षमाणा लिखितेव तस्थौ ॥"[३]

---

१ जातक० १।१६-१७

२. जातक० ९।९२

३. जातक० ९।९४

(पति के द्वारा ब्राह्मण रूपधारी इन्द्र को दान कर दिये जाने पर विश्वन्तर की पत्नी मद्री न क्रुद्ध हुई और न रोई, इसलिए कि वह अपने पति के स्वभाव से परिचित थी। किन्तु अभूतपूर्व दुख के भारी दुख से दुखी होकर उनकी ओर देखती हुई वह चित्रलिखित सी खडी रही।)

यहाँ प्रथम चरण के कार्यरूप वाक्य का द्वितीय चरण के कारण-रूप वाक्य के द्वारा समर्थन किया गया है। अतएव कार्य का कारण से समर्थन रूप अर्थान्तर-न्यास अलंकार है।

(ड) विशेष का सामान्य से समर्थन रूप अर्थान्तरन्यास, जैसे—

विश्वन्तर-जातक मे ही ब्राह्मण रूप मे बोधिसत्त्व विश्वन्तर के अद्भुत दान-कर्म की परीक्षा लेकर देवराज इन्द्र अपने वास्तविक रूप मे प्रकट होते है और प्रसन्न होकर उससे कहते हैं —

'तुभ्यमेव प्रयच्छामि मद्रीं भार्यामिमामहम्।
व्यतीत्य नहि शीतांशु चन्द्रिका स्थातुमर्हति॥'[१]

(मैं आपकी पत्नी इस मद्री को आपको ही वापस दे रहा हूँ। चन्द्रमा को छोड कर चन्द्रिका और कहाँ रह सकती है ?)

यहाँ पूर्वार्ध विशेष का उत्तरार्ध सामान्य से समर्थन किया गया है। अतएव विशेष का सामान्य से समर्थन रूप अर्थान्तरन्यास अलंकार है।

— —

१ जातक० ९।९९

उपसंहार

बौद्ध संस्कृत-साहित्य के अन्यतम रत्न जातकमाला पर किया गया यह अध्ययन मुख्यत साहित्यपरक है। तथापि आनुषगिक रूप मे, विशेषत उक्त ग्रन्थ की दार्शनिक पृष्ठभूमि के प्रतिपालन के लिए महायान बौद्ध धर्म की न्यूनाधिक चर्चा की गई है। महायान बौद्धधर्म की तत्त्वविवेचनात्मक (Metaphysical) स्थिति के निरूपण से यथासाध्य पृथक् रहते हुए भी यह दिखलाने का प्रयास हुआ है कि जातकमाला मे महायान-सम्प्रदाय का आचारशास्त्रीय पक्ष तो प्रस्फुटित हुआ ही है, उसका तत्त्वविवेचनात्मक पक्ष भी कम महत्त्वपूर्ण नही है। वस्तुत दर्शनशास्त्र की बिविधशाखाये (आचारशास्त्र, तत्त्व-मीमासा तथा धर्म) बौद्ध-साहित्य मे इस प्रकार घुल मिल गई है कि इन्हे अनन्य या एकान्तभाव से निरूपित करना अत्यन्त कठिन है।

मूलरूप से जातकमाला बोधिसत्त्व की कल्पना का चरम उत्कर्ष प्रकट करती है, जिसमे बुद्ध के बुद्धत्त्वलाभ के पूर्व जन्मो की कथाओ का निदर्शन है। बुद्ध के बोधिसत्त्वरूप मे जो सिद्धि-लाभ के प्रति उन्मुखता या उत्कट उत्सुकता होनी चाहिए, वह इन अवदान-कथाओ मे नही मिलती। लोक-कल्याण और परोपकार बोधिसत्त्व के जीवन का चरमलक्ष्य (Summum bonum) प्रतीत होता है। इस तथ्य का निरूपण प्रस्तुत कृति मे सम्यक् प्रकार से किया गया है। इतना ही नही निर्वाण और पुनर्जन्म के विषय मे आस्तिक एवं नास्तिक दर्शन सम्प्रदायो के अन्तर्गत जो विवेचन हुए है, उन्हे भी बुद्धसम्मत निर्वाण के परिप्रेक्ष्य मे देखने का प्रयास हुआ है।

वास्तव मे किसी भी अध्ययन के मूल मे दर्शनशास्त्र की विवेचना ही पृष्ठ-भूमि मे काम करती है। मानव जीवन स्वयं एक दर्शन है। हम जो कुछ करते है, सोचते है, सबके पीछे एक निश्चित नियम है। बोधिसत्त्व के आचरणो मे भी इसी दार्शनिकता का परिचय प्राप्त होता है। इसे जातकमाला का प्रत्येक जातक आर-म्भिक तथा अतिम पंक्तियो मे प्रकट करता है। इसलिए इस प्रबन्ध मे दार्शनिक परिवेश का विवरण देकर यह सिद्ध किया गया है कि तथाकथित काव्यग्रन्थ के मूल मे भी किस प्रकार दर्शन की पीठिका रहती है और जो ग्रन्थ दर्शन प्रधान काव्य हो, उसका तो कहना ही क्या ?

काल का निर्णय करना भारतीय इतिहास मे बहुत ही दु साध्य तथा अनेकान्त व्यापार माना गया है। जातकमाला के लेखक के काल का निर्णय भी आनुमानिक ही है जो विशुद्ध बहिरंग प्रमाणो पर आश्रित है। इसके बाद इत्सिग द्वारा उल्लेख तथा अजन्ता मे कतिपय जातको के भित्तिचित्र के आधार पर जो काल निर्णय किया गया है (४०० ई०), वह कभी भी एकान्त ज्ञान नही दे सकता, तथापि अधिक स्पष्ट

प्रमाणो के अभाव मे यही स्वीकार करना पडा है। आर्यशूर की कृतियाँ, संख्या मे कई होने पर भी कुछ केवल तिब्बती अनुवाद मे ही उपलब्ध है। जातकमाला, सुभाषितरत्नकरण्डककथा तथा पारमितासमास ये तीन कृतियाँ ही मूल संस्कृत मे उपलब्ध होती है। इन तीनो की शैली मे समानता नही है, जिससे इनके एककर्तृत्व पर आशका उठायी गई है। इससे प्रबन्ध मे हमने सकारण निर्देश किया है कि जातकमाला ही आर्यशूर की एकमात्र प्रामाणिक कृति है।

आर्यशूर के व्यक्तित्व के विषय मे यही अनुमान होता है कि वे एक प्रबुद्ध विद्वान् तथा उत्साही धर्मप्रचारक थे, जिन्होने अश्वघोष के समान ही बौद्ध साहित्य को हृदय बना कर संस्कृत भाषा मे उपनिबद्ध किया। बहुधा कहा जाता है कि किसी की शैली से उसके व्यक्तित्व का ज्ञान होता है। इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि आर्यशूर सरल चित्तवृत्ति के व्यक्ति थ, जिन्हे अपने जीवन, कला तथा शैली मे भी आर्जव प्रिय था।

प्रबन्ध का मुख्य बल जातकमाला के साहित्यिक अध्ययन पर रहा है। इसके सामग्री का उपयोग किया गया है। जातकमाला जिस प्रकार की शली म लिखी गई है, उसका प्रचार आर्यशूर के अनुमानित काल मे पर्याप्त था। यह दिखलाया गया है कि किस प्रकार संस्कृत भाषा की तात्कालिक शैली ने आर्यशूर को प्रभावित किया है। प्रभावक शली दो विभिन्न दिशाओ से आती प्रतीत होती है। एक तो बौद्ध सस्कृत-साहित्य और दूसरी बौद्धेतर सस्कृत साहित्य। बौद्ध सस्कृत-साहित्य मे भगवान् बुद्ध के जीवन चरित्र से सम्बद्ध ललितविस्तर का सविस्तर प्रभाव आर्यशूर की शली पर दिखलाया गया है। इसमे यह भी स्पष्ट किया गया है कि मुख्यत गद्य शैली ही आर्यशूर को प्रभावित करती रही है। ललितविस्तर के पद्यो से आर्यशूर के पद्यो की कोइ तुलना ही नही। वे उससे बहुत आगे बढ़े हुए है।

बौद्धेत्तर साहित्य के अन्तर्गत कई प्रकार की सामग्री पाते है। एक तो पंचतन्त्र जैसे ग्रन्थो की कथा कहने वाली शैली जिसने भाव और कला दोनो ही दृष्टियो से जातकमाला को प्रभावित किया है। कथा का मुख्य सूत्र बढ़ाने वाले गद्य तथा सम्वाद अथवा भाषणपरक पद्य जिस प्रकार पंचतन्त्र मे आये है, उसी प्रकार जातकमाला मे भी। अतः संरचना (Structure) की दृष्टि से पंचतन्त्र का प्रभाव जातकमाला पर सर्वाधिक है। किन्तु दोनो मे एक मुख्य अन्तर यह है कि जातकमाला की प्रत्येक कथा स्वतंत्र एवं पूर्ण है, जब कि पंचतंत्र मे कथाये परस्पर उलझायी हुई है।

संस्कृत का शिलालेखीय साहित्य भी कदाचित् आर्यशूर को प्रभावित करने मे पीछे नही रहा होगा। शिलालेख की शैली अपने समय की साहित्यिक शैली की परिचायिका होती है। अत रुद्रदामन् का गिरनार शिलालेख या बासुदेव का मथुराशिलोलेख या समुद्रगुप्त का प्रयागस्तम्भलेख अवश्य ही तात्कालिक शैली का

आदर्श है। इसमे कोई आश्चर्य नही कि गद्य मे समासभूयस्त्व के सन्निवेश के लिए आर्यशूर ने इन बौद्धेतर संस्कृत शैलियो का भी निरीक्षण किया होगा।

आर्यशूर के काल का जो निरूपण हमने किया है, उस काल मे काव्यशास्त्र का कितना विकास हुआ था कहना कठिन है किन्तु काव्यशास्त्रीय मौलिक सिद्धान्त विशेषत अलंकार, गुण, रीति दोष इत्यादि के विचार उस समय तक आकार ग्रहण कर चुके थे, भले ही उनका पल्लवन नही हुआ हो। अत आर्यशूर अवश्य ही काव्यशास्त्रीय तथ्यो से परिचित होगे। तथापि ऐसा प्रतीत नही होता कि ये किसी लक्षणग्रन्थ को दृष्टि मे रख कर जातकमाला की रचना कर रहे हो। इनकी रचना का उद्देश्य धर्म के प्रति लोगो की श्रद्धा उत्पन्न करना तथा बोधिसत्त्व के अद्भुत चरित्रो के प्रति काव्यकुसुमाजलि का अर्पण करना था। अत इनको जातकमाला मे जो कुछ भी काव्यशास्त्रीय तत्त्व यत्र-यत्र विखरे हुए मिलते है, वे सायास उपनिबद्ध नही हुए है। इस प्रबन्ध मे एक पूरा अध्याय ही काव्यशास्त्रीय तत्त्वो के सदर्भ मे जातकमाला के अध्ययन मे लगाया गया है। संस्कृत आलोचना के जो भी सिद्धान्त समय-समय पर प्रस्तुत किए गये है तथा काव्य की आत्मा का स्वरूप निर्धारण किया गया है, उन सबो की पृष्ठभूमि मे यदि हम देखे, तो जातकमाला मे रीति तथा अलंकारो का ही निवेश मिलता है। काव्यशास्त्र के उदात्ततर तत्त्व—जैसे ध्वनि, रस, तथा मम्मट-सम्मत रस धर्म रूप गुण इसमे नही मिलते। यही कारण है कि आर्यशूर की शैली को विशुद्धोक्ति से पूर्ण माना गया है, किन्तु यह विशुद्धोक्ति कालिदास की शैली के निकट इन्हे नही पहुँचाती, क्योकि कालिदास मे सरल उक्तियो के पीछे रस और ध्वनि की उदारपरियोजना है। यहाँ तक कि अश्वघोष मे भी धर्मप्रचारक का रूप मुखर होने पर भी हृदयतत्त्व का अभाव नही है, किन्तु आर्यशूर के वर्णन आधुनिक भाषा मे इतिवृत्तात्मक कहे जा सकते है, जहाँ हृदयतत्त्व या प्राणतत्त्व के लिए कोई स्थान नही। विशुद्ध का अर्थ उस विदग्ध आलोचक के हृदय मे यही रहा होगा कि आर्यशूर की भाषा, रस आदि तत्त्वो से सर्वथा रहित है। वस्तु का वर्णन करना ही उसका उद्देश्य है।

काव्यशास्त्र के आधार पर फिर भी जातकमाला को अत्यन्त निकृष्ट काव्य नही कहा जा सकता। विशुद्ध शैली मे लिखे गये गद्य और पद्य निबद्ध मे यह प्रबन्ध काव्य तो है ही, इसे हम चम्पूकाव्य का प्रारूप कहे तो कोई आपत्ति नही। यह सत्य है कि सस्कृत-साहित्य मे नीतिकथापरक चम्पू नही लिखे गये। संस्कृत के सभी चम्पू काव्य किसी महापुरुष के जीवनचरित से ही सम्बद्ध है तथापि प्राय जीवनचरित से ही सम्बन्ध रखने पर भी जातकमाला की दिशा दूसरी है। पचतंत्र से प्रेरित उस शैली को काव्यात्मक करनेवाली जातकमाला का स्थान वस्तुत संस्कृत-साहित्य के इतिहास मे एक दृढ़ भूमिका पर अवस्थित है तथा परवर्त्ती साहित्यिक विकास के ऐतिहासिक अध्ययन मे इसका योगदान महत्वपूर्ण है।

कि मानवप्रकृति अध्यात्मपरक है। किसी भी जातक मे आनेवाले बोधिसत्त्व को अध्यात्मवादी मानव तथा उनके विरोधी शक्र को ईर्ष्यालु मानव के रूप मे प्रदर्शित किया गया है। शक्र के द्वारा ली गई कठिन-परीक्षा मे भी बोधिसत्त्व की आध्यात्मिक दृष्टि सर्वथा निष्कलुष रहती है। दूसरी ओर कथावस्तु का विस्तार करने के लिए मानवेतर प्रकृति का भी उपन्यास किया गया है जिसमे प्रकृति के घोर तथा रमणीय दोनो ही पक्षो का सुरम्य चित्रण है। वस्तुत कवि-कल्पना वह सुरम्य प्रासाद है, जिसमे जाकर प्रत्येक वस्तु चमत्कारपूर्ण बन जाती है। इस प्रकार जातकमाला के लेखक को अपने धर्मप्रचाररूप उद्देश्य मे काव्यविधा का माध्यम अपनाने से पूर्ण सफलता मिली है।

—०—

परिशिष्ट १

विशेष शब्दानुक्रमणी

———

परिशिष्ट—२

सन्दर्भ-ग्रन्थ

(अ) जातक विषयक :—

जातकमाला — आर्यशूर—सं० प्रो० श्री सूर्यनारायण चौधरी, संस्कृत भवन, पूर्णिया, १९५२ ई० ।

जातकमाला — आर्यशूर—सं० परशुराम वैद्य, मिथिला विद्यापीठ, दरभंगा, १९५९ ई० ।

जातकमाला — आर्यशूर—स० प्रो० श्री सूर्यनारायण चौधरी, मोतीलाल बनारसी दास, पटना, १९७१ ई० ।

जातकमाला — आर्यशूर—सं० प० श्री वटुकनाथ शास्त्री, मास्टर खेलाडीलाल एण्ड सन्स, बनारस, सं० १९९७ ।

जातक — सं० भदन्त आनन्द कौसल्यायन, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, छ खंड, १९४१-४२ ई० ।

जातककालीन भारतीय-संस्कृति — मोहनलाल महतो वियोगी, बिहार राष्ट्रभाषा-परिषद्, पटना, १९५८ ई० ।

जातककथा — आनन्द कौसल्यायन—सस्ता साहित्य मण्डल प्रकाशन, नई दिल्ली, १९५० ई० ।

जातकमाला — रामचन्द्र वर्मा—साहित्य रत्नमाला कार्यालय, बनारस सिटी, सं० १९८१ ।

पालिजातकरत्नावलि. — स० पं० श्री वटुकनाथ शास्त्री, मास्टर खेलाडी लाल एण्ड सन्स, संस्कृत बुक डिपो, कचौडी गली, बनारस सिटी, १९४० ई० ।

The Jatakamala — Aryasura—Ed. by H Kern, Harvard University Press, 1943

The Jatakamala of Aryasura — Ed by R. C Dwivedi, Motilal Banarsidass, Benaras, 1965

The Jatakamala or Garland of Birth-stories — Aryasura tr by J S Speyer, Motilal Banarsidass, Bungalow Road, Jawahar Nagar, Delhi–7, 1971

A Study of the Jatakas — Analytical and Critical—M L Feer, Sushil Gupta (India) Private Ltd 22/3-c, Galiff Street, Calcutta-4, 1963

Significance of Jatakas — Gokul Das De, Calcutta University, 1951.

Studies in Jataka in Connection with Bodhisattva Idea — T Sugimoto, Ph.D Thesis of Patna University, 1966

(आ) बौद्ध दर्शन :—

बोधिचर्यावतार — सं० डॉ० पी० एल्० वैद्य, मिथिला विद्यापीठ, दरभंगा, १९६० ई० ।

बौद्धधर्म दर्शन — आचार्य नरेन्द्र देव—बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना–४, १९७१ ई० ।

बौद्ध-दर्शन — बलदेव उपाध्याय – शारदा मंदिर, काशी, १९४६ ई० ।

बौद्ध-दर्शन और वेदान्त — डॉ० चन्द्रधर शर्मा, स्टूडेन्ट्स फ्रेन्ड्स, बनारस, १९४९ ई० ।

बौद्ध साहित्य की सांस्कृतिक झलक — परशुराम चतुर्वेदी, साहित्य-भवन (प्रा० लिमिटेड), इलाहाबाद, १९५८ ई० ।

बौद्ध-संस्कृति — राहुल संकृत्यायन, आधुनिक पुस्तक भवन, ३०-३१, कलाकार स्ट्रीट, कलकत्ता–७, १९५२ ई० ।

बुद्ध और बौद्ध-धर्म — आचार्य चतुरसेन शास्त्री, हिन्दी साहित्य मंडल, बाजार सीताराम, देहली, १९४७ ई० ।

बुद्ध-धर्म के उपदेश — भिक्षु धर्मरक्षित, अजन्ता प्रेस लिमिटेड, पटना–४, १९५१ ई० ।

बुद्ध-वचनामृत — सं० शासन श्री महास्थविर महाबोधिसभा, सारनाथ, वाराणसी, १९५६ ई० ।

महायानसूत्र-संग्रह (प्र० खण्ड) — सं० परशुराम वैद्य, मिथिला विद्यापीठ, दरभंगा, १९५९ ई० ।

मिलिन्दपञ्हो (मिलिन्दप्रश्न) — संस्कृतच्छायाकार एवं सं० डॉ० जगन्नाथ पाठक, मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी, १९६० ई० ।

ललितविस्तर — सं० परशुराम वैद्य, मिथिला विद्यापीठ, दरभंगा, १९५८ ई० ।

अभिधर्मकोश — वसुबन्धु, अनु०—आचार्य नरेन्द्रदेव, हिन्दुस्तानी एकेडमी, इलाहाबाद, १९५८ ई० ।

धम्मपदं — सं० श्री सत्कारि शर्मा वङ्गीय, चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी, १९६८ ई० ।

भगवान बुद्ध — धर्मानन्द कोसम्बी, राजकमल प्रकाशन लिमिटेड, बम्बई, १९५६ ई० ।

थेरगाथा — भिक्षु धर्मरत्न, महाबोधि सभा, सारनाथ, बनारस, १९५५ ई० ।

अपदानपालि (खुद्दकनिकाय भाग ६) — सं० भिक्खु जगदीस कस्सपो, पालि प्रकाशन समिति, नालन्दा, पटना, १९५९ ई० ।

तत्त्वसंग्रह. (प्रथमो भाग) — आचार्य शान्तरक्षितविरचित श्री कमलशीलकृतपञ्जिकोपेत, बौद्ध भारती, वाराणसी, १९६८ ई० ।

The Conception of Buddhist Nirvan — Th Scherbatsky, Bharatiya Vidya Prakashan, P Box 108, Kachauri gali, Varanasi–I

Bodhisattvabhumi — Ed by Nalinaksha Dutta, K P Jayaswal Research Institute, Patna, 1966

The Bodhisattva Doctrine in Buddhist Sanskrit Literature — Har Dayal, Motilal Banarasidass, Bungalow Road, Jawahar Nagar, Delh–7, 1970

The History and Literature of Buddhism — T W. Rhys Davids, Sushil Gupta (India) Ltd, Calcutta–12, 1952.

Buddhist Philosophy in India and Cylon — A B. Keith The Chowkhamba Sanskrit Series Office, Varanasi–1, 1963

The Buddhist Conception of Sprits — Bimala Churan Law, Luzac & Co. 46, Great Russell Street, London, W C 9, 1936

The Way to Nirvana — L De La Vallee Poussin, Cambridge University Press, London, 1917

Dialogues of the Buddha (Sacred Books of the Buddhists Vol III) — T W and C A F Rhys Davids, London, Oxford University Press, Amen Corner, E C, 1910

The Cullaniddesa (Khuddaka Nikaya Vol IV, Pt II) — Ed Bhikkhu J Kashyap, Pali Publication Board, Bihar, Nalanda, Patna 1959

The SamyuttaNikaya of the Sutta-pitaka Pt I–IV — Ed by M L. Feer, Pt. VI–Index—Ed by Mrs Rhys Davids, Pali Text Society, London, 1884-98

The Apadana (II Buddhavamsa–Cariya. Pitaka (Khuddaka Nikaye Vol VII) — Ed. Bhikkhu J. Kashyap, Pali Publication Board, Bihar, Govt Nalanda, Patna, 1959

(ङ) अन्य दर्शन

भारतीय दर्शन (भाग १, २) — डॉ० राधाकृष्णन्, अनु० नन्द किशोर गोमिल, राजपाल एण्ड संस दिल्ली–६, १९६९ ई० ।

भारतीय दर्शन — वाचस्पति गैरोला, लोकभारती प्रकाशन, १५-ए, महात्मा गाँधी मार्ग, इलाहाबाद, १९६२ ई० ।

भारतीय दर्शन — श्री सतीशचन्द्र चट्टोपाध्याय एवं श्री धीरेन्द्र मोहन दत्त, अनु०—श्री हरिमोहन झा एवं श्री नित्यानन्द मिश्र, पुस्तक-भंडार, पटना–४, द्वि० सं० ।

भारतीय दर्शन — म० म० उमेश मिश्र—हिन्दी समिति, सूचना विभाग, उत्तर प्रदेश, लखनऊ, १९६४ ई० ।

भारतीय दर्शन — बलदेव उपाध्याय शारदा मदिर, १९/१७, गणेश दीक्षित लेन, बनारस, १९४५ ई० ।

भारतीय दर्शन की रूपरेखा — प्रो० हरेन्द्र प्रसाद सिन्हा, बुकलैण्ड प्राइवेट लिमिटेड, १, शंकर घोष लेन, कलकत्ता–६, १९६५ ई० .

सर्वदर्शन-संग्रह — श्री माधवाचार्य—स० श्री वासुदेव शास्त्री अभ्यंकर, भाण्डारकर ओरियेन्टल रिसर्च इन्स्टीच्यूट, पूना, १९५१ ई० ।

सर्वदर्शन-संग्रह — श्री माधवाचार्य—आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थावली, १९२८ ई० ।

सर्वदर्शन-संग्रह — श्री माधवाचार्य—भाष्यकार डॉ० उमाशंकर शर्मा "ऋषि", चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी–१, १९६४ ई० ।

छान्दोग्योपनिषत् — गीता प्रेस, गोरखपुर, संवत् २०२३ ।

छान्दोग्योपनिषत् — सं० हरिनारायण आप्टे, आनन्दाश्रम मुद्रणालय, पूना, १९०२ ई० ।

बृहदारण्यकोपनिषत् — सं० हरिनारायण आप्टे, आनन्दाश्रम मुद्रणालय, पूना, १९०२ ई० ।

बृहदारण्यकोपनिषत् (शांकरभाष्यसहित) — गीता प्रेस, गोरखपुर संवत् २०१४ ।

ईशादिविंशोत्तर-शतोपनिषद् — निर्णयसागर मुद्रणालयम्, मुंबई–२, १९४८ ई० ।

श्रीमद्भगवद्गीता (शांकरभाष्य सहित) — अनु० हरिकृष्ण दास गोयन्दका, गीताप्रेस, गोरखपुर, संवत् २०१८ ।

श्रीमद्भगवद्गीता — सं० श्री वासुदेव लक्ष्मण पणशीकर, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १९३६ ई० ।

सांख्यतत्त्वकौमुदी — प्रभा—व्याख्याकार प्रो० डॉ० आद्या प्रसाद मिश्र, प्रेम प्रकाशन, इलाहाबाद, १९६९ ई० ।

न्यायसूत्रम् (वात्स्यायन न्याय-भाष्यसहितम्) — गौतममुनि सं० महामहोपाध्याय डॉ० गङ्गानाथ झा, ओरिएंटल बुक एजेंसी, पूना, १९३९ ई० ।

Indian Philosophy (Vol I) — Radha Krishnan, George Allen & Unwin Ltd. London, 1966

History of Indian Philosophy (Vol -1) — J N Sinha—Sinha Publishing House, 39, S R. Dass Road, Cal -26, 1956.

(ई) काव्यशास्त्र एव छन्दःशास्त्र .—

हिन्दी काव्यालंकार-सूत्राणि	—	वामन—सं० प्रो० डॉ० बेचन झा, अध्यक्ष संस्कृत विभाग, पटना विश्वविद्यालय, पटना, चौखम्बा सीरिज आफिस, वाराणसी-१, १९७१ ई० ।
साहित्य दर्पण	—	विश्वनाथ—सं० श्री शालिग्राम शास्त्री, मोतीलाल बनारसीदास, बंगला रोड, जवाहरनगर, दिल्ली-६, १९६१ ई० ।
काव्यप्रकाश (वामन झलकीकर व्याख्या सहित)	—	मम्मट—सं० रघुनाथ दामोदर कर्मकार, भाण्डारकर ओरियन्टल रीसर्च इन्स्टीच्यूट, पूना, १९२१ ई० ।
काव्यादर्श	—	आचार्य दण्डी—व्याख्या० एवं सं० पं० रङ्गाचार्य शास्त्री, भाण्डारकार ओरियन्टल रिसर्च इन्स्टीच्यूट, पूना, १९३८ ई० ।
काव्यादर्श	—	दण्डी—व्याख्या० आचार्य श्री रामचन्द्र मिश्र, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी १, १९५८ ई० ।
काव्यलक्षणम्	—	दण्डी—सं० प्रो० श्री अनन्तलाल ठाकुर, मिथिला संस्कृत शोध संस्थान, दरभंगा, १९५७ ई० ।
दशरूपक	—	धनञ्जय—हिन्दी व्याख्या० डॉ० भोलाशंकर व्यास, चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी-१, १९६७ ई० ।
चित्र-मीमासा	—	श्री अप्पय दीक्षित प्रणीत—स० पं० श्री शिवदत्त शर्मा तथा वासुदेव लक्ष्मण शास्त्री पणशीकर, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १९२६ ई० ।
नाट्यशास्त्र (खण्ड १-३)	—	भरत—जी० ओ० एस०, बरोदा, १९२६-१९५४ ई० ।
काव्यशास्त्रीयनिबन्ध	—	डॉ० सत्यदेव चौधरी—वासुदेव प्रकाशन, दिल्ली-९, १९६३ ई० ।
भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका	—	डॉ० नगेन्द्र, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, १९६३ ई० ।
संस्कृत आलोचना	—	बलदेव उपाध्याय—प्रकाशन ब्यूरो, सूचना विभाग, १९५७ ई० ।
अलंकारशेखर	—	केशव मिश्र—सं० पं० शिवदत्त, पाण्डुरंग जावजी, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १९२६ ई० ।
वृत्तरत्नाकरम्	—	भट्टकेदार—सं० श्रीधरानन्द शास्त्री, पंजाब संस्कृत पुस्तकालय, सैदमिट्ठा बाजार, लाहौर, १ ज्येष्ठ, स० १९९४ ।

वृत्तरत्नाकरम् तथा छन्दोमंजरी — केदार भट्ट तथा गगादास—कलकत्ता, १८१५ ई० ।

वाग्वल्लभ — श्रीदुःखभंजन—चौखम्बा सस्कृत सीरिज ऑफिस, बनारस सिटी, १८३३ ई० ।

सभाष्या रत्नमञ्जूषा — स० हरिदामोदर वेलनकर, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी दुर्गाकुण्ड रोड, बनारस सिटी, सितम्बर १८४८ ई० ।

छन्दस्सारः — पं० जगन्नाथ पाण्डेय—चौखम्वा संस्कृत सीरिज ऑफिस बनारस, १८३० ई० ।

श्रुतबोध — कालिदास—चौखम्बा संस्कृत सीरिज ऑफिस, बनारस।

छन्द सूत्रम् — पिङ्गलमुनि ।

पाश्चात्य साहित्यालोचन — श्री लीलाधर गुप्त, हिन्दुस्तानी एकेडमी, इलाहाबाद, १८५२ ई० ।

Jayadaman — Ed. by H D Velankar Haritosha, Samiti, Bombay.

Matravritti — S K Vel Valkar, Poona, 1924

Janasrayi Chandovicitı — Curator, The University Manuscript Library, Trivendram, 1949

Literary Criticism — Leigh Hunt, Columbia University Press, New York, 1956

Kavyadarsa — Dandin—Ed by V Ramaswami, Shastrulu & Sons, 292, Netajee Subhaschandra Bose, Road Post Box 1372, Madras, 1952

(उ) विविधविषयक :—

सदुक्तिकर्णामृत — श्रीहर्ष—सं० म०म० पं० रामावतार शर्मा, पंजाब संस्कृत बुक डिपो, सैदमीठा स्ट्रीट, लाहौर, १८३३ ई० ।

अभिधान चिन्तामणि — हेमचन्द्र—व्याख्या०-श्री हरगोविन्द शास्त्री, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी-१, १८६० ई० ।

अभिधान चिन्तामणि — निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १८२५ ई० ।

हरिश्चन्द्रोपाख्यानम् — सं० डॉ० उमाशंकर शर्मा 'ऋषि' चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी-१, १८६३ ई० ।

हिन्दी विश्वकोश (खण्ड १) — नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, १८६० ई० ।

रामायणम् — १ वाल्मीकि—सं० श्री वासुदेव लक्ष्मण शास्त्री पणशीकर, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १८३० ई० ।
२. सं०—रामतेज पाण्डेय, पंडित पुस्तकालय, काशी, सं० २०१३ ।

श्रीमन्महाभारतम् (तृतीय भाग) — महर्षि श्री कृष्णद्वैपायन--गीताप्रेस, गोरखपुर, विक्रमाब्द १९१४।

उत्कीर्णलेखाञ्जलि — श्री जयचन्द्र विद्यालंकार, मास्टर खेलाडीलाल एण्ड सन्स, संस्कृत बुक डिपो, कचौडी गली, बनारस सिटी, १९३६ ई०।

ऋग्वेदभाष्यभूमिका — व्याख्या० डॉ० जगन्नाथ पाठक—चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी-१, १९६० ई०।

अभिज्ञानशाकुन्तलम् (चतुर्थ संस्करण) — कालिदास—सं० डॉ० बाबूराम त्रिपाठी, रतन प्रकाशन मन्दिर, अस्पताल मार्ग, आगरा ३।

The Dynamics of Faith — Khagendra Nath Mitra, University of Calcutta, 1952.

A Short History of Indian Literature — E Horrwitz, London, T. Fisher Unwin, Adel Phi Terrace, 1907.

The Panchatantra — Vishnu Sharma, Ed. by Dr. Johannes Hertel, Harvard University, 1908

Pillar Edicts of Ashoka — Dr Umashankar Sharma, Pt Sasthi Prasad Sharma (at & p o 1, Pondil Gaya (Bihar)

Hindu Polity — Dr. K P Jayaswal, the Bangalore Printing & Publishing Corporation Ltd, Bangalore City, 1943

Gita Govinda — Jaideo—Ed by V M Kulkarni, Lalbhai Delpat bhai, Bhartiya Sanskrit Vidyamandir, Ahmedabad-9, Dece. 1965

Ratnavali — Shree Harsha Deo—Ed by M R Kale—Gopal Narayan & Co Kalabadevi Road, Bombay, 1925.

Collected Works of Sir R G Bhandarkar (Vol 1) — Ed by Narayan Bapujee Utgilkar & by Vasudev Gopal Paranipe—Bhandarkar Oriental Research Institute, Poona, 1933.

Benisanharam — Bhatta Narayan, Ed by Dr G V. Devasthali, Bombay, June, 1953

The Pilgrim's Progress — John Bunyan—Macmillan and Co, Limited. St Martins Street, London, 1923.

Studies in the Literary aspects of the Bhagvata Purana" — S S Prasad, Ph D Thesis P U 1962

The Buddhacarita (Part I & II) — Ed by E H Johnston–The University of Punjab, Lahore, 1935, 1936.

Shrimadvalmiki-Ramayanam (Vol I & II) — Published—R Narayana Swami Madras Law Journal Press, Myalapore, Madras 1933.

Sadukti Karnamrita —	Shridhardasa, Ed by Suresh Chandra Banerjee. Firma K L Mukhopadhyaya, Calcutta—1965
National Library, India Catalogue of Periodicals, Newspapers & Gazette —	Govt of India Press, Calcutta, 1956
Indian Antiquary Vol -XXXII —	1903—Bombay, Education Society's Press, Byculla P-326-29.
University of Calcutta Journal of the Department of Letters —	Vol-XX Calcutta University Press, 1930 P-1-170
The Calcutta Review —	University of Calcutta Vol-XXXIV, January 1930, P 78-97, Vol-XXXVI, July 1930, P-65-84, 299-321



तृतीयं परिशिष्टम्

बोधिसत्त्वावदानमालापरपर्याया

जातकमाला

आर्यशूरविरचिता

डॉ० कमलाकान्तमिश्रेण डॉ० जगन्नाथपाठकेन

च

सम्पादिता

जातकानुक्रमणिका

जातकमाला

ॐ नम श्रीसर्वबुद्धबोधिसत्त्वेभ्य ॥

श्रीमन्ति सद्गुणपरिग्रहमङ्गलानि कीर्त्यास्पदान्यनवगीतमनोहराणि ।
पूर्वप्रजन्मसु मुनेश्चरिताद्भुतानि भक्त्या स्वकाव्यकुसुमाञ्जलिनार्चयिष्ये ॥ १ ॥
श्लाघ्यैरमीभिरभिलक्षितचिह्नभूतैरादेशितो भवति यत्सुगतत्वमार्ग ।
स्यादेव रूक्षमनसामपि च प्रसादो धर्म्या कथाश्च रमणीयतरत्वमीयु ॥ २ ॥
लोकार्थमित्यभिसमीक्ष्य करिष्यतेऽयं श्रुत्यार्षयुक्त्यविगुणेन पथा प्रयत्न ।
लोकोत्तमस्य चरितातिशयप्रदेशै स्वं प्रातिभं गमयितु श्रुतिवल्लभत्वम् ॥ ३ ॥
स्वार्थोद्यतैरपि परार्थचरस्य यस्य नैवान्वगम्यत गुणप्रतिपत्तिशोभा ।
सर्वज्ञ इत्यवितथाक्षरदीप्तकीर्ति मूर्ध्ना नमे तमसम सहधर्मसंघम् ॥ ४ ॥

१ व्याघ्री-जातकम्

सर्वसत्त्वेष्वकारणपरमवत्सलस्वभाव सर्वभूतात्मभूत पूर्वजन्मस्वपि स भगवानिति बुद्धे भगवति पर. प्रसाद कार्यं ॥

तद्यथानुश्रूयते—रत्नत्रयगुरुभि प्रतिपत्तिगुणाभिराधितगुरुभिर्गुणप्रविचयगुरुभिरस्मद्गुरुभि परिकीर्त्यमानमिदं भगवत पूर्वजन्मावदानम् ।

बोधिसत्त्व. किलायं भगवान्भूत प्रतिज्ञातिशयसदृशैर्दानप्रियवचनार्थचर्याप्रभृतिभि. प्रज्ञापरिग्रहनिरवद्यै कारुण्यनिस्यन्दैर्लोकमनुगृह्णन् स्वधर्माभिरत्युपनतशुचिवृत्तिन्युदितोदिते महति ब्राह्मणकुले जन्मपरिग्रहं चकार । स कृतसंस्कारक्रमो जातकर्मादिभिरभिवर्धमान. प्रकृतिमेधावित्वात्सानाथ्यविशेषाज्ज्ञानकौतूहलादकौसीद्याच्च नचिरेणैवाष्टादशसु विद्यास्थानेषु स्वकुलक्रमाविरुद्धासु च सकलासु कलास्वाचार्यकं पदमवाप ।

स ब्रह्मवद् ब्रह्मविदा बभूव राजेव राज्ञा बहुमानपात्रम् ।
साक्षात्सहस्राक्ष इव प्रजाना ज्ञानार्थिनामर्थचर. पितेव ॥ ५ ॥

तस्य भाग्यगुणातिशयसमावर्जितो महाँल्लाभसत्कारयशोविशेष प्रादुरभूत् । धर्माभ्यासभावितमति कृतप्रव्रज्यापरिचयस्तु बोधिसत्त्वो न तेनाभिरेमे ।

स पूर्वचर्यापरिशुद्धबुद्धि. कामेषु दृष्ट्वा बहुदोषजातम् ।
गार्हस्थ्यमस्वास्थ्यमिवावधूय कंचिद्वनप्रस्थमलंचकार ॥ ६ ॥
स तत्र नि सङ्गतया तया (च) प्रज्ञावदातेन शमेन चैव ।
प्रत्यादिदेशेव कुकार्यसङ्गाद्विश्लिष्टशिष्टोपशम नृलोकम् ॥ ७ ॥
मैत्रीमयेण प्रशमेन तस्य विस्यन्दिनेवानुपरीतचित्ता. ।
परस्परद्रोहनिवृत्तभावास्तपस्विवद् व्यालमृगा विचेरु ॥ ८ ॥
आचारशुद्धया निभृतेन्द्रियत्वात्संतोषयोगात्करुणागुणाच्च ।
असंस्तुतस्यापि जनस्य लोके सोऽभूत् प्रियस्तस्य यथैव लोक ॥ ९ ॥

अल्पेच्छभावात्कुहनानभिज्ञस्त्यक्तस्पृहो लाभयश.सुखेषु ।
स देवतानामपि मानसानि प्रसादभक्तिप्रवणानि चक्रे ॥ १० ॥
श्रुत्वाथ तं प्रव्रजितं मनुष्या गुणैस्तदीयैरवबद्धचित्ताः ।
विहाय बन्धूंश्च परिग्रहांश्च तच्छिष्यता सिद्धिमिवोपजग्मु. ॥ ११ ॥
शीले शुचाविन्द्रियभावनाया स्मृत्यप्रमोषे प्रविविक्ततायाम् ।
मैत्र्यादिके चैव मन.समाधौ यथाबलं सोऽनुशशास शिष्यान् ॥ १२ ॥

अथ कदाचित्स महात्मा परिनिष्पन्नभूयिष्ठे पृथूभूते शिष्यगणे प्रतिष्ठापितेऽस्मिन्कल्याणे वर्त्मन्यवतारिते नैष्क्रम्यसत्पथं लोके संवृतेष्विवापायद्वारेषु राजमार्गीकृतेष्विव सुगतिमार्गेषु दृष्टधर्मसुखविहारार्थं तत्कालशिष्येणाजितेनानुगम्यमानो योगानुकूलान् पर्वतदरीनिकुञ्जाननुविचचार ।

अथात्र व्याघ्रवनिता ददर्श गिरिगह्वरे।
प्रसूतिक्लेशदोषेण गता निस्पन्दमन्दताम् ॥ १३ ॥
परिक्षामेक्षणयुगा क्षुधा छाततरोदरीम् ।
आहारमिव पश्यन्ती बालान्स्वतनयानपि ॥ १४ ॥
स्तन्यतर्षादुपसृतान्मातृविस्रम्भनिर्व्यथान् ।
रोरूयितरवै क्रूरैर्भर्त्सयन्ती परानिव ॥ १५ ॥
बोधिसत्त्वस्तु ता दृष्ट्वा धीरोऽपि करुणावशात् ।
चकम्पे परदु खेन महीकम्पादिवाद्रिराट् ॥ १६ ॥
महत्स्वपि स्वदु खेषु व्यक्तधैर्या कृपात्मका. ।
मृदुनाप्यन्यदु खेन कम्पन्ते यत्तदद्भुतम् ॥ १७ ॥

अथ स बोधिसत्त्व ससंभ्रमाम्रेडितपदं स्वभावातिशयव्यञ्जकं करुणाबलसमाहिताक्षरं शिष्यमुवाच—वत्स वत्स !

पश्य संसारनैर्गुण्यं मृग्येषा स्वसुतानपि ।
लङ्घितस्नेहमर्यादा भोक्तुमन्विच्छति क्षुधा ॥ १८ ॥
अहो बतातिकष्टेयमात्मस्नेहस्य रौद्रता ।
येन मातापि तनयानाहारयितुमिच्छति ॥ १९ ॥
आत्मस्नेहमयं शत्रुं को वर्धयितुमर्हति ।
येन कुर्यात् पदन्यासमीदृशेष्वपि कर्मसु ॥ २० ॥

तच्छीघ्रमन्विष्यता तावत्कुतश्चिदस्या. क्षुद्दु खप्रतीकारहेतुर्यावन्न तनयानात्मानं चोपहन्ति। अहमपि चैना प्रयतिष्ये साहसादस्मान्निवारयितुम् । स तथेत्यस्मै प्रतिश्रुत्य प्रक्रान्तस्तदाहारान्वेषणपरो बभूव। अथ बोधिसत्त्वस्तं शिष्यं सव्यपदेशमतिवाह्य चिन्तामापेदे ।

संविद्यमाने सकले शरीरे कस्मात्परस्मान्मृगयामि मासम् ।
यादृच्छिकी तस्य हि लाभसंपत् कार्यात्ययः स्याच्च तथा ममायम् ॥ २१ ॥

अपि च

निरात्मके भेदिनि सारहीने दु खे कृतघ्ने सतताशुचौ च ।
देहे परस्मायुपयुज्यमाने न प्रीतिमान्यो न विचक्षणः स. ॥ २२ ॥

स्वसौख्यसङ्गेन परस्य दु खमुपेक्ष्यते शक्तिपरिक्षयाद्वा ।
न चान्यदु खे सति मेऽस्ति सौख्य सत्या च शक्तौ किमुपेक्षक स्याम् ॥ २३ ॥
सत्या च शक्तौ मम यद्युपेक्षा स्यादाततायिन्यपि दु खमग्ने ।
कृत्वेव पापं मम तेन चित्त दह्येत कक्ष महताग्निनेव ॥ २४ ॥
तस्मात्करिष्यामि शरीरकेण तटप्रपातोद्गतजीवितेन ।
संरक्षणं पुत्रवधाच्च मृग्या मृग्या सकाशाच्च तदात्मजानाम् ॥ २५ ॥

किं च भूय —

सदर्शनं लोकहितोत्सुकानामुत्तेजनं मन्दपराक्रमाणाम् ।
संहर्षणं त्यागविशारदानामाकर्षण सज्जनमानसानाम् ॥ २६ ॥
विषादनं मारमहाचमूना प्रसादनं बुद्धगुणप्रियाणाम् ।
व्रीडोदयस्वार्थपरायणाना मात्सर्यलोभोपहतात्मना च ॥ २७ ॥
श्रद्धापन यानवराश्रिताना विस्मापन त्यागकृतस्मयानाम् ।
विशोधनं स्वर्गमहापथस्य त्यागप्रियाणामनुमोदि नृणाम् ॥ २८ ॥
कदा नु गात्रैरपि नाम कुर्या हितं परेषामिति यश्च मेऽभूत् ।
मनोरथस्तत्सफलीक्रिया च संबोधिमग्र्यामपि चाविदूरे ॥ २९ ॥

अपि च ।

न स्पर्धया नैव यशोऽभिलाषान्न स्वर्गलाभान्न च राज्यहेतो ।
नात्यन्तिकेऽप्यात्मसुखे यथायं ममादरोऽन्यत्र परार्थसिद्धेः ॥ ३० ॥
तथा ममानेन समानकालं लोकस्य दु खं च सुखोदयं च ।
हर्तुं च कर्तुं च सदास्तु शक्तिस्तमः प्रकाश च यथैव भानोः ॥ ३१ ॥
दृष्टे गुणेऽनुस्मृतिमागतो वा स्पृष्ट कथायोगमुपागतो वा ।
सर्वप्रकारं जगतो हितानि कुर्यामजस्रं सुखसंहितानि ॥ ३२ ॥
एवं स निश्चित्य परार्थसिद्ध्यै प्राणात्ययेऽप्यापतितप्रमोद ।
मनासि धीराण्यपि देवताना विस्मापयन्स्वा तनुमुत्ससर्ज ॥ ३३ ॥

अथ सा व्याघ्री तेन बोधिसत्त्वस्य शरीरनिपातशब्देन समुत्थापितकौतूहलामर्षा विरम्य स्वतनयवैशसोद्यमात्ततो नयने विचिक्षेप । दृष्ट्वैव च बोधिसत्त्वशरीरमुद्गतप्राणं सहसाभिसृत्य भक्षयितुमुपचक्रमे ।

अथ स तस्य शिष्यो मासमनासाद्यैव प्रतिनिवृत्त कुत्रोपाध्याय इति विलोकयंस्तद्बोधिसत्त्वशरीरमुद्गतप्राण तया व्याघ्रयुवत्या भक्ष्यमाण ददर्श । स तत्कर्मातिशयविस्मयात्प्रतिव्यूढशोकदु खावेगस्तद्गुणाश्रयबहुमानमिवोद्गिरन्निदमात्मगतं ब्रुवाण· शोभेत ।

अहो दयास्य व्यसनातुरे जने स्वसौख्यनैसङ्ग्यमहो महात्मन· ।
अहो प्रकर्ष गमिता स्थितिः सतामहो परेषा मृदिता यश श्रियः ॥ ३४ ॥
अहो पराक्रान्तमपेतसाध्वसं गुणाश्रयं प्रेम परं प्रदर्शितम् ।
अहो नमस्कारविशेषपात्रता प्रसह्य नीतास्य गुणातनुस्तनु ॥ ३५ ॥

निसर्गसौम्यस्य वसुंधराधृतेरहो परेषा व्यसनेष्वमर्षिता ।
अहो मदीया गमिता प्रकाशता खट्टङ्कृता विक्रमसंपदानया ।। ३६ ।।
अनेन नाथेन सनाथता गतं न शोचितव्यं खलु साप्रतं जगत् ।
पराजयाशङ्कितजातसंभ्रमो ध्रुवं विनिश्वासपरोऽद्य मन्मथ ।। ३७ ।।

सर्वथा नमोऽस्त्वस्मै महाभागाय सर्वभूतशरण्यायातिविपुलकारुण्यायाप्रमेयसत्त्वाय भूतार्थबोधिसत्त्वाय महासत्त्वायेति । अथ स तमर्थ सब्रह्मचारिभ्यो निवेदयामास ।

तत्कर्मविस्मितमुखैरथ तस्य शिष्यैर्गन्धर्वयक्षभुजगैस्त्रिदशाधिपैश्च ।
माल्याम्बराभरणचन्दनचूर्णवर्षैश्छन्ना तदस्थिवसुधा वसुधा बभूव ।।३८।।

तदेवं सर्वसत्त्वेष्वकारणपरमवत्सलस्वभाव. सर्वभूतात्मभूत पूर्वजन्मस्वपि स भगवानिति बुद्धे भगवति पर प्रसाद कार्यं । जातप्रसादेश्च बुद्धे भगवति परा प्रीतिरुत्पादयितव्या । एवमायतनगतो न प्रसाद इत्येवमप्युन्नेयम् । तथा सत्कृत्य धर्मः श्रोतव्य । एवं दुष्करशतसमुदानीतत्वात् करुणावर्णेऽपि वाच्यमेवं स्वभावातिशयस्य निष्पादिका परानुग्रहप्रवृत्तिहेतु करुणेति ।

इति व्याघ्रीजातक प्रथमम्

———

२ शिबि-जातकम्

दुष्करशतसमुदानीतोऽयमस्मदर्थं तेन भगवता सद्धर्म इति सत्कृत्य श्रोतव्य । तद्यथानुश्रूयते—

बोधिसत्त्वभूत किलायं भगवानपरिमितकालाभ्यासात्सात्मीभूतोपचितपुण्यकर्मा कदाचिच्छिबीना राजा बभूव । स बाल्यात्प्रभृत्येव बृद्धोपासनरतिर्विनयानुरक्तोऽनुरक्तप्रकृति प्रकृतिमेधावित्वादनेकविद्याधिगमविपुलतरमतिरुत्साहमंत्रप्रभाव-[प्रभुत्व]-शक्तिदैवसंपन्न स्वा इव प्रजा प्रजा. पालयति स्म ।

तस्मिंस्त्रिवर्गानुगुणा गुणौघा संहर्षयोगादिव संनिविष्टा. ।
समस्तरूपा विबभुर्न चासुर्विरोधसंक्षोभविपन्नशोभा ।।१।।
विडम्बनेवाविनयोद्धताना दुर्मेधसामापदिवातिकष्टा ।
अल्पात्मना या मदिरेव लक्ष्मीर्बभूव सा तत्र यथार्थनामा ।।२।।
उदारभावात्करुणागुणाच्च वित्ताधिपत्याच्च स राजवर्य. ।
रेमेऽर्थिनामीप्सितसिद्धिहर्षादक्लिष्टशोभानि मुखानि पश्यन् ।।३।।

अथ स राजा दानप्रियत्वात्समन्ततो नगरस्य सर्वोपकरणधनधान्यसमृद्धा दानशालाः कारयित्वा स्वमाहात्म्यानुरूप यथाभिप्रायसंपादितं सोपचारं मनोहरमनतिक्रान्तकालसुभगं दानवर्ष कृतयुगमेघ इव ववर्ष । अन्नमन्नार्थिभ्यः, पानं पानार्थिभ्यः, शयनासनवसनभोजनगन्धमाल्यरजतसुवर्णादिकं तत्तदर्थिभ्य. । अथ तस्य राज्ञ प्रदानौदार्यश्रवणाद्विस्मितप्रमुदितहृदया नानादिगभिलक्षितदेशनिवासिन. पुरुषास्तं देशमुपजग्मु ।

परीत्य कृत्स्नं मनसा नृलोकमन्येष्वलब्धप्रणयावकाशा ।
तमर्थिन प्रीतमुखा· समीयुर्महाह्रदं वन्यगजा यथैव ॥ ४ ॥

अथ स राजा समन्तत समापततो लाभाशाप्रमुदितमनस पथिकजननेपथ्य-प्रच्छादितशोभस्य वनीपकजनस्य

विप्रोषितस्येव सुहृज्जनस्य सदर्शनात्प्रीतिविजृम्भिताक्ष ।
याच्ञा प्रियाख्यानमिवाभ्यनन्दद्दत्त्वा च तुष्ट्यार्थिजन जिगाय ॥ ५ ॥

दानोद्भव कीर्तिमय सुगन्धस्तस्यार्थिना वागनिलप्रकीर्णं ।
मदं जहारान्यनराधिपाना गन्धद्विपस्येव परद्विपानाम् ॥ ६ ॥

अथ कदाचित्स राजा दानशाला समनुविचरस्तृप्तत्वादर्थिजनस्य प्रविरलं याचकजनसपातमभिसमीक्ष्य दानधर्मस्यानुत्सर्पणान्न तुष्टिमुपजगाम ।

तर्ष विनिन्येऽर्थिजनस्तमेत्य न त्वर्थिन प्राप्य स दानशौण्ड ।
न ह्यस्य दानव्यवसायमर्थी याच्ञाप्रमाणेन शशाक जेतुम् ॥ ७ ॥

तस्य बुद्धिरभवत्—अतिसभाग्यास्ते सत्पुरुषविशेषा ये विस्रम्भनिर्यन्त्रणप्रणय-मर्थिभि स्वगात्राण्यपि याच्यन्ते । मम पुन प्रत्याख्यानरूक्षाक्षरवचनसंतर्जित इवार्थि-जनो धनमात्रकेऽप्रगल्भप्रणय संवृत्त इति ।

अथ क्षितीशस्य तमत्युदारं गात्रेष्वपि स्वेषु निवृत्तसङ्गम् ।
विज्ञाय दानाश्रयिणं वितर्क पतिप्रिया स्त्रीव मही चकम्पे ॥ ८ ॥

अथ शक्रो देवेन्द्र. क्षितितलचलनादकम्पिते विविधरत्नप्रभोद्भासिनि सुमेरौ पर्वतराजे किमिदमिति समुत्पतितवितर्कस्तस्य राज्ञ इमं वितर्कातिशयं धरणीतल-चलननिमित्तमवेत्य विस्मयावर्जितहृदयश्चिन्तामापेदे ।

दानातिहर्षोद्धतमानसेन वितर्कितं किं स्विदिदं नृपेण ।
आबध्य दानव्यवसायकक्ष्या स्वगात्रदानस्थिरनिश्चयेन ॥ ९ ॥

तन्मीमासिष्ये तावदेनमिति । अथ तस्य राज्ञ पर्षदि निषण्णस्यामात्यगणपरि-वृतस्य समुचिताया कृतायामर्थिजनस्य क किमिच्छतीत्याह्वानावघोषणायामुद्घाट्य-मानेषु कोशाध्यक्षाधिस्थितेषु मणिकनकरजतधननिचयेषु विश्लेष्यमाणासु पुटासु विविधवसनपरिपूर्णगर्भासु समुपावर्त्यमानेषु विनीतविविधवाहनस्कन्धप्रतिष्ठितयुगेषु विचित्रेषु यानविशेषेषु प्रवृत्तसंपातेऽर्थिजने शक्रो देवानामिन्द्रो वृद्धमन्ध ब्राह्मणरूपमभि-निर्माय राज्ञश्चक्षु पथे प्रादुरभवत् । अथ तस्य राज्ञ कारुण्यमैत्रीपरिभावितया धीर-प्रसन्नसौम्यया प्रत्युद्गत इव परिष्वक्त इव च दृष्ट्या केनार्थ इत्युपनिमन्त्र्यमाण क्षितिपानुचरैर्नृपतिसमापमुपेत्य जयाशीर्वचनपुर.सर राजानमित्युवाच—

दूरादपश्यन्स्थविरोऽभ्युपेतस्त्वच्चक्षुषोऽर्थी क्षितिपप्रधान ।
एकेक्षणेनापि हि पङ्कजाक्ष गम्येत लोकाधिप लोकयात्रा ॥ १० ॥

अथ स बोधिसत्त्वः समभिलषितमनोरथप्रसिद्ध्या परं प्रीत्युत्सवमनुभवन् किंस्विदिदं सत्यमेवोक्तं ब्राह्मणेन स्यादुत विकल्पाभ्यासान्मयैवमवधारितमिति जात-विमर्शश्चक्षुर्याच्ञाप्रियवचनश्रवणतृषितमतिस्तं चक्षुर्याचनकमुवाच—

केनानुशिष्टस्त्वमिहाभ्युपेतो मा याचितुं ब्राह्मणमुख्य चक्षुः।
सुदुस्त्यजं चक्षुरिति प्रवादः संभावना कस्य मयि व्यतीता॥ ११॥

अथ स ब्राह्मणवेषधारी शक्रो देवेन्द्रस्तस्य राज्ञ आशयं विदित्वोवाच—

शक्रस्य शक्रप्रतिमानुशिष्टया त्वा याचितुं चक्षुरिहागतोऽस्मि।
संभावना तस्य ममैव चाशा चक्षुःप्रदानात्सफलीकुरुष्व॥ १२॥

अथ स राजा शक्रसंकीर्तनान्नूनमस्य ब्राह्मणस्य भवित्री देवतानुभावादनेन विधिना चक्षुःसंपदिति मत्वा प्रमोदविशदाक्षरमेनमुवाच—

येनाभ्युपेतोऽसि मनोरथेन तमेष ते ब्राह्मण पूरयामि।
आकाङ्क्षमाणाय मदेकमक्षि ददामि चक्षुर्द्वयमप्यहं ते॥ १३॥

स त्वं विबुद्धनयनोत्पलशोभितास्यः
संपश्यतो व्रज यथाभिमतं जनस्य।
स्यात् किं नु सोऽयमुत नेति विचारदोला-
लोलस्य सोऽयमिति चोत्थितविस्मयस्य॥ १४॥

अथ तस्य राज्ञोऽमात्याश्चक्षुःप्रदानावसायमवेत्य ससम्भ्रमावेगविषादव्यथितमनसो राजानमूचुः—

दानातिहर्षादनयमसमीक्ष्याहितोदयम्।
प्रसीद देव मा मैवं न चक्षुर्दातुमर्हसि॥ १५॥
एकस्यार्थे द्विजस्यास्य मा नः सर्वान्पराकृथाः।
अलं शोकाग्निना दग्धुं सुखं संवर्धिताः प्रजाः॥ १६॥

धनानि लक्ष्मीप्रतिबोधनानि श्रीमन्ति रत्नानि पयस्विनीर्गाः।
रथान् विनीतांश्च युजः प्रयच्छ मदोर्जितश्रीललितान् द्विपान्वा॥ १७॥
समुच्चरन्नूपुरनिस्वनानि शरत्पयोदाभ्यधिकद्युतीनि।
गृहाणि सर्वर्तुसुखानि देहि मा दाः स्वचक्षुर्जगदेकचक्षुः॥ १८॥

विमृश्यतामपि च तावन्महाराज!

अन्यदीयं कथं नाम चक्षुरन्यत्र योज्यते।
अथ देवप्रभावोऽयं त्वच्चक्षुः किमपेक्ष्यते॥ १९॥

अपि च देव!

चक्षुषा किं दरिद्रस्य पराभ्युदयसाक्षिणा।
धनमेव यतो देहि देव मा साहसं कृथाः॥ २०॥

अथ स राजा तानमात्यान्सानुनयमधुराक्षरमित्युवाच—

अदाने कुरुते बुद्धिं दास्यामीत्यभिधाय यः।
स लोभपाशं प्रभ्रष्टमात्मनि प्रतिमुञ्चति॥ २१॥
दास्यामीति प्रतिज्ञाय योऽन्यथा कुरुते मनः।
कार्पण्यानिश्चितमतेः कः स्यात्पापतरस्ततः॥ २२॥
स्थिरीकृत्यार्थिनामाशां दास्यामीति प्रतिज्ञया।
विसंवादनरूक्षस्य वचसो नास्ति निष्कृतिः॥ २३॥

यदपि चेष्टं देवतानुभावादेव चक्षुरस्य किं न संभवतीत्यत्र श्रूयताम्—

नैककारणसाध्यत्वं कार्याणा ननु दृश्यते ।
कारणान्तरसापेक्ष. स्याद्दैवोऽपि विधिर्यतः ॥ २४ ॥

तन्न मे दानातिशयव्यवसाये विघ्नाय व्यायन्तुमर्हन्ति भवन्त इति ।

अमात्या ऊचु·—धनधान्यरत्नानि देवो दातुमर्हति न स्वचक्षुरिति विज्ञापित-मस्माभि. । तन्न देवं वयमतीर्थे प्रतारयामः । राजोवाच—

यदेव याच्येत तदेव दद्यान्नानीप्सितं प्रीणयतीह दत्तम् ।
किमुह्यमानस्य जलेन तोयैर्दास्याम्यत प्रार्थितमर्थमस्मै ॥ २५ ॥

अथ तस्य राज्ञो दृढतरविस्रम्भप्रणय स्नेहावेगादनपेक्षितोपचारोऽमात्य-मुख्यस्तं राजानमित्युवाच—मा तावद् भो. !

या नाल्पेन तप.समाधिविधिना संप्राप्यते केनचिद्
यामासाद्य च भूरिभिर्मखशतै कीर्तिं दिवं चाप्नुयात् ।
संप्राप्तामतिपत्य ता नृपतिता शक्रर्द्धिविस्पर्धिनी
किं दृष्ट्वा नयने प्रदित्सति भवान्कोऽयं कुतस्त्यो विधि. ॥ २६ ॥

लब्धावकाशस्त्रिदशेषु यज्ञै कीर्त्या समन्तादवभासमान ।
नरेन्द्रचूडाद्युतिरञ्जिताङ्घ्रिः किं लिप्समानो नु ददासि चक्षु ॥ २७ ॥

अथ स राजा तममात्यं सानुनयमित्युवाच—

नायं यत्न. सार्वभौमत्वमाप्तु नैव स्वर्ग नापवर्गं न कीर्तिम् ।
त्रातुं लोकानित्ययं त्वादरो मे याच्ञाक्लेशो मा च भूदस्य मोघः ॥ २८ ॥

अथ स राजा नीलोत्पलदलशकलरुचिरकान्ति नयनमेकं वैद्यपरिदृष्टेन विधिना शनकैरक्षतमुत्पाट्य परया प्रीत्या चक्षुर्याचनकाय प्रायच्छत् । अथ शक्रो देवेन्द्रस्ता-दृशमृद्ध्यभिसंस्कारं चक्रे यथा ददर्श स राजा सपरिजनस्तत्तस्य चक्षुश्चक्षु.स्थाने प्रतिष्ठितम् । अथोन्मिषितैकचक्षुषं चक्षुर्याचनकमभिवीक्ष्य स राजा परमेण प्रहर्षेण समापूर्णहृदयो द्वितीयमप्यस्मै नयनं प्रायच्छत् ।

तत स राजा नयने प्रदाय विपद्मपद्माकरतुल्यवक्त्र. ।
पौरैरसाधारणतुष्टिरासीत्समग्रचक्षुर्ददृशे द्विजैश्च ॥ २९ ॥

अन्त पुरेऽथ मनुजाधिपते पुरे च
शोकाश्रुभिर्वसुमती सिषिचे समन्तात् ।
शक्रस्तु विस्मयमवाप परा च तुष्टिं
संबोधये नृपमकम्प्यमति समीक्ष्य ॥३०॥

अथ शक्रस्य विस्मयावर्जितहृदयस्यैतदभवत्—

अहो धृतिरहो सत्त्वमहो सत्त्वहितैषिता ।
प्रत्यक्षमपि कर्मेदं करोतीव विचारणाम् ॥ ३१ ॥

तन्नायमाश्चर्यसत्त्वश्चिरमिमं परिक्लेशमनुभवितुमर्हति । यत. प्रयतिष्ये चक्षुरस्योपायप्रदर्शनादुत्पादयितुम् ।

अथ तस्य राज्ञ क्रमात्संरूढनयनव्रणस्यावगीतप्रतनूभूतान्त पुरपौरजानपदशोकस्य प्रविवेककामत्वादुद्यानपुष्करिण्यास्तीरे कुसुमभरावनतरुचिरतरुवरनिचिते मृदुसुरभिशिशिरसुखपवने मधुकरगणोपकूजिते पर्यङ्केण निषण्णस्य शक्रो देवेन्द्र. पुरस्तात्प्रादुरभवत्। क एष इति च राज्ञा पर्यनुयुक्तोऽब्रवीत्—

शक्रोऽहमस्मि देवेन्द्रस्त्वत्समीपमुपागत ।

राजोवाच। स्वागतम्। आज्ञाप्यता केनार्थ इति। स उपचारपुर.सरमुक्तो राजानं पुनरुवाच—

वरं वृणीष्व राजर्षे यदिच्छसि तदुच्यताम् ॥ ३२ ॥

अथ स राजा प्रदानसमुचितत्वादनभ्यस्तयाच्ञाकार्पण्यमार्गो विधृत्य विस्मयशौटीर्यमेनमुवाच—

प्रभूतं मे धनं शक्र शक्तिमच्च महद् बलम् ।
अन्धभावात्त्विदानी मे मृत्युरेवाभिरोचते ॥ ३३ ॥

कृत्वापि पर्याप्तमनोरथानि प्रीतिप्रसादाधिकलोचनानि ।
मुखानि पश्यामि न याचकाना यत्तेन मृत्युर्दयितो ममेन्द्र ॥ ३४ ॥

शक्र उवाच—अलमलमनेन ते व्यवसायेन। सत्पुरुषा एवेदृशान्यनुप्राप्नुवन्ति। अपि च पृच्छामि तावद् भवन्तम् ।

इमामवस्था गमितस्य याचकै कथ नु ते संप्रति तेषु मानसम् ।
प्रचक्ष्व तत्तावदलं निगूहितुं व्रजेश्च संप्रत्यपनीय ता यथा ॥ ३५ ॥

राजोवाच—कोऽयमस्मान् विकत्थयितुमत्रभवतो निर्बन्ध ? अपि च देवेन्द्र श्रूयताम्—

तदैव चैतर्हि च याचकाना वचासि याच्ञानियताक्षराणि ।
आशीर्मयाणीव मम प्रियाणि यथा तथोदेतु ममैकमक्षि ॥ ३६ ॥

अथ तस्य राज्ञ सत्याधिष्ठानबलात् पुण्योपचयविशेषाच्च वचनसमनन्तरमेवेन्द्रनीलशकलाक्रान्तमध्यमिव नीलोत्पलदलसदृशमेकं चक्षु. प्रादुरभवत्। प्रादुर्भूते च तस्मिन्नयनाश्चर्ये प्रमुदितमनाः स राजा पुनरपि शक्रमुवाच—

यश्चापि मा चक्षुरयाचतैकं तस्मै मुदा द्वे नयने प्रदाय ।
प्रीत्युत्सवैकाग्रमतिर्यथासं द्वितीयमप्यक्षि तथा ममास्तु ॥ ३७ ॥

अथाभिव्याहारसमनन्तरमेव तस्य राज्ञो विस्पर्धमानमिव तेन नयनेन द्वितीयं चक्षुः प्रादुरभवत् ।

ततश्चकम्पे सधराधरा धरा व्यतीत्य वेला प्रससार सागरः ।
प्रसक्तगम्भीरमनोज्ञनिस्वनाः प्रसस्वनुर्दुन्दुभयो दिवौकसाम् ॥ ३८ ॥
प्रसादरम्यं ददृशे वपुर्दिशा रराज शुद्धया शरदीव भास्कर ।
परिभ्रमच्चन्दनचूर्णरञ्जितं पपात चित्रं कुसुमं नभस्तलात् ॥ ३९ ॥
समाययुर्विस्मयफुल्ललोचना दिवौकसस्तत्र सहाप्सरोगणा. ।
ववौ मनोज्ञात्मगुण समीरणो मनस्सु हर्षो जगता व्यजृम्भत ॥ ४० ॥

उदीरिता हर्षपरीतमानसैर्महर्द्धिभिर्भूतगणै. सविस्मयै ।
नृपस्य कर्मातिशयस्तवाश्रया समन्तत शुश्रुविरे गिर शुभा ॥ ४१ ॥
अहो बतौदार्यमहो कृपालुता विशुद्धता पश्य यथास्य चेतस ।
अहो स्वसौख्येषु निरुत्सुका मतिर्नमोऽस्तु तेऽभ्युद्गतधैर्यविक्रम ॥ ४२ ॥
सनाथता साधु जगद्गतं त्वया पुनर्विबुद्धेक्षणपङ्कजश्रिया ।
अमोघरूपा बत पुण्यसञ्चयाश्चिरस्य धर्मेण खलूर्जित जितम् ॥ ४३ ॥

अथ शक्र साधु साध्वित्येनमभिसराध्य पुनरुवाच—

न नो न विदितो राजंस्तव शुद्धाशयाशय ।
एवं नु प्रतिदत्ते ते मयेमे नयने नृप ॥ ४४ ॥
समन्ताद्योजनशतं शैलैरपि तिरस्कृतम् ।
द्रष्टुमव्याहता शक्तिर्भविष्यत्यनयोश्च ते ॥ ४५ ॥

इत्युक्त्वा शक्रस्तथैव चान्तर्दधे ।

अथ बोधिसत्त्वो विस्मयपूर्णमनोभिर्मन्दमन्दनिमेषप्रविकसितनयनैरमात्यैरनुयात पौरैश्चाभिवीक्ष्यमाणो जयाशीर्वचनपुर सरैश्च ब्राह्मणैरभिनन्द्यमान पुरवरमुच्छ्रितध्वजविचित्रपताकं प्रवितन्यमानाभ्युदयशोभमभिगम्य पर्षदि निषण्ण. सभाजनार्थमभिगतस्यामात्यप्रमुखस्य ब्राह्मणवृद्धपौरजानपदस्यैवमात्मोपनायिकं धर्मं देशयामास—

को नाम लोके शिथिलादर. स्यात् कर्तुं धनेनार्थिजनप्रियाणि ।
दिव्यप्रभावे नयने ममेमे प्रदानपुण्योपनते समीक्ष्य ॥ ४६ ॥
अनेकशैलान्तरित योजनाना शतादपि ।
अदूरस्थितविस्पष्टं दृश्यं पश्यामि सर्वत ॥ ४७ ॥
परानुकम्पाविनयाभिजाताद्दानात्पर कोऽभ्युदयाभ्युपाय ।
यन्मानुषं चक्षुरिहैव दत्त्वा प्राप्तं मयाऽमानुषदिव्यचक्षु ॥ ४८ ॥
एतद्विदित्वा शिबय. प्रदानैर्भोगेन चार्थान् सफलीकुरुध्वम् ।
लोके परस्मिन्निह चैष पन्था. कीर्तिप्रधानस्य सुखोदयस्य ॥ ४९ ॥
धनस्य नि·सारलघो. स सारो यद्दीयते लोकहितोन्मुखेन ।
निधानता याति हि दीयमानमदीयमानं निधनैकनिष्ठम् ॥ ५० ॥

तदेवं दुष्करशतसमुदानीतोऽयमस्मदर्थ तेन भगवता सद्धर्म इति सत्कृत्य श्रोतव्य· । तथागतमाहात्म्ये पूर्ववच्च करुणावर्णेऽपि वाच्यम्-इहैव पुण्यफलप्रदर्शने चैवं सत्कृत्योपचितानि पुण्यानीहैव पुष्पमात्रमात्मप्रभावस्य कीर्तिसंततिमनोहरं प्रदर्शयन्तीति ॥

इति शिबिजातकं द्वितीयम् ।

---

३ कुल्माषपिण्डी-जातकम्

चित्तप्रसादोद्गतं पात्रातिशयप्रतिपादितं च नाल्पकं नाम दानमस्ति विपाकमहत्त्वात् । तद्यथानुश्रूयते—

बोधिसत्त्वभूत किलायं भगवान्कोशलाधिपतिर्बभूव। तस्योत्साहमन्त्रप्रभु [त्व,]-शक्तिसम्पत्प्रभृतीना प्रकर्षिणामपि राजगुणाना विभूतिमतिशिश्ये दैवसम्पद्गुणशोभा।

गुणास्तस्याधिकं रेजुर्दैवसम्पद्विभूषणा ।
किरणा इव चन्द्रस्य शरदुन्मीलितश्रिय ॥ १ ॥

तत्याज दृप्तानपि तस्य शत्रून् रक्तेव रेमे तदपाश्रितेषु।
इत्यास तस्यान्यनराधिपेषु कोपप्रसादानुविधायिनी श्री ॥ २ ॥
धर्मात्मकत्वान्न च नाम तस्य परोपतापाशिवमास चेत ।
भृत्यानुरागस्तु तथा जजृम्भे द्विषत्सु लक्ष्मीर्न यथास्य रेमे ॥ ३ ॥

सोऽनन्तरातीता स्वजातिमनुसस्मार। तदनुस्मरणाच्च समुपजातसंवेगो विशेष-वत्तरं श्रमणब्राह्मणकृपणवनीपकेभ्य सुखहेतुनिदानं दानमदाच्छीलसंवरमनवरतं पुपोष पोषधनियमं च पर्वदिवसेषु समाददे। अभीक्ष्णं च राजा पर्षदि स्वस्मिश्चान्तःपुरे पुण्यप्रभावोद्भावनाल्लोकं श्रेयसि नियोक्तुकाम प्रतीतहृदयो गाथाद्वयमिति नियतार्थं बभाषे—

न सुगतपरिचर्या विद्यते स्वल्पिकापि
प्रतनुफलविभूतिर्यच्छ्रुतं केवलं प्राक्।
तदिदमलवणायाः शुष्करूक्षारुणायाः
फलविभवमहत्त्वं पश्य कुल्माषपिण्ड्या ॥ ४ ॥
रथतुरगविचित्रं मत्तनागेन्द्रनीलं
बलमकृशमिदं मे मेदिनी केवला च।
बहु धनमनुरक्ता श्रीरुदाराश्च दारा
फलसमुदयशोभा पश्य कुल्माषपिण्ड्या ॥ ५ ॥

तममात्या ब्राह्मणवृद्धा. पौरमुख्याश्च कौतूहलाघूर्णितमनसोऽपि न प्रसहन्ते स्म पर्यनुयोक्तुं किमभिसमीक्ष्य महाराजो गाथाद्वयमिदमभीक्ष्णं भाषत इति। अथ तस्य राज्ञो वाग्मित्यत्वादव्याहततरप्रणयप्रसरा देवी समुत्पन्नकौतूहला संकथाप्रस्तावागत पर्षदि पर्यपृच्छदेनम्।

नियतमिति नरेन्द्र भाषसे हृदयगता मुदमुद्गिरन्निव।
भवति मम कुतूहलाकुलं हृदयमिदं कथितेन तेन ते ॥ ६ ॥
तदर्हति श्रोतुमयं जनो यदि प्रचक्ष्व तत्किं न्विति भाषसे नृप।
रहस्यमेवं च न कीर्त्यते क्वचित्प्रकाशमस्माच्च मयापि पृच्छ्यते ॥ ७ ॥

अथ स राजा प्रीत्यभिस्निग्धया दृष्ट्या समभिवीक्ष्य देवी स्मितप्रविकसित-वदन उवाच—

अविभाव्य निमित्तार्थं श्रुत्वोद्गारमिमं मम।
न केवलं तवैवात्र कौतूहलचलं मन ॥ ८ ॥
समन्तमप्येतदमात्यमण्डलं कुतूहलाघूर्णितलोलमानसम्।
पुरं च सान्त.पुरमत्र तेन मे निशाम्यता येन मयैवमुच्यते ॥ ९ ॥

सुप्तप्रबुद्ध इव जातिमनुस्मरामि
यस्यामिहैव नगरे भृतकोऽहमासम् ।
शीलान्वितोऽपि धनमात्रसमुच्छ्रितेभ्यः
कर्माभिराधनसमर्जितदीनवृत्ति ॥ १० ॥
सोऽहं भृति परिभवश्रमदैन्यशाला
त्राणाशयात्स्वयमवृत्तिभयाद्विविक्षु ।
भिक्षार्थिनश्च चतुर श्रमणानपश्यं
वश्येन्द्रियाननुगतानिव भिक्षुलक्ष्म्या ॥ ११ ॥
तेभ्य प्रसादमृदुना मनसा प्रणम्य
कुल्माषमात्रकमदा प्रयत स्वगेहे ।
तस्याङ्कुरोदय इवैष यदन्यराज-
चूडाप्रभाश्चरणरेणुषु मे निषक्ता ॥ १२ ॥
तदेतदभिसन्धाय मयैवं देवि कथ्यते ।
पुण्येन च लभे तृप्तिमर्हता दर्शनेन च ॥ १३ ॥

अथ सा देवी प्रहर्षविस्मयविशालाक्षी सबहुमानमुदीक्षमाणा राजानमित्युवाच। उपपन्नरूपः पुण्यानामयमेवंविधो विपाकाभ्युदयविशेष । पुण्यफलप्रत्यक्षिणश्च महाराजस्य यदयं पुण्येष्वादर । तदेवमेव पापप्रवृत्तिविमुख. पितेव प्रजाना सम्यक्परिपालनसुमुख पुण्यगणार्जनाभिमुख ।

यश श्रिया दानसमृद्धया ज्वलन्प्रतिष्ठिताज्ञ प्रतिराजमूर्धसु ।
समीरणाकुञ्चितसागराम्बरा चिरं मही धर्मनयेन पालय ॥ १४ ॥

राजोवाच – किं ह्येतद्देवि न स्यात् ?

सोऽहं तमेव पुनराश्रयितु यतिष्ये
श्रेय पथं समभिलक्षितरम्यचिह्नम् ।
लोकः प्रदित्सति हि दानफलं निशम्य
दास्याम्यहं किमिति नात्मगतं निशम्य ॥ १५ ॥

अथ स राजा देवी देवीमिव श्रिया ज्वलन्तीमभिस्निग्धमवेक्ष्य श्रीसम्पत्तिहेतुकुतूहलहृदय. पुनरुवाच—

चन्द्रलेखेव ताराणा स्त्रीणा मध्ये विराजसे ।
अकृथा किं नु कल्याणि ! कर्मातिमधुरोदयम् ॥ १६ ॥

देव्युवाच—अस्ति देव किञ्चिदहमपि पूर्वजन्मवृत्तिं समनुस्मरामीति । कथय कथयेदानीमिति च सादरं राज्ञा पर्यनुयुक्तोवाच—

बाल्येऽनुभूतमिव तत्समनुस्मरामि
दासी सती यदहमुद्धृतभक्तमेकम् ।
क्षीणास्रवाय मुनये विनयेन दत्त्वा
सुप्तेव तत्र समवापमिह प्रबोधम् ॥ १७ ॥

एतत्स्मरामि कुशलं नरदेव ! येन
त्वन्नाथतामुपगतास्मि समं पृथिव्या ।
क्षीणास्रवेषु न कृतं तनु नाम किञ्चि-
दित्युक्तवानसि यथैव मुनिस्तथैव ॥ १८ ॥

अथ स राजा पुण्यफलप्रदर्शनात्पुण्येषु समुत्पादितबहुमानामभिप्रसन्नमनसं पर्षद विस्मयैकाग्रामवेत्य नियतमीदृश किञ्चित्समनुशशास—

अल्पस्यापि शुभस्य विस्तरमिम दृष्ट्वा विपाकश्रिय
स्यात्को नाम न दानशीलविधिना पुण्यक्रियातत्पर ।
नैव द्रष्टुमपि क्षम स पुरुष पर्याप्तवित्तोऽपि सन्
य कार्पण्यतमिस्रयावृतमतिर्नाप्नोति दानैर्यश ॥ १९ ॥
त्यक्तव्यं विवशेन यन्न च तथा कस्मैचिदर्थाय यत्
तन्न्यायेन धन त्यजन्यदि गुणं कञ्चित्समुद्भावयेत् ।
कोऽसौ तत्र भजेत मत्सरपथ जानन्गुणाना रसं
प्रीत्याद्या विविधाश्च कीर्त्यनुसृता दानप्रतिष्ठागुणा. ॥ २० ॥
दानं नाम महानिधानमनुगं चौराद्यसाधारण
दानं मत्सरलोभदोषरजस प्रक्षालन चेतस· ।
संसाराध्वपरिश्रमापनयन दान सुख वाहन
दान नैकमुखोपधानसुमुख सन्मित्रमात्यन्तिकम् ॥ २१ ॥
विभवसमुदयं वा दीप्तमाज्ञागुण वा
त्रिदशपुरनिवासं रूपशोभागुण वा ।
यदभिलषति सर्व तत्समाप्नोति दाना-
दिति परिगणितार्थ को न दानानि दद्यात् ॥ २२ ॥
सारादानं दानमाहुर्धनानामैश्वर्याणा दानमाहुर्निदानम् ।
दान श्रीमत्सज्जनत्वावदान बाल्यप्रज्ञै. पांसुदान सुदानम् ॥ २३ ॥

अथ सा पर्षत्तस्य राज्ञस्तद्ग्राहकं वचनं सबहुमानमभिनन्द्य प्रदानादिप्रतिपत्त्यभिमुखी बभूव ।

तदेवं चित्तप्रसादोद्गत पात्रातिशयप्रतिपादितं च नाल्पकं नाम दानमस्ति विपाकमहत्त्वादिति प्रसन्नचित्तेनानुत्तरे पुण्यक्षेत्र आर्यसघे दानं ददता परा प्रीतिरुत्पादयितव्या । अदूरे ममाप्येवंविधा अतो विशिष्टतराश्च सम्पत्तय इति ।

इति कुल्माषपिण्डी-जातक तृतीयम् ।

---

४. श्रेष्ठि जातकम्

अत्ययमप्यविगणय्य दित्सन्ति सत्पुरुषा । केन नाम स्वस्थेन न दातव्यं स्यात् ? तद्यथानुश्रूयते—

बोधिसत्त्वभूत किलायं भगवान्भाग्यातिशयगुणादुत्थानसम्पदा चाधिगतविपुलधनसमृद्धिरविषमव्यवहारशीलत्वाल्लोके बहुमाननिकेतभूत उदाराभिजनवा-

ननेकविद्याकलाविकल्पाधिगमविमलतरमतिर्गुणमाहात्म्याद्राज्ञा समुपहृतसम्मानः प्रदानशीलत्वाल्लोकसाधारणविभव. श्रेष्ठी बभूव ।

अर्थिभि प्रीतहृदयै कीर्त्यमानमितस्तत ।
त्यागशौर्योन्नतं नाम तस्य व्याप दिशो दश ॥ १ ॥
दद्यान्न दद्यादिति तत्र नासीद्विचारदोलाचलमानसोऽर्थी ।
ख्यातावदाने हि बभूव तस्मिन्विस्रम्भधृष्टप्रणयोऽर्थिवर्ग ॥ २ ॥
नाऽसौ जुगोपात्मसुखार्थमर्थ न स्पर्द्धया लोभपराभवाद्वा ।
सत्त्वार्थिदु खं न शशाक सोढुं नास्तीति वक्तुं च ततो जुगोप ॥ ३ ॥

अथ कदाचित्तस्य महासत्त्वस्य भोजनकाले स्नातानुलिप्तगात्रस्य कुशलोदारसूदोपकल्पिते समुपस्थिते वर्णगन्धरसस्पर्शादिगुणसमुदिते विचित्रे भक्ष्यभोज्यादिविधौ तत्पुण्यसम्भाराभिवृद्धिकामो ज्ञानाग्निनिर्दग्धसर्वक्लेशेन्धन प्रत्येकबुद्धस्तद्गृहमभिजगाम भिक्षार्थी । समुपेत्य च द्वारकोष्ठके व्यतिष्ठत ।

अशङ्किताचञ्चलधीरसौम्यमवेक्षमाणो युगमात्रमुर्व्या ।
तत्रावतस्थे प्रशमाभिजात स पात्रसंसक्तकराग्रपद्म ॥ ४ ॥

अथ मार पापीयान्बोधिसत्त्वस्य ता दानसम्पदममृष्यमाणस्तद्विघ्नार्थमन्तरा च त भदन्तमन्तरा च द्वारदेहली प्रचलज्ज्वालाकरालोदरमनेकपौरुषमतिगम्भीर भयानकदर्शन मप्रतिभयनिर्घोषं नरकमभिनिर्ममे विस्फुरद्भिरनेकैर्जनशतैराचितम् ।

अथ बोधिसत्त्व प्रत्येकबुद्धं भिक्षार्थिनमभिगतमालोक्य पत्नीमुवाच—भद्रे ! स्वयमार्याय पर्याप्त पिण्डपातं देहीति । सा तथेति प्रतिश्रुत्य प्रणीतं भक्ष्यभोज्यमादाय प्रस्थिता । नरकमालोक्य द्वारकोष्ठकसमीपे भयविषादचञ्चलाक्षी सहसा न्यवर्तत । किमेतदिति च भर्त्रा पर्यनुयुक्ता समापतितसाध्वसापिहितकण्ठी तत्कथञ्चित्तस्मै कथयामास ।

अथ बोधिसत्त्व कथमयमार्यो मद्गृहादनवाप्तभिक्ष एव प्रतियास्यतीति ससम्भ्रमं तत्तस्या कथितमनादृत्य स्वयमेव च प्रणीत भक्ष्यभोज्यमादाय तस्य महात्मन पिण्डपातं प्रतिपादयितुकामो द्वारकोष्ठकसमीपमभिगतस्तमतिभीषणमन्तरा नरकं ददर्श । तस्य किं स्विदिदमिति समुत्पन्नवितर्कस्य मार पापीयान्भवनभित्तेर्विनि सृत्य संदृश्यमानदिव्याद्भुतवपुरन्तरिक्षे स्थित्वा हितकाम इव नामाब्रवीत्—गृहपते महारौरवनामायं महानरक ।

अर्थिप्रशंसावचनप्रलुब्धा दित्सन्ति दानव्यसनेन येऽर्थान् ।
शरत्सहस्राणि बहूनि तेषामस्मिन्निवासोऽसुलभप्रवास ॥ ५ ॥
अर्थस्त्रिवर्गस्य विशेषहेतुस्तस्मिन्हते केन हतो न धर्म ।
धर्मं च हत्वार्थनिबर्हणेन कथं नु न स्यान्नरकप्रतिष्ठ ॥ ६ ॥
दानप्रसङ्गेन च धर्ममूल घ्नता त्वयार्थ यदकारि पापम् ।
त्वामत्तुमभ्युद्गतमेतदस्माज्ज्वालाग्रजिह्वं नरकान्तकास्यम् ॥ ७ ॥
तत्साधु दानाद्विनियच्छ बुद्धिमेवं हि सद्य पतनं न ते स्यात् ।
विचेष्टमानै करुणं रुदद्भिर्मा दातृभिर्गा समतामममीभि ॥ ८ ॥

प्रतिग्रहीता तु जनोऽभ्युपैति निवृत्तदानापनय सुरत्वम् ।
तत्स्वर्गमार्गावरणाद्विरम्य दानोद्यमात्संयममाश्रयस्व ।। ९ ।।

अथ बोधिसत्त्वो नूनमस्यैतद्दुरात्मनो मम दानविघ्नाय विचेष्टितमित्यवगम्य सत्त्वावष्टम्भधीर विनयमधुराविच्छेद नियतमित्यवोचदेनम् ।

अस्मद्धितावेक्षणदक्षिणेन विदर्शितोऽय भवतार्यमार्ग ।
युक्ता विशेषेण च दैवतेषु परानुकम्पानिपुणा प्रवृत्ति ।। १० ।।
दोषोदयात्पूर्वमनन्तर वा युक्त तु तच्छान्तिपथेन गन्तुम् ।
गते प्रयासं ह्युपचारदोषैर्व्याधो चिकित्साप्रणयो विघात ।। ११ ।।
इदं च दानव्यसनं मदीयं शङ्के चिकित्साविषयव्यतीतम् ।
तथा ह्यनादृत्य हितपिता ते न मे मन सङ्कुचति प्रदानात् ।। १२ ।।
दानादधर्मं च यदूचिवास्त्वमर्थं च धर्मस्य विशेषहेतुम् ।
तन्मानुषी नेयमवैति बुद्धिर्दानादृते धर्मपथो यथार्थ ।। १३ ।।
निधीयमान स नु धर्महेतुश्चौरै प्रसह्याथ विलुप्यमान ।
ओघोदरान्तर्विनिमग्नमूर्तिर्हुताशनस्याशनता गतो वा ।। १४ ।।
यच्चात्थ दाता नरक प्रयाति प्रतिग्रहीता तु सुरेन्द्रलोकम् ।
विवर्धितस्तेन च मे त्वयाऽय दानोद्यम सयमयिष्यतापि ।। १५ ।।
अनन्यथा चास्तु वचस्तवेदं स्वर्गं च मे याचनका व्रजन्तु ।
दान हि मे लोकहितार्थमिष्टं नेदं स्वसौख्योदयसाधनाय ।। १६ ।।

अथ स मार पापीयान्पुनरपि बोधिसत्त्वं हितैषीव धीरहस्तेनोवाच—

हितोक्तिमेता मम चापलं वा समीक्ष्य येनेच्छसि तेन गच्छ ।
सुखान्वितो वा बहुमानपूर्वं स्मर्तासि मा विप्रतिसारवान्वा ।। १७ ।।

बोधिसत्त्व उवाच—मर्ष ! मर्षयतु भवान् ।

कामं पतामि नरकं स्फुरदुग्रवह्नि
ज्वालावलीढशिथिलावनतेन मूर्ध्ना ।
न त्वर्थिना प्रणयदर्शितसौहृदाना
सम्मानकालमवमाननया हरिष्ये । १८ ।।

इत्युक्त्वा बोधिसत्त्व स्वभाग्यबलावष्टम्भाज्जानानश्च निरत्ययता दानस्य निवारणैकरसमवधूय स्वजनपरिजनं साध्वसानभिभूतमतिरभिवृद्धदानाभिलाषो नरकमध्येन प्रायात् ।

पुण्यानुभावादथ तस्य तस्मिन्नपङ्कजं पङ्कजमुद्बभूव ।
अवज्ञयेवावजहास मारं यच्छुक्लया केशरदन्तपङ्क्त्या ।। १९ ।।

अथ बोधिसत्त्व पद्मसंक्रमेण स्वपुण्यातिशयनिर्जातेनाभिगम्य प्रत्येकबुद्धं प्रसादसंहर्षापूर्णहृदय पिण्डपातमस्मै प्रायच्छत् ।

मन प्रसादप्रतिबोधनार्थं तस्याथ भिक्षुर्वियदुत्पपात ।
वर्षञ्ज्वलंश्चैव स तत्र रेजे सविद्युदुद्द्योतपयोदलक्ष्म्या ।। २० ।।

अवमृदितमनोरथस्तु मारो द्युतिपरिमोषमवाप्य वैमनस्यात् ।
तमभिमुखमुदीक्षितु न सेहे सह नरकेण ततस्तिरोबभूव ॥ २१ ॥

तत्किमिदमुपनीतम् ? एवमत्ययमप्यविगणय्य दित्सन्ति सत्पुरुषा । केन नाम स्वस्थेन न दातव्यं स्यात् ? न सत्त्ववन्त शक्यन्ते भयादप्यगतिं गमयितुमित्येवमप्युन्नेयम् ।

इति श्रेष्ठिजातक चतुर्थम् ।

——

५ अविषह्यश्रेष्ठि-जातकम्

न विभवक्षयावेक्षया समृद्ध्याशया वा प्रदानवैधुर्यमुपयान्ति सत्पुरुषा । तद्यथानुश्रूयते—

बोधिसत्त्वभूत किलायं भगवास्त्यागशीलकुलविनयश्रुतज्ञानाविस्मयादिगुणसमुदितो धनदायमानो विभवसंपदा सर्वातिथित्वादनुपरतदानसत्रो लोकहितार्थप्रवृत्तो दायकश्रेष्ठ श्रेष्ठी बभूव मात्सर्यादिदोषाविपह्योऽविषह्य इति प्रकाशनामा ।

इष्टार्थसंपत्तिविमर्शनाशा त् प्रीतिप्रबोधस्य विशेषहेतु ।
यथार्थिना दर्शनमास तस्य तथार्थिना दर्शनमास तस्य ॥ १ ॥
देहीति याच्ञानियतार्थमुक्तो नास्तीति नासौ गदितु शशाक ।
हृतावकाशा हि बभूव चित्ते तस्यार्थसक्ति कृपया महत्या ॥ २ ॥
तस्यार्थिभिर्निर्ह्रियमाणसारे गृहे बभूवाभ्यधिकप्रहर्ष ।
विवेद स ह्युग्रघनाननर्थानकारणक्षिप्रविरागिणोऽर्थान् ॥ ३ ॥
भवन्ति लोकस्य हि भूयसार्था लोभाश्रयाद् दुर्गतिमार्गसार्था ।
परात्मनोरभ्युदयावहत्वादर्थास्तदीयास्तु बभुर्यथार्था ॥ ४ ॥

अथ तस्य महासत्त्वस्य यथाभिलषितैरक्लिष्टै शिष्टोपचारविभूषणैर्विपुलैरर्थविसर्गैर्याचनकजनं समन्तत संतर्पयत प्रदानौदार्यश्रवणाद्विस्मयावर्जितमना शक्रो देवेन्द्र प्रदानस्थिरनिश्चयमस्य जिज्ञासमान प्रत्यह धनधान्यरत्नपरिच्छदजातं तत्तदन्तर्धापयामास । अपि नामायं विभवपरिक्षयाशङ्कयापि मात्सर्याय प्रतार्येतेति । प्रदानाधिमुक्तस्य तु पुनर्महासत्त्वस्य

यथा यथा तस्य विनेशुरर्था सूर्याभिसृष्टा इव तोयलेशा ।
तथा तथैनान् विपुलै प्रदानैर्गृहात्प्रदीप्तादिव निर्जहार ॥ ५ ॥

अथ शक्रो देवेन्द्रस्त्यागपरायणमेव तं महासत्त्वमवेत्य प्रक्षीयमाणविभवसारमपि विस्मिततरमतिस्तस्यैकरात्रेण सर्वं विभवसारमन्तर्धापयामासान्यत्र रज्जुकुण्डलाद्दात्राच्चैकस्मात् । अथ बोधिसत्त्व प्रभाताया रजन्या यथोचितं प्रतिविबुद्ध पश्यति स्म धनधान्यपरिच्छदपरिजनविभवशून्यं निष्कूजदीनं स्वभवनं राक्षसैरिवोद्वासितमनभिरामदर्शनीयं, किमिति च समुत्थितवितर्क समनुविचरंस्तद्रज्जुकुण्डलक दात्रं च केवलमत्र ददर्श । तस्य चिन्ता प्रादुरभवत्—यदि तावत् केनचिद्याचितुमनुचितवचसा स्वविक्रमोपार्जितोपजीविना मद्गृहे प्रणय एवं दर्शित सूपयुक्ता एवमर्था । अथ त्विदानी मद्भाग्यदोषादुच्छ्रयमसहमानेन केनचिदनुपयुक्ता एव विद्रुतास्तत्कष्टम् ।

चलं सौहृदमर्थाना विदितं पूर्वमेव मे ।
अर्थिनामेव पीडा तु दहत्यत्र मनो मम ॥ ६ ॥
प्रदानसत्कारसुखोचिताश्चिरं
विविक्तमर्थैरभिगम्य मद्गृहम् ।
कथं भविष्यन्ति नु ते ममार्थिन
पिपासिता शुष्कमिवागता ह्रदम् ॥ ७ ॥

अथ स बोधिसत्त्व स्वधैर्यावष्टम्भादनास्वादितविषाददैन्यस्तस्यामप्यवस्थाया-मनभ्यस्तयाच्ञाक्रमत्वात् परान् याचितु परिचितानपि न प्रसेहे । एव दुष्करं याचितु-मिति च तस्य भूयसी याचनकेष्वनुकम्पा बभूव । अथ स महात्मा याचनकजनस्वा-गतादिक्रियावेक्षया स्वयमेव तद्रज्जुकुण्डलकं दात्रं च प्रतिगृह्य प्रत्यहं तृणविक्रयोपल-ब्धया विभवमात्रयार्थिजनप्रणयसम्माननां चकार। अथ शक्रो देवेन्द्रस्तस्येमामविषादिता परमेऽपि दारिद्र्ये प्रदानाभिमुखता चावेक्ष्य सविस्मयबहुमान सदृश्यमानदिव्याद्भुत-वपुरन्तरिक्षे स्थित्वा दानाद्विच्छन्दयंस्तं महासत्त्वमुवाच—गृहपते !

सुहृन्मनस्तापकरीमवस्थामिमामुपेतस्त्वमतिप्रदानै ।
न दस्युभिर्नैव जलानलाभ्या न राजभि संह्रियमाणवित्त ॥ ८ ॥
तत्त्वा हितावेक्षितया ब्रवीमि नियच्छ दाने व्यसनानुरागम् ।
इत्थंगत सन्नपि चेन्न दद्या याया पुन पूर्वसमृद्धिशोभाम् ॥ ९ ॥
शश्वत् कृशेनापि परिव्ययेण कालेन दृष्ट्वा क्षयमर्जनानाम् ।
चयेन वल्मीकसमुच्छ्रयाश्च वृद्ध्यर्थिन सयम एव पन्था ॥ १० ॥

अथ बोधिसत्त्व प्रदानाभ्यासमाहात्म्यं विदर्शयञ्छक्रमुवाच—

अनार्यमार्येण सहस्रनेत्र सुदुष्करं सुष्ठ्वपि दुर्गतेन ।
मा चैव तद्भून्मम शक्र वित्त यत्प्राप्तिहेतो कृपणाशय स्याम् ॥ ११ ॥
इच्छन्ति याच्ञामरणेन गन्तु दु खस्य यस्य प्रतिकारमार्गम् ।
तेनातुरान् क कुलपुत्रमानी नास्तीति शुष्काशनिनाभिहन्यात् । १२ ॥
तन्मद्विध कि स्विदुपाददीत रत्नं धनं वा दिवि वापि राज्यम् ।
याच्ञाभितापेन विवर्णितानि प्रसादयेन्नार्थिमुखानि येन ॥ १३ ॥
मात्सर्यदोषोपचयाय य स्यान्न त्यागचित्तं परिबृंहयेद्वा ।
स त्यागमेवार्हति मद्विधेभ्य परिग्रहच्छद्ममयो विघात ॥ १४ ॥
विद्युल्लतानृत्तचले धने च साधारणे नैकविघातहेतौ ।
दाने निदाने च सुखोदयाना मात्सर्यमार्य. क इवाश्रयेत ॥ १५ ॥
तद्दर्शिता शक्र मयि स्वतेयं हिताभिधानादनुकम्पितोऽस्मि ।
स्वभ्यस्तहर्षं तु मन प्रदानैस्तदुत्पथे केन धृति लभेत ॥ १६ ॥
न चात्र मन्योरनुवृत्तिमार्गे चित्तं भवानर्हति संनियोक्तुम् ।
न हि स्वभावस्य विपक्षदुर्गमारोढुमल्पेन बलेन शक्यम् ॥ १७ ॥

शक्र उवाच—गृहपते ! पर्याप्तविभवस्य परिपूर्णकोशकोष्ठागारस्य सम्यक्-

प्रवृत्तविविधविपुलकर्मान्तस्य विरूढायतेर्लोके वशीकृतैश्वर्यस्यायं क्रमो नेमा दशामभिप्रपन्नस्य। पश्य—

स्वबुद्धिविस्पन्दसमाहितेन वा यशोऽनुकूलेन कुलोचितेन वा।
समृद्धिमाकृष्य शुभेन कर्मणा सपत्नतेजास्यभिभूय भानुवत् ।। १८ ।।
जने प्रसङ्गेन वितस्य सद्गति प्रवोध्य हर्ष ससुहृत्सु बन्धुषु।
अवाप्तसंमानविधिर्नृपादपि श्रिया परिष्वक्त इवाभिकामया ।। १९ ।।
अथ प्रदाने प्रविजृम्भितक्रम सुखेषु वा नैति जनस्य वाच्यताम्।
अजातपक्ष खमिवारुरुक्षया विघातभाक्केवलया तु दित्सया ।। २० ।।
यतो धनं सयमनैभृताश्रयादुपार्ज्यतां तावदलं प्रदित्सया।
अनार्यताप्यत्र च नाम का भवेन्न यत्प्रदद्या विभवेष्वभाविषु ।। २१ ।।

बोधिसत्त्व उवाच—अलमतिनिर्बन्धेनात्रभवत।

आत्मार्थं स्याद्यस्य गरीयान् परकार्यात्
तेनापि स्याद्देयमनादृत्य समृद्धिम्।
नैति प्रीतिं तां हि महत्यापि विभूत्या
दानैस्तुष्टिं लोभजयाद्यामुपभुङ्क्ते ।। २२ ।।
नैति स्वर्ग केवलया यच्च समृद्ध्या
दानेनैव ख्यातिमवाप्नोति च पुण्याम्।
मात्सर्यादीन्नाभिभवत्येव च दोषा-
स्तस्या हेतोर्दानमत को न भजेत ।। २३ ।।
त्रातुं लोकान् तु जरामृत्युपरीता-
नप्यात्मानं दित्सति कारुण्यवशेन।
यो नास्वादं वेत्ति सुखानां परदुःखै
कस्तस्यार्थस्त्वद्गतया स्यादपि लक्ष्म्या ।। २४ ।

अपि च देवेन्द्र

संपत्तिरिव वित्तानामध्रुवा स्थितिरायुष।
इति याचनकं लब्ध्वा न समृद्धिरवेक्ष्यते ।। २५ ।।
एको रथश्च भुवि यद्विदधाति वर्त्म
तेनापरो व्रजति धृष्टतरं तथान्य।
कल्याणमाद्यमिममित्यवधूय मार्ग
नासत्पथप्रणयने रमते मनो मे ।। २६ ।।
अर्थश्च विस्तरमुपैष्यति चेत्पुनर्मे
हर्ता मनासि नियमेन स याचकानाम्।
एवंगतेऽपि च यथाविभवं प्रदास्ये
मा चैव दाननियमे प्रमदिष्म शक्र ।। २७ ।।

इत्युक्ते शक्रो देवेन्द्र समभिप्रसादितमना साधु साध्वित्येनमभिसंराध्य सबहुमानस्निग्धमवेक्षमाण उवाच—

यश सपत्नैरपि कर्मभिर्जन समृद्धिमन्विच्छति नीचदारुणै ।
स्वसौख्यसङ्गादनवेक्षितात्यय प्रतार्यमाणश्चपलेन चेतसा ॥ २८ ॥
अचिन्तयित्वा तु धनक्षयं त्वया स्वसौख्यहानिं मम च प्रतारणाम् ।
परार्थसंपादनधीरचेतसा महत्त्वमुद्भावितमात्मसंपद ॥ २९ ॥
अहो बतौदार्यविशेषभास्वत प्रमृष्टमात्सर्यतमिस्रता हृद ।
प्रदानसंकोचविरूपता गतं धने प्रनष्टेऽपि न यत्तदाशया ॥ ३० ॥
न चात्र चित्रं परदु खदु खिन कृपावशाल्लोकहितैषिणस्तव ।
हिमावदात शिखरीव वायुना न यत्प्रदानादसि कम्पितो मया ॥ ३१ ॥
यश समुद्भावयितु परीक्षया धनं तवेदं तु निगूढवानहम् ।
मणिर्हि शोभानुगतोऽप्यतोऽन्यथा न संस्पृशेद्रत्नयशोमहार्घताम् ॥ ३२ ॥
यत प्रदानैरभिवर्ष याचकान् ह्रदान् महामेघ इवाभिपूरयन् ।
धनक्षयं नाप्स्यसि मत्परिग्रहादिदं क्षमेथाश्च विचेष्टितं मम ॥ ३३ ॥

इत्येनमभिसंराध्य शक्रस्तच्चास्य विभवसारमुपसंहृत्य क्षमयित्वा च तत्रैवान्तर्दधे ।

तदेवं न विभवक्षयावेक्षया समृद्ध्याशया वा प्रदानवैधुर्यमुपयान्ति सत्पुरुषा इति ।

इत्यविषह्यश्रेष्ठि-जातक पञ्चमम् ।

---

६. शशजातकम्

तिर्यग्गतानामपि सता महात्मना शक्त्यनुरूपा दानप्रवृत्तिर्दृष्टा । केन नाम मनुष्यभूतेन न दातव्यं स्यात् ? तद्यथानुश्रूयते—

कस्मिंश्चिदरण्यायतनप्रदेशे मनोज्ञवीरुत्तृणतरुगहननिचिते पुष्पफलवति वैडूर्यनीलशुचिवाहिन्या सरिता विभूषितपर्यन्ते मृदुशाद्वलास्तरणसुखसंस्पर्शदर्शनीयधरणीतले तपस्विजनविचरिते बोधिसत्त्व शशो बभूव ।

स सत्त्वयोगाद्वपुषश्च संपदा बलप्रकर्षाद्विपुलेन चौजसा ।
अतर्कित क्षुद्रमृगैरशङ्कितश्चचार तस्मिन्मृगराजलीलया ॥ १ ॥
स्वचर्माजिनसंवीत स्वतनूरुहवल्कल ।
मुनिवत्तत्र शुशुभे तुष्टचित्तस्तृणाङ्कुरैः ॥ २ ॥
तस्य मैत्र्यवदातेन मनोवाक्कायकर्मणा ।
आसुजृम्भितदौरात्म्या प्राय शिष्यमुखा मृगा ॥ ३ ॥

तस्य गुणातिशयसंभृतेन स्नेहगौरवेण विशेषवत्तरमवबद्धहृदयास्तु ये सहाया बभूवुरुद्रः शृगालो वानरश्च, ते परस्परसंबन्धनिबद्धस्नेहा इव बान्धवा अन्योन्यप्रणयसंमाननाविरूढसौहार्दा इव च सुहृद संमोदमानास्तत्र विहरन्ति स्म । तिर्यक्स्वभावविमुखाश्च प्राणिषु दयानुवृत्त्या लौल्यप्रशमाद्विस्मृतस्तेयप्रवृत्त्या धर्माविरोधिन्या च यशोऽनुवृत्त्या पटुविज्ञानत्वाद्विनियमधीरया च सज्जनेष्टया चेष्टया देवतानामपि विस्मयनीया बभूवुः ।

सुखानुलोमे गुणबाधिनि क्रमे गुणानुकूले च सुखोपरोधिनि ।
नरोऽपि तावद्गुणपक्षसंश्रयाद्विराजते किम्वथ तिर्यगाकृति ॥ ४ ॥
अभूत्स तेषा तु शशाकृति कृती परानुकम्पाप्रतिपद्गुरुर्गुरु ।
स्वभावसंपच्च गुणक्रमानुगा यशो यदेषा सुरलोकमप्यगात् ॥ ५ ॥

अथ कदाचित् स महात्मा सायाह्नसमये धर्मश्रवणार्थमभिगतैः सबहुमानमुपास्यमानस्तै सहायै परिपूर्णप्रायमंडलमादित्यविप्रकर्षाद्व्यवदायमानशोभं रूप्यदर्पणमिव त्सरुविरहितमीषत्पार्श्वापवृत्तविम्वं शुक्लपक्षचतुर्दशीचन्द्रमसमुदितमभिसमीक्ष्य सहायानुवाच—

असावापूर्णशोभेन मण्डलेन हसन्निव ।
निवेदयति साधूना चन्द्रमा पोषधोत्सवम् ॥ ६ ॥

तद्व्यक्त श्व पञ्चदशी । यतो भवद्भि पोपधनियममभिसपादयद्भिर्न्यायोपलब्धेनाहारविशेषेण कालोपनतमतिथिजन प्रतिपूज्य प्राणसधारणमनुष्ठेयम् । पश्यन्तु भवन्त ।

यत्संप्रयोगा विरहावसाना समुच्छ्रया पातविरूपनिष्ठा ।
विद्युल्लताभङ्गुरलोलमायुस्तेनैव कार्यो दृढमप्रमाद । ७ ॥
दानेन शीलाभरणेन तस्मात् पुण्यानि सवर्धयितु यतध्वम् ।
विवर्तमानस्य हि जन्मदुर्गे लोकस्य पुण्यानि परा प्रतिष्ठा ॥ ८ ॥
तारागणानामभिभूय लक्ष्मी विभाति यत्कान्तिगुणेन सोम ।
ज्योतींषि चाक्रम्य सहस्ररश्मिर्यद्दीप्यते पुण्यगुणोच्छ्रय स ॥ ९ ॥
दृप्तस्वभावा सचिवा नृपाश्च पुण्यप्रभावात् पृथिवीश्वराणाम् ।
सदश्ववृत्त्या हतसर्वगर्वा प्रीता इवाज्ञाधुरमुद्वहन्ति ॥ १० ॥
पुण्यैर्विहीनाननुयात्यलक्ष्मीर्विस्पन्दमानानपि नीतिमार्गे ।
पुण्याधिकै सा ह्यवभर्त्स्यमाना पर्येत्यमर्षादिव तद्विपक्षान् ॥ ११ ॥
दु खप्रतिष्ठादयशोऽनुबद्धादपुण्यमार्गादुपरम्य तस्मात् ।
श्रीमत्सु सौख्योदयसाधनेषु पुण्यप्रसङ्गेषु मति कुरुध्वम् ॥ १२ ॥

ते तथेत्यस्यानुशासना प्रतिगृह्याभिवाद्य प्रदक्षिणीकृत्य चैन स्वान्स्वानालयानभिजग्मु । अचिरगतेषु च तेषु सहायेषु स महात्मा चिन्तामापेदे ।

अतिथेरभ्युपेतस्य संमानं येन तेन वा ।
विधातु शक्तिरस्त्येषामत्र शोच्योऽहमेव तु ॥ १३ ॥
अस्मद्दन्ताग्रविच्छिन्ना परितिक्तास्तृणाङ्कुरा ।
शक्या नातिथये दातुं सर्वथा धिगशक्तिताम् ॥ १४ ॥
इत्यसामर्थ्यदीनेन को न्वर्थो जीवितेन मे ।
आनन्द शोकता यायाद्यस्यैवमतिथिर्मम ॥ १५ ॥

तत्कुत्रेदानीमिदमतिथिपरिचर्यावैगुण्ये नि सारं शरीरकमुत्सृज्यमान कस्यचिदुपयोगाय स्यादिति विमृशन्स महात्मा स्मृति प्रतिलेभे ।

अये !

स्वाधीनसुलभमेतन्निरवद्यं विद्यते ममैव खलु।
अतिथिजनप्रतिपूजनसमर्थरूपं शरीरधनम् ॥ १६ ॥

तत्किमहं विषीदामि ?

समधिगतमिदं मयातिथेयं हृदय विमुञ्च यतो विषाददैन्यम्।
समुपनतमनेन सत्करिष्याम्यहमतिथिप्रणयं शरीरकेण ॥ १७ ॥

इति विनिश्चत्य स महासत्त्व परममिव लाभमधिगम्य परमप्रीतमनास्तत्रावतस्थे।

वितर्कातिशये तस्य हृदये प्रविजृम्भिते।
आविश्चक्रे प्रसादश्च प्रभावश्च दिवौकसाम् ॥ १८ ॥

तत प्रहर्षादिव साचला चला मही बभूवानिभृतार्णवांशुका।
वितस्तनु खे सुरदुन्दुभिस्वना दिश प्रसादाभरणाश्चकाशिरे ॥ १९ ॥
प्रसक्तमन्दस्तनिता प्रहासिनस्तडित्पिनद्धाश्च घना समन्तत।
परस्पराश्लेषविकीर्णरेणुभि प्रसक्तमेन कुसुमैरवाकिरन् ॥ २० ॥
समुद्वहन्धीरगति. समीरण सुगन्धि नानाद्रुमपुष्पज रज।
मुदा प्रविद्धैरविभक्तभक्तिभिस्तमर्चयामास कृशांशुकैरिव ॥ २१ ॥

तदुपलभ्य प्रमुदितविस्मितमनोभिर्देवताभि समन्तत परिकीर्त्यमानं तस्य वितर्काद्भुत शक्रो देवेन्द्र समापूर्यमाणविस्मयकौतूहलेन मनसा तस्य महासत्त्वस्य भावजिज्ञासया द्वितीयेऽहनि गगनतलम यमभिलङ्घमाने पटुतरकिरणप्रभावे सवितरि प्रस्फुलितमरीचिजालवसनासु भास्वरातपविततावगुण्ठितास्वनालोकनक्षमासु दिक्षु सक्षिप्यमाणच्छायेष्वभिवृद्धचीरीविरावोन्नादितेषु वनान्तेषु विच्छिद्यमानपक्षिसंपातेषु घर्मक्लमापीतोत्साहेष्वध्वगेषु शक्रो देवानामधिपतिर्ब्राह्मणरूपो भूत्वा मार्गप्रनष्ट इव क्षुत्तर्षश्रमविषाददीनकण्ठ सस्वरं प्ररुदन्नातिदूरे तेषा विचुक्रोश।

एकं सार्थात्परिभ्रष्टं भ्रमन्तं गहने वने।
क्षुच्छ्रमक्लान्तदेहं मा त्रातुमर्हन्ति साधवः ॥ २२ ॥

मार्गामार्गज्ञाननिश्चेतन मा दिक्संमोहात्क्वापि गच्छन्तमेकम्।
कान्तारेऽस्मिन्धर्मतर्षक्लमार्तं मा भै शब्दै को नु मा ह्लादयेत ॥ २३ ॥

अथ ते महासत्त्वास्तस्य तेन करुणेनाक्रन्दितशब्देन समाकम्पितहृदया· ससंभ्रमा द्रुततरगतयस्तं देशमभिजग्मु। मार्गप्रनष्टाध्वगदीनदर्शन चैनमभिसमीक्ष्य समभिगम्योपचारपुरःसरं समाश्वासयन्त ऊचु —

कान्तारे विप्रनष्टोऽहमित्यलं विभ्रमेण ते।
स्वस्य शिष्यगणस्येव समीपे वर्तसे हि न ॥ २४ ॥

तदद्य तावदस्माकं परिचर्यापरिग्रहात्।
विधायानुग्रहं सौम्य श्वो गन्तासि यथेप्सितम् । २५ ॥

अथोद्रस्तस्य तूष्णीभावादनुमतमुपनिमन्त्रणमवेत्य हर्षसंभ्रमत्वरितगति· सप्त रोहितमत्स्यान्समुपनीयावोचदेनम्—

मीनारिभिर्विस्मरणोज्झिता वा त्रासोत्प्लुता वा स्थलमभ्युपेता ।
खेदप्रसुप्ता इव सप्त मत्स्या लब्धा मयैतान्निवसेह भुक्त्वा ॥ २६ ॥

अथ शृगालोऽप्येनं यथोपलब्धमन्नजातमुपसंहृत्य प्रणामपुरःसरं सादरमित्युवाच—

एका च गोधा दधिभाजनं च केनापि सत्यक्तमिहाध्यगच्छम् ।
तन्मे हितावेक्षितयोपयुज्य वनेऽस्तु तेऽस्मिन्गुणवास वासः ॥ २७ ॥

इत्युक्त्वा परमप्रीतमनास्तदस्मै समुपजहार ।

अथ वानरः परिपाकगुणादुपजातमार्दवानि मनःशिलाचूर्णरञ्जितानीवातिपिञ्जराण्यतिरक्तबन्धनसूत्रानि पिण्डीगतान्याम्रफलान्यादाय साञ्जलिप्रग्रहमेनमुवाच—

आम्राणि पक्वान्युदकं मनोज्ञं छाया च सत्सगमसौख्यशीता ।
इत्यस्ति मे ब्रह्मविदां वरिष्ठ भुक्त्वैतदत्रैव तवास्तु वासः ॥ २८ ॥

अथ शशः समुपसृत्यैनमुपचारक्रियानन्तरं सबहुमानमुदीक्षमाणः स्वेन शरीरेणोपनिमन्त्रयामास—

न सन्ति मुद्गा न तिला न तण्डुला वने विवृद्धस्य शशस्य केचन ।
शरीरमेतत्त्वनलाभिसंस्कृतं ममोपयुज्याद्य तपोवने वस ॥ २९ ॥
यदस्ति यस्येप्सितसाधनं धनं स तन्नियुङ्क्तेऽर्थिसमागमोत्सवे ।
न चास्ति देहादधिकं च मे धनं प्रतीच्छ सर्वस्वमिदं यतो मम ॥ ३० ॥

शक्र उवाच—

अन्यस्यापि वधं तावत्कुर्यादस्मद्विधः कथम् ।
इति दर्शितसौहार्दे कथा कैव भवद्विधे ॥ ३१ ॥

शश उवाच—उपपन्नरूपमिदमासन्नानुक्रोशे ब्राह्मणे । तदिहैव तावद्भवानास्तामस्मदनुग्रहापेक्षया यावत्कुतश्चिदात्मानुग्रहोपायमासादयामीति । अथ शक्रो देवानामिन्द्रस्तस्य भावमवेत्य तप्ततपनीयवर्णं स्फुरत्प्रतनुज्वालं विकीर्यमाणविस्फुलिङ्गप्रकरं निर्धूममङ्गारराशिमभिनिर्ममे । अथ शशः समन्ततोऽनुविलोकयंस्तमग्निस्कन्धं ददर्श । दृष्ट्वा च प्रीतमनाः शक्रमुवाच—समधिगतोऽयं मयात्मानुग्रहोपायः । तदस्मच्छरीरोपयोगात्सफलामनुग्रहाशां मे कर्तुमर्हसि । पश्य महाब्राह्मण ।

देयं च दित्साप्रवणं च चित्तं भवद्विधेनातिथिना च योगः ।
नावाप्तुमेतद्धि सुखेन शक्यं तत्स्यादमोघं भवदाश्रयान्मे ॥ ३२ ॥

इत्यनुनीय स महात्मा संमाननादरादतिथिप्रियतया चैनमभिवाद्य,

ततः स तं वह्निमभिज्वलन्तं निधिं धनार्थी सहसैव दृष्ट्वा ।
परेण हर्षेण समारुरोह तोयं हसत्पद्ममिवैकहंसः ॥ ३३ ॥

तद्दृष्ट्वा परमविस्मयावर्जितमतिर्देवानामधिपतिः स्वमेव वपुरास्थाय दिव्यकुसुमवर्षपुरःसरीभिर्मनःश्रुतिसुखाभिर्वाग्भिरभिपूज्य तं महासत्त्वं कमलपलाशलक्ष्मीसमृद्धाभ्यां भासुराङ्गुलीभूषणालंकृताभ्यां पाणिभ्यां स्वयमेव चैनं परिगृह्य त्रिदशेभ्यः

संदर्शयामास । पश्यन्त्वत्रभवन्तस्त्रिदशालयनिवासिनो देवा, समनुमोदन्ता चेदमतिविस्मयनीयं कर्मावदानमस्य महासत्त्वस्य ।

त्यक्तं बतानेन यथा शरीरं नि शङ्कमद्यातिथिवत्सलेन ।
निर्माल्यमप्येवमकम्पमाना नालं परित्यक्तुमधीरसत्त्वा ॥ ३४ ॥
जाति क्वेयं तद्विरोधि क्व चेदं त्यागौदार्यं चेतस पाटवं च ।
विस्पष्टोऽयं पुण्यमन्दादराणा प्रत्यादेशो देवताना नृणा च ॥ ३५ ॥
अहो बत गुणाभ्यासवासितास्य यथा मति ।
अहो सद्वृत्तवात्सल्य क्रियौदार्येण दर्शितम् ॥ ३६ ॥

अथ शक्रस्तत्कर्मातिशयविख्यापनार्थं लोकहितावेक्षी शशबिम्बलक्षणेन वैजयन्तस्य प्रासादवरस्य सुधर्मायाश्च देवसभाया कूटागारकर्णिके चन्द्रमण्डलं चाभ्यलंचकार ।

सम्पूर्णेऽद्यापि तदिद शशबिम्बं निशाकरे ।
छायामयमिवादर्शे राजते दिवि राजते ॥ ३७ ॥
तत प्रभृति लोकेन कुमुदाकरहासन ।
क्षणदातिलकश्चन्द्र शशाङ्क इति कीर्त्यते ॥ ३८ ॥

तेऽप्युद्रशृगालवानरास्ततश्च्युत्वा देवलोक उपपन्ना कल्याणमित्रं समासाद्य ।

तदेवं तिर्यग्गतानामपि महासत्त्वाना शक्त्यनुरूपा दानप्रवृत्तिर्दृष्टा । केन नाम मनुष्यभूतेन न दातव्यं स्यात् ? तथा तिर्यग्गता अपि गुणवात्सल्यात् संपूज्यन्ते सद्भिरिति गुणेष्वादर कार्यं इत्येवमप्युन्नेयम् ।

इति शश-जातक षष्ठम् ।

---

७ अगस्त्य-जातकम्

तपोवनस्थानामप्यलंकारस्त्यागशौर्य प्रागेव गृहस्थानामिति । तद्यथानुश्रूयते—

बोधिसत्त्वभूतः किलायं भगवाँल्लोकहितार्थं संसाराध्वनि वर्तमानश्चारित्रगुणविशुद्ध्यभिलक्षितं क्षितितलतिलकभूतमन्यतमं महद् ब्राह्मणकुलं गगनतलमिव शरदमलपरिपूर्णमण्डलश्चन्द्रमा समुत्पतन्नेवाभ्यलंचकार । स यथाक्रमं श्रुतिस्मृतिविहितानवाप्य जातकर्मादीन् संस्कारानधीत्य साङ्गान्वेदान्कृत्स्नं च कल्पं व्याप्य विद्यायशसा मनुष्यलोकं गुणप्रियैर्दातृभिरभ्यर्थ्य प्रतिगृह्यमाणविभवत्वात् परा धनसमृद्धिमभिजगाम ।

स बन्धुमित्राश्रितदीनवर्गान्संमाननोयानतिथीन्गुरूंश्च ।
प्रह्लादयामास तथा समृद्ध्या देशान्महामेघ इवाभिवर्षन् ॥ १ ॥
विद्वत्तया तस्य यश प्रकाशं तत्त्यागशौर्यादधिकं चकाशे ।
निशाकरस्येव शरद्विशुद्धं समग्रशोभाधिककान्ति बिम्बम् ॥ २ ॥

अथ स महात्मा कुकार्यव्यासङ्गदोषसंबाधं प्रमादास्पदभूतं धनार्जनरक्षणप्रसङ्गव्याकुलमुपशमविरोधिव्यसनशरशतलक्ष्यभूतमपर्यन्तकर्मान्तानुष्ठानपरिग्रहश्रममतृप्तिजनकं कृशास्वाद गार्हस्थ्यमवेत्य तद्दोषविविक्तसुखा च धर्मप्रतिपत्त्यनुकूला मोक्षधर्मारम्भाधिष्ठानभूता प्रव्रज्यामनुपश्यन् महतीमपि ता धनसमृद्धिमपरिक्लेशाधिगता लोकसंनतिमनोहरा तृणवदपास्य तापसप्रव्रज्याविनयनियमपरो बभूव। प्रव्रजितमपि तं महासत्त्वं यश प्रकाशत्वात् पूर्वसंस्तवानुस्मरणात् सभावितगुणत्वात् प्रशमाभिलक्षितत्वाच्च श्रेयोऽर्थी जनस्तद्‌गुणगणावर्जितमतिस्तथैवाभिजगाम। स तं गृहिजनसंसर्ग प्रविवेकसुखप्रमाथिन व्यासङ्गविक्षेपान्तरायकरमबहुमन्यमान प्रविवेकाभिरामतया दक्षिणसमुद्रमध्यावगाढमिन्द्रनीलभेदाभिनीलवर्णैरनिलबलाकलितैरूर्मिमालाविलासैराच्छुरितपर्यन्तं सितसिकतास्तीर्णभूमिभागं पुष्पफलपल्लवालकृतविटपैर्नानातरुभिरुपशोभितं विमलसलिलाशयप्रतीरं काराद्वीपमध्यासनादाश्रमपदश्रिया सयोजयामास।

सुतनुस्तपसा तत्र स रेजे तपसातनु।
नवचन्द्र इव व्योम्नि कान्तत्वेनाकृश कृश ॥ ३ ॥
प्रशमनिभृतचेष्टितेन्द्रियो व्रतनियमैकरसो वने वसन्।
मुनिरिति तनुबुद्धिशक्तिभिर्मृगविहगैरपि सोऽन्वगम्यत ॥ ४ ॥

अथ स महात्मा प्रदानोचितत्वात्तपोवनेऽपि निवसन् कालोपनतमतिथिजनं यथासंनिहितेन मूलफलेन शुचिना सलिलेन हृद्याभिश्च स्वागताशीर्वादपेशलाभिस्तपस्विजनयोग्याभिर्वाग्भि संपूजयति स्म। अतिथिजनोपयुक्तशेषेण च यात्रामात्रार्थमभ्यवहृतेन तेन वन्येनाहारेण वर्तयामास। तस्य तप प्रकर्षात् प्रविसृतेन यशसा समावर्जितहृदयः शक्रो देवेन्द्र· स्थैर्यजिज्ञासया तस्य महासत्त्वस्य तस्मिन्नरण्यायतने तापसजनोपभोगयोग्यं मूलफलमनुपूर्वेण सर्वमन्तर्धापयामास। बोधिसत्त्वोऽपि ध्यानप्रसृतमानसतया संतोषपरिचयादनधिमूर्च्छितत्वादाहारे स्वशरीरे चानभिष्वङ्गान्न तमन्तर्धानहेतु मनसि चकार। स तरुणानि तरुपर्णान्यधिश्राय तैराहारप्रयोजनमभिनिष्पाद्यातृष्यमाण आहारविशेषानुत्सुक स्वस्थमतिस्तथैव विजहार।

न क्वचिद् दुर्लभा वृत्ति सतोषनियतात्मनाम्।
कुत्र नाम न विद्यन्ते तृणपर्णजलाशया ॥ ५ ॥

विस्मिततरमनास्तु शक्रो देवेन्द्रस्तस्य तेनावस्थानेन स्थिरतरगुणसंभावनस्तत्परीक्षानिमित्तं तस्मिन्नरण्यवनप्रदेशे निदाघकालानिलवत्समग्रं वीरुत्तृणतरुगणं पर्णसमृद्ध्या वियोजयामास। अथ बोधिसत्त्वः प्रत्यार्द्रतराणि शीर्णपर्णानि समाहृत्य तैरुदकस्विन्नैरनुत्कण्ठितमतिर्वर्तमानो ध्यानसुखप्रीणितमनास्तत्रामृततृप्त इव विजहार।

अविस्मय श्रुतवता समृद्धानाममत्सर।
संतोषश्च वनस्थाना गुणशोभाविधि पर ॥ ६ ॥

अथ शक्रस्तेन तस्याद्भुतरूपेण संतोषस्थैर्येण समभिवृद्धविस्मय· सामर्ष इव तस्य महासत्त्वस्य व्रतकाले हुताग्निहोत्रस्य परिसमाप्तजप्यस्यातिथिजनदिदृक्षया

व्यवलोकयतो ब्राह्मणरूपमास्थायातिथिरिव नाम भूत्वा पुरस्तात्प्रादुरभूत् । स प्रीतमनाः समभिगम्य चैन बोधिसत्त्व स्वागतादिप्रियवचनपुर.सरेणाहारकालनिवेदने-नोपनिमन्त्रयामास । तूष्णीभावात्तु तस्याभिमतमुपनिमन्त्रणमवेत्य स महात्मा

दित्साप्रहर्षविकसन्नयनास्यशोभ
स्निग्धैर्मन श्रुतिसुखैरभिनन्द्य वाक्यैः ।
कृच्छ्रोपलब्धमपि तच्छ्रपणं समस्तं
तस्मै ददौ स्वयमभूच्च मुदेव तृप्तः ॥ ७ ॥

स तथैव प्रविश्य ध्यानागारं तेनैव प्रीतिप्रामोद्येन तमहोरात्रमतिनामयामास । अथ शक्रस्तस्य द्वितीये तृतीये चतुर्थे पञ्चमेऽपि चाहनि तथैव व्रतकाले पुरत. प्रादुरभूत् । सोऽपि चैनं प्रमुदिततरमनास्तथैव प्रतिपूजयामास ।

दानाभिलाष साधूना कृपाभ्यासविवर्धित ।
नैति संकोचदीनत्वं दु खै. प्राणान्तिकैरपि ॥ ८ ॥

अथ शक्रः परमविस्मयाविष्टहृदयस्तप प्रकर्षादस्य प्रार्थनामात्रापेक्षं त्रिदश-पतिलक्ष्मीसंपर्कमवगम्य समुत्पतितभयाशङ्क स्वमेव वपुर्दिव्याद्भुतशोभमभिप्रपद्य तपःप्रयोजनमेनं पर्यपृच्छत् ।

बन्धून्प्रियानश्रुमुखान्विहाय परिग्रहान्सौख्यपरिग्रहाश्च ।
आशाङ्कुशं नु व्यवसृज्य कुत्र तप.परिक्लेशमिमं श्रितोऽसि ॥ ९ ॥
सुखोपपन्नान्परिभूय भोगाँच्छोकाकुलं बन्धुजनं च हित्वा ।
न हेतुनाल्पेन हि यान्ति धीरा. सुखोपरोधीनि तपोवनानि ॥ १० ॥
वक्तव्यमेतन्मयि मन्यसे चेत्कौतूहलं नोऽर्हसि तद्विनेतुम् ।
किं नाम तद्यस्य गुणप्रवेशवशीकृतैवं भवतोऽपि बुद्धि ॥ ११ ॥
बोधिसत्त्व उवाच—श्रूयता मार्ष यन्निमित्तोऽयं मम प्रयत्न. ।
पुन. पुनर्जातिरतीव दु खं जराविपद्व्याधिविरूपताश्च ।
मर्तव्यमित्याकुलता च बुद्धेर्लोकानतस्त्रातुमिति स्थितोऽस्मि ॥ १२ ॥

अथ शक्रो देवेन्द्रो नायमस्मद्गता श्रियमभिकामयत इति समाश्वासितहृदयः सुभाषितेन तेन चाभिप्रसादितमतिर्युक्तमित्यभिपूज्य तदस्य वचनं वरप्रदानेन बोधि-सत्त्वमुपनिमन्त्रयामास—

अत्र ते तापसजनप्रतिरूपे सुभाषिते ।
ददामि काश्यप वरं तद्वृणीष्व यदिच्छसि ॥ १३ ॥

अथ बोधिसत्त्वो भवभोगसुखेष्वनास्थ. प्रार्थनामेव दु.खमवगच्छन्सात्मीभूत-संतोष शक्रमुवाच—

दातुमिच्छसि चेन्मह्यमनुग्रहकरं वरम् ।
वृणे तस्मादहमिमं देवाना प्रवरं वरम् ॥ १४ ॥
दारान्मनोऽभिलषितास्तनयान्प्रभुत्व-
मर्थानभीप्सितविशालतरांश्च लब्ध्वा ।

येनाभितप्तमतिरेति न जातु तृप्तिं
लोभानल स हृदयं मम नाभ्युपेयात् ॥ १५ ॥

अथ शक्रस्तया तस्य सतोषप्रवणमानसतया सुभाषिताभिव्यञ्जितया भूयस्या मात्रया संप्रसादितमति पुनर्बोधिसत्त्वं साधु साध्विति प्रशस्य वरेणोपच्छन्दयामास—

अत्रापि ते मुनिजनप्रतिरूपे सुभाषिते ।
प्रतिप्राभृतवत्प्रीत्या प्रयच्छाम्यपरं वरम् ॥ १६ ॥

अथ बोधिसत्त्व. क्लेशवियोगस्यैव दुर्लभतामस्य प्रदर्शयन्नरयाञ्चापदेशेन पुनरप्यस्मै धर्मं देशयासास—

ददासि मे यदि वर सद्गुणावास वासव ।
वृणे तेनेममपरं देवेन्द्रानवरं वरम् ॥ १७ ॥
अर्थादपि भ्रंशमवाप्नुवन्ति वर्णप्रसादाद्यशस सुखाच्च ।
येनाभिभूता द्विषतेव सत्त्वा स द्वेषवह्निर्मम दूरत स्यात् ॥ १८ ॥

तच्छ्रुत्वा शक्रो देवानामधिपतिर्विस्मयवशात् साधु साध्वित्येनमभिप्रशस्य पुनरुवाच—

स्थाने प्रव्रजितान्कीर्तिरनुरक्तेव सेवते ।
तद्वर प्रतिगृह्णीष्व मदत्रापि सुभाषिते ॥ १९ ॥

अथ बोधिसत्त्व क्लेशप्रातिकूल्यात् क्लिष्टसत्त्वसंपर्कविगर्हा व्रतिसप्रतिग्रहापदेशेन कुर्वन्नित्युवाच—

शृणुयामपि नैव जातु बाल न च वीक्षेय न चैनमालपेयम् ।
न च तेन निवासखेददु खं समुपेया वरमित्यह वृणे त्वाम् ॥ २० ॥

शक्र उवाच—

अनुकम्प्यो विशेषेण सतामापद्गतो ननु ।
आपदा मूलभूतत्वाद्बाल्य चाधममिष्यते ॥ २१ ॥
करुणाश्रयभूतस्य बालस्यास्य विशेषत ।
कृपालुरपि सन्कस्मान्न दर्शनमपीच्छसि ॥ २२ ॥

बोधिसत्त्व उवाच—अगत्या मार्ष । पश्यत्वत्रभवान् ।

कथंचिदपि शक्येत यदि बालश्चिकित्सितुम् ।
तद्धितोद्योगनिर्यत्न कथं स्यादिति मद्विध. ॥ २३ ॥

इत्थं चैष चिकित्साप्रयोगस्यापात्रमिति गृह्यताम् ।

सुनयवदनयं नयत्ययं परमपि चात्र नियोक्तुमिच्छति ।
अनुचितविनयार्जवक्रमो हितमपि चाभिहित. प्रकुप्यति ॥ २४ ॥
इति पण्डितमानमोहदग्धे हितवादिष्वपि रोषरूक्षभावे ।
रभसे विनयाभियोगमान्द्याद्वद कस्तत्र हितार्पणाभ्युपाय. । २५ ॥
इत्यगत्या सुरश्रेष्ठ करुणाप्रवणैरपि ।
बालस्याद्रव्यभूतस्य न दर्शनमपीष्यते ॥ २६ ॥

तच्छ्रुत्वा शक्र साधु साध्वित्येनमभिनन्द्य सुभाषिताभिप्रसादितमति· पुनरुवाच—

न सुभाषितरत्नानामर्घं कश्चन विद्यते ।
कुसुमाञ्जलिवत्प्रीत्या ददाम्यत्रापि ते वरम् ॥ २७ ॥

अथ बोधिसत्त्व सर्वावस्थासुखता सज्जनस्य प्रदर्शयञ्छक्रमुवाच—

वीक्षेय धीरं शृणुया च धीरं स्यान्मे निवास सह तेन शक्र ।
संभाषणं तेन सहैव भूयादेतं वरं देववर प्रयच्छ ॥ २८ ॥

शक्र उवाच—अतिपक्षपात इव खलु ते धीरं प्रति । तदुच्यता तावत् ।

किं नु धीरस्तवाकार्षीद्वद काश्यप कारणम् ।
अधीर इव येनासि धीरदर्शनलालस ॥ २९ ॥

अथ बोधिसत्त्व सज्जनमाहात्म्यमस्य प्रदर्शयन्नुवाच—श्रूयता मार्ष, येन मे धीरदर्शनमेवाभिलषते मति ।

व्रजति गुणपथेन च स्वयं नयति परानपि तेन वर्त्मना ।
वचनमपि न रूक्षमक्षमा जनयति तस्य हितोपसंहितम् ॥ ३० ॥
अशठविनयभूषण सदा हितमिति लम्भयितुं स शक्यते ।
इति मम गुणपक्षपातिनी नमति मतिर्गुणपक्षपातिनि ॥ ३१ ॥

अथैनं शक्र साधूपपन्नरूपमिदमिति चाभिनन्द्य समभिवृद्धप्रसाद· पुनर्वरेणोपनिमन्त्रयामास—

कामं संतोषसात्मत्वात्सर्वत्र कृतमेव ते ।
मदनुग्रहबुद्ध्या तु ग्रहीतुं वरमर्हसि ॥ ३२ ॥
उपकाराशया भक्त्या शक्त्या चैव समस्तया ।
प्रयुक्तस्यातिदु खो हि प्रणयस्याप्रतिगह ॥ ३३ ॥

अथ तस्य परामुपकर्तुकामतामवेक्ष्य बोधिसत्त्वस्तत्प्रियहितकामतया प्रदानानुतर्षप्राबल्यमस्मै प्रकाशयन्नुवाच—

त्वदीयमन्नं क्षयदोषवर्जितं मनश्च दित्साप्रतिपत्तिपेशलम् ।
विशुद्धशीलाभरणाश्च याचका मम स्युरेता वरसंपदं वृणे ॥ ३४ ॥

शक्र उवाच—सुभाषितरत्नाकर खल्वत्रभवान् । अपि च—

यदभिप्रार्थितं सर्वं तत्तथैव भविष्यति ।
ददामि च पुनस्तुभ्यं वरमस्मिन्सुभाषिते ॥ ३५ ॥

बोधिसत्त्व उवाच—

वरं ममानुग्रहसंपदाकरं ददासि चेत्सर्वदिवौकसा वर ।
न माभ्युपेयाः पुनरित्यभिज्वलन्निमं वरं दैन्यनिसूदनं वृणे ॥ ३६ ॥

अथ शक्र सामर्षवदेनमतिविस्मयमान उवाच—मा तावद्भो ।

जपव्रतेज्याविधिना तप श्रमैर्जनोऽयमन्विच्छति दर्शनं मम ।
भवान्पुनर्नेच्छति केन हेतुना वरप्रदित्साभिगतस्य मे सत ॥ ३७ ॥

बोधिसत्त्व उवाच—अलं ते मन्युप्रणयेन। समनुनेष्याम्यहमत्रभवन्तं देवराज! न ह्यसावदाक्षिण्यानुवृत्तिर्न चाप्यबहुमानविचेष्टितमसमवधानकाम्यता वा भवति भवताम्। किं तु

निरीक्ष्य ते रूपममानुषाद्भुत प्रसन्नकान्ति ज्वलित च तेजसा।
भवेत्प्रमादस्तपसीति मे भय प्रसादसौम्यादपि दर्शनात्तव ।। ३८ ।।

अथ शक्र प्रणम्य प्रदक्षिणीकृत्य चैनं तत्रैवान्तर्दधे। प्रभाताया च रजन्या बोधिसत्त्व शक्रप्रभावोपहृतं प्रभूत दिव्यमन्नपान ददर्श। शक्रोपनिमन्त्रणाहूतानि चानेकानि प्रत्येकबुद्धशतानि व्यायताबद्धपरिकराश्च परिवेपणसज्जाननेकाश्च देवकुमारान्।

तेनान्नपानविधिना स मुनिर्महर्षीन्
सतर्पयन्मुदमुदारतरामवाप।
वृत्त्या च तापसजनोचितयाभिरेमे
ध्यानाप्रमाणनियमेन शमेन चैव ।। ३९ ।।

तदेवं तपोवनस्थानामप्यलंकारस्त्यागशौर्य प्रागेव गृहस्थानामिति त्यागशौर्येणालंकर्तव्य एवात्मा सत्पुरुषेणेति। दानपतिसंप्रहर्षणायामप्युन्नेय लोभद्वेषमोहबाल्यविगर्ह्याया कल्याणमित्रसपर्कगुणे सतोषकथाया तथागतमाहात्म्ये च। एवं पूर्वजन्मस्वपि सुभाषितरत्नातिशयाकरः स भगवान् प्रागेव संबुद्ध इति।

इत्यगस्त्य-जातक सप्तमम्।

---

८ मैत्रीबल-जातकम्

न परदु.खातुरा स्वसुखमवेक्षन्ते महाकारुणिका। तद्यथानुश्रूयते—

बोधिसत्त्व किल स्वमाहात्म्यकारुण्याभिप्रपन्नो जगत्परित्राणाध्याशय, प्रदानदमनियमसौरत्यादिभिर्लोकानुग्रहानुकूलैर्गुणातिशयैरभिवर्धमान. सर्वसत्त्वमैत्रमना मैत्रबलो नाम राजा बभूव।

दु खं सुखं वा यदभूत्प्रजाना तस्यापि राज्ञस्तदभूत्तथैव।
अत प्रजारक्षणदक्षिणोऽसौ शस्त्रं च शास्त्रं च परामर्श ।। १ ।।
नरेन्द्रचूडाधृतशासनस्य तस्य त्वलङ्कारवद.स शस्त्रम्।
विस्पष्टरूप ददृशे च शास्त्रं नयेषु लोकस्य हितोदयेषु ।। २ ।।
विनिग्रहप्रग्रहयो. प्रवृत्तिर्धर्मोपरोधं न चकार तस्य।
हिताशयत्वान्नयनैपुणाच्च परीक्षकस्येव पितु प्रजासु ।। ३ ।।

तस्यैवं धर्मेण प्रजा पालयत सत्यत्यागोपशमप्रज्ञादिभिश्च परहितपरिणामनात्सविशेषोदात्तक्रमैर्बोधिसम्भारविधिभिरभिवर्धमानस्य कदाचित्कस्मिंश्चिदपराधे यक्षाणामधिपतिना स्वविषयात्प्रव्राजिता ओजोहारा पञ्च यक्षाः परवधदक्षास्तद्विषयमभिजग्मुः। व्यपगतसर्वोपद्रवत्वाच्च नित्यप्रवृत्तविविधोत्सवं परया सम्पदा

समुपेतरूपं प्रमुदिततुष्टपुष्टजनमभिसमीक्ष्य तद्विषयं तन्निवासिना पुरुषाणामोजास्यप तेषामभिलाषो बभूव।

ते परेणापि यत्नेन सम्प्रवृत्ता स्वकर्मणि।
नैव तद्विषयस्थाना हर्तुमोज· प्रसेहिरे॥ ४॥
तस्य प्रभावातिशयान्नृपस्य ममेति यत्नैव बभूव बुद्धि ।
सैवास्य रक्षा परमास तस्मादोजासि हर्तुं न विषेहिरे ते॥ ५॥

यदा च परमपि प्रयत्नं कुर्वन्तो नैव शक्नुवन्ति स्म कस्यचिद्विषयनिवा जनस्यौजोऽपहर्तुमथ तेषा परस्परमवेक्ष्यैतदभूत्। किं नु खल्विदं मार्षा.।

अस्मत्प्रभावप्रतिघातयोग्या विद्यातप सिद्धिमया विशेषा ।
न सन्ति चैषामथ चाद्य सर्वे व्यर्थाभिधानत्वमुपागता स्म ॥ ६॥

अथ ते यक्षा ब्राह्मणवर्णमात्मानमभिनिर्माय समनुचरन्तो ददृशु प्रत्यर चरमन्यतम गोपालकं सशाद्वले छायाद्रुममूले सोपानत्कं संनिषण्ण सपल्लवैर्वनत कुसुमैर्विरचिता मालामुद्वहन्तं दक्षिणतो विन्यस्तदण्डपरशुमेकाकिन रज्जुवर्त व्यापृत प्रक्ष्वेडितविलासेन गायन्तमासीनम्। समुपेत्य चैनमूचु —थथथददकाकाकाका भो गवा संरक्षाधिकृत! एवं विविक्ते निर्जनसम्पातेऽस्मिन्नरण्ये विचरन्नेवमेका कथं न बिभेषीति। स तानालोक्याब्रवीत्—कुतो वा भेतव्यमिति। यक्षा ऊचु-- त्वया न श्रुतपूर्वा यक्षराक्षसाना पिशाचाना वा निसर्गरौद्रा प्रकृतिरिति ?

सहायमध्येऽपि हि वर्तमानो विद्यातप स्वस्त्ययनैरुपेत.।
येभ्यः कथञ्चित्परिमोक्षमेति शौर्यादवज्ञातभयोऽपि लोक ॥ ७॥
तेभ्यो नृमेद पिशिताशनेभ्य कथं भयं तेऽस्ति न राक्षसेभ्यः।
विविक्तगम्भीरभयानकेषु सहायहीनस्य वनान्तरेषु॥ ८॥

इत्युक्ते स गोपालक प्रहस्यैनानुवाच—

जन स्वस्त्ययनेनायं महता परिपाल्यते।
देवेन्द्रेणाप्यशक्योऽयं किं पुन पिशिताशनै·॥ ९॥
तेन गेह इवारण्ये रात्रावपि यथा दिवा।
जनान्त इव चैकोऽपि निर्भयो विचराम्यहम्॥ १०॥

अथैनं ते यक्षा कुतूहलप्राबल्यात्सादरमुत्साहयन्त इवोचु.—

तत्कथय कथय तावद्भद्र कीदृशोऽयं युष्माकं स्वस्त्ययनविशेष इति। स तान्प्रहसन्नुवाच—श्रूयता यादृशोऽयमस्माकमत्यद्भुत स्वस्त्ययनविशेष.।

कनकगिरिशिलाविशालवक्षा शरदमलेन्दुमनोज्ञवक्त्रशोभः।
कनकपरिघपीनलम्बबाहुर्वृषभनिभेक्षणविक्रमो नरेन्द्रः॥ ११॥

ईदृशोऽस्माकं स्वस्त्ययनविशेष। इत्युक्त्वा सामर्षविस्मयस्तान् यक्षानवेक्ष माण. पुनरुवाच—आश्चर्यं बतेदम्।

एवं प्रकाशो नृपतिप्रभाव कथं नु व श्रोत्रपथं न यात।
अत्यद्भुतत्वादथवा श्रुतोऽपि भवत्सु विप्रत्ययतो न रूढ॥ १२॥

शङ्के गुणान्वेषणविक्लवो वा देशी जनोऽसावकुतूहलो वा।
विवर्जितो भाग्यपरिक्षयाद्वा कीर्त्या नरेन्द्रस्य यतोऽभ्युपैत ॥ १३ ॥

तदस्ति वो भाग्यशेष यत्तादृशाद्देशकान्ताराादिहागता स्थ। यक्षा ऊचु — भद्रमुख! कथय किंकृतोऽयमस्य राज्ञ प्रभावो यदस्यामानुषा न प्रसहन्ते विषयवासिन जनं हिंसितुमिति। गोपालक उवाच -स्वमाहात्म्याधिगत प्रभावोऽयमस्माक महाराजस्य। पश्यत महाब्राह्मणा!

मैत्री तस्य बलं ध्वजाग्रशबलं त्वाचारमात्रं बलं
नाऽसौ वेत्ति रुषं न चाऽऽह परुष सम्यक् च गा रक्षति।
धर्मस्तस्य नयो न नीतिनिकृति पूजार्थमर्थं सता-
मित्याश्चर्यमयोऽपि दुर्जनघन गर्वं च नालम्बते ॥१४॥

एवमादिगुणशतसमुदितोऽयमस्माक स्वामी। तेनास्य न प्रसहन्ते विषयनिवासिनं जन हिंसितुमुपद्रवा। अपि च। कियदह व शक्ष्यामि वक्तुम्। नृपतिगुणश्रवणकौतूहलैस्तु भवद्भिर्नगरमेव युक्तं प्रवेष्टु स्यात्। तत्र हि भवन्त स्वधर्मानुरागाद्व्यवस्थितार्यमर्यादं नित्यक्षेमसुभिक्षत्वात्प्रमुदितसमृद्धमनुद्धतोदात्तवेषमभ्यागतातिथिजनविशेषवत्सलं नृपतिगुणाक्षिप्तहृदय तत्कीर्त्याश्रया स्तुतीर्मङ्गलमिव स्वस्त्ययनमिव च प्रहर्षादभ्यस्यन्तं जनं दृष्ट्वा राज्ञो गुणविस्तरमनुमास्यन्ते। सत्या च गुणबहुमानोद्भावनाया तद्दिदृक्षया यूयमवश्यं तद्गुणप्रत्यक्षिणो भविष्यथेति। अथ ते यक्षा स्वप्रभावप्रतिघातात्तस्मिन्राजनि सामर्षहृदया भावप्रयुक्तयापि युक्तया तया तद्गुणकथया नैव मार्दवमुपजग्मु।

प्रायेण खलु मन्दानाममर्षज्वलितं मन।
यस्मिन्वस्तुनि तत्कीर्त्या तद्विशेषेण दह्यते ॥ १५ ॥

प्रदानप्रियता तु समभिवीक्ष्य तस्य राज्ञस्ते यक्षास्तदपकारचिकीर्षव समभिगम्य राजानं सन्दर्शनकाले भोजनमयाचन्त। अथ स राजा प्रमुदितमनास्तदधिकृतान्पुरुषान्समादिदेश—क्षिप्रमभिरुचितं भोजन ब्राह्मणेभ्यो दीयतामिति। अथ ते यक्षा समुपहृतं राजार्हमपि भोजन हरिततृणमिव व्याघ्रा नैव प्रत्यगृह्णन्नैवंविधं भोजनं वयमश्नीम इति। तच्छ्रुत्वा स राजा समभिगम्यैनानब्रवीत्— अथ कीदृशं भोजनं युष्माकमुपशेते ? यावत्तादृशमन्विष्यतामिति। यक्षा ऊचु :—

प्रत्यग्रोष्माणि मासानि नराणा रुधिराणि च।
इत्यन्नपान पद्माक्ष! यक्षाणामक्षतव्रत ॥ १६ ॥

इत्युक्त्वा दंष्ट्राकरालवदनानि दीप्त-पिङ्गल केकर-रौद्रनयनानि स्फुटितचिपिटविरूपघोणानि ज्वलदनलकपिलकेशश्मश्रूणि सजलजलधरान्धकाराणि विकृतभीषणानि स्वान्येव वपूषि प्रत्यपद्यन्त। समभिवीक्ष्य चैनान्स राजा—पिशाचा खल्विमे न मानुषास्तेनास्मदीयमन्नपानं नाभिलषन्तीति निश्चयमुपजगाम।

अथ तस्य नरेन्द्रस्य प्रकृत्या करुणात्मन।
भूयसी करुणा तेषु समभूच्छुद्धचेतस ॥ १७ ॥

करुणैकतानहृदयश्च तान्यक्षाननुशोचन्नियतमीदृशमर्थं चिन्तयामास ।

दयावतस्तावदिदमन्नपानं सुदुर्लभम् ।
प्रत्यहं च तदन्वेष्यं किन्तु दु.खमतः परम् ॥ १८ ॥
निर्दयस्याप्यशक्तस्य विघातैकरस श्रम ।
शक्तस्याप्यहिताभ्यासात् किस्वित्कष्टतरं तत. ॥ १९ ॥
एवंविधाहारपरायणाना कारुण्यशून्याशिवमानसानाम् ।
प्रत्याहमेषा दहता स्वमर्थं दु खानि यास्यन्ति कदा नु नाशम् ॥ २० ॥

तत्कथमिदानीमहमेषामीदृशाहारसम्पादनादेकाहमपि तावत्परहिंसाप्राणविघातं कुर्याम् ?

न हि स्मराम्यर्थितयागतानामाशाविपर्यासहृतप्रभाणि ।
हिमानिलम्लापितपङ्कजाना समानदैन्यानि मुखानि कर्तुम् ॥ २१ ॥

भवतु । दृष्टम् ।

स्वत शरीरात्स्थिरपीवराणि दास्यामि मासानि सशोणितानि ।
अतोऽन्यथा को हि मम क्रम स्यादित्यागतेष्वर्थिषु युक्तरूप. ॥ २२ ॥
स्वयंमृताना हि निरूष्मकाणि भवन्ति मासानि विशोणितानि ।
प्रियाणि चैषा न हि तानि सम्यग् बुभुक्षया पीडितविग्रहाणाम् ॥ २३ ॥

जीवतोऽपि च कुतोऽहमन्यस्मान्मासमादास्ये मामभिगम्य चैते तथैव क्षुत्तर्षपरिक्षामनयनवदना निष्फलाशाप्रणयत्वादधिकतरविघातातुरमनस कथं नाम प्रतियास्यन्ति ? तदिदमत्र प्राप्तकालम् ।

दुष्टव्रणस्येव सदातुरस्य कडे(ले)वरस्यास्य रुजाकरस्य ।
करोमि कार्यातिशयोपयोगादत्यर्थरम्य प्रतिकारखेदम् ॥ २४ ॥

इति विनिश्चित्य स महात्मा प्रहर्षोद्गमस्फीतीकृतनयनवदनशोभ स्वं शरीरमुपदर्शयंस्तान्यक्षानुवाच—

अमूनि मासानि सशोणितानि धृतानि लोकस्य हितार्थमेव ।
यद्यातिथेयत्वमुपेयुरद्य महोदय सोऽभ्युदयो मम स्यात् ॥ २५ ॥

अथ ते यक्षा जानन्तोऽपि तस्य राज्ञस्तमध्याशयमत्यद्भुतत्वादश्रद्दधाना राजानमूचु —

अर्थिनात्मगते दु खे याच्ञादैन्येन दर्शिते ।
ज्ञातुमर्हति दातैव प्राप्तकालमत परम् ॥ २६ ॥

अथ राजा-अनुमतमिदमेषामिति प्रमुदितमना सिरामोक्षणार्थं वैद्या आज्ञाप्यन्तामिति समादिदेश । अथ तस्य राज्ञोऽमात्या स्वमासशोणितप्रदानव्यवसायमवेत्य सम्भ्रमामर्षव्याकुलहृदया व्यक्तमीदृशं कञ्चिदर्थं स्नेहवशादूचु —नार्हति देव प्रदानहर्षातिशयादनुरक्ताना प्रजाना हिताहितक्रममनवेक्षितुम् । न चैतदविदितं देवस्य । यथा—

यद्यत्प्रजानामहितोदयाय तत्तत्प्रियं मानद ! राक्षसानाम् ।
परोपरोधार्जितवृत्तितुष्टिरेवंस्वभावानघ जातिरेषाम् ॥ २७ ॥

सुखेष्वसक्तश्च बिभर्षि देव ! राज्यश्रमं लोकहितार्थमेव ।
स्वमासदानव्यवसायमस्मात्स्वनिश्चयोन्मार्गमिम विमुञ्च ॥ २८ ॥

असंशयं न प्रसहन्त एते त्वद्वीर्यगुप्तं नरदेव लोकम् ।
अनर्थपाण्डित्यहतास्तथा हि नयेन वाञ्छन्त्यनयं प्रजानाम् ॥ २९ ॥

मेदोवसाद्यैस्त्रिदशा मखेषु प्रीति हुताशाभिहुतैर्व्रजन्ति ।
सत्कारपूतं भवदीयमन्नं सम्पन्नमेपा किल नैव रुच्यम् ॥ ३० ॥

कामं नास्मद्विधजनाधेयबुद्धयो देवपादा । स्वकार्यानुरागस्त्वयमस्मानेवमुपचारपथाद् भ्रंशयति । पञ्चानाममीषामर्थे सकल जगदनर्थीकर्तव्यमिति कोऽयं धर्ममार्गो देवस्य ? अपि च । किंकृतेयमस्मास्वेवं निष्प्रणयता, केन वास्माकं स्वाम्यर्थे विनियोज्यमानानि विनिगूढपूर्वाणि मासशोणितानि यदपरिक्षीणेष्वेवामीषु स्वानि देवो दातुमिच्छतीति । अथ स राजा तानमात्यानुवाच—

संविद्यमानं नास्तीति ब्रूयादस्मद्विध कथम् ।
न दास्यामीत्यसत्यं वा विस्पष्टमपि याचित ॥ ३१ ॥

धर्मव्यवस्थासु पुर सर सन् स्वयं व्रजेयं यदि कापथेन ।
अस्मद्गताचारपथानुगाना भवेदवस्था मम का प्रजानाम् ॥ ३२ ॥

यत प्रजा एव समीक्षमाण सारं शरीरादहमुद्धरिष्ये ।
कश्च प्रभावो जगदर्थसाधुर्मात्सिर्यहार्याल्पहृदा मम स्यात् ॥ ३३ ॥

यदपि चास्मत्प्रेमवहुमानावर्जितं प्रणयविस्रम्भगर्भमभिधीयते भवद्भि—किंकृतेयमस्मास्वेवं निष्प्रणयता यदपरिक्षीणेष्वेव नो मासशोणितेषु स्वानि देवो दातुमिच्छतीति । अत्र वोऽनुनेष्यामि । न खलु मे युष्मासु प्रतिहतविषय प्रणयमार्गो विस्रम्भविरहात्परिशङ्कागहनदुरवगाहो वा । किन्तु—

धने तनुत्वं क्रमशो गते वा भाग्यानुवृत्त्या क्षयमागते वा ।
विजृम्भमाणप्रणय सुहृत्सु शोभेत न स्फीतधन कृशेषु ॥ ३४ ॥

विवर्धितेष्वर्थिजनार्थमेव संविद्यमानेषु च मे बृहत्सु ।
गात्रेषु मांसोपचयोन्नतेषु युष्मास्वपि स्यात्प्रणयो विरूप ॥ ३५ ॥

असंस्तुतानामपि न क्षमेय पीडा कथं कैव कथा भवत्सु ।
स्वान्येव मासानि यतोऽस्मि दित्सुर्मा चैव याचन्त इमे न युष्मान् ॥ ३६ ॥

तदलमस्मदतिस्नेहाद्धर्मविघ्नानि साध्वसतया । अनुचित खल्वयमत्रभवतामस्मदर्थिषु समुदाचार । मीमासितव्यमपि च तावदेतत्स्यात्—

स्वार्थमन्नादि दित्सन्तं कथं स्यात्प्रतिषेधयन् ।
साधुवृत्तिरसाधुर्वा प्रागेवैवंविधं विधिम् ॥ ३७ ॥

तदलमनेनात्र वो निर्बन्धेन । न्यायोपपरीक्षया क्रियतामस्मत्साचिव्यसदृशमुन्मार्गावरणं मनस । अनुमोदनानुगुणवचस खल्वत्रभवन्त शोभेरन्नेवमधीरनयना । कुत —

नैकोपयोगस्य धनस्य तावन्न प्रत्यहं याचनका भवन्ति ।
एवंविधस्त्वर्थिजनोऽधिगन्तुं न देवताराधनयापि शक्य ॥ ३८ ॥

एवंविधे चार्थिजनेऽभ्युपेते देहे विनाशिन्यसुखास्पदे च।
विमर्शमार्गोऽप्यनुदात्तता स्यान्मात्सर्यदैन्यं तु पऱा तमिस्रा॥ ३९॥

तन्न मा वारयतुमर्हन्त्यत्रभवन्त इत्यनुनीय स राजा स्वा पर्षदमाहूय वैद्यान्पञ्च सिरा स्वशरीरे मोक्षयित्वा तान्यक्षानुवाच—

धर्मकर्मणि साचिव्यं प्रीति च परमा मम।
भवन्त कर्तुमर्हन्ति देयस्यास्य प्रतिग्रहात्॥ ४०॥

ते तथेत्युक्त्वाञ्जलिपुटैरेव राज्ञो रक्तचन्दनरसाभिताम्र रुधिरं पातुमुपचक्रमिरे।

स पीयमानक्षतज क्षितीश क्षपाचरैर्हेमवपुश्चकाशे।
सन्ध्यानुरक्तैर्जलभारनम्रै पयोधरैर्मेरुरिवोपगूढ॥ ४१॥
प्रीतिप्रकर्षाद्धृतिसम्पदा च वपुर्गुणादेव च तस्य राज्ञ।
मम्लौ न गात्रं न मुमूर्छ चेत सचिक्षिपे न क्षतजं क्षरद्वा॥ ४२॥

विनीततर्षक्लमास्तु ते यक्षा पर्याप्तमनेनेति राजानमूचु—

अनेकदुःखायतने शरीरे सदा कृतघ्नेऽपि नराधिपस्य।
गतेऽर्थिसंमाननसाधनत्वं हर्षानुकूलं ग्रहणं बभूव॥ ४३॥

अथ स राजा हर्षप्रबोधादधिकतरनयनवदनप्रसादो नीलोत्पलदलनीलविमलपत्रं रत्नप्रभोद्भासुररुचिरत्सरुं निशितं निस्त्रिंशमादाय स्वमासानि च्छित्त्वा तेभ्य प्रायच्छत्।

ह्रियमाणावकाशं तु दानप्रीत्या पुन पुन।
न प्रसेहे मनस्तस्य च्छेददुःखं विगाहितुम्॥ ४४॥
आकृष्यमाणं शितशस्त्रपातै प्रीत्या पुनर्दूरमपास्यमानम्।
खेदालसत्वादिव तस्य दुःखं मन समुत्सर्पणमन्दमासीत्॥ ४५॥
स प्रीतिमानेव निशाचरास्तान्सन्तर्पयन्स्वै पिशितैस्तथासीत्।
क्रूराणि तेषामपि मानसानि येनासुराविष्कृतमार्दवानि॥ ४६॥
धर्मप्रियत्वात्करुणावशाद्वा त्यजन् परार्थे प्रियमात्मदेहम्।
द्वेषाग्निदग्धान्यपि मानसानि प्रसादसौवर्ण्यनवानि कुर्यात्॥ ४७॥

अथ ते यक्षास्तं राजानं स्वमासोत्कर्तनपरं तथैवास्खलितवदनप्रसादमविकम्प्यमानं मासच्छेदवेदनाभिरभिवीक्ष्य प्रसादं विस्मयञ्चोपजग्मु।

आश्चर्यमद्भुतमहो बत किस्विदेतत्
सत्यं न वेति समुदीर्णविचारहर्षा।
राजन्यमर्षमुपमृद्य मन प्रसादं
तत्संस्तुतिप्रणतिभि प्रथयाम्बभूवुः॥ ४८॥

अलमलं देव! विरम्यता स्वशरीरपीडाप्रसङ्गात्। सन्तर्पिताः स्मस्तवानयाद्भुतया याचनकजनमनोहरया प्रतिपत्त्येति ससम्भ्रमा सप्रणामं विनिवार्य राजानं प्रसादाश्रुपरिषिक्तवदना सबहुमानमुदीक्षमाणा पुनरूचु—

स्थाने भक्तिवशेन गच्छति जनस्त्वत्कीर्तिवाचालता
स्थाने श्री परिभूय पङ्कजवनं त्वत्संश्रयश्लाघिनी।
व्यक्तं शक्रसनाथतामपि गता त्वद्वीर्यगुप्तामिमा
द्यौ पश्यत्युदितस्पृहा वसुमती नो चेदहो वञ्च्यते ॥ ४९ ॥

कि बहुना ? एवंविधजनाभ्युपपन्न सभाग्य खलु मनुष्यलोक· । युष्मदायासाभ्यनुमोदनात्तु वयमेवात्र दग्धा । भवद्विधजनापश्रयाच्छक्यमित्थङ्गतैरप्यात्मानं समुद्धर्तुमिति स्वदुष्करप्रतीघाताशया भवन्तं पृच्छाम —

अनादृत्य सुखप्राप्तामनुरक्ता नृपश्रियम्।
कि तदत्यद्भुत स्थान पथानेन यदीप्ससि ॥ ५० ॥
सर्वक्षितिपतित्वं नु धनेशत्वमथेन्द्रताम्।
ब्रह्मभूय विमोक्ष वा तपसानेन वाञ्छसि ॥ ५१ ॥
अस्य हि व्यवसायस्य न दूरतरमीप्सितम्।
श्रोतव्यं चैतदस्माभिर्वक्तुमर्हति नो भवान् ॥ ५२ ॥

राजोवाच—श्रूयता यदर्थोऽय ममाभ्युद्यम ।

प्रयत्नलभ्या यदयत्ननाशिनी न तृप्तिसौख्याय कुत प्रशान्तये।
भवाश्रया सम्पदतो न कामये सुरेन्द्रलक्ष्मीमपि किम्वथेतराम् ॥ ५३ ॥
न चात्मदु खक्षयमात्रकेण मे प्रयाति सन्तोषपथेन मानसम्।
अमूननाथानभिवीक्ष्य देहिन प्रसक्ततीव्रव्यसनश्रमातुरान् ॥ ५४ ॥
अनेन पुण्येन तु सर्वदर्शितामवाप्य निर्जित्य च दोषविद्विष ।
जरा-रुजा-मृत्युमहोर्मिसङ कुलात्समुद्धरेय भवसागराज्जगत् ॥ ५५ ॥

अथ ते यक्षा प्रसादसंहर्षिततनुरुहा प्रणम्य राजानमूचु—उपपन्नरूपमेवविधस्य व्यवसायातिशयस्येदं कर्म। तन्न दूरे भवद्विधानामभिप्रायसम्पद इति निश्चितमनसो विज्ञापयाम·—

कामं लोकहितायैव तव सर्वोऽयमुद्यम ।
स्वहितात्यादर त्वेषा स्मर्तुमर्हसि नस्तदा ॥ ५६ ॥
अज्ञानाच्च यदस्माभिरेवमायासितो भवान्।
स्वमप्यर्थमपश्यद्भिर्मृष्यतामेव तच्च न ॥ ५७ ॥
आज्ञामपि च तावन्नस्त्वमनुग्रहपद्धतिम्।
सचिवानामिव स्वेषा विस्रब्धं दातुमर्हसि ॥ ५८ ॥

अथ स राजा प्रसादमृदूकृतहृदयान्मत्वैनानुवाच—उपकार खल्वयं नायासो ममेत्यलमत्र वोऽक्षमाशङ्कया। अपि च—

एवंविधे धर्मपथे सहायान्कि विस्मरिष्याम्यधिगम्य बोधिम्।
युष्माकमेव प्रथमं करिष्ये विमोक्षधर्मामृतसंविभागम् ॥ ५९ ॥
अस्मत्प्रियं चाभिसमीक्षमाणैर्हिंसा भवद्भिर्विषवद्विवर्ज्या।
लोभ· परद्रव्यपरिग्रहेषु वाग्गर्हिता मद्यमयश्च पाप्मा ॥ ६० ॥

अथ ते यक्षास्तथेत्यस्मै प्रतिश्रुत्य प्रणम्य प्रदक्षिणीकृत्य चैनं तत्रैवान्तर्दधिरे। स्वमांसशोणितप्रदाननिश्चयसमकालमेव तु तस्य महासत्त्वस्य।

विकम्पमाना बहुधा वसुन्धरा विघूर्णयामास सुवर्णपर्वतम्।
प्रसस्वनुर्दुन्दुभयश्च तद्गता द्रुमाश्च पुष्पं ससृजुर्विकम्पनात् ॥ ६१ ॥
तदभ्रवद्व्योमनि मारुतेरितं पतत्रिसेनेव वितानवत्क्वचित्।
विसृत्य माला ग्रथितेव कुर्वत्समं समन्तान्नृपतेर्व्यकीर्यत ॥ ६२ ॥
निवारयिष्यन्निव मेदिनीपतिं समुद्धतावेगतया महार्णवः।
जलैः प्रकृत्यभ्यधिकक्रमस्वनैः प्रयाणसौजस्कवपुर्व्यरोचत ॥ ६३ ॥
किमेतदित्यागतसम्भ्रमस्ततः सुराधिपस्तत्र विचिन्त्य कारणम्।
नृपात्ययाशङ्कितसूर्णमाययौ नृपालयं शोकभयाकुलाकुलम् ॥ ६४ ॥
तथागतस्यापि तु तस्य भूपतेर्मुखप्रसादात्सविशेषविस्मयः।
उपेत्य तत्कर्म मनोज्ञया गिरा प्रसादसंहर्षवशेन तुष्टुवे ॥ ६५ ॥
अहो प्रकर्षो बत सज्जनस्थितेरहो गुणाभ्यासनिधेरुदारता।
अहो परानुग्रहपेशला मतिस्त्वदर्पणान्नाथवती बत क्षितिः ॥ ६६ ॥

इत्यभिप्रशस्यैनं शक्रो देवेन्द्रः सद्यः क्षतरोहणसमर्थैर्दिव्यैर्मानुष्यकैरोषधिविशेषैर्निर्वेदनं यथापौराणं शरीरं कृत्वा दाक्षिण्यविनयोपचारमधुरं प्रतिपूजितस्तेन राज्ञा स्वमावासं प्रतिजगाम।

तदेवं परदुःखातुरा नात्मसुखमवेक्षन्ते महाकारुणिका इति। को नाम धनमात्रकेऽप्यपेक्षा नोत्स्रष्टुमर्हतीति दायकजनसमुत्तेजनाया वाच्यम्। करुणावर्णेऽपि तथागतमाहात्म्ये सत्कृत्य धर्मश्रवणे च।

यच्चोक्तं भगवता 'बहुकराः खल्वेते पञ्चका भिक्षवः' इति स्यादेतत्सन्धाय। तेन हि समयेन ते पञ्च यक्षा बभूवुः। तेषां भगवता यथाप्रतिज्ञातमेव प्रथमं धर्मामृतसंविभागः कृत इति।

इति मैत्रीबल-जातकमष्टमम्।

---

९ विश्वन्तर जातकम्

न बोधिसत्त्वचरितं सुखमनुमोदितुमप्यल्पसत्त्वैः प्रागेवाचरितुम्। तद्यथानुश्रूयते—

सात्मीभूतेन्द्रियजयः पराक्रमनयविनयसंपदा समधिगतविजयश्रीर्वृद्धोपासननियमात् त्रय्यान्वीक्षिक्योरुपलब्धार्थतत्त्वः स्वधर्मकर्मानुरक्ताभिरनुद्विग्नसुखोचिताभिरनुरक्ताभिः प्रकृतिभिः प्रकाश्यमानदण्डनीतिशोभः सम्यक्प्रवृत्तवार्त्ताविधिः संजयो नाम शिबीनां राजा बभूव।

गुणोदयैर्यस्य निबद्धभावा कुलाङ्गनेवास नराधिपश्रीः।
अतर्कणीयान्यमहीपतीनां सिंहाभिगुप्तेव गुहा मृगाणाम् ॥ १ ॥

तपस्सु विद्यासु कलासु चैव कृतश्रमा यस्य सदाभ्युपेता ।
विशेषयुक्तं बहुमानमीयु पूजाभिराविष्क्रियमाणसारा ॥ २ ॥

तस्य राज्ञ प्रतिपत्त्यनन्तर प्रथितगुणगणनिरन्तरो विश्वतरो नाम पुत्रो युवराजो बभूव । [अयमेव भगवाञ्छाक्यमुनिस्तेन समयेन ।]

युवापि वृद्धोपशमाभिरामस्तेजस्व्यपि क्षान्तिसुखस्वभाव ।
विद्वानपि ज्ञानमदानभिज्ञ श्रिया समृद्धोऽप्यवलेपशून्य ॥ ३ ॥
दृष्टप्रयामासु च दिक्षु तस्य व्याप्ते च लोकत्रितये यशोभि ।
बभूव नैवान्ययशोलवाना प्रसर्तुमुत्साह इवावकाश ॥ ४ ॥
अमृष्यमाण स जगद्गताना दु खोदयाना प्रसृतावलेपम् ।
दानेषुवर्षी करुणोरुचापस्तैर्युद्धसरम्भमिवाजगाम ॥ ५ ॥

स प्रत्यहमभिगतमर्थिजनमभिलषिताधिकैरक्लिष्टैरर्थविसर्गै प्रियवचनोपचारमनोहरैरतीव प्रह्लादयामास । पर्वदिवसेषु च पोपधनियमप्रशमविभूषण शिर स्नात शुक्लक्षौमवासा हिमगिरिशिखरसंनिकाश मदलेखाभ्यलकृतमुखं लक्षणविनयजवसत्त्वसंपन्नं गन्धहस्तिनं समाज्ञातमोपवाह्य द्विरदवरमभिरुह्य समन्ततो नगरस्याभिनिविष्टान्यर्थिजननिपानभूतानि स्वानि सत्त्रागाराणि प्रत्यवेक्षते स्म । तथा च प्रीतिविशेषमभिजगाम ।

न हि ता कुरुते प्रीति विभूतिर्भवनाश्रिता ।
संक्रम्यमाणार्थिजने सैव दानप्रियस्य याम् । ६ ॥

अथ कदाचित्तस्यैवंविधं दानप्रसङ्गं प्रमुदितहृदयैरर्थिभि समन्ततो विकीर्यमाणमुपलभ्यान्यतमो भूम्यनन्तरस्तस्य राजा शक्यमयमभिसंधातु दानानुरागवशगत्वादिति प्रतर्क्य द्विरदवरापहरणार्थ ब्राह्मणास्तत्र प्रणिदधे । अथ ते ब्राह्मणा विश्वंतरस्य स्वानि सत्त्रागाराणि प्रत्यवेक्षमाणस्य प्रमोदादधिकतरनयनवदनशोभस्य जयाशीर्वादमुखरा समुच्छ्रिताभिप्रसारितदक्षिणाग्रपाणय पुरस्तात् समतिष्ठन्त । स ततो विनिगृह्य द्विरदवरमुपचारपुरसरमभिगमनप्रयोजनमेनान् पर्यपृच्छदाज्ञाप्यता केनार्थ इति । ब्राह्मणा ऊचु —

अमुष्य तव नागस्य गतिलीलाविलम्बिन ।
गुणैरर्थित्वमायाता दानशौर्याच्च ते वयम् ॥ ७ ॥
कैलासशिखराभस्य प्रदानादस्य दन्तिन ।
कुरुष्व तावल्लोकाना विस्मयैकरस मन ॥ ८ ॥

इत्युक्ते बोधिसत्त्व प्रीत्या समापूर्यमाणहृदयश्चिन्तामापेदे । चिरस्य खलूदारप्रणयसुमुखमर्थिजनं पश्यामि । क पुनरर्थ एवंविधेन द्विरदपतिनैषा ब्राह्मणानाम् ? व्यक्तमयं लोभेर्ष्याद्वेषपर्याकुलमनस कस्यापि राज्ञ कार्पण्यप्रयोग ।

आशाविघातदीनत्वं तन्मा भूत्तस्य भूपते ।
अनादृत्य यशोधर्मौ योऽस्मद्धित इवोद्यत ॥ ९ ॥

इति विनिश्चित्य स महात्मा त्वरितमवतीर्य द्विरदवरात् प्रतिगृह्यतामिति समुद्यतकाञ्चनभृङ्गारस्तेषा पुरस्तादवतस्थे ।

तत स विद्वानपि राजशास्त्रमर्थानुवृत्त्या गतधर्ममार्गम् ।
धर्मानुरागेण ददौ गजेन्द्रं नीतिव्यलीकेन न संचकम्पे ॥ १० ॥
तं हेमजालरुचिराभरण गजेन्द्रं
विद्युत्पिनद्धमिव शारदमभ्रराशिम् ।
दत्त्वा परा मुदमवाप नरेन्द्रसूनु
संचुक्षुभे च नगरं नयपक्षपातात् ॥ ११ ॥

अथ द्विरदपतिप्रदानश्रवणात् समुदीर्णक्रोधसंरम्भा शिबयो ब्राह्मणवृद्धा मन्त्रिणो योधा पौरमुख्याश्च कोलाहलमुपजनयन्त सजयं राजानमभिगम्य ससम्भ्रमामर्षसंरम्भात् परिशिथिलोपचारयन्त्रणमूचु — किमियं देव राज्यश्रीर्विलुप्यमानैवमुपेक्ष्यते ? नार्हति देव स्वराज्योपप्लवमेवमभिवर्धमानमुपेक्षितुम् । किमेतदिति च सावेगमुक्ता राज्ञा पुनरेवमूचु —कस्माद् देवो न जानीते !

निषेव्य मत्तभ्रमरोपगीतं यस्याननं दानसुगन्धि वायु ।
मदावलेप परवारणानामायासदु खेन विना प्रमार्ष्टि ॥ १२ ॥
यत्तेजसाक्रान्तबलप्रभावा संसुप्तदर्पा इव विद्विषस्ते ।
विश्वंतरेणैष गज स दत्तो रूपी जयस्ते ह्रियतेऽन्यदेशम् ॥ १३ ॥
गाव· सुवर्ण वसनानि भोज्यमिति द्विजेभ्यो नृप देयरूपम् ।
यस्मिञ्जयश्रीर्नियता द्विपेन्द्रे देय स नामेत्यतिदानशौर्यम् ॥ १४ ॥
नयोत्पथेनैनमिति व्रजन्तं कथ समन्वेष्यति राजलक्ष्मी ।
नोपेक्षणं देव तवात्र युक्तं पुरायमानन्दयति द्विषस्ते ॥ १५ ॥

तच्छ्रुत्वा स राजा पुत्रप्रियत्वात् किंचित्तानेव प्रत्यप्रीतमना कार्यानुरोधात् सावेगवदेवमित्युक्त्वा समनुनेष्यञ्छिबीनुवाच — जाने दानप्रसङ्गव्यसनिता नीतिक्रमानपेक्षा विश्वंतरस्य न चैष क्रमो राज्यधुरि संनियुक्तस्य । दत्त त्वनेन स्वं हस्तिनं वान्तकल्पं क प्रत्याहरिष्यति ? अपि तु तथाहमेव करिष्ये यथा दाने मात्रा ज्ञास्यति विश्वंतर. । तदलमत्र व सरम्भेणेति । शिबय ऊचु —न खलु महाराज परिभाषामात्रसाध्योऽस्मिन्नर्थे विश्वतर इति । संजय उवाच—अथ किमन्यदत्र मया शक्यं कर्तुम् ?

दोषप्रवृत्तेर्विमुखस्य यस्य गुणप्रसङ्गा व्यसनीक्रियन्ते ।
बन्धो वधो वात्मसुतस्य तस्य किं निष्क्रय स्याद् द्विरदस्य तस्य ॥ १६ ॥

तदलमत्र व संरम्भेण । निवारयिष्याम्यहमतो विश्वन्तरमिति ।

अथ शिबय समुदीर्णमन्यवो राजानमूचु —

को वा वधं बन्धनताडन वा सुतस्य ते रोचयते नरेन्द्र ।
धर्मात्मकस्त्वेष न राज्यभारक्षोभस्य सोढा करुणामृदुत्वात् ॥ १७ ॥
सिंहासनं तेजसि लब्धशब्दास्त्रिवर्गसेवानिपुणा भजन्ते ।
धर्मानुरागात्त्वयनिर्व्यपेक्षस्तपोवनाध्यासनयोग्य एष· ॥ १८ ॥
फलन्ति कामं वसुधाधिपाना दुर्नीतिदोषास्तदुपाश्रितेषु ।
सह्यास्त एषा तु तथापि दृष्टा मूलोपरोधान्न तु पार्थिवानाम् ॥ १९ ॥

किमत्र वा बह्वभिधाय निश्चयस्त्वय शिबीना त्वदभूत्यमर्षिणाम् ।
प्रयातु वङ्कं तपसोऽभिवृद्धये नृपात्मज· सिद्धनिषेवितं गिरिम् ।। २० ।।

अथ स राजा स्नेहप्रणयविस्रम्भवशादनयापायदर्शिना हितोद्यतेन तेन जनेन परिनिष्ठुरमित्यभिधीयमान प्रकृतिकोपाद् व्रीडावनतवदन पुत्रवियोगचिन्तापरिगतहृदय सायासमभिनिश्वस्य शिबीनुवाच—यद्येप भवता निर्बन्धस्तदेकमप्यहोरात्रमस्य मृष्यताम् । प्रभातायां रजन्यामभिप्रेत वोऽनुष्ठाता विश्वन्तर इति ।

एवमस्त्विति च प्रतिगृहीतानुनय शिबिभि स राजा क्षत्तारमुवाच—गच्छेमं वृत्तान्तं विश्वन्तराय निवेदयेति । स तथेति प्रतिश्रुत्य शोकाश्रुपरिषिक्तवदनो विश्वन्तरं स्वभवनगतमुपेत्य शोकदुःखावेगात् सस्वर रुदन् पादयोरस्य न्यपतत् । अपि कुशलं राजकुलस्येति च ससम्भ्रम विश्वन्तरेणानुयुक्त समवसीदन्नविशदपदाक्षरमेनमुवाच—कुशलं राजकुलस्येति । अथ कस्मादेवमधीरोऽसीति च पुनरनुयुक्तो विश्वन्तरेण क्षत्ता बाष्पवेगोपरुध्यमानगद्गदकण्ठ श्वासविस्खलितलुलिताक्षरं शनैरित्युवाच—

सान्त्वगर्भामनादृत्य नृपाज्ञामप्यदक्षिणा ।
राष्ट्रात्प्रव्राजयन्ति त्वा कुपिता शिबयो नृप ।। २१ ।।

विश्वन्तर उवाच—मा शिबय प्रव्राजयन्ति कुपिता इति क संबन्ध ?

रमे न विनयोन्मार्गे द्वेष्मि चाहं प्रमादिताम् ।
कुत्र मे शिबय क्रुद्धा यन्न पश्यामि दुष्कृतम् ।। २२ ।।

क्षत्तोवाच—अत्युदारतायाम् ।

अलोभशुभ्रा त्वयि तुष्टिरासील्लोभाकुला याचकमानसेपु ।
दत्ते त्वया मानद वारणेन्द्रे धैर्याग्नि कोपस्त्वहरच्छिबीनाम् ।। २३ ।।
इत्यतीता स्वमर्यादा रभसा शिबयस्त्वयि ।
येन प्रव्राजिता यान्ति पथा तेन किल व्रज ।। २४ ।

अथ बोधिसत्त्व कृपाभ्यासरूढां याचनकजनवत्सलतां धैर्यातिशयसंपदं च स्वामुद्भावयन्नुवाच—चपलस्वभावा खलु शिबयोऽनभिज्ञा इव चास्मत्स्वभावस्य ।

द्रव्येषु बाह्येषु क एव वादो दद्यामहं स्वे नयने शिरो वा ।
इमं हि लोकार्थमहं बिभर्मि समुच्छ्रयं किम्वथ वस्त्रवाह्यम् ।। २५ ।।
यस्य स्वगात्रैरपि याचकाना वचांसि संपूजयितुं मनीषा ।
भयान्न दद्यात्स इति प्रतर्क प्रकाशना बालिशचापलस्य ।। २६ ।।

कामं मा शिबय सर्वे घ्नन्तु प्रव्राजयन्तु वा ।
न त्वेवाहं न दास्यामि गच्छाम्येष तपोवनम् ।। २७ ।।

अथ बोधिसत्त्वो विप्रियश्रवणविक्लवमुखीं पत्नीमुवाच—श्रुतोऽत्रभवत्या शिबीना निश्चय ? मद्र्युवाच—श्रुतोऽय देव । विश्वन्तर उवाच—

तद्यदस्ति धनं किंचिदस्मत्तोऽधिगतं त्वया ।
निधेहि तदनिन्द्याक्षि यच्च ते पैतृकं धनम् ।। २८ ।।

मद्र्युवाच—कुत्रैतद्देव निदधामीति ? विश्वन्तर उवाच—

शीलवद्भ्य सदा दद्या दानं सत्कारशीभरम् ।
तथा हि निहितं द्रव्यमहार्यमनुगामि च ॥ २९ ॥
प्रियं श्वशुरयो कुर्या पुत्रयो परिपालनम् ।
धर्ममेवाप्रमादं च शोकं मद्विरहात्त् मा ॥ ३० ॥

तच्छ्रुत्वा मद्री संतप्तहृदयापि भर्तुरधृतिपरिहारार्थमनादृत्य शोकदैन्य-मित्युवाच—

नैष धर्मो महाराज यद्याया वनमेकक ।
तेनाहमपि यास्यामि येन क्षत्रिय यास्यसि ॥ ३१ ॥
त्वदङ्गपरिवर्तिन्या मृत्युरुत्सव एव मे ।
मृत्योर्दु खतर तत्स्याज्जीवेयं यत्त्वया विना ॥ ३२ ॥

नैव च खलु मे देव वनवासो दु ख इति प्रतिभाति । तथा हि—

निर्दुर्जनान्यनुपभुक्तसरित्तरूणि
नानाविहंगविरुतानि मृगाकुलानि ।
वैडूर्यकुट्टिममनोहरशाद्वलानि
क्रीडावनाधिकसुखानि तपोवनानि ॥ ३३ ॥

अपि च देव !

अलंकृताविमौ पश्यन्कुमारौ मालभारिणौ ।
क्रीडन्तौ वनगुल्मेषु न राज्यस्य स्मरिष्यसि ॥ ३४ ॥
ऋतुप्रयत्नरचिता वनशोभा नवा नवा ।
वने त्वा रमयिष्यन्ति सरित्कुञ्जाश्च सोदका ॥ ३५ ॥
चित्रं विरुतवादित्रं पक्षिणा रतिकाङ्क्षिणाम् ।
मदाचार्योपदिष्टानि नृत्तानि च शिखण्डिनाम् ॥ ३६ ॥
माधुर्यानवगीतं च गीतं मधुपयोषिताम् ।
वनेषु कृतसंगीतं हर्षयिष्यति ते मन ॥ ३७ ॥
आस्तीर्यमाणानि च शर्वरीषु ज्योत्स्नादुकूलेन शिलातलानि।
संवाह्यमानो वनमारुतश्च लब्धाधिवास कुसुमद्रुमेभ्य ॥ ३८ ॥
चलोपलप्रस्खलितोदकाना कला विरावाश्च सरिद्वधूनाम् ।
विभूषणानामिव संनिनादा प्रमोदयिष्यन्ति वने मनस्ते ॥ ३९ ॥

इत्यनुनीयमानः स दयितया वनप्रयाणपर्युत्सुकमतिरर्थिजनापेक्षया महाप्रदानं दातुमुपचक्रमे ।

अथेमा विश्वन्तरप्रव्राजनप्रवृत्तिमुपलभ्य राजकुले तुमुल आक्रन्दशब्द. प्रादुरभूत । शोकदु खावेगान्मूर्च्छापरीत इवार्थिजनो मत्तोन्मत्त इव च तत्तद्बहुविधं विललाप ।

छायातरोः स्वादुफलप्रदस्य च्छेदार्थमागूर्णपरश्वधानाम् ।
धात्री न लज्जा यदुपैति भूमिर्व्यक्तं तदस्या हतचेतनत्वम् ॥ ४० ॥

शीतामलस्वादुजलं निपानं बिभित्सतामस्ति न चेन्निषेद्धा ।
व्यर्थाभिधाना बत लोकपाला विप्रोषिता वा श्रुतिमात्रकं वा ॥ ४१ ॥

अधर्मो बत जागर्ति धर्मः सुप्तोऽथवा मृत ।
यत्र विश्वन्तरो राजा स्वस्माद्राज्यान्निरस्यते ॥ ४२ ॥

कोऽनर्थपटुसामर्थ्यो याच्ञानूर्जितवृत्तिषु ।
अस्मास्वनपराधेषु वधाभ्युद्यमनिष्ठुर ॥ ४३ ॥

अथ बोधिसत्त्वो नैकशतसहस्रसंख्यं मणिकनकरजतपरिपूर्णकोशं विविधधनधान्यनिचयवन्ति कोशकोष्ठागाराणि दासीदासयानवाहनवसनपरिच्छदादि च सर्वमर्थिभ्यो यथार्हमतिसृज्य, शोकदुःखाभिभूतधैर्ययोर्मातापित्रोश्चरणावभिप्रणम्य सपुत्रदारं स्यन्दनवरमभिरुह्य पुण्याहघोषेणैव महतो जनकायस्याक्रन्दितशब्देन पुरवरान्निरगच्छत् । अनुरागवशगमनुयायिनं च जनं शोकाश्रुपरिक्लिन्नवदनं प्रयत्नाद्विनिवर्त्य स्वयमेव रथप्रग्रहान् प्रतिगृह्य येन वङ्कः पर्वतस्तेन प्रायात् । व्यतीत्य चाविक्लवमतिरुद्यानवनरुचिरमालिनं पुरवरोपचारमनुपूर्वेण प्रविरलच्छायद्रुमं विच्छिद्यमानजनसंपातं प्रविचरितमृगगणसंबाधदिगालोकं चीरीविरावोन्नादितमरण्यं प्रत्यपद्यत । अथैनं यदृच्छयाभिगता ब्राह्मणा रथवाहास्तुरगानयाचन्त ।

स वर्तमानोऽध्वनि नैकयोजने सहायहीनोऽपि कलत्रवानपि ।
प्रदानहर्षादनपेक्षितायतिर्ददौ द्विजेभ्यश्चतुरस्तुरगमान् ॥ ४४ ॥

अथ बोधिसत्त्वस्य स्वयमेव रथधुर्यतामुपगन्तुकामस्य गाढतरं परिकरमभिसंयच्छमानस्य रोहितमृगरूपिणश्चत्वारो यक्षकुमारा सुविनीता इव सदश्वा स्वयमेव रथयुगं स्कन्धप्रदेशैः प्रत्यपद्यन्त । तांस्तु दृष्ट्वा हर्षविस्मयविशालतराक्षी मद्री बोधिसत्त्व उवाच—

तपोधनाध्यासनसत्कृताना पश्य प्रभावातिशयं वनानाम् ।
यत्रैवमभ्यागतवत्सलत्वं संरूढमूलं मृगपुंगवेषु ॥ ४५ ॥

मद्र्युवाच—

तवैवाहमिमं मन्ये प्रभावमतिमानुषम् ।
रूढोऽपि हि गुणाभ्यासः सर्वत्र न सम सताम् ॥ ४६ ॥

तोयेषु ताराप्रतिबिम्बशोभा विशेष्यते यत्कुमुदप्रहासैः ।
कौतूहलाभिप्रसृता इवेन्दोर्हेतुत्वमत्राग्रकराः प्रयान्ति ॥ ४७ ॥

इति तयोरन्योन्यानुकूल्यात्परस्परं प्रियं वदतोरध्वानं गच्छतोरथापरो ब्राह्मणः समभिगम्य बोधिसत्त्वं रथवरमयाचत ।

ततः स्वसुखनिःसङ्गो याचकप्रियबान्धव ।
पूरयामास विप्रस्य स रथेन मनोरथम् ॥ ४८ ॥

अथ बोधिसत्त्वः प्रीतमना रथादवतार्य स्वजनान्निर्यात्य रथवरं ब्राह्मणाय जालिनं कुमारमङ्केनादाय पद्भ्यामेवाध्वानं प्रत्यपद्यत । अविमनस्कैव च मद्री कृष्णाजिनां कुमारीमङ्केनादाय पृष्ठतोऽन्वगच्छदेनम् ।

निमन्त्रयामासुरिव द्रुमास्तं हृद्यै फलैरानमिताग्रशाखाः।
पुण्यानुभावादभिवीक्षमाणा शिष्या विनीता इव च प्रणेमु ॥ ४९ ॥
हंसासवविक्षोभितपङ्कजानि किञ्जल्करेणुस्फुटपिञ्जराणि।
प्रादुर्बभूवुश्च सरांसि तस्य तत्रैव यत्राभिचकाङ्क्ष वारि ॥ ५० ॥
वितानशोभा दधिरे पयोदाः सुखं सुगन्धि प्रववौ नभस्वान्।
परिश्रमक्लेशममृष्यमाणा यक्षाश्च संचिक्षिपुरस्य मार्गम् ॥ ५१ ॥

इति बोधिसत्त्व उद्यानगत इव पादचारविनोदनसुखमनुभवन्मार्गपरिखेद-रसमनास्वाद्य सपुत्रदार प्रान्त एव तु वङ्कपर्वतमपश्यत्। तत्र च पुष्पफलपल्लवालंकृतस्निग्धविविधरुचिरतरुवरनिचितं मदमुदितविहंगबहुविधरुतविनदं प्रवृत्तनृत्तबर्हिगणोपशोभितं प्रविचरितनैकमृगकुलं कृतपरिकर्मिव विमलनीलसलिलया सरिता कुसुमरजोऽरुणसुखपवनं तपोवनं वनचरकादेशितमार्गः प्रविश्य विश्वकर्मणा शक्रसंदेशात् स्वयमभिनिर्मिता मनोज्ञदर्शना सर्वर्तुसुखा तत्र प्रविविक्ता पर्णशालामध्यावसत्।

तस्मिन्वने दयितया परिचर्यमाण
श्रृण्वन्नयत्नमधुराश्च सुतप्रलापान्।
उद्यानसंस्थ इव विस्मृतराज्यचिन्तः
संवत्सरार्धमधिकं स तपश्चचार ॥ ५२ ॥

अथ कदाचिन्मूलफलार्थं गताया राजपुत्र्या पुत्रयो परिपालननिमित्तमाश्रमपदमशून्यं कुर्वाणे राजपुत्रे मार्गरेणुपरुषीकृतचरणप्रजङ्घ परिश्रमक्षामनयनवदनो दण्डकाष्ठावबद्धस्कन्धावसक्तकमण्डलुर्ब्राह्मण पत्न्या परिचारकानयनार्थं समर्पितदृढसंदेशस्तं देशमुपजगाम। अथ बोधिसत्त्वश्चिरस्यार्थिजनं दृष्ट्वाऽभिगतं मन प्रहर्षात् समुपजायमाननयनवदनप्रसाद प्रत्युद्गम्य स्वागतादिप्रियवचनपुरःसरं प्रवेश्य चैनमाश्रमपदं कृतातिथिसत्कारमागमनप्रयोजनमपृच्छत्। अथ स ब्राह्मणो भार्यानुरागादुत्सारितधैर्यलज्ज. प्रतिग्रहमात्रसज्जो नियतमर्थमीदृशमुवाच—

आलोको भवति यत. समश्च मार्गो
लोकोऽयं व्रजति ततो न दुर्गमेण।
प्रायोऽस्मिञ्जगति तु मत्सरान्धकारे-
णान्ये न प्रणयपदानि मे वहन्ति ॥ ५३ ॥

प्रदानशौर्योदितया यश.श्रिया गतं च गन्तव्यमशेषतस्तव।
अतोऽस्मि याच्ञाश्रममभ्युपेयिवान्प्रयच्छ तन्मे परिचारकौ सुतौ ॥ ५४ ॥

इत्युक्ते बोधिसत्त्वो महासत्त्वः

दानप्रीतौ कृताभ्यासः प्रत्याख्यातुमशिक्षित.।
ददामीत्यवदद् धृष्टं दयितौ तनयावपि ॥ ५५ ॥

स्वस्त्यस्तु। तत्किमिदानीमास्यत इति च ब्राह्मणेनाभिहितः स महासत्त्वः प्रदानकथाश्रवणोत्पतितविषादविप्लुताक्षयो. सुतयोः स्नेहावेगादवलम्बमानहृदयो बोधिसत्त्व उवाच—

दत्तावेतौ मया तुभ्यं किं तु मातानयोर्गता ।
वनं मूलफलस्यार्थे सायमद्यागमिष्यति ॥ ५६ ॥
तया दृष्टावुपाघ्रातौ मालिनावभ्यलंकृतौ ।
इहैकरात्रं विश्रम्य श्वो नेतासि सुतौ मम ॥ ५७ ॥

ब्राह्मण उवाच—अलमनेनात्रभवतो निर्बन्धेन ।

गौणमेतद्धि नारीणा नाम वामा इति स्थितम् ।
स्याच्चैव दानविघ्नस्ते तेन वासं न रोचये ॥ ५८ ॥

बोधिसत्त्व उवाच—अलं दानविघ्नशङ्कया । सहधर्मचारिणी मम सा । यथा वात्रभवते रोचते । अपि च महाब्राह्मण,

सुकुमारतया बाल्यात्परिचर्यास्वकौशलात् ।
कीदृशी नाम कुर्यातां दासप्रीतिमिमौ तव ॥ ५९ ॥
दृष्ट्वा त्वित्थंगतावेतौ शिबिराज पितामह ।
अद्धा दद्याद्यदिष्टं ते धनं निष्क्रयमेतयो ॥ ६० ॥
यतस्तद्विषयं साधु त्वमिमौ नेतुमर्हसि ।
एवं ह्यर्थेन महता धर्मेण च समेष्यसि ॥ ६१ ॥

(ब्राह्मण उवाच)—न शक्ष्याम्यहमाशीविषदुरासदं विप्रियोपायनेन राजानमभिगन्तुम् ।

आच्छिन्द्यान्मदिमौ राजा दण्डं वा प्रणयेन्मयि ।
यतो नेष्याम्यहमिमौ ब्राह्मण्या परिचारकौ ॥ ६२ ॥

अथ बोधिसत्त्वो यथेष्टमिदानीमित्वपरिसमाप्तार्थमुक्त्वा सानुनयमनुशिष्य तनयौ ,परिचर्यानुकूल्ये प्रतिग्रहार्थमभिप्रसारिते ब्राह्मणस्य पाणौ कमण्डलुमावर्जयामास ।

तस्य यत्नानुरोधेन पपाताम्बु कमण्डलो ।
पद्मपत्राभिताम्राभ्या नेत्राभ्या स्वयमेव तु ॥ ६३ ॥

अथ स ब्राह्मणो लाभातिहर्षात् संभ्रमाकुलितमतिर्बोधिसत्त्वतनयापहरणत्वरया संक्षिप्तपदमाशीर्वचनमुक्त्वा निर्गम्यतामित्याज्ञाकर्कशेन वचसा कुमारावाश्रमपदान्निष्क्रामयितुमारेभे । अथ कुमारौ वियोगदुःखातिभारव्यथितहृदयौ पितरमभिप्रणम्य बाष्पोपरुध्यमाननयनावूचतु —

अम्बा च तात निष्क्रान्ता त्वं च नौ दातुमिच्छसि ।
यावत्तामपि पश्यावस्ततो दास्यति नौ भवान् ॥ ६४ ॥

अथ स ब्राह्मण पुरा मातानयोरागच्छति, अस्य वा पुत्रस्नेहात् पश्चात्ताप संभवतीति विचिन्त्य पद्मकलापमिवानयोर्हस्तानाबध्य लतया संतर्जयन्विचेष्टमानौ पितरं प्रति व्यावर्तितवदनौ प्रकृतिसुकुमारौ कुमारौ प्रचकर्ष ।

अथ कृष्णाजिना कुमार्यपूर्वदुःखोपनिपातात् सस्वरं रुदती पितरमुवाच—

अयं मा ब्राह्मणस्तात लतया हन्ति निर्दय ।
न चायं ब्राह्मणो व्यक्तं धार्मिका ब्राह्मणा किल ॥ ६५ ॥

यक्षोऽयं ब्राह्मणच्छद्मा नूनं हरति खादितुम् ।
नीयमानौ पिशाचेन तात किं नावुपेक्षसे ॥ ६६ ॥

अथ जाली कुमारो मातरमनुशोचयन्नुवाच—

नैवेदं मे तथा दुःखं यदयं हन्ति मां द्विजः ।
नापश्यमम्बां यत्त्वद्य तद्विदारयतीव माम् ॥ ६७ ॥
रोदिष्यति चिरं नूनमम्बा शून्ये तपोवने ।
पुत्रशोकेन कृपणा हतशावेव चातकी ॥ ६८ ॥
अस्मदर्थे समाहृत्य वनान्मूलफलं बहु ।
भविष्यति कथं न्वम्बा दृष्ट्वा शून्यं तपोवनम् ॥ ६९ ॥
इमे नावश्वकास्तात हस्तिका रथकाश्च ये ।
अतोऽर्धं देयमम्बायै शोकं तेन विनेष्यति ॥ ७० ॥
वन्द्यास्मद्वचनादम्बा वार्या शोकाच्च सर्वथा ।
दुर्लभं हि पुनस्तात तव तस्याश्च दर्शनम् ॥ ७१ ॥
एहि कृष्णे मरिष्याव को न्वर्थो जीवितेन नौ ।
दत्तावावां नरेन्द्रेण ब्राह्मणाय धनैषिणे ॥ ७२ ॥

इत्युक्त्वा जग्मतुः । अथ बोधिसत्त्वस्तेनातिकरुणेन तनयप्रलापेनाकम्पितमतिरपि क इदानीं दत्त्वानुतापं करिष्यतीति निष्प्रतीकारेण शोकाग्निना विनिर्दह्यमानहृदयो विषवेगमूर्च्छापरिगत इव समुपरुध्यमानचेतास्तत्रैव निषसाद । शीतलानिलव्यजनप्रतिलब्धसंज्ञश्च निष्कूजमिवाश्रमपदं तनयशून्यमभिवीक्ष्य बाष्पगद्गदसंनिरुद्धकण्ठ इत्यात्मगतमुवाच—

पुत्राभिधाने हृदये समक्षं प्रहरन्मम ।
नाशङ्कत कथं नाम धिगलज्जो बत द्विजः ॥ ७३ ॥
पत्तिकावनुपानत्कौ सौकुमार्यात्क्लमासहौ ।
यास्यतः कथमध्वानं तस्य च प्रेष्यतां गतौ ॥ ७४ ॥
मार्गश्रमपरिम्लानौ कोऽद्य विश्रामयिष्यति ।
क्षुत्तर्षदुःखाभिहतौ याचिष्येते कमेत्य वा ॥ ७५ ॥
मम तावदिदं दुःखं धीरतां कर्तुमिच्छतः ।
का त्ववस्था मम तयोः सुतयोः सुखवृद्धयोः ॥ ७६ ॥
अहो पुत्रवियोगाग्निर्निर्दहत्येव मे मनः ।
सतां तु धर्मं संस्मृत्य कोऽनुतापं करिष्यति ॥ ७७ ॥

अथ मद्री विप्रियोपनिपातशंसिभिरनिष्टैर्निमित्तैरुपजनितवैमनस्या मूलफलान्यादाय क्षिप्रतरमागन्तुकामापि व्यालमृगोपरुध्यमानमार्गा चिरतरेणाश्रमपदमुपजगाम । उचितायां च प्रत्युद्गमनभूमावाक्रीडस्थाने च तनयावपश्यन्ती भृशतरमरतिवशमगात् ।

अनीप्सिताशङ्कितजातसंभ्रमा ततः सुतान्वेषणचञ्चलेक्षणा ।
प्रसक्तमाह्वानमसंपरिग्रहं तयोर्विदित्वा व्यलपच्छुचातुरा ॥ ७८ ॥

समाजवद्यत्प्रतिभाति मे पुरा सुतप्रलापप्रतिनादित वनम् ।
अदर्शनादद्य तयोस्तदेव मे प्रयाति कान्तारमिवाशरण्यताम् ।। ७९ ।।

किं नु खलु तौ कुमारौ—

क्रीडाप्रसङ्गश्रमजातनिद्रौ सुप्तौ नु नष्टौ गहने वने वा ।
चिरान्मदभ्यागमनादतुष्टौ स्याताः क्वचिद् बालतया निलीनौ ।। ८० ।।
रुवन्ति कस्माच्च न पक्षिणोऽप्यमी समाकुलास्तद्वधसाक्षिणो यदि ।
तरंगभङ्गैरविनीतकोपया हृतौ नु किं निम्नगयातिवेगया ।। ८१ ।।

अपीदानीं मे वितथा मिथ्याविकल्पा भवेयुः । अपि राजपुत्राय सपुत्राय स्वस्ति स्यात् । अप्यनिष्टनिवेदिनां निमित्तानां मच्छरीर एव विपाको भवेत् । किं नु खल्विदमनिमित्तप्रवृत्तप्रहर्षमरतितमिस्रयावच्छाद्यमानं विद्रवतीव हृदयम् । विस्रस्यन्त इव मे गात्राणि । व्याकुला इव दिग्विभागाः । भ्रमतीव चेदं परिध्वस्तलक्ष्मीकं वनमिति । अथानुप्रविश्याश्रमपदमेकान्ते निक्षिप्य मूलफलं यथोपचारपुरःसरं भर्तारमभिगम्य क्व दारकाविति पप्रच्छ । अथ बोधिसत्त्वो जानानः स्नेहदुर्बलतां मातृहृदयस्य दुर्निवेद्यत्वाच्च विप्रियस्य नैनां किंचिद्वक्तुं शशाक ।

जनस्य हि प्रियार्हस्य विप्रियाख्यानवह्निना ।
उपेत्य मनसस्तापः सघृणेन सुदुष्करः ।। ८२ ।।

अथ मद्री व्यक्तमकुशलं मे पुत्रयोः, यदयमेव तूष्णीभूतः शोकदैन्यानुवृत्त्यैवेत्यवधार्य समन्ततः क्षिप्तचित्तेव विलोक्याश्रमपदं तनयावपश्यन्ती सबाष्पगद्गदं पुनरुवाच—

दारकौ च न पश्यामि त्वं च मां नाभिभाषसे ।
हता खल्वहं कृपणा विप्रियं हि न कथ्यते ।। ८३ ।।

इत्युक्त्वा शोकाग्निना परिगतहृदया छिन्नमूलेव लता निपपात । पतन्तीमेव चैनां परिगृह्य बोधिसत्त्वस्तृणशयनमानीय शीताभिरद्भिः परिषिच्य प्रत्यागतप्राणां समाश्वासयन्नुवाच—

सहसैव न ते मद्रि दुःखमाख्यातवानहम् ।
न हि संभाव्यते धैर्यं मनसि स्नेहदुर्बले ।। ८४ ।।
जरादारिद्र्यदुःखार्तो ब्राह्मणो मामुपागमत् ।
तस्मै दत्तौ मया पुत्रौ समाश्वसिहि मा शुचः ।। ८५ ।।
मां पश्य मद्रि मा पुत्रौ परिदेवीश्च देवि मा ।
पुत्रशोकसशल्ये मे प्रहार्षीरिव मा हृदि ।। ८६ ।।
याचितेन कथं शक्यं न दातुमपि जीवितम् ।
अनुमोदस्व तद् भद्रे पुत्रदानमिदं मम ।। ८७ ।।

तच्छ्रुत्वा मद्री पुत्रविनाशशङ्काव्यथितहृदया पुत्रयोर्जीवितप्रवृत्तिश्रवणात् प्रतनूभूतशोकक्लमा भर्तुरधृतिपरिहारार्थं प्रमृज्य नयने सविस्मयमुदीक्षमाणा भर्तारमुवाच—आश्चर्यम् ! किं बहुना !

नूनं विस्मयवक्तव्यचेतसोऽपि दिवौकस· ।
यदित्यलब्धप्रसरस्तव चेतसि मत्सर ॥ ८८ ॥
तथा हि दिक्षु प्रसृतप्रतिस्वनै समन्ततो दैवतदुन्दुभिस्वनै ।
प्रसक्तविस्पष्टपदाक्षरं नभस्तवैव कीर्तिग्रथनादरादभूत् ॥ ८९ ॥
प्रकम्पिशैलेन्द्रपयोधरा धरा मदादिवाभूदभिवृद्धवेपथु. ।
दिव पतद्भि कुसुमैश्च काञ्चनै सविद्युदुद्योतमिवाभवन्नभ ॥ ९० ॥
तदलं शोकदैन्येन दत्त्वा चित्तं प्रसादय ।
निपानभूतो लोकाना दातैव च पुनर्भव ॥ ९१ ॥

अथ शक्रो देवेन्द्र क्षितितलचलनादाकम्पिते विविधरत्नप्रभोद्भासिनि सुमेरौ पर्वतराजे किमिदमिति समुत्पन्नविमर्शो विस्मयोत्फुल्लनयनेभ्यो लोकपालेभ्य पृथिवीकम्पकारण विश्वन्तरपुत्रदानमुपलभ्य प्रहर्षविस्मयाघूर्णितमना प्रभाताया तस्या रजन्या ब्राह्मणरूपी विश्वन्तरमर्थिवदभ्यगच्छत् । कृतातिथिसत्कारश्च बोधिसत्त्वेन केनार्थ इत्युपनिमन्त्रितो भार्यामेनमयाचत—

महाह्रदेष्वम्भ इवोपशोषं न दानधर्मं समुपैति सत्सु ।
याचे ततस्त्वा सुरसन्निभा या भार्यामिमामर्हसि तत्प्रदातुम् ॥ ९२ ॥
अविमना एव तु बोधिसत्त्वस्तथेत्यस्मै प्रतिशुश्राव ।
तत स वामेन करेण मद्रीमादाय सव्येन कमण्डलु च ।
न्यपातयत्तस्य जलं कराग्रे मनोभुवश्चेतमि शोकवह्निम् ॥ ९३ ॥
चुकोप मद्री न तु नो रुरोद विवेद सा तस्य हि तं स्वभावम् ।
अपूर्वदु खातिभरातुरा तु त प्रेक्षमाणा लिखितेव तस्थौ ॥ ९४ ॥

तद् दृष्ट्वा परमविस्मयाक्रान्तहृदय शक्रो देवानामिन्द्रस्तं महासत्त्वमभिष्टुवन्नुवाच—

अहो विकृष्टान्तरता सदसद्धर्मयोर्यथा ।
श्रद्धातुमपि कर्मेदं का शक्तिरकृतात्मनाम् ॥ ९५ ॥
अवीतरागेण सता पुत्रदारमतिप्रियम् ।
नि सङ्गमिति दातव्यं का नामेयमुदात्तता ॥ ९६ ॥
असंशयं त्वद्गुणरक्तसंकथै प्रकीर्यमाणेषु यशस्सु दिक्षु ते ।
तिरोभविष्यन्त्यपरा यश श्रिय पतंगतेजस्सु यथान्यदीप्तय ॥ ९७ ॥
तस्य तेऽभ्यनुमोदन्ते कर्मेदमतिमानुषम् ।
यक्षगन्धर्वभुजगास्त्रिदशाश्च सवासवा ॥ ९८ ॥

इत्युक्त्वा शक्र. स्वमेव वपुरभिज्वलदास्थाय शक्रोऽहमस्मीति च निवेद्यात्मानं बोधिसत्त्वमुवाच—

तुभ्यमेव प्रयच्छामि मद्री भार्यामिमामहम् ।
व्यतीत्य न हि शीतांशु चन्द्रिका स्थातुमर्हति ॥ ९९ ॥
तन्मा चिन्ता पुत्रयोर्विप्रयोगाद्राज्यभ्रंशान्मा च संतापमागा· ।
सार्धं ताभ्यामभ्युपेत पिता ते कर्ता राज्यं त्वत्सनाथं सनाथम् ॥ १०० ॥

इत्युक्त्वा शक्रस्तत्रैवान्तर्दधे। शक्रानुभावाच्च स ब्राह्मणो बोधिसत्त्वतनयौ शिबिविषयमेव संप्रापयामास। अथ शिबयः संजयश्च शिबिराजस्तदतिकरुणमतिदुष्करं च बोधिसत्त्वस्य कर्म श्रुत्वा समाक्लेदितहृदया ब्राह्मणहस्तान्निष्क्रीय बोधिसत्त्वतनयौ प्रसाद्यानीय च विश्वन्तरं राज्य एव प्रतिष्ठापयामासु।

तदेवमत्यद्भुता बोधिसत्त्वचर्येति तदुन्मुखेषु सत्त्वविशेषेषु नावज्ञा प्रतीघातो वा करणीयः। तथागतवर्णे सत्कृत्य धर्मश्रवणे चोपनेयम्।

इति विश्वन्तर-जातकं नवमम्।

---

१० यज्ञ-जातकम्

न कल्याणाशया पापप्रतारणामनुविधीयन्त इत्याशयशुद्धौ प्रयतितव्यम्। तद्यथानुश्रूयते—

बोधिसत्त्वः किल स्वपुण्यप्रभावोपनतामानतसर्वसामन्तां प्रशान्तस्वपरचक्राद्युपद्रवत्वादकण्टकामसपत्नामेकातपत्रां दायाद्यक्रमागतां पृथिवीं पालयामास।

नाथः पृथिव्याः स जितेन्द्रियारिर्भुक्तावगीतेषु फलेष्वसक्तः।
प्रजाहितेष्वाहितसर्वभावो धर्मैककार्यो मुनिवद् बभूव॥ १॥
विवेद लोकस्य हि स स्वभावं प्रधानचर्यानुकृतिप्रधानम्।
श्रेयः समाधित्सुरतः प्रजासु विशेषतो धर्मविधौ ससञ्जे॥ २॥
ददौ धनं शीलविधिं समाददे क्षमां निषेवे जगदर्थमैहत।
प्रजाहिताध्याशयसौम्यदर्शनः स मूर्तिमान्धर्म इव व्यरोचत॥ ३॥

अथ कदाचित्तद्भुजाभिगुप्तमपि तं विषयं सत्त्वानां कर्मवैगुण्यात्प्रमादवशगत्वाच्च वर्षकर्माधिकृतानां देवपुत्राणां दुर्वृष्टिपर्याकुलता क्वचित्क्वचिदभिदुद्राव। अथ स राजा व्यक्तमयं मम प्रजानां वा धर्मापचारात्समुपनतोऽनर्थ इति निश्चितमतिः संरूढहिताध्याशयत्वात्प्रजासु तद्दुःखममृष्यमाणो धर्मतत्त्वज्ञसंमतान्पुरोहितप्रमुखान्ब्राह्मवृद्धान्मतिसचिवांश्च तदुद्धरणोपायं पप्रच्छ। अथ ते वेदविहितमनेकप्राणिशतवधारम्भभीषणं यज्ञविधिं सुवृष्टिहेतुं मन्यमानास्तस्मै संवर्णयामासुः। विदितवृत्तान्तस्तु स राजा यज्ञविहितानां प्राणिवैशसानां करुणात्मकत्वान्न तेषां तद्वचनं भावेनाभ्यनन्दत्। विनयानुवृत्त्या चैनान्प्रत्याख्यानरूक्षाक्षरमनुक्त्वा प्रस्तावान्तरेणैषां तां कथां तिरश्चकार। ते पुनरपि तं राजानं धर्मसंकथाप्रस्तावलब्धावसरा गाम्भीर्यावगूढं तस्य भावमजानाना यज्ञप्रवृत्तये समनुशशासुः—

कार्याणि राज्ञां नियतानि यानि लाभे पृथिव्याः परिपालने च।
नात्येति कालस्तव तानि नित्यं तेषां क्रमो धर्मसुखानि यद्वत्॥ ४॥
त्रिवर्गसेवानिपुणस्य तस्य प्रजाहितार्थं धृतकार्मुकस्य।
यज्ञाभिधाने सुरलोकसेतौ प्रमादतन्द्रेव कथं मतिस्ते॥ ५॥
भृत्यैरिवाज्ञां बहु मन्यते ते साक्षादियं सिद्धिरिति क्षितीशाः।
श्रेयांसि कीर्तिज्वलितानि चेतुं यज्ञैरयं ते रिपुकाल कालः॥ ६॥

कामं सदा दीक्षित एव च त्वं दानप्रसङ्गान्नियमादराच्च ।
वेदप्रसिद्धै क्रतुभिस्तथापि युक्तं भवेन्मोक्तुमृणं सुराणाम् ॥ ७ ॥
स्विष्ट्याभितुष्टानि हि दैवतानि भूतानि वृष्ट्या प्रतिमानयन्ति ।
इति प्रजाना हितमात्मनश्च यशस्करं यज्ञविधिं जुषस्व ॥ ८ ॥

तस्य चिन्ता प्रादुरभवत्—अतिदुर्न्यस्तो बतायं परप्रत्ययहार्यपेलवमतिरमीमासको धर्मप्रियः श्रद्दधानो जनो यत्र हि नाम—

य एव लोकेषु शरण्यसम्मतास्त एव हिसामपि धर्मतो गता ।
विवर्तते कष्टमपायसङ्कटे जनस्तदादेशितकापथानुग ॥ ९ ॥
को हि नामाभिसम्बन्धो धर्मस्य पशुहिंसया ।
सुरलोकाधिवासस्य दैवतप्रीणनस्य वा ॥ १० ॥
विशस्यमान किल मन्त्रशक्तिभि पशुर्दिवं गच्छति तेन तद्वध ।
उपैति धर्मत्वमितीदमप्यसत्परै कृतं को हि परत्र लप्स्यते ॥ ११ ॥
असत्प्रवृत्तेरनिवृत्तमानस शुभेषु कर्मस्वविरूढनिश्चय ।
पशुर्दिवं यास्यति केन हेतुना हतोऽपि यज्ञे स्वकृताश्रयाद्विना ॥ १२ ॥
हतश्च यज्ञे त्रिदिवं यदि व्रजेन्ननु व्रजेयु पशुता स्वयं द्विजा ।
यतस्तु नायं विधिरीक्ष्यते क्वचिद्वचस्तदेषा क इव ग्रहीष्यति ॥ १३ ॥
अतुल्यगन्धर्द्धिरसौजसं शुभा सुधा किलोत्सृज्य वराप्सरोधृताम् ।
मुदं प्रयास्यन्ति वपादिकारणाद्वधेन शोच्यस्य पशोर्दिवौकस ॥ १४ ॥

तदिदमत्र प्राप्तकालमिति विनिश्चित्य स राजा यज्ञारम्भसमुत्सुक इव नाम तत्तेषा वचनं प्रतिगृह्यावोचदेन न्—सनाथ खल्वहमनुग्रहवाश्च यदेवं मे हितावहितमनसोऽत्रभवन्त. । तदिच्छामि पुरुषमेधसहस्रेण यष्टुम् । अन्विष्यता तदुपयोग्यसम्भारसमुदानयनार्थं यथाधिकारममात्यै । परीक्ष्यता सत्रागारनिवेशनयोग्यो भूमिप्रदेशस्तदनुगुणश्च तिथि-करण-मुहूर्त-नक्षत्र-योग इति । अथैनं पुरोहित उवाच—ईप्सितार्थसिद्धये स्नातु तावन्महाराज एकस्य यज्ञस्य समाप्ताववभृथे । अथोत्तरेषामारम्भ करिष्यते क्रमेण । युगपत्पुरुषपशव सहस्रशो हि परिगृह्यमाणा व्यक्तमुद्वेगदोषाय प्रजाना ते स्युरिति । अस्त्येतदिति ब्राह्मणैरुक्त स राजा तानुवाच—अलमत्रभवता प्रकृतिकोपाशङ्कया । तथा हि संविधास्ये यथोद्वेगं मे प्रजा न यास्यन्तीति । अथ स राजा पौरजानपदान्संनिपात्याब्रवीत्—इच्छामि पुरुषमेधसहस्रेण यष्टुम् । न च मयार्हः कश्चिदकामः पुरुष पशुत्वे नियोक्तुमदुष्ट । तद्य यमत प्रभृति वो द्रक्ष्यामि व्यवधूतप्रमादनिद्रेण विमनेन चारचक्षुषा शीलमर्यादातिवर्तिनमस्मदाज्ञा परिभवन्तं तं तं स्वकुलपासन देशकण्टकमहं यज्ञपशुनिमित्तमादास्य इत्येतद्वो विदितमस्त्विति । अथ तेषा मुख्यतमाः प्राञ्जलयो भूत्वैनमूचु —

सर्वा क्रियास्तव हितप्रवणाः प्रजाना
तत्रावमाननविधेर्नरदेव कोऽर्थ. ।
ब्रह्मापि ते चरितमभ्यनुमन्तुमर्हः
साधुप्रमाण परमत्र भवान्प्रमाणम् ॥ १५ ॥

प्रियं यदेव देवस्य तदस्माकमपि प्रियम् ।
अस्मत्प्रियहितादन्यद् दृश्यते न हि ते प्रियम् ॥ १६ ॥

इति प्रतिगृहीतवचन पौरजनापदै स राजा जनप्रकाशेनाडम्बरेण प्रत्ययितानमात्यान्पापजनोपग्रहणार्थं जनपदं नगराणि च प्रेषयामास समन्ततश्च प्रत्यहमिति घोषणा. कारयामास ।

अभयमभयदो ददाति राजा स्थिरशुचिशीलधनाय सज्जनाय ।
अविनयनिरतै प्रजाहितार्थं नरपशुभिस्तु सहस्रशो यियक्षु ॥ १७ ॥

तद्य. कश्चिदत प्रभृत्यविनयश्लाघानुवृत्त्युद्भवात्
सामन्तक्षितिपार्चितामपि नृपस्याज्ञामवज्ञास्यति ।
स स्वैरेव विषह्य यज्ञपशुतामापादित. कर्मभि—
यूपाबद्धतनुर्विपादकृपण· शुष्यज्जनैर्द्रक्ष्यते ॥ १८ ॥

अथ तद्विषयनिवासिन पुरुषा यज्ञपशुनिमित्तं दु शीलपुरुषान्वेषणादरं तमन्ववेक्ष्य राज्ञस्ता च घोषणामतिभीषणा प्रत्यहमुपश्रृण्वन्त पापजनोपग्रहावहिताश्च राजपुरुषान्समन्तत समापततोऽभिवीक्ष्य त्यक्तदौ शील्यानुरागाः शीलसंवरसमादानपरा वैरप्रसङ्गपराङ्मुखा. परस्परप्रेमगौरवसुमुखा प्रशान्तविग्रहविवादा गुरुजनवचनानुवर्तिन संविभागविशारदा प्रियातिथयो विनयनैभृत्यश्लाघिनः कृत इव युगे बभूवुः ।

भयेन मृत्यो परलोकचिन्तया कुलाभिमानेन यशोऽनुरक्षया ।
सुशुक्लभावाच्च विरूढया ह्रिया जन स शीलामलभूषणोऽभवत् ॥ १९ ॥
यथा यथा धर्मपरोऽभवज्जनस्तथा तथा रक्षिजनो विशेषत ।
चकार दु.शीलजनाभिमार्गणामतश्च धर्मान्न चचाल कश्चन ॥ २० ॥
स्वदेशवृत्तान्तमथोपशुश्रुवानिमं नृप प्रीतिविशेषभूषणः ।
चरान्प्रियाख्यानकदानविस्तरै सन्तर्पयित्वा सचिवान्समन्वशात् ॥ २१ ॥
परा मनीषा मम रक्षितुं प्रजा गताश्च ता सम्प्रति दक्षिणीयताम् ।
इदं च यज्ञाय धनं प्रतर्कितं यियक्षुरस्मीति यथाप्रतर्कितम् ॥ २२ ॥
यदीप्सितं यस्य सुखेन्धन धनं प्रकाममाप्नोतु स तन्मदन्तिकात् ।
इतीयमस्मद्विषयोपतापिनी दरिद्रता निर्विषया यथा भवेत् ॥ २३ ॥
मयि प्रजारक्षणनिश्चयस्थिते सहायसम्पत्परिवृद्धसाधने ।
इयं जनार्तिर्मदमर्षदीपनी मुहुर्मुहुर्मे ज्वलतीव चेतसि ॥ २४ ॥

अथ ते तस्य राज्ञ. सचिवा परममिति प्रतिगृह्य तद्वचनं सर्वेषु ग्रामनगरनिगमेषु मार्गविश्रामप्रदेशेषु च दानशाला कारयित्वा यथासन्दिष्टं राज्ञा प्रत्यहमर्थिजनमभिलषितैरर्थविसर्गैः सन्तर्पयामासु ।

अथ विहाय जन स दरिद्रता सममवाप्तवसुर्वसुधाधिपात् ।
विविधचित्रपरिच्छदभूषण प्रविततोत्सवशोभ इवाभवत् ।। २५॥
प्रमुदितार्थिजनस्तुतिसञ्चितं प्रवितताान नृपस्य दिशो यश ।
तनुतरङ्गविवर्धितविस्तरं सर इवाम्बुजकेसरजं रज ॥ २६ ॥

इति नृपस्य सुनीतिगुणाश्रयात्सुचरिताभिमुखे निखिले जने ।
समभिभूतबला कुशलोच्छ्रयैर्विलयमीयुरसङ्गमुपद्रवा ॥ २७ ॥
अविषमत्वसुखा ऋतवोऽभवन्नवनृपा इव धर्मपरायणा ।
विविधसस्यधरा च वसुन्धरा सकमलामलनीलजलाशया ॥ २८ ॥
न जनमभ्यरुजन्प्रबला रुज पटुतरं गुणमोषधयो दधु ।
ऋतुवशेन ववौ नियतोऽनिल परिययुश्च शुभेन पथा ग्रहा ॥ २९ ॥
न परचक्रकृतं समभूद्भयं न च परस्परजं न च दैविकम् ।
नियमधर्मपरे निभृते जने कृतमिवात्र युगं समपद्यत ॥ ३० ॥

अथैवं प्रवृत्तेन धर्मयज्ञेन राज्ञा प्रशमितेष्वर्थिजनदु खेषु सार्धमुपद्रवै प्रमुदितजनसम्बाधायामभ्युदयरम्यदर्शनाया वसुन्धराया नृपतेराशीर्वचनाध्ययनसव्यापारे लोके वितन्यमाने समन्ततो राजयशसि प्रसादावर्जितमति. कश्चिदमात्यमुख्यो राजानमित्युवाच—सुष्ठु खल्विदमुच्यते—

उत्तमाधममध्याना कार्याणा नित्यदर्शनात् ।
उपर्युपरि बुद्धीना चरन्तीश्वरबुद्धयः ॥ ३१ ॥

इति । देवेन हि पशुवैशसवाच्यदोषविरहितेन धर्मयज्ञेन प्रजानामुभयलोकहितं सम्पादितमुपद्रवाश्च प्रशमं नीता दारिद्र्यदु खानि च शीले प्रतिष्ठापितानाम् । किं बहुना ? सभाग्यास्ता. प्रजा ।

लक्ष्मेव क्षणदाकरस्य विततं गात्रे न कृष्णाजिनं
दीक्षायन्त्रणया निसर्गललिता चेष्टा न मन्दोद्यमः ।
मूर्ध्नश्छत्रनिभस्य केशरचना शोभा तथैवाथ च
त्यागैस्ते शतयज्वनोऽप्यपहृत कीर्त्याश्रयो विस्मय. ॥ ३२ ॥

हिंसाविषक्तः कृपण फलेप्सो प्रायेण लोकस्य नयज्ञ यज्ञ ।
यज्ञस्तु कीर्त्याभरण समस्ते शीलस्य निर्दोषमनोहरस्य ॥ ३३ ॥

अहो प्रजाना भाग्यानि यासा गोपायिता भवान् ।
प्रजानामपि हि व्यक्तं नैवं स्याद् गोपिता पिता ॥ ३४ ॥

अपर उवाच—

दानं नाम धनोदये सति जनो दत्ते तदाशावशः
स्याच्छीलेऽपि च लोकपंक्त्यभिमुख स्वर्गे च जातस्पृहः ।
या त्वेषा परकार्यदक्षिणतया तद्वत्प्रवृत्तिस्तयो-
र्नाविद्वत्सु न सत्त्वयोगविधुरेष्वेषा समालक्ष्यते ॥ ३५ ॥

तदेवं कल्याणाशया न पापप्रतारणामनुविधीयन्त इत्याशयशुद्धौ प्रयतितव्यम् ।

इति प्रजाहितोद्योग· श्रेय.कीर्तिसुखावहः ।
यन्नृपाणामतो नालं तमनादृत्य वर्तितुम् ॥ ३६ ॥

एवं राजापवादेऽपि वाच्यम् । धर्माभ्यास. प्रजाना भूतिमावहतीति भूतिकामेन धर्मानुवर्तिना भवितव्यमित्येवमप्युन्नेयम् । न पशुहिंसा कदाचिदभ्युदयाय ऽदानदम-

संयमादयस्त्वभ्युदयायेति तदर्थिना दानादिपरेण भवितव्यमित्येवमपि वाच्यम्। लोकार्थचर्याप्रवणमतिरेवं पूर्वजन्मस्वपि भगवानिति तथागतवर्णेऽपि वाच्यम्।

इति यज्ञ-जातक दशमम्।

———

११ शक्र-जातकम्

आपदपि महात्मनामैश्वर्यसम्पद्वा सत्त्वेष्वनुकम्पा न शिथिलीकरोति। तद्यथानुश्रूयते—

बोधिसत्त्व· किलानल्पकालस्वभ्यस्तपुण्यकर्मा सात्मीभूतप्रदानदमसंयमकरुण. परहितनियतक्रियातिशयः कदाचिच्छक्रो देवानामिन्द्रो बभूव।

सुरेन्द्रलक्ष्मीरधिकं रराज तत्सश्रयात्स्फीततरप्रभावा।
हर्म्ये सुधासेकनवाङ्गरागे निषक्तरूपा शशिन प्रभेव॥ १॥

यस्या कृते दितिसुता रभसागतानि
दिङ्नागदन्तमुसलान्युरसाभिजग्मु।
सौभाग्यविस्तरसुखोपनतापि तस्य
लक्ष्मीर्न दर्पमलिन हृदय चकार॥ २॥

तस्य दिवस्पृथिव्योः सम्यक्परिपालनोपार्जिता सर्वलोकानुव्यापिनी कीर्तिसम्पदं ता च लक्ष्मीमत्यद्भुताममृष्यमाणा दैत्यगणा कल्पनाटोपभीपणतरद्विरदरथतुरगपदातिना क्षुभितसागरघोरनिर्घोषेण जाज्वल्यमानविविधप्रहरणावरणदुर्निरीक्ष्येण महता बलकायेन युद्धायैनमभिजग्मु।

धर्मात्मनोऽपि तु स तस्य परावलेप
क्रीडाविघातविरसं च भय जनस्य।
तेजस्विता नयपथोपनत क्रमश्च
युद्धोद्भवाभिमुखता हृदयस्य चक्रु॥ ३॥

अथ स महासत्त्वस्तुरगवरसहस्रयुक्तमभ्युच्छ्रिताहृद्वसनचिह्नरुचिरध्वज विविधमणिरत्नदीप्तिव्यवभासितमतिज्वलद्वपुषं कल्पनाविभागोपनियतनिशितज्वलितविविधायुधविराजितोभयपार्श्वं पाण्डुकम्बलिनं हैमं रथवरमभिरुह्य महता हस्त्यश्वरथपदातिविचित्रेण देवानीकेन परिवृतस्तदसुरसैन्यं समुद्रतीरान्त एव प्रत्युज्जगाम।

अथ प्रववृते तत्र भीरूणा धृतिदारण।
अन्योन्यायुधनिष्पेषजर्जरावरणो रण.॥ ४॥
तिष्ठ नैवमितः पश्य क्वेदानी मत्र मोक्ष्यसे।
प्रहरायं न भवसीत्येवं तेऽन्योन्यमार्दयन्॥ ५॥
ततः प्रवृत्ते तुमुले स्फूर्जत्प्रहरणे रणे।
पटहध्वनिनोत्क्रुष्टै. स्फुटतीव नभस्तलम्॥ ६॥
दानगन्धोद्धतामर्षेष्वापतत्सु परस्परम्।
युगान्तवाताकलितशैलभीमेषु दन्तिषु॥ ७॥

विद्युल्लोलपताकेषु प्रसृतेषु समन्तत ।
रथेषु पटुनिर्घोषेषूत्पाताम्बुधरेष्विव ॥ ८ ॥
पात्यमानध्वजच्छत्रशस्त्रावरणमौलिषु ।
देवदानववीरेषु शितैरन्योन्यसायकै ॥ ९ ॥
अथ प्रतप्तासुरशस्त्रसायकैर्भयात्प्रदुद्राव सुरेन्द्रवाहिनी ।
रथेन विष्टभ्य बलं तु विद्विषा सुरेन्द्र एक समरे व्यतिष्ठत ॥ १० ॥

अभ्युदीर्ण त्वासुरं बलमतिहर्षात्पटुतरोत्कृष्टक्ष्वेडितसिंहनादमभिपतितमभिसमीक्ष्य मातलिर्देवेन्द्रसारथि स्वं च बलं पलायनपरमवेत्यापयानमत्र प्राप्तकालमिति मत्वा देवाधिराते स्यन्दनमावर्तयामास। अथ शक्रो देवेन्द्र समुत्पततो रथेषाग्राभिमुखान्यभिघातपथागतानि शाल्मलीवृक्षे गरुडनीडान्यपश्यत्। दृष्ट्वैव च करुणया समालम्ब्यमानहृदयो मातलि संग्राहकमित्युवाच—

अजातपक्षद्विजपोतसङ्कुला द्विजालया. शाल्मलिपादपाश्रया. ।
अमी पतेयुर्न यथा रथेषया विचूर्णिता वाहय मे रथं तथा ॥ ११ ॥

मातलिरुवाच—अमी तावन्मार्षं समभियान्ति नो दैत्यसंघा इति। शक्र उवाच—ततः किम्? परिहरैतानि सम्यग्गरुडनीडानीति। अथैनं मातलि पुनरुवाच—

निवर्तनादस्य रथस्य केवलं शिवं भवेदम्बुरुहाक्ष पक्षिणाम्।
चिरस्य लब्धप्रसरा सुरेष्वसावभिद्रवत्येव तु नो द्विषच्चमू. ॥ १२ ॥

अथ शक्रो देवेन्द्र स्वमध्याशयातिशयं सत्त्वविशेष च कारुण्यविशेषात् प्रकाशयन्नुवाच—

तस्मान्निवर्तय रथं वरमेव मृत्यु-
दैत्याधिपप्रहितभीमगदाभिघातै ।
धिग्वाददग्धयशसो न तु जीवितं मे
सत्त्वान्यमूनि भयदीनमुखानि हत्वा ॥ १३ ॥

अथ मातलिस्तथेति प्रतिश्रुत्य तुरगसहस्रयुक्तं स्यन्दनमस्य निवर्तयामास।

दृष्टावदाना रिपवस्तु तस्य युद्धे समालोक्य रथं निवृत्तम्।
भयद्रुता प्रस्खलिता प्रणेमुर्वाताभिनुन्ना इव कालमेघा ॥ १४ ॥
भग्ने स्वसैन्ये विनिवर्तमान. पन्थानमावृत्य रिपुध्वजिन्या ।
सङ्कोचयत्येव मदावलेपमेकोऽप्यसम्भाव्यपराक्रमत्वात् ॥ १५ ॥
निरीक्ष्य भग्नं तु तदासुरं बलं सुरेन्द्रसेनाप्यथ सा न्यवर्तत।
बभूव नैव प्रणय सुरद्विषा भयद्रुताना विनिवर्तितुं यत ॥ १६ ॥
सहर्षलज्जैस्त्रिदशै सुराधिप सभाज्यमानोऽथ रणाजिराच्छनै ।
अभिज्वलच्चारुवपुर्जयश्रिया समुत्सुकान्त पुरमाममत् पुरम् ॥ १७ ॥

एवं स एव तस्य संग्रामस्य विजयो बभूव। तस्मादुच्यते—

पापं समाचरति वीतघृणो जघन्य
प्राप्यापदं सघृण एव तु मध्यबुद्धि ।

प्राणात्ययेऽपि तु न साधुजन स्ववृत्ति
वेला समुद्र इव लङ्घयितुं समर्थ ॥ १८ ॥

तदेवं देवराज्यं प्राणानपि परित्यज्य दीर्घरात्रं परिपालितानि भगवता सत्त्वानि । तेष्विह प्राज्ञस्याघातो न युक्तरूप प्रागेव विप्रतिपत्तिरिति प्राणिषु दयायत्तेनार्येण भवितव्यम् । तथा हि धर्मो ह वै रक्षति धर्मचारिणमित्यत्राप्युन्नेयम् । तथागतवर्णे सत्कृत्य धर्मश्रवणे चेति ।

इति शक्र-जातकमेकादशम् ।

---

१२ ब्राह्मण-जातकम्

आत्मलज्जयैव सत्पुरुषा नाचारवेला लङ्घयन्ति । तद्यथानुश्रूयते—

बोधिसत्त्व किल कस्मिश्चिदनुत्क्रुष्टगोत्रचारित्रे स्वधर्मानुवृत्तिप्रकाशयशसि विनयाचारश्लाघिनि महति ब्राह्मणकुले जन्मपरिग्रह चकार । स यथाक्रम गर्भाधानपुंसवनसीमन्तोन्नयनजातकर्मादिभि कृतसंस्कारक्रमो वेदाध्ययननिमित्त श्रुताभिजनाचारसम्पन्ने गुरौ प्रतिवसति स्म ।

तस्य श्रुतग्रहणधारणपाटवं च
भक्त्यन्वयश्च सततं स्वकुलप्रसिद्ध ।
पूर्वे वयस्यपि शमाभरणा स्थितिश्च
प्रेमप्रमादसुमुखं गुरुमस्य चक्रु ॥ १ ॥

वशीकरणमन्त्रा हि नित्यमव्याहता गुणा ।
अपि द्वेषाग्नितप्ताना कि पुन स्वस्थचेतसाम् ॥ २ ॥

अथ तस्याध्यापक सर्वेषामेव शिष्याणा शीलपरीक्षानिमित्त स्वाध्यायविश्रामकालेष्वात्मनो दारिद्र्यदु खान्यभीक्ष्णमुपवर्णयामास ।

स्वजनेऽपि निराक्रन्दमुत्सवेऽपि हतानन्दम् ।
धिक्प्रदानकथामन्दं दारिद्र्यमफलच्छन्दम् ॥ ३ ॥

परिभवभवनं श्रमास्पदं सुखपरिवर्जितमत्यनूर्जितम् ।
व्यसनमिव सदेव शोचनं धनविकलत्वमतीव दारुणम् ॥ ४ ॥

अथ ते तस्य शिष्या प्रतोदसंचोदिता इव सदश्वा गुरुस्नेहात्समुपजातसंवेगा सम्पन्नतरं प्रभूततर च भैक्षमुपसंहरन्ति स्म । स तानुवाच—

अलमनेनात्रभवता परिश्रमेण । न भैक्षोपहारा कस्यचिद्दारिद्र्यक्षामता क्षपयन्ति । अस्मत्परिक्लेशामर्षिभिस्तु भवद्भिरयमेव यत्नो धनाहरणं प्रति युक्त कर्त्तु स्यात् । कुत ?

क्षुधमन्नं जलं तर्ष मन्त्रवाक्सागदा गदान् ।
हन्ति दारिद्र्यदु खं तु सन्तत्याराधनं धनम् ॥ ५ ॥

शिष्या ऊचु —किं करिष्यामो मन्दभाग्या वयं यदेतावान्न शक्तिप्रयाम । अपि च

भैक्षवद्यदि लभ्येररन्नुपाध्याय धनान्यपि।
नेदं दारिद्र्यदुःखं ते वयमेवं सहेमहि ॥ ६ ॥
प्रतिग्रहकृशोपायं विप्राणां हि धनार्जनम्।
अप्रदाता जनश्चायमित्यगत्या हता वयम् ॥ ७ ॥

अध्यापक उवाच—सन्त्यन्येऽपि शास्त्रपरिदृष्टा धनार्जनोपायाः। जरानिष्पीतसामर्थ्यास्तु वयमयोग्यरूपास्तत्प्रतिपत्तौ। शिष्या ऊचुः—वयमुपाध्याय जरयानुपहतपराक्रमाः। तद्यदि नस्तेषां शास्त्रविहितानामुपायानां प्रतिपत्तिसहतां मन्यसे, तदुच्यताम्। यावदध्यापनपरिश्रमस्यानृण्यं ते गच्छाम इति। अध्यापक उवाच—तरुणैरपि व्यवसायशिथिलहृदयैर्दुरभिसम्भवाः खल्वेवंविधा धनार्जनोपायाः। यदि त्वयमत्र भवतां निर्बन्धः। तच्छ्रूयतां साधुः कतम एको धनोपार्जनक्रमः।

आपद्धर्मः स्तेयमिष्टं द्विजानामापच्चान्त्या निःस्वता नाम लोके।
तस्माद् भोज्यं स्वं परेषामदुष्टैः सर्वं चैतद् ब्राह्मणानां स्वमेव ॥ ८ ॥
कामं प्रसह्यापि धनानि हर्तुं शक्तिर्भवेदेव भवद्विधानाम्।
न त्वेष योगः स्वयशो हि रक्ष्यं शून्येषु तस्माद्व्यवसेयमेव ॥ ९ ॥

इति मुक्तप्रग्रहास्तेन ते छात्राः परममिति तत्तस्य वचनमयुक्तमपि युक्तमिव प्रत्यश्रौषुरन्यत्र बोधिसत्त्वात्।

स हि प्रकृतिभद्रत्वात्तन्नोत्सेहेऽनुमोदितुम्।
कृत्यवत्प्रतिपन्नं तैर्व्याहन्तुं सहसैव तु ॥ १० ॥

व्रीडावनतवदनस्तु बोधिसत्त्वो मृदु विनिश्वस्य तूष्णीमभूत्। अथ स तेषामध्यापको बोधिसत्त्वमवेक्ष्य तं विधिमनभिनन्दन्तमप्रतिक्रोशन्तं निविष्टगुणसम्भावनस्तस्मिन्महासत्त्वे किं नु खल्वयमव्यवसितत्वान्निःस्नेहतया वा मयि स्तेयं न प्रतिपद्यते, उताधर्मसंज्ञयेति समुत्पन्नविमर्शस्तत्स्वभावव्यक्तीकरणार्थं बोधिसत्त्वमुवाच—भो महाब्राह्मण !

अमी द्विजा मद्व्यसनासहिष्णवः समाश्रिता वीरमनुष्यपद्धतिम्।
भवाननुत्साहजडस्तु लभ्यते न नूनमस्मद्व्यसनेन तप्यते ॥ ११ ॥
परिप्रकाशेऽप्यनिगूढविस्तरे मयात्मदुःखे वचसा विदर्शिते।
कथं नु निःसम्भ्रमदीनमानसो भवानिति स्वस्थवदेव तिष्ठति ॥ १२ ॥

अथ बोधिसत्त्वः ससम्भ्रमोऽभिवाद्योपाध्यायमुवाच—शान्तं पापम्। न खल्वहं निःस्नेहकठिनहृदयत्वादपरितप्यमानो गुरुदुःखैरेवमत्रस्थितः, किन्त्वसम्भवादुपाध्यायप्रदर्शितस्य क्रमस्य। न हि शक्यमदृश्यमानेन क्वचित्पापमाचरितुम्। कुतः ? रहोऽनुपपत्तेः।

नास्ति लोके रहो नाम पापं कर्म प्रकुर्वतः।
अदृश्यानि हि पश्यन्ति ननु भूतानि मानुषान् ॥ १३ ॥
कृतात्मानश्च मुनयो दिव्योन्मिषितचक्षुषः।
तानपश्यन्रहोमानी बालः पापे प्रवर्तते ॥ १४ ॥

अहं पुनर्न पश्यामि शून्यं क्वचन किञ्चन।
यत्राप्यन्यं न पश्यामि नन्वशून्यं मयैव तत्॥ १५॥
परेण यच्च दृश्येत दुष्कृतं स्वयमेव वा।
सुदृष्टतरमेतत्स्याद् दृश्यते स्वयमेव यत्॥ १६॥
स्वकार्यपर्याकुलमानसत्वात्पश्येन्न वान्यश्चरितं परस्य।
रागार्पितैकाग्रमति स्वयं तु पापं प्रकुर्वन्नियमेन वेत्ति॥ १७॥

तदनेन कारणेनाहमेवं व्यवस्थित इति। अथ बोधिसत्त्व समभिप्रसादितमन-समुपाध्यायमवेत्य पुनरुवाच—

न चात्र मे निश्चयमेति मानसं धनार्थमेवं प्रतरेद्भवानपि।
अवेत्य को नाम गुणागुणान्तरं गुणोपमर्द धनमूल्यता नयेत्॥ १८॥

स्वाभिप्रायं खलु निवेदयामि—

कपालमादाय विवर्णवाससा वरं द्विषद्वेश्मसमृद्धिरीक्षिता।
व्यतीत्य लज्जा न तु धर्मवैशसे सुरेन्द्रतार्थेऽप्युपसंहृतं मन॥ १९॥

अथ तस्योपाध्याय प्रहर्षविस्मयाक्षिप्तहृदय उत्थायासनात्सम्परिष्वज्यैन-मुवाच—साधु साधु पुत्रक! साधु साधु महाब्राह्मण! प्रतिरूपमेतत्ते प्रशमालङ्कृत-स्यास्य मेधाविकस्य।

निमित्तमासाद्य यदेव किञ्चन
स्वधर्ममार्गं विसृजन्ति बालिशा।
तप श्रुतज्ञानधनास्तु साधवो
न यान्ति कृच्छ्रे परमेऽपि विक्रियाम्॥ २०॥
त्वया कुलं सममलमभ्यलङ्कृतं
समुद्यता नभ इव शारदेन्दुना।
तवार्थवत्सुचरितविश्रुतं श्रुतं
सुखोदयः सफलतया श्रमश्च मे॥ २१॥

तदेवमात्मलज्जयैव सत्पुरुषा नाचारवेला लङ्घयन्तीति ह्रीबलेनार्येण भवितव्यम्। एवं ह्रीपरिखासम्पन्न आर्यश्रावकोऽकुशलं प्रजहाति कुशलं च भावयतीत्येवमादिषु सूत्रेषूपनेयम्। ह्रीवर्णप्रतिसंयुक्तेषु लोकाधिपतेयेषु चेति।

इति ब्राह्मण-जातकं द्वादशम्।

---

१३. उन्मादयन्ती-जातकम्

तीव्रदुःखातुराणामपि सता नीचमार्गनिष्प्रणयता भवति स्वधैर्यावष्टम्भात्। तद्यथानुश्रूयते—

सत्यत्यागोपशमप्रज्ञादिभिर्गुणातिशयैर्लोकहितार्थमुद्यच्छमान किल बोधिसत्त्व कदाचिच्छिबीना राजा बभूव साक्षाद्धर्म इव विनय इव पितेव प्रजानामुपकारप्रवृत्त।

दोषप्रवृत्तेर्विनियम्यमानो निवेश्यमानश्च गुणाभिजात्ये।
पित्रेव पुत्र क्षितिपेन तेन ननन्द लोकद्वितयेऽपि लोक॥ १॥

समप्रभावा स्वजने जने च धर्मानुगा तस्य हि दण्डनीति ।
अधर्म्यमावृत्य जनस्य मार्ग सोपानमालेव दिवो बभूव ॥ २ ॥
धर्मान्वयं लोकहित स पश्यंस्तदेककार्यो नरलोकपाल ।
सर्वात्मना धर्मपथेऽभिरेमे तस्योपमर्दं च परैर्न सेहे ॥ ३ ॥

अथ तस्य राज्ञ पौरमुख्यस्य दुहिता श्रीरिव विग्रहवती साक्षाद्रतिरिवाप्सरसामन्यतमेव परया रूपलावण्यसंपदोपेता परमदर्शनीया स्त्रीरत्नसंमता बभूव ।

अवीतरागस्य जनस्य यावत्सा लोचनप्राप्यवपुर्बभूव ।
तावत्स तद्रूपगुणावबद्धा न दृष्टिमुत्कम्पयितु शशाक ॥ ४ ॥

अतश्च तस्या उन्मादयन्तीत्येव बान्धवा नाम चक्रु । अथ तस्या पिता राज्ञ संविदितं कारयामास—स्त्रीरत्नं ते देव विषये प्रादुर्भूतम् । यतस्तत्प्रतिग्रह विसर्जनं वा प्रति देव. प्रमाणमिति । अथ स राजा स्त्रीलक्षणविदो ब्राह्मणान् समादिदेश—पश्यन्त्वेना तत्रभवन्त किमसावस्मद्योग्या न वेति । अथ तस्या. पिता तान्ब्राह्मणान् स्वभवनमभिनीयोन्मादयन्तीमुवाच—भद्रे स्वयमेव ब्राह्मणान् परिवेषयेति । सा तथेति प्रतिश्रुत्य यथाक्रम ब्राह्मणान् परिवेषयितुमुपचक्रमे । अथ ते ब्राह्मणा

तदाननोद्वीक्षणनिश्चलाक्षा मनोभुवा संह्रियमाणधैर्या ।
अनीश्वरा लोचनमानसानामासुर्मदेनेव विलुप्तसञ्ज्ञा ॥ ५ ॥

यदा च नैव शक्नुवन्ति स्म प्रतिसख्यानधीरनिभृतमवस्थातुं, कुत एव भोक्तुम् । अथैषा चक्षुष्पथादुत्सार्य स्वा दुहितरं स गृहपति स्वयमेव ब्राह्मणान् परिवेष्य विसर्जयामास । अथ तेषा बुद्धिरभवत्—कृत्यारूपमिव खल्विदमतिमनोहरमस्या दारिकाया रूपचातुर्यम् । यतो नैना राजा द्रष्टुमप्यर्हति कुत पुन पत्नीत्वं गमयितुम् । अनया हि रूपशोभया नियतमस्योन्मादितहृदयस्य धर्मार्थकार्यप्रवृत्तेर्विस्रस्यमानोत्साहस्य राजकार्यकालातिक्रमा प्रजाना हितसुखोदयपथमुपपीडयन्त· पराभवाय स्यु ।

इयं हि सदर्शनमात्रकेण कुर्यान्मुनीनामपि सिद्धिविघ्नम् ।
प्रागेव भावार्पितदृष्टिवृष्टेर्यून क्षितीशस्य सुखे स्थितस्य ॥ ६ ॥

तस्मादिदमत्र प्राप्तकालमिति यथाप्रस्तावमुपेत्य राज्ञे निवेदयामासु—दृष्टास्माभिर्महाराज सा कन्यका । अस्ति तस्या रूपचातुर्यमात्रकमपलक्षणोपघातनि श्रीकं तु । यतो नैना द्रष्टुमप्यर्हति देव·, किं पुन पत्नीत्व गमयितुम् ।

कुलद्वयस्यापि हि निन्दिता स्त्री यशो विभूति च तिरस्करोति ।
निमग्नचन्द्रेव निशा समेघा शोभा विभाग च दिवस्पृथिव्यो ॥ ७ ॥

इति श्रुतार्थ. स राजा—अपलक्षणा किलासौ, न च मे कुलानुरूपेति तस्या विनिवृत्ताभिलाषो बभूव । अनर्थिता तु विज्ञाय राज्ञ स गृहपतिस्ता दारिका तस्यैव राज्ञोऽमात्यायाभिपारगाय प्रायच्छत् । अथ कदाचित्स राजा क्रमागता कौमुदी स्वस्मिन्पुरवरे निषक्तशोभा द्रष्टुमुत्सुकमना रथवरगत सिक्तसमृष्टरथ्यान्तरापणमुच्छ्रितविचित्रध्वजपताक समन्तत. पुष्पोपहारशबलभूमिभागधवलं प्रवृत्तनृत्तगीतहास्यलास्यवादित्रं पुष्पधूपचूर्णवासमाल्यासवस्नानानुलेपनामोदप्रसृतसुरभिगन्धि प्रसारितविविधरुचिरपण्यं तुष्टपुष्टोज्ज्वलतरवेषपौरजानपदसबाधराजमार्गं पुरवरमनुविच-

रस्तस्यामात्यस्य भवनसमीपमुपजगाम। अथोन्मादयन्त्यपलक्षणा किलाहमित्यनेन राज्ञावधूतेति समुत्पन्नामर्षा राजदर्शनकुतूहलेन नाम सदृश्यमानरूपशोभा विद्युदिव घनशिखर हर्म्यतलमवभासयन्ती व्यतिष्ठत। शक्तिरस्येदानीमस्त्वपलक्षणादर्शनाद-विचलितधृतिस्मृतिमात्मान धारयितुमिति। अथ तस्य राज्ञ पुरवरविभूतिदर्शनकुतू-हलप्रसृता दृष्टिरभिमुखस्थितताया सहसव तस्यामपतत्। अथ स राजा—

प्रकाममन्त पुरसुन्दरीणा वपुर्विलासै कलितेक्षणोऽपि।
अनुद्धतो धर्मपथानुरागादुद्योगवानिन्द्रियनिर्जयेऽपि ॥ ८ ॥
विपुलधृतिगुणोऽप्यपत्रपिष्णु परयुवतीक्षणविक्लवेक्षणोऽपि।
उदितमदनविस्मय स्त्रिय ता चिरमनिमेषविलोचनो ददर्श ॥ ९ ॥
कौमुदी किं न्विय साक्षाद्भवनस्यास्य देवता।
स्वर्गस्त्री दैत्ययोपिद्वा न ह्येतन्मानुष वपु ॥ १० ॥

इति विचारयत एव तस्य राज्ञस्तद्दर्शनावितृप्तनयनस्य स रथस्त देशमति-वर्तमानो न मनोरथानुकूलो बभूव। अथ स राजा शून्यहृदय इव तद्गतैकाग्रमना स्वभवनमुपेत्य मन्मथाक्षिप्तधृति सुनन्द सारथिं रहसि पर्यपृच्छत्—

सितप्राकारमवीत वेत्सि कस्य नु तद्गृहम्।
का सा तत्र व्यरोचिष्ट विद्युत्सित इवाम्बुदे ॥ ११ ॥

सारथिरुवाच—अस्ति देवस्याभिपारगो नामामात्यमुख्य। तस्य तद्गृह तस्यैव च सा भार्या किरीटवत्सस्य दुहिता उन्मादयन्ती नामेति। तदुपश्रुत्य स राजा परभार्येति वितानीभूतहृदयश्चिन्तास्तिमितनयनो दीर्घमुष्णमभिनिश्वस्य तदर्पितमनाः शनैरात्मगतमुवाच—

अन्वर्थरम्याक्षरसौकुमार्यमहो कृतं नाम यथेदमस्या।
उन्मादयन्तीति शुचिस्मितायास्तथा हि सोन्मादमिवाकरोन्माम् ॥ १२ ॥
विस्मर्तुमेनामिच्छामि पश्यामीव च चेतसा।
स्थित तस्या हि मे चेत सा प्रभुत्वेन तत्र वा ॥ १३ ॥
परस्य नाम भार्याया ममाप्येवमधीरता।
तदुन्मत्तोऽस्मि संत्यक्तो लज्जयेवाद्य निद्रया ॥ १४ ॥
तस्या वपुर्विलसितस्मितवीक्षितेषु
सरागनिश्चलमते सहसा स्वनन्ती।
कार्यान्तरक्रमनिवेदनधृष्टशब्दा
विद्वेषमुत्तुदति चेतसि नालिका मे ॥ १५ ॥

इति स राजा मदबलविचलितधृतिर्व्यवस्थापयन्नप्यात्मानमापाण्डुकृशतनु प्रध्यानविनिश्वसितविजृम्भणपर प्रव्यक्तमदनाकारो बभूव।

धृत्या महत्यापि निगुह्यमान. स भूपतेस्तस्य मनोविकार।
मुखेन चिन्तास्तिमितेक्षणेन कार्श्येन च व्यक्तिमुपाजगाम ॥ १६ ॥

अथेङ्गिताकारग्रहणनिपुणमतिरभिपारगोऽमात्यस्त राज्ञो वृत्तान्त सकारण-

मुपलभ्य स्नेहात्तदत्ययाशङ्को जानानश्चातिबलता मदनस्य रहसि राजान सविदितं समुपेत्य कृताभ्यनुज्ञो विज्ञापयामास—

अद्यार्चयन्त नरदेव देवान्साक्षादुपेत्याम्बुरुहाक्ष यक्ष. ।
मामाह नावैषि नृपस्य कस्मादुन्मादयन्त्या हृदय निविष्टम् ।। १७ ।।
इत्येवमुक्त्वा सहसा तिरोऽभूद्विमर्शवानित्यहमभ्युपेत ।
तच्चेत्तथा देव किमेतदेवमस्मासु ते निष्प्रणयत्वमौनम् ।। १८ ।।

तत्प्रतिग्रहीतुमेनामर्हति मदनुग्रहार्थं देव इति। अथ राजा प्रत्यादेशाल्लज्जावनतवदनो मदनवशगतोऽपि स्वभ्यस्तधर्मसंज्ञत्वादविक्लवीभूतधैर्य प्रत्याख्यानविशदाक्षरमेनमुवाच—नैतदस्ति । कुत ?

पुण्याच्च्युत. स्याममरो न चास्मि विद्याच्च न पापमिद जनोऽपि ।
तद्विप्रयोगाच्च मनो ज्वलंस्त्वा वह्नि पुरा कक्षमिव क्षिणोति ।। १९ ।।
यच्चोभयोरित्यहितावहं स्याल्लोके परस्मिन्निह चैव कर्म ।
तद्यस्य हेतोरबुधा भजन्ते तस्यैव हेतोर्न बुधा भजन्ते ।। २० ।।

अभिपारग उवाच—अलमत्र देवस्य धर्मातिक्रमाशङ्कया ।

दाने साहाय्यदानेन धर्म एव भवेत्तव ।
दानविघ्नात्त्वधर्मं स्यात्ता मत्तोऽप्रतिगृह्णत ।। २१ ।।

कीर्त्युपरोधावकाशमपि चात्र देवस्य न पश्यामि । कुत ?

आवाभ्यामिदमन्यश्च क एव ज्ञातुमर्हति ।
जनापवादादाशङ्कामतो मनसि मा कृथा. ।। २२ ।।

अनुग्रहश्चैष मम स्यान्न पीडा । कुत· ?

स्वाम्यर्थचर्याजितया हि तुष्ट्या निरन्तरे चेतसि को विघात ।
यत सुकामं कुरु देव काममल मदुत्पीडनशङ्कया ते ।। २३ ।।

राजोवाच—शान्त पापम् ।

व्यक्तमस्मदतिस्नेहान्न त्वयैतदपेक्षितम् ।
यथा दाने न सर्वस्मिन्साचिव्य धर्मसाधनम् ।। २४ ।।
यो मदर्थमतिस्नेहात्स्वान् प्राणानपि नेक्षते ।
तस्य बन्धुविशिष्टस्य सख्युर्भार्या सखी मम ।। २५ ।।

तदयुक्तं मामतीर्थे प्रतारयितुम् । यदपि चेष्ट नैतदन्य. कश्चिज्ज्ञास्यतीति, किमेवमिदमपाप स्यात् ?

अदृश्यमानोऽपि हि पापमाचरन्विष निषेव्येव कथ समृध्नुयात् ।
न त न पश्यन्ति विशुद्धचक्षुषो दिवौकसश्चैव नराश्च योगिन. ।। २६ ।।

किं च भूय ,

श्रद्दधीत क एतच्च यथासौ तव न प्रिया ।
ता परित्यज्य सद्यो वा विघातं न समाप्नुया ।। २७ ।।

अभिपारग उवाच—

सपुत्रदारो दासोऽहं स्वामी त्वं दैवतं च मे ।
दास्यामस्यां यतो देव कस्ते धर्मव्यतिक्रमः ॥ २८ ॥

यदपि चेष्टं प्रिया ममेयमिति किम् ?

मम प्रिया कामद काममेषा तेनैव दित्सामि च तुभ्यमेनाम् ।
प्रियं हि दत्त्वा लभते परत्र प्रकर्षरम्याणि जनः प्रियाणि ॥ २९ ॥

यतः प्रतिगृह्णात्वेवैनां देव इति । राजोवाच—मा मैवम् । अक्रम एषः । कुतः ?

अहं हि शस्त्रं निशितं विशेयं हुताशनं विस्फुरदर्चिषं वा ।
न त्वेव धर्मादधिगम्य लक्ष्मीं शक्ष्यामि तत्रैव पुनः प्रहर्तुम् ॥ ३० ॥

अभिपारग उवाच—यद्येनां मद्भार्येति देवो न प्रतिग्रहीतुमिच्छत्ययमहमस्याः सर्वजनप्रार्थनाविरुद्धवेश्याव्रतमादिशामि । तत एनां देवः प्रतिगृह्णीयादिति ।

राजोवाच—किमुन्मत्तोऽसि ?

अदुष्टां सत्यजन्भार्यां मत्तो दण्डमवाप्नुयाः ।
स धिग्वादास्पदीभूतः परत्रेह च धक्ष्यसे ॥ ३१ ॥

तदलमकार्यनिर्बन्धितया । न्यायाभिनिवेशी भवेति ।

अभिपारग उवाच—

धर्मात्ययो मे यदि कश्चिदेवं जनापवादः सुखविप्लवो वा ।
प्रत्युद्गमिष्याम्युरसा तु तत्तत्त्वत्सौख्यलब्धेन मनःसुखेन ॥ ३२ ॥
त्वत्तः परं चाहवनीयमन्यं लोके न पश्यामि महीमहेन्द्र ।
उन्मादयन्तीं मम पुण्यवृद्ध्यै तां दक्षिणामृत्विगिव प्रतीच्छ ॥ ३३ ॥

राजोवाच—काममस्मदतिस्नेहादनवेक्षितात्महिताहितक्रमो मदर्थचर्यासमुद्योगस्तवायम् । अत एव तु त्वां विशेषतो नोपेक्षितुमर्हामि । नैव खलु लोकापवादनिःशङ्केन भवितव्यम् । पश्य,

लोकस्य यो नाद्रियतेऽपवादं धर्मानपेक्षः परतः फलं वा ।
जनो न विश्वासमुपैति तस्मिन्ध्रुवं च लक्ष्म्यापि विवर्ज्यते सः ॥ ३४ ॥

यतस्त्वां ब्रवीमि

मा ते रोचिष्ट धर्मस्य जीवितार्थे व्यतिक्रमः ।
निःसंदिग्धमहादोषः ससन्देहकृशोदयः ॥ ३५ ॥

किं च भूयः,

निन्दादिदुःखेषु परान्निपात्य नेष्टा सतामात्मसुखप्रवृत्तिः ।
एकोऽप्यनुत्पीड्य परानतोऽहं धर्मे स्थितः स्वार्थधुरं प्रपत्स्ये ॥ ३६ ॥

अभिपारग उवाच—स्वाम्यर्थं भक्तिवशेन चरतो मम तावदत्र क एवाधर्मावकाशः स्याद्देवस्य वा दीयमानामेनां प्रतिगृह्णतः । यतः सनैगमजानपदाः शिबयः किमत्राधर्म इति ब्रूयुः । तत् प्रतिगृह्णात्वेवैनां देव इति ।

राजोवाच—अद्धा मदर्थचर्याप्रणयिमतिर्भवान्। इद त्वत्र चिन्तयितव्यम्—सनैगमजानपदाना वा शिबीना तव मम वा कोऽस्माक धर्मवित्तस इति।

अथाभिपारग ससम्भ्रमो राजानमुवाच—

वृद्धोपसेवासु कृतश्रमत्वाच्छ्रुताधिकारान्मतिपाटवाच्च।
त्रिवर्गविद्यातिशयार्थतत्त्व त्वयि स्थित देव बृहस्पतौ च ॥ ३७ ॥

राजोवाच— तेन हि न मामत्र प्रतारयितुमर्हसि। कुत ?

नराधिपाना चरितेष्वधीन लोकस्य यस्मादहित हितं च।
भक्ति प्रजानामनुचिन्त्य तस्मात्कीर्तिक्षमे सत्पथ एव रस्ये ॥ ३८ ॥
जिह्म शुभ वा वृषभप्रचार गात्रोऽनुगा यद्वदनुप्रयान्ति।
उत्क्षिप्तशङ्काङ्कुशनिर्विघट्टं प्रजास्तथैव क्षितिपस्य वृत्तिम् ॥ ३९ ॥

अपि पश्यतु तावद्भवान्।

आत्मानमपि चेच्छक्तिर्न स्यात्पालयितुं मम।
का न्ववस्था जनस्यास्य मत्तो रक्षाभिकाङ्क्षिण ॥ ४० ॥
इति प्रजाना हितमीक्षमाण स्व चैव धर्मं विमल यशश्च।
नेच्छामि चित्तस्य वशेन गन्तुमहं हि नेता वृषवत्प्रजानाम् ॥ ४१ ॥

अथाभिपारगोऽमात्यस्तेन राज्ञोऽवस्थानेन प्रसादितमना प्रणम्य राजान प्राञ्जलिरित्युवाच—

अहो प्रजानामतिभाग्यसम्पद्यासा त्वमेव नरदेव गोप्ता।
धर्मानुरागो हि सुखानपेक्षस्तपोवनस्थेष्वपि मृग्य एव ॥ ४२ ॥
महच्छब्दो महाराज त्वय्येवाय विराजते।
विगुणेषु गुणोक्तिर्हि क्षेपरूक्षतराक्षरा ॥ ४३ ॥
विस्मयोऽनिभृतत्व वा किं ममैतावता त्वयि।
समुद्र इव रत्नाना गुणाना यस्त्वमाकर ॥ ४४ ॥

तदेवं तीव्रदुखातुराणामपि सता नीचमार्गनिष्प्रणयता भवति स्वधैर्यविष्टम्भात् स्वभ्यस्तधर्मसज्ञत्वाच्चेति धैर्यधर्माभ्यासे च योग कार्य इति।

इत्युन्मादयन्ती-जातक त्रयोदशम्।

---

१४ सुपारग-जातकम्

धर्माश्रयं सत्यवचनमप्यापदं नुदति प्रागेव तत्फलमिति धर्मानुवर्तिना भवितव्यम्। तद्यथानुश्रूयते—

बोधिसत्त्वभूत किल महासत्त्व परमनिपुणमतिर्नौसारथिर्बभूव। धर्मता ह्येषा बोधिसत्त्वाना प्रकृतिमेधावित्वाद्यदुत यं यं शास्त्रातिशयं जिज्ञासन्ते कलाविशेषं वा तस्मिंस्तस्मिन्नधिकतरा भवन्ति मेधाविनो जगत। अथ स महात्मा विदितज्योतिर्गतित्वाद्दिग्विभागेष्वसम्मूढमति परिविदितनियतागन्तुकौत्पातिकनिमित्त कालाकालक्रमकुशलो मीनतोयवर्णभौमप्रकारशकुनिपर्वतादिभिश्चिह्नैः सूपलक्षितसमुद्रदेशः स्मृतिमान्विजिततन्द्रीनिद्र शीतोष्णवर्षादिपरिखेदसहिष्णुर-

प्रमादी धृतिमानाहरणापहरणकुशलत्वादीप्सितं देशं प्रापयिता वणिजामासीत्। तस्य परमसिद्धयात्रत्वात्सुपारग इत्येव नाम बभूव। तदध्युषितं च पत्तनं सुपारगमित्येवाख्यातमासीत्। यदेतर्हि सूपारगमिति ज्ञायते। सोऽपि मङ्गलसम्मतत्वाद् वृद्धत्वेऽपि सायात्रिकैर्यात्रासिद्धिकामैर्वहनमभ्यर्थनसत्कारपुरःसरमारोप्यते स्म।

अथ कदाचिद्भरुकच्छादभिप्रयाता सुवर्णभूमिवणिजो यात्रासिद्धिकामा सुपारगं पत्तनमुपेत्य तं महासत्त्वं वहनारोहणार्थमभ्यर्थयामासुः। स तानुवाच—

जराज्ञया संह्रियमाणदर्शने श्रमाभिपातैः प्रतनूकृतस्मृतौ।
स्वदेहकृत्येऽप्यवसन्नविक्रमे सहायता का परिशङ्क्यते मयि॥ १॥

वणिज ऊचुः—विदितेयमस्माकं युष्मच्छरीरावस्था। सत्यपि च वः पराक्रमासहत्वे नैव वयं कर्मविनियोगेन युष्मानायासयितुमिच्छामः। किं तर्हि?

त्वत्पादपङ्कजसमाश्रयसत्कृतेन
मङ्गल्यतामुपगता रजसा त्वियं नौः।
दुर्गे महत्यपि च तोयनिधावमुष्मिन्
स्वस्ति व्रजेदिति भवन्तमुपागताः स्म॥ २॥

अथ स महात्मा तेषामनुकम्पया जराशिथिलशरीरोऽपि तद्वहनमारुरोह। तदधिरोहणाच्च प्रमुदितमनसः सर्व एव ते वणिजो बभूवुर्नियतमस्माकमुत्तमा यात्रासिद्धिरिति। क्रमेण चावजगाहिरे विविधमीनकुलविचरितमनिभृतजलकलकलारावमनिलबलविलासप्रविचलिततरङ्गं बहुविधरत्नैर्भूमिविशेषैरर्पितरङ्गं फेनावलीकुसुमदामविचित्रमसुरबलभुजगभवनं दुरापपातालमप्रमेयतोयं महासमुद्रम्।

अथेन्द्रनीलप्रकराभिनीलं सूर्यांशुतापादिव खं विलीनम्।
समन्ततोऽन्तर्हिततीरलेखमगाधमम्भोनिधिमध्यमीयुः॥ ३॥

तेषां तत्रानुप्राप्तानां सायाह्नसमये मृदूभूतकिरणचक्रप्रभावे सवितरि महदौत्पातिकं परमभीषणं प्रादुरभूत्।

विभिद्यमानोर्मिविकीर्णफेनश्चण्डानिलास्फालनभीमनादः।
नैर्भृत्यनिर्मुक्तसमग्रतोयः क्षणेन रौद्रः समभूत् समुद्रः॥ ४॥
उत्पातवाताकलितैर्महद्भिस्तोयस्थलैर्भीमरयैर्भ्रमद्भिः।
युगान्तकालप्रचलाचलेव भूमिर्बभूवोग्रवपुः समुद्रः॥ ५॥
विद्युल्लतोद्भासुरलोलजिह्वा नीला भुजङ्गा इव नैकशीर्षाः।
आवव्रुरादित्यपथं पयोदाः प्रसक्तभीमस्तनितानुनादाः॥ ६॥
घनैर्घनैरावृतरश्मिजालः सूर्यः क्रमेणास्तमुपारुरोह।
दिनान्तलब्धप्रसरं समन्तात्तमो घनीभावमिवाजगाम॥ ७॥
धाराशरैराच्छुरितोर्मिचक्रे महोदधावुत्पततीव रोषात्।
भीतेव नौरभ्यधिकं चकम्पे विषादयन्ती हृदयानि तेषाम्॥ ८॥
ते त्रासदीनाश्च विषादमूका धीराः प्रतीकाररससम्भ्रमाश्च।
स्वदेवतायाचनतत्पराश्च भावान्यथा सत्त्वगुणं विवव्रुः॥ ९॥

अथ ते सायात्रिकाः पवनबलचलितसलिलवेगवशगया नावा परिभ्रम्यमाणा

बहुभिरप्यहोभिर्नैव कुतश्चित्तीरं ददृशुर्न च यथेप्सितानि समुद्रचिह्नानि । अपूर्वैरेव तु समुद्रचिह्नैरभिवर्धमानवैमनस्या भयविषादव्याकुलतामुपजग्मु । अथैतान् सुपारगो बोधिसत्त्वो व्यवस्थापयन्नुवाच—अनाश्चर्य खलु महासमुद्रमध्यमवगाढानामौत्पातिकक्षोभपरिक्लेश । तदलमलभवता विषादानुवृत्त्या । कुत ?

नापत्प्रतीकारविधिर्विषादस्तस्मादलं दैन्यपरिग्रहेण ।
धैर्यात्तु कार्यप्रतिपत्तिदक्षा कृच्छ्राण्यकृच्छ्रेण समुत्तरन्ति ॥ १० ॥
विषाददैन्यं व्यवधूय तस्मात्कार्यावकाशं क्रियया भजध्वम् ।
प्राज्ञस्य धैर्यज्वलितं हि तेज सर्वार्थसिद्धिग्रहणाग्रहस्त ॥ ११ ॥

तद्यथाधिकारावहिता भवन्तु भवन्त । इति ते सायात्रिकास्तेन महात्मना धीरीकृतमनस कूलदर्शनोत्सुकमतय समुद्रमवलोकयन्तो ददृशु पुरुषविग्रहानामुक्तरूप्यकवचानिवोन्मज्जतो निमज्जतश्च । सम्यक् चैषामाकृतिनिमित्तमुपधार्य सविस्मया सुपारगाय न्यवेदयन्त—अपूर्व खल्विदमिह महासमुद्रे चिह्नमुपलभ्यते । एते खलु

आमुक्तरूप्यकवचा इव दैत्ययोधा
घोरेक्षणा खुरनिकाशविरूपघोणा ।
उन्मज्जनावतरणस्फुरणप्रसंगात्
क्रीडामिवार्णवजलेऽनुभवन्ति केऽपि ॥ १२ ॥

सुपारग उवाच—नैते मानुषा अमानुषा वा । मीना खल्वेते । यतो न भेतव्यमेभ्य । किन्तु—

सुदूरपमकृष्टा स्म. पत्तनद्वितयादपि ।
खुरमाली समुद्रोऽयं तद्यतध्वं निवर्तितुम् ॥ १३ ॥

चण्डवेगवाहिना सलिलनिवहेनैकान्तहरेण च पाश्चात्त्येन वायुना समाक्षिप्तया नावा न ते सायात्रिका शेकुर्विनिर्वातितुम् । अथावगाहमाना क्रमेण रूप्यप्रभावभासितमनीलफेननिचयपाण्डुरमपरं समुद्रमालोक्य सविस्मया सुपारगमूचु —

स्वफेनमग्नैरिव कोऽयमम्बुभिर्महार्णव शुक्लदुकूलवानिव ।
द्रवानिवेन्दो किरणान्समुद्वहन्समन्ततो हास इव प्रसर्पति ॥ १४ ॥

सुपारग उवाच—कष्टम् । अतिदूरं खल्ववगाह्यते ।

क्षीरार्णव इति ख्यात उदधिर्दधिमाल्यसौ ।
क्षमं नात परं गन्तु शक्यते चेन्निवर्तितुम् ॥ १५ ॥

वणिज ऊचु.— न खलु शक्यते विलम्बयितुमपि वहनं कुत एव सन्निवर्तयितुमतिशीघ्रवाहित्वाद्वहनस्य प्रतिकूलत्वाच्च मारुतस्येति ।

अथ व्यतीत्य तमपि समुद्रं सुवर्णप्रभानुरञ्जितप्रचलोर्मिमालमग्निज्वालकपिलसलिलमपरं समुद्रमालोक्य सविस्मयकौतूहलास्ते वणिज सुपारगं पप्रच्छु —

बालार्कलक्ष्म्येव कृताङ्गरागै समुन्नमद्भि सलिलैरनीलै ।
ज्वलन्महानग्निरिवावभाति को नाम तस्माच्च महार्णवोऽयम् ॥ १६ ॥

सुपारग उवाच—

अग्निमालीति विख्यात समुद्रोऽय प्रकाशते ।
अतीव खलु साधु स्यान्निवर्तेमहि यद्यत. ॥ १७ ॥

इति स महात्मा नाममात्रमकथयत्तस्य सरित्पतेर्न तोयवैवर्ण्यकारण दीर्घदर्शित्वात् । अथ ते सायात्रिकास्तमपि समुद्रमतीत्य पुष्परागेन्द्रनीलप्रभोद्योतितसलिल परिपक्वकुशवननिकाशवर्ण समुद्रमालोक्य कौतूहलजाता सुपारगं पप्रच्छु—

परिणतकुशपर्णवर्णतोय सलिलनिधि कतमो न्वयं विभाति ।
सकुसुम इव फेनभक्तिचित्रैरनिलजवाकलितैस्तरङ्गभङ्गै ॥ १८ ॥

सुपारग उवाच—भो सार्थवाहा निवर्तन प्रति यत्न क्रियताम् । न खल्वत क्षमते परं गन्तुम् ।

कुशमाली समुद्रोऽयमत्यङ्कुश इव द्विप ।
प्रसह्यासह्यसलिलो हरन्हरति नो रतिम् ॥ १९ ॥

अथ ते वाणिजका परेणापि यत्नेन निवर्तयितुमशक्नुवन्तस्तमपि समुद्रमतीत्य वंशरागवैडूर्यप्रभाव्यतिकरहरितसलिलमपर समुद्रमालोक्य सुपारगमपृच्छन्—

मरकतहरितप्रभैर्जलैर्वहति नवामिव शाद्वलश्रियम् ।
कुमुदरुचिरफेनभूषण सलिलनिधि कतमोऽयमीक्ष्यते ॥ २० ॥

अथ स महात्मा तेन वणिग्जनस्य व्यसनोपनिपातेन दह्यमानहृदयो दीर्घमुष्णमभिनिश्वस्य शनैरुवाच—

अतिदूरमुपेता स्थ दु खमस्मान्निवर्तितुम् ।
पर्यन्त इव लोकस्य नलमाल्येष सागर ॥ २१ ॥

तच्छ्रुत्वा ते वाणिजका विषादोपरुध्यमानमनसो विस्रस्यमानगात्रोत्साहा निश्वसितमात्रपरायणास्तत्रैव निषेदु । व्यतीत्य च तमपि समुद्रं सायाह्नसमये विलम्बमानरश्मिमण्डले सलिलनिधिमिव प्रवेष्टुकामे दिवसकरे समुद्वर्तमानस्येव सलिलनिधेरशनीनामिव च सम्पतता वेणुवनानामिव चाग्निपरिगताना विस्फुटता तुमुलमतिभीषणं श्रुतिहृदयविदारणं समुद्रध्वनिमश्रौषु । श्रुत्वा च सन्त्रासवशगा स्फुरन्मनस सहसैवोत्थाय समन्ततोऽनुविलोकयन्तो ददृशु प्रपात इव श्वभ्र इव च महति तमुदकौघं निपतन्तम् । दृष्ट्वा च परमभयविषादविह्वला सुपारगमुपेत्योचु

निर्भिन्दन्निव न श्रुती प्रतिभयश्चेतासि मथ्नन्निव
क्रुद्धस्येव सरित्पतेर्ध्वनिरयं दूरादपि श्रूयते ।
भीमे श्वभ्र इवार्णवस्य निपतत्येतत्समग्र जलं
तत्कोऽसावुदधि किमत्र च परं कृत्यं भवान्मन्यते ॥ २२ ॥

अथ स महात्मा ससम्भ्रम कष्ट कष्टमित्युक्त्वा समुद्रमालोकयन्नुवाच—

यत्प्राप्य न निवर्तन्ते मृत्योर्मुखमिवामुखम् ।
अशिवं समुपेता स्थ तदेतद्वडवामुखम् ॥ २३ ॥

तदुपश्रुत्य ते वाणिजका वडवामुखमुपेता वयमिति त्यक्तजीविताशा मरणभयविक्लवीभूतमनस

सस्वरं रुरुदु· केचिद्विलेपुरथ चुक्रुशु ।
न किञ्चित्प्रत्यपद्यन्त केचित्त्रासविचेतस ॥ २४ ॥
विशेषत· केचिदभिप्रणेमुर्देवेन्द्रमार्तिप्रहतैर्मनोभि ।
आदित्यरुद्राश्च मरुद्वसूश्च प्रपेदिरे सागरमेव चान्ये ॥ २५ ॥
जेपुश्च मन्त्रानपरे विचित्रानन्ये तु देवो विधिवत्प्रणेमु ।
सुपारगं केचिदुपेत्य तत्तद्विचेष्टमाना करुणं विलेपु ॥ २६ ॥
आपद्गतत्रासहरस्य नित्यं परानुकम्पागुणसम्भृतस्य ।
अयं प्रभावातिशयस्य तस्य तवाभ्युपेतो विनियोगकाल ॥ २७ ॥
आर्ताननाथाञ्छरणागतान्नस्त्वं त्रातुमावर्जय धीर चेत ।
अयं हि कोपाद्वडवामुखेन चिकीर्षति ग्रासमिवार्णवोऽस्मान् ॥ २८ ॥
नोपेक्षितु युक्तमयं जनस्ते विपद्यमान सलिलौघमध्ये ।
नाज्ञा तवात्येति महासमुद्रस्तद्वार्यतामप्रशमोऽयमस्य ॥ २९ ॥

अथ स महात्मा महत्या करुणया समापीड्यमानहृदयस्तान्वाणिजकान्व्यवस्थापयन्नुवाच—अस्त्यत्रापि न· कश्चित्प्रतीकारविधि प्रतिभाति । तत्तावत्प्रयोक्ष्ये । यतो मुहूर्तं धीरास्तावद् भवन्तु भवन्त इति । अथ ते वाणिजका अस्त्यत्रापि किल प्रतीकारविधिरित्याशया समुपस्तम्भितधैर्यास्तदवहितमनसस्तूष्णीबभूवु । अथ सुपारगो बोधिसत्त्व एकासमुत्तरासङ्गं कृत्वा दक्षिणेन जानुमण्डलेनाधिष्ठाय नावं समावर्जितसर्वभाव प्रणम्य तथागतेभ्यस्तान्सायात्रिकानामन्त्रयते स्म—शृण्वन्त्वत्रभवन्त सायात्रिका सलिलनिधिव्योमाश्रयाश्च देवविशेषा

स्मरामि यत आत्मानं यत प्राप्तोऽस्मि विज्ञताम् ।
नाभिजानामि सञ्चिन्त्य प्राणिनं हिंसितुं क्वचित् ॥ ३० ॥
अनेन सत्यवाक्येन मम पुण्यबलेन च ।
वडवामुखमप्राप्य स्वस्ति नौर्विनिवर्तताम् ॥ ३१ ॥

अथ तस्य महात्मन सत्याधिष्ठानबलात्पुण्यतेजसा सह सलिलजवेन स मारुतो व्यावर्तमानस्ता नावं निवर्तयामास । निवृत्ता तु ता नावमभिसमीक्ष्य ते वाणिजका परमविस्मयप्रहर्षोद्धतमानसा निवृत्ता नौरिति प्रणामसभाजनपुरसरं सुपारगाय न्यवेदयन्त । अथ स महात्मा तान्वाणिजकानुवाच—स्थिरीभवन्तु भवन्त । शीघ्रमारोप्यन्ता शीतानि । इति च तेन समादिष्टा प्रमोदादुद्भूतबलोत्साहास्ते तदधिकृतास्तथा चक्रु ।

अथ मुदितजनप्रहासनादा प्रविततपाण्डुरशीतचारुपक्षा ।
सलिलनिधिगता रराज सा नौर्गतजलदे नभसीव राजहसी ॥ ३२ ॥

निवृत्ताया तु तस्या नाव्यनुकूलसलिलमारुताया विमानलीलया स्वेच्छयैव चाभिप्रयाताया नातिश्यामीभूतसन्ध्याङ्गरागासु प्रवितन्यमानतमोवितानास्वालक्षितनक्षत्रभूषणासु दिक्षु किञ्चिदवशेषप्रभे दिवसकरमार्गे प्रवृत्तक्षणदाधिकारे सुपारगस्तान्वाणिजकानुवाच—भोः सार्थवाहा नलमालिप्रभृतिभ्यो यथादृष्टेभ्य समुद्रेभ्यो वालुका पाषाणाश्च वहनमारोप्यन्ता यावत्सहते । एवमिदं यानपात्रं निर्घातभरा-

क्रान्तं न च पार्श्वानि दास्यति, मङ्गलसम्मताश्चैते वालुकापाषाणा नियतं लाभसिद्धये वो भविष्यन्तीति। अथ ते सायात्रिका सुपारगप्रेमबहुमानावर्जितमतिभिर्देवताभिरनुप्रदर्शितेभ्य स्थलेभ्य आदाय वालुकापाषाणबुद्ध्या वैडूर्यादीनि रत्नानि वहनमारोपयामासु। तेनैव चैकरात्रेण सा नौर्भरुकच्छमुपजगाम।

अथ प्रभाते रजतेन्द्रनीलवैडूर्यहेमप्रतिपूर्णनौका।
स्वदेशतीरान्तमुपागतास्ते प्रीत्या तमानर्चुरुदीर्णहर्षा ॥ ३३ ॥

तदेवं धर्माश्रयं सत्यवचनमप्यापद नुदति प्रागेव तत्फलमिति धर्मानुवर्तिना भवितव्यम्। कल्याणमित्राश्रयवर्णेऽपि वाच्यमेवं कल्याणमित्राश्रिता श्रेय प्राप्नुवन्तीति।

इति सुपारग जातकं चतुर्दशम्।

---

१५ मत्स्य-जातकम्

शीलवतामिहैवाभिप्राया कल्याणा. समृध्यन्ति प्रागेव परत्रेति शीलविशुद्धौ प्रयतितव्यम्। तद्यथानुश्रूयते—

बोधिसत्त्वः किल कस्मिंश्चिन्नातिमहति कह्लार-तामरस-कमल-कुवलय-विभूषितरुचिरसलिले हंस-कारण्डव-चक्रवाक-मिथुनोपशोभिते तीरान्तरुहतरुकुसुमावकीर्णे सरसि मत्स्याधिपतिर्बभूव। स्वभ्यस्तभावाच्च बहुपु जन्मान्तरेषु परार्थचर्यास्तत्रस्थोऽपि परहितसुखप्रतिपादनव्यापारो बभूव।

अभ्यासयोगाद्धि शुभाशुभानि कर्माणि सात्म्येन भवन्ति पुसाम्।
तथाविधान्येव यदप्रयत्नाज्जन्मान्तरे स्वप्न इवाचरन्ति ॥ १ ॥

इष्टानामिव च स्वेषामपत्यानामुपरि निविष्टहार्दो महासत्त्वस्तेषा मीनाना दानप्रियवचनार्थचर्यादिक्रमै परमनुग्रहं चकार।

अन्योन्यहिंसाप्रणयं नियच्छन्परस्परप्रेम विवर्धयंश्च।
योगादुपायज्ञतया च तेषा विस्मारयामास स मत्स्यवृत्तम् ॥ २ ॥

तत्तेन सम्यक्परिपाल्यमानं वृद्धिं परा मीनकुलं जगाम।
पुरं विनिर्मुक्तमिवोपसर्गैर्न्यायप्रवृत्तेन नराधिपेन ॥ ३ ॥

अथ कदाचित्सत्त्वाना भाग्यसम्पद्वैकल्यात्प्रमादाच्च वर्षाधिकृताना देवपुत्राणा न सम्यग्देवो ववर्ष। अथासम्यग्वर्षिणि देवे तत्सर फुल्लकदम्बकुसुमगौरेण नवसलिलेन न यथापुरमापुपूरे। क्रमेण चोपगते निदाघकालसमये पटुतरदीप्तिभि· खेदालसगतिभिरिव च दिनकरकिरणैस्तदभितप्तया च धरण्या ज्वालानुगतेनेव च ह्लादाभिलाषिणा मारुतेन तर्षवशादिव प्रत्यहमापीयमानं तत्सर पल्वलीबभूव।

निदाघकाले ज्वलितो विवस्वाञ्ज्वालाभिवर्षीव पटुश्च वायु।
ज्वरातुरेवाशिशिरा च भूमिस्तोयानि रोषादिव शोषयन्ति ॥ ४ ॥

अथ बोधिसत्त्वो वायसगणैरपि परितर्क्यमाणं प्रागेव सलिलतीरान्तचारिभि. पक्षिगणैर्विषाददैन्यवशगं विस्पन्दितमात्रपरायणं मीनकुलमवेक्ष्य करुणायमानश्चिन्तामापेदे। कष्टा बतेयमापदापतिता मीनानाम्।

प्रत्यहं क्षीयते तोयं स्पर्धमानमिवायुषा ।
अद्यापि च चिरेणैव लक्ष्यते जलदागम ॥ ५ ॥
अपयानक्रमो नास्ति नेताप्यन्यत्र को भवेत् ।
अस्मद्व्यसनसंकृष्टा समायान्ति च नो द्विष ॥ ६ ॥
अस्य नि संशयमिमे तोयशेषस्य संक्षयात् ।
स्फुरन्तो भक्षयिष्यन्ते शत्रुभिर्मम पश्यत ॥ ७ ॥

तत्किमत्र प्राप्तकालं स्यादिति विमृशन्स महात्मा सत्याधिष्ठानमेकमार्तायनं ददर्श। करुणया च समापीड्यमानहृदयो दीर्घमुष्णमभिनिश्वस्य नभ समुल्लोकयन्नवाच—

स्मरामि न प्राणिवधं यथाहं सञ्चिन्त्य कृच्छ्रे परमेऽपि कर्तुम् ।
अनेन सत्येन सरासि तोयैरापूरयन्वर्षतु देवराज ॥ ८ ॥

अथ तस्य महात्मन पुण्योपचयगुणात्सत्याधिष्ठानबलात्तदभिप्रसादितदेवनागयक्षानुभावाच्च समन्ततस्तोयावलम्बिबिम्बा गम्भीरमधुरनिर्घोषा विद्युल्लतालङ्कृतनीलविपुलशिखरा विजृम्भमाणा इव प्रविसर्पिभि शिखरभुजै परिष्वजमाना इव चान्योन्यमकालमेघा. कालमेघा प्रादुरभवन् ।

दिशा प्रमिण्वन्त इव प्रयामं शृङ्गैर्वितन्वन्त इवान्धकारम् ।
नभस्तलादर्शगता विरेजुश्छाया गिरीणामिव कालमेघा ॥ ९ ॥
संसक्तकेकै शिखिभि प्रहृष्टै संस्तूयमाना इव नृत्तचित्रै ।
प्रसक्तमन्द्रस्तनिता विरेजुर्धीरप्रहासादिव ते घनौघा ॥ १० ॥
मुक्ता विमुक्ता इव तैर्विमुक्ता धारा निपेतु प्रशशाम रेणु ।
गन्धश्चचारानिभृतो धरण्या विकीर्यमाणो जलदानिलेन ॥ ११ ॥
निदाघसम्पर्कविवर्धितोऽपि तिरोबभूवार्ककरप्रभाव ।
फेनावलीव्याकुलमेखलानि तोयानि निम्नाभिमुखानि सस्रु. ॥ १३ ॥
मुहुर्मुहु काञ्चनपिञ्जराभिर्भाभिर्दिगन्तराननुरञ्जयन्ती ।
पयोदतूर्यस्वनलब्धहर्षा विद्युल्लता नृत्तमिवाचचार ॥ १२ ॥

अथ बोधिसत्त्व. समन्ततोऽभिप्रसृतैरापाण्डुभि सलिलप्रवाहैरापूर्यमाणे सरसि धारानिपातसमकालमेव विद्रुते वायसाद्ये पक्षिगणे प्रतिलब्धजीविताशे च प्रमुदिते मीनगणे प्रीत्याभिसार्यमाणहृदयो वर्षनिवृत्तिसाशङ्क पुन पुन पर्जन्यमाबभाषे—

उद्गर्ज पर्जन्य गभीरधीरं प्रमोदमुद्वासय वायसानाम् ।
रत्नायमानानि पयासि वर्षन्संसक्तविद्युज्ज्वलितद्युतीनि ॥ १४ ॥

तदुपश्रुत्य शक्रो देवानामिन्द्र परमविस्मितमना साक्षादभिगम्यैनमभिसंराधयन्नुवाच—

तवैव खल्वेष महानुभाव मत्स्येन्द्र सत्यातिशयप्रभाव ।
आवर्जिता यत्कलशा इवेमे क्षरन्ति रम्यस्तनिता पयोदाः ॥ १५ ॥
महत्प्रमादस्खलितं त्विद मे यन्नाम कृत्येषु भवद्विधानाम् ।
लोकार्थमभ्युद्यतमानसाना व्यापारयोगं न समभ्युपैमि ॥ १६ ॥

चिन्ता कृथा मा तदत परं त्वं सता हि कृत्योद्वहनेऽस्मि धुर्यः ।
देशोऽप्ययं त्वद्गुणसश्रयेण भूयश्च नैनं भवितार्तिवश्य ॥ १७ ॥

इत्येवं प्रियवचनैः संराध्य तत्रैवान्तर्दधे । तच्च सर परा तोयसमृद्धिमवाप । तदेवं शीलवतामिहैवाभिप्राया. कल्याणा. समृध्यन्ति प्रागेव परत्रेति शील-विशुद्धौ प्रयतितव्यम् ।

इति मत्स्य-जातकं पञ्चदशम् ।

---

१६ वर्तकापोतक-जातकम्

सत्यपरिभाविता वाचमग्निरपि न प्रसहते लङ्घयितुमिति सत्यवचनेऽभियोग. करणीय । तद्यथानुश्रूयते—

बोधिसत्त्व किलान्यतमस्मिन्नरण्यायतने वर्तकापोतको भवति स्म । स कतिपयरात्रोद्भिन्नाण्डकोशः प्रविरोक्ष्यमाणतरुणपक्ष परिदुर्बलत्वादलक्ष्यमाणाङ्ग-प्रत्यङ्गप्रदेश स्वमातापितृप्रयत्नरचिते तृणगहनोपगूढे गुल्मलतासनिश्रिते नीडे संबहुलैर्भ्रातृभि सार्धं प्रनिवसति स्म। तदवस्थोऽपि चापरिलुप्तधर्मसंज्ञत्वा-न्मातापितृभ्यामुपहृतान्प्राणिनो नेच्छति स्माभ्यवहर्तुम् । यदेव त्वस्य तृणबीजन्य-ग्रोधफलाद्युपजह्रतुर्मातापितरौ तेनैव वर्तयामास। तस्य तया रूक्षाल्पाहारतया न काय पुष्टिमुपययौ। नापि पक्षौ सम्यक्प्रविरुरोहतु । इतरे तु वर्तकापोतका यथोपनीतमाहारमभ्यवहरन्तो बलवन्त सञ्जातपक्षाश्च बभूवु । धर्मता ह्येषा यदुत—

धर्माधर्मनिराशङ्क सर्वाशी सुखमेधते ।
धर्म्यां तु वृत्तिमन्विच्छन्विचिताशीह दु खित. ॥ १ ॥

[अपि चोक्तं भगवता—सुजीवितमह्रीकेणेति गाथाद्वयम् ।

सुजीवितमह्रीकेण ध्वाङ्क्षेणाशुचिकर्मणा ।
प्रस्कन्दिना प्रगल्भेन सुसंक्लिष्टं तु जीवितम् ॥ २ ॥
ह्रीमता त्विह दुर्जीवं नित्य शुचिगवेपिणा ।
संलीनेनाप्रगल्भेन शुद्धाजीवेन जीवता ॥ ३ ॥

इति गाथाद्वयमेतदार्यस्थाविरीयकनिकाये पठ्यते ।] तेषामेवमवस्थाना नातिदूरे महान्वनदाव. प्रतिभयप्रसक्तनिनदो विजृम्भमाणधूमराशिर्विकीर्यमाणज्वाला-वलीलोलविस्फुलिङ्ग सन्त्रासनो वनचराणामनयो वनगहनाना प्रादुरभवत् ।

स मारुताघूर्णितविप्रकीर्णैर्ज्वालाभुजैर्नृत्तविशेषचित्रै. ।
वल्गन्निव व्याकुलधूमकेश सस्वान तेषा धृतिमाददानः ॥ ४ ॥
चण्डानिलास्फालनचञ्चलानि भयद्रुतानीव वने तृणानि ।
सोऽग्नि ससंरम्भ इवाभिपत्य स्फुरत्स्फुलिङ्गप्रकरो ददाह ॥ ५ ॥
भयद्रुतोद्भ्रान्तविहङ्गसार्थं परिभ्रमद्भीतमृगं समन्तात् ।
धूमौघमग्नं पटुवह्निशब्दं वनं तदार्त्येव भृशं रराम ॥ ६ ॥

क्रमेण चोत्पीड्यमान इव स वह्नि पटुना मारुतेन तृणगहनानुसारी तेषा नीडसमीपमुपजगाम । अथ ते वर्तकापोतका भयविरसव्याकुलविरावाः परस्पर-

निरपेक्षाः सहसा समुत्पेतु.। परिदुर्बलत्वादसञ्जातपक्षत्वाच्च बोधिसत्त्वस्तु नोत्पतितुं प्रयत्नं चकार। विदितात्मप्रभावस्त्वसंभ्रान्त एव स महासत्त्व. सरभसमिवोपसर्पन्त-मग्नि सानुनयमित्युवाच—

व्यर्थाभिधानचरणोऽस्म्यविरूढपक्ष—
स्त्वत्सम्भ्रमाच्च पितरावपि मे प्रडीनौ।
त्वद्योग्यमस्ति न च किञ्चिदिहातिथेय-
मस्मान्निर्वर्तितुमतस्तव युक्तमग्ने॥ ७॥

इत्युक्ते सत्यपरिभावितवचसा तेन महासत्त्वेन—

उदीर्यमाणोऽप्यनिलेन सोऽग्निर्विशुष्कसंसक्ततृणेऽपि कक्षे।
नदीमिव प्राप्य विवृद्धतोया तद्वाचमासाद्य शशाम सद्य॥ ८॥

अद्यापि तं हिमवति प्रथितं प्रदेशं
दावाग्निरुद्धतशिखोऽपि समीरणेन।
मन्त्राभिशप्त इव नैकशिरा भुजङ्ग
सङ्कोचमन्दलुलितार्चिरुपैति शान्तिम्॥ ९॥

तत्किमिदमुपनीतमिति ? उच्यते—

वेलामिव प्रचलितोर्मिफण. समुद्र
शिक्षा मुनीन्द्रविहितामिव सत्यकाम।
सत्यात्मनामिति न लङ्घयितुं यदाज्ञा
शक्त कृशानुरपि सत्यमतो न जह्यात्॥ १०॥

तदेवं सत्यवचनपरिभाविता वाचमग्निरपि न प्रसहते लङ्घयितुमिति सत्य-वचनेऽभियोगः करणीय.। तथागतवर्णेऽपि वाच्यमिति।

इति वर्तकापोतक-जातक षोडशम्।

---

१७ कुम्भ-जातकम्

अनेकदोषोपसृष्टमतिकष्टं मद्यपानमिति साधव. परमप्यस्माद्वारयन्ति प्रागे-वात्मानमिति। तद्यथानुश्रूयते—

बोधिसत्त्व. किल करुणातिशयपरिभावितमति. परहितसुखोपपादनपर. पुण्या प्रतिपदमुद्भावयन्दानदमसंयमादिभि कदाचिच्छक्रा देवानामिन्द्रो बभूव। स प्रकर्षि-णामपि दिव्याना विषयसुखाना निकामलाभी सन्नपि करुणावशगत्वान्नैव लोकार्थचर्या-समुद्योगशिथिलं मनश्चकार।

प्रायेण लक्ष्मीमदिरोपयोगाज्जागर्ति नैवात्महितेऽपि लोक।
सुरेन्द्रलक्ष्म्यापि तु निर्मदोऽसावभूत्परार्थेष्वपि जागरूक.॥ १॥
अनेकतीव्रव्यसनातुरेषु सत्त्वेषु बन्धुष्विव जातहार्द।
धैर्यात्स्वभावज्ञतयाश्रितश्च नासौ विसस्मार परार्थचर्याम्॥ २॥

अथ कदाचित्स महात्मा मनुष्यलोकमवलोकयन्ननुकम्पासमावर्जितेन मैत्र-स्निग्धेन स्वभावमहता चक्षुषा ददर्श सर्वमित्रं नाम राजानमकल्याणमित्रसंपर्कदोषात्

सपौरजानपदं मद्यपानप्रसङ्गाभिमुखम्। तत्र चास्यादोषदर्शितामवेक्ष्य महादोषता च मद्यपानस्य स महात्मा महत्या करुणया समापीड्यमानहृदयश्चिन्तामापेदे। कष्टा बतेयमापदापतिता लोकस्य।

प्रमुखस्वादु पान हि दोषदर्शनविक्लवान्।
श्रेयसोऽपहरत्येव रमणीयमिवापथम् ॥३॥

तत्किमत्र प्राप्तकाल स्यात्? भवतु दृष्टम्।

प्रधानभूतस्य विचेष्टितानि जनोऽनुकर्तुं नियतस्वभाव।
इत्यत्र राजैव चिकित्सनीय शुभाशुभं तत्प्रभवं हि लोके ॥ ४ ॥

इति विनिश्चित्य स महासत्त्वस्तप्तकाञ्चनवर्णमापरुषोद्ग्रथितजटाविटपधरं वल्कलाजिनसंवीतमोजस्वि ब्राह्म वपुरभिनिर्माय सुरापूर्ण च वामपार्श्वस्थ नातिबृहन्तं कुम्भ सर्वमित्रस्य राज्ञ परिषदि संनिषण्णस्य प्रस्तावोपनतासु प्रवृत्तासु सुरासवशीधुमैरेयमधुकथासु पुरतोऽन्तरिक्षे प्रादुरभूत्। विस्मयबहुमानावर्जितेन च प्राञ्जलिना तेन जनेनाभ्युत्थाय प्रत्यर्च्यमान सजल इव जलधरो गम्भीरमभिनदन्नुच्चैरुवाच—

पुष्पमालाहसत्कण्ठमिमं भरितमाकण्ठम्।
अवतंसकृताकुम्भ क्रेतुमिच्छति क कुम्भम् ॥ ५ ॥

सवलयमिव पुष्पमालया प्रवितततयानिलकम्पलीलया।
किसलयरचनासमुत्कट घटमिममिच्छति क क्रयेण व ॥ ६ ॥

अथैनं स राजा विस्मयावर्जितकौतूहल सबहुमानमीक्षमाण. कृताञ्जलिरुवाच—

दीप्त्या नवार्क इव चारुतया शशीव
संलक्ष्यसे च वपुषान्यतमो मुनीनाम्।
तद्वक्तुमर्हसि यथा विदितोऽसि लोके
संभावना हि गुणतस्त्वयि नो विचित्रा ॥ ७ ॥

शक्र उवाच—

पश्चादपि ज्ञास्यसि योऽहमस्मि घटं त्विदं क्रेतुमितो घटस्व।
न चेद् भयं ते परलोकदुःखादिहैव तीव्रव्यसनागमाद्वा ॥ ८ ॥

राजोवाच—अपूर्व खल्वयमत्रभवत· पश्य विक्रयारम्भ।

गुणसंवर्णनं नाम दोषाणा च निगूहनम्।
प्रसिद्ध इति लोकस्य पण्याना विक्रयक्रम· ॥ ९ ॥
युक्तो वानृतभीरूणा त्वद्विधानामयं विधि।
न हि कृच्छ्रेऽपि संत्यक्तु सत्यमिच्छन्ति साधव. ॥ १० ॥
तदाचक्ष्व महाभाग पूर्ण कस्य घटो न्वयम्।
किं वा विनिमये प्राप्यमस्मत्तस्त्वादृशैरपि ॥ ११ ॥

शक्र उवाच—श्रूयता महाराज!

नायं तोयदविच्युतस्य पयस पूर्णो न तीर्थाम्भस
कैञ्जल्कस्य सुगन्धिनो न मधुन. सर्पिर्विशेषस्य वा।

न क्षीरस्य विजृम्भमाण कुमुदव्यभ्रेन्दुपादच्छवेः
पूर्णः पापमयस्य यस्य तु घटस्तस्य प्रभावं श्रृणु ॥ १२ ॥
यत्पीत्वा मददोषविह्वलतया स्वतन्त्रश्चरन्
देशेष्वप्रपतेष्वपि प्रपतितो मन्दप्रभावस्मृति ।
भक्ष्याभक्ष्यविचारणाविरहितस्तत्तत्समास्वादयेत्
तत्संपूर्णमिमं गतं क्रयपथ क्रीणीत कुम्भाधमम् ॥ १३ ॥
अनीश स्वे चित्ते विचरति यया संहृतमति-
र्द्विषा हासायाम समुपजनयन्गौरिव जडः ।
सदोमध्ये नृत्येत्स्वमुखपटहेनापि च यया
क्रयार्हा सेयं वः शुभविरहिता कुम्भनिहिता ॥ १४ ॥
पीत्वोचितामपि जहाति ययात्मलज्जा
निर्ग्रन्थवद्वसनसंयमखेदमुक्त ।
धीर चरेत्पथिषु पौरजनाकुलेषु
सा पश्यतामुपगता निहितात्र कुम्भे ॥ १५ ॥
यत्पीत्वा वमथुसमुद्गतान्नलिप्ता
नि शङ्कै श्वभिरवलिह्यमानवक्त्रा ।
नि संज्ञा नृपतिपथिष्वपि स्वपन्ति
प्रक्षिप्तं क्रयसुभगं तदत्र कुम्भे ॥ १६ ॥
उपयुज्य यन्मदबलादबला विनिबन्धयेदपि तरौ पितरौ ।
गणयेच्च सा धनपति न पति तदिद घटे विनिहितं निहितम् ॥ १७ ॥
या पीतवन्तो मदलुप्तसंज्ञा वृष्ण्यन्धका विस्मृतबन्धुभावा ।
परस्परं निष्पिपिषुर्गदाभिरुन्मादनी सा निहितेह कुम्भे ॥ १८ ॥
यत्र प्रसक्तानि कुलानि नेशुर्लक्ष्मीनिकेतान्युदितोदितानि ।
उच्छेदनी वित्तवता कुलाना सेयं घटे क्रय्यतयाधिरूढा ॥ १९ ॥
अनियतरुदितस्थितविहसितवा-
ग्जडगुरुनयनो ग्रहवशग इव ।
परिभवभवन भवति च नियतं
यदुपहतमतिस्तदिदमिह घटे ॥ २० ॥
प्रवयसोऽपि यदाकुलचेतना स्वहितमार्गसमाश्रयकातरा ।
बहु वदन्त्यसमीक्षितनिश्चयं क्रयपथेन गतं तदिदं घटे ॥ २१ ॥
यस्या दोषात्पूर्वदेवा प्रमत्ता लक्ष्मीमोष देवराजादवाप्य ।
त्राणापेक्षास्तोयराशौ ममज्जुस्तस्या पूर्ण कुम्भमेत वृणीत ॥ २२ ॥
ब्रूयादसत्यमपि सत्यमिव प्रतीत
कुर्यादकार्यमपि कार्यमिव प्रहृष्टः ।
यस्या गुणेन सदसत्सदसच्च विद्या-
च्छापस्य मूर्तिरिव सा निहितेह कुम्भे ॥ २३ ॥

उन्मादविद्या व्यसनप्रतिष्ठा साक्षादलक्ष्मी जननीमघानाम् ।
अद्वैतसिद्धा कलिपद्धति ता क्रीणीत घोरा मनसस्तमिस्राम् ॥ २४ ॥
परिमुषितमतिर्यया निहन्यादपि नितरं जननीमनागसं वा ।
अविगणितसुखायतिर्यति वा क्रयविधिना नृप तामितो गृहाण ॥ २५ ।
एवंविधं मद्यमिदं नरेन्द्र सुरेति लोके प्रथितं सुराभ ।
न पक्षपातोऽस्ति गुणेषु यस्य स क्रेतुमुद्योगमिदं करोतु ॥ २६ ॥
निषेव्य यद्दुश्चरितप्रसक्ता पतन्ति भीमान्नरकप्रपातान् ।
तिर्यग्गति प्रेतदरिद्रता च को नाम तद्द्रष्टुमपि व्यवस्येत् ॥ २७ ॥

लघुरपि च विपाको मद्यपानस्य य स्या-
न्मनुजगतिगताना शीलदृष्टी स हन्ति ।
ज्वलितदहनरौद्रे येन भूयोऽप्यवीचौ
निवसति पितृलोके हीनतिर्यक्षु चैव ॥ २८ ॥
शील निमीलयति हन्ति यश प्रसह्य
लज्जा निरस्यति मति मलिनीकरोति ।
यन्नाम पीतमुपहन्ति गुणाश्च तास्ता-
स्तत्पातुमर्हसि कथ नृप मद्यमद्य ॥ २९ ॥

अथ सा राजा तैस्तस्य हृदयग्राहकैर्हेतुमद्भिर्वचोभिरवगमितमद्यपानदोषो मद्यप्रसङ्गादपवृत्ताभिलाप शक्रमित्युवाच—

स्निग्ध पिता विनयभक्तिगुणाद् गुरुर्वा
यद्वक्तुमर्हति नयानयविन्मुनिर्वा ।
तावत्त्वया स्वभिहित हितकाम्यया मे
तत्कर्मणा विधिवदर्चयितु यतिष्ये ॥ ३० ॥

इदं च तावत्सुभाषितप्रतिपूजनमर्हति नोऽत्रभवान् प्रतिग्रहीतुम् ।

ददामि ते ग्रामवराश्च पञ्च दासीशतं पञ्च गवा शतानि ।
सदश्वयुक्ताश्च रथान्दशेमान्हितस्य वक्ता हि गुरुर्ममासि । ३१ ॥

यद्वा मयान्यत्करणीयं तत्सदेशादर्हत्यत्रभवान्भूयोऽपि मामनुग्रहीतुम् । शक्र उवाच—

अर्थोऽस्ति न ग्रामवरादिना मे सुराधिपं मामभिगच्छ राजन् ।
संपूजनीयस्तु हितस्य वक्ता वाक्प्रग्रहेण प्रतिपन्नयेन ॥ ३२ ॥
अयं हि पन्था यशस श्रियश्च परत्र सौख्यस्य च तस्य तस्य ।
अपास्य तस्मान्मदिराप्रसङ्ग धर्माश्रयान्मद्विषयं भजस्व ॥ ३३ ॥

इत्युक्त्वा शक्रस्तत्रैवान्तर्दधे । स च राजा सपौरजानपदो मद्यपानाद्विरराम ।

तदेवमनेकदोषोपसृष्टमतिकष्टं मद्यपानमिति साधव. परमस्माद्वारयन्ति प्रागेवात्मानमिति । एवं लोकहित पूर्वजन्मस्वपि स भगवानिति तथागतवर्णेऽपि वाच्यम् ।

इति कुम्भ जातक सप्तदशम् ।

---

१८ अपुत्र-जातकम्

शीलप्रशमप्रतिपक्षसंबाधं गार्हस्थ्यमित्येवमात्मकामा न रोचयन्ते। तद्यथानुश्रूयते—

बोधिसत्त्व किल कस्मिंश्चिदिभ्यकुले श्लाघनीयवृत्तचारित्रसंपन्ने प्रार्थनीयसंबन्धे कुलोद्भवाना निपानभूते श्रमणब्राह्मणाना कोशकोष्ठागारनिर्विशेषे मित्रस्वजनानामभिगमनीये कृपणवनीपकानामुपजीव्ये शिल्पिजनस्यास्पदभूते लक्ष्म्या दत्तानुग्रहसत्कारे राज्ञो लोकाभिसंमते जन्म प्रतिलेभे। स कालानामत्ययेनाभिवृद्ध. कृतश्रमो लोकाभिमतेषु विद्यास्थानेष्वपरोक्षबुद्धिर्विविधविकल्पाश्रयासु कलासु जननयनकान्तेन च वपुषा धर्माविरोधिन्या च लोकज्ञतया स्वजन इव लोकस्य हृदयेषु पर्यवर्तत।

न हि स्वजन इत्येव स्वजनो बहु मन्यते।
जनो वा जन इत्येव स्वजनाद् दृश्यतेऽन्यथा॥ १॥
गुणदोषाभिमर्शात्तु बहुमानावमानयोः।
व्रजत्यास्पदता लोकः स्वजनस्य जनस्य वा॥ २॥

कृतप्रव्रज्यापरिचयत्वात्तु तस्य महासत्त्वस्य

पर्येष्टिदुःखानुगता विदित्वा गृहस्थता धर्मविरोधिनी च।
सुखोदयत्वं च तपोवनाना न गेहसौख्येषु मन ससञ्ज॥ ३॥

स मातापित्रो कालक्रियया संविग्नहृदयस्तमनेकशतसहस्रसंख्यं गृहविभवसारं मित्रस्वजनकृपणश्रमणब्राह्मणेभ्यो यथार्हमतिसृज्य प्रवव्राज। सोऽनुपूर्वेण ग्रामनगरनिगमराष्ट्रराजधानीष्वनुविचरन्नन्यतमनगरमुपश्रित्य कस्मिंश्चिद्वनप्रस्थे निवसति स्म। स ध्यानगुणाभ्यासात् स.त्मीभूतेनाकृतकेनेन्द्रियप्रसादेन श्रुतिहृदयाह्लादिना च विद्वत्तासूचकेनानुत्सिक्तेन विगतलाभाशाकार्पण्यदैन्येन विनयौजस्विना यथार्हमधुरोपचारसौष्ठवेन धर्माधर्मविभागनिपुणेन च वचसा प्रव्रजिताचारशीभरया (च) सज्जनेष्टया चेष्टया तत्राभिलक्षितो बभूव। कौतूहलिना च जनेन समुपलब्धकुलप्रव्रज्याक्रम सुष्ठुतरं लोकसमतस्तत्राभूत्।

आदेयतरता यान्ति कुलरूपगुणाद् गुणा.।
आश्रयातिशयेनेव चन्द्रस्य किरणाङ्कुरा॥ ४॥

अथास्य तत्राभिगमनमुपलभ्य पितृवयस्य समभिगम्य चैनं गुणबहुमानात् कुशलपरिप्रश्नपूर्वक चास्मै निवेद्यात्मान पितृवयस्यता च संकथाप्रस्तावागतमेन स्नेहादुवाच—चापलमिव खल्विदमनुवर्तितं भदन्तेनानपेक्ष्य कुलवंशमस्मिन् वयसि प्रव्रजता।

आराध्यते सत्प्रतिपत्तिमद्भिर्धर्मो यदायं भवने वने वा।
श्रीमन्ति हित्वा भवनान्यतस्त्वं कस्मादरण्येषु मतिं करोषि॥ ५॥
परप्रसादार्जितभैक्षवृत्तिरगण्यमान खलवज्जनेन।
कुचेलभृद्बन्धुसुहृद्विहीनो वनान्तभूमावपविद्धकाय॥ ६॥
मूर्त दरिद्रत्वमिवोपगुह्य कथं नु शोकस्य वशं प्रयासि।
इमामवस्था हि तवेक्षमाणा द्विषोऽपि बाष्पापिहितेक्षणा. स्यु॥ ७॥

तदेहि पित्र्यं भवनं तवेदं श्रुतार्थसारं भवतापि नूनम् ।
संपादयेथा निवसंस्त्वमत्र धर्मं च सत्पुत्रमनोरथं च ॥ ८ ॥

लोकप्रवाद खल्वपि चैष —

परकर्मकरस्यापि स्वे निपानसुखा गृहा ।
किं पुन सुखसंप्राप्ता समृद्धिज्वलितश्रिय ॥ ६ ॥

अथ बोधिसत्त्व प्रविवेकसुखामृतरसपरिभावितमतिस्तत्प्रवणहृदयः समुपलब्धविशेषो गृहवनवासयो कामोपभोगनिमन्त्रणाया तृप्त इव भोजनकथायामसुखायमान उवाच--

इदं स्नेहोद्गतत्वात्ते काममल्पात्ययं वच ।
सुखसंज्ञा तु मा कार्षी कदाचिद्गृहचारके ॥ १० ॥
गार्हस्थ्यं महदस्वास्थ्यं सधनस्याधनस्य वा ।
एकस्य रक्षणायासादितरस्यार्जनश्रमात् ॥ ११ ॥
यत्र नाम सुखं नैव सधनस्याधनस्य वा ।
तत्राभिरतिसंमोह पापस्यैव फलोदय ॥ १२ ॥

यदपि चेष्टं गृहस्थेनापि शक्यमयमाराधयितुं धर्म इति काममेवमेतत् । अतिदुष्करं तु मे प्रतिभाति धर्मप्रतिपक्षसंबाधत्वाच्छ्रमबाहुल्याच्च गृहस्य । पश्यतु भवान् ।

गृहा नानीहमानस्य न चैवावदतो मृषा ।
न चानिक्षिप्तदण्डस्य परेषामनिकुर्वत ॥ १३ ॥

तदयं गृहसुखावबद्धहृदयस्तत्साधनोद्यतमतिर्जन ।

यदि धर्ममुपैति नास्ति गेहमथ गेहाभिमुख कुतोऽस्य धर्म ।
प्रशमैकरसो हि धर्ममार्गो गृहसिद्धिश्च पराक्रमक्रमेण ॥ १४ ॥
इति धर्मविरोधदूषितत्वाद् गृहवासं क इवात्मवान् भजेत ।
परिभूय सुखाशया हि धर्मं नियमो नास्ति सुखोदयप्रसिद्धौ ॥ १५ ॥
नियतं च यश पराभव स्यादनुतापो मनसश्च दुर्गतिश्च ।
इति धर्मविरोधिनं भजन्ते न सुखोपायमपायवन्नयज्ञा ॥ १६ ॥

अपि च, सुखो गृहवास इति श्रद्धागम्यमिदं मे प्रतिभाति ।

नियतार्जनरक्षणादिदु खे वधबन्धव्यसनैकलक्ष्यभूते ।
नृपतेरपि यत्र नास्ति तृप्तिर्विभवैस्तोयनिधेरिवाम्बुवर्षै ॥ १७ ॥
सुखमत्र कुत. कथं कदा वा परिकल्पप्रणयं न चेदुपैति ।
विषयोपनिवेशनेऽपि मोहाद् व्रणकण्डूयनवत्सुखाभिमान ॥ १८ ॥

बाहुल्येन च खलु ब्रवीमि—

प्राय समृद्ध्या मदमेति गेहे मानं कुलेनापि बलेन दर्पम् ।
दु खेन रोषं व्यसनेन दैन्यं तस्मिन्कदा स्यात्प्रशमावकाश ॥ १६ ॥

अतश्च खल्वहमत्रभवन्तमनुनयामि—

मदमानमोहभुजगोपलयं प्रशमाभिरामसुखविप्रलयम् ।
क इवाश्रयेदभिमुखं विलयं बहुतीव्रदु खनिलयं निलयम् ॥ २० ॥

संतुष्टजनगेहे तु प्रविविक्तसुखे वने।
प्रसीदति यथा चेतस्त्रिदिवेऽपि तथा कुतः॥ २१ ॥
परप्रसादार्जितवृत्तिरप्यतो रमे वनान्तेषु कुचेलसंवृत ।
अधर्ममिश्रं तु सुखं न कामये विषेण सपृक्तमिवान्नमात्मवान् ॥ २२ ॥

इत्यवगमितमति स तेन पितृवयस्यो हृदयग्राहकेण वचसा बहुमानमेव तस्मिन्महासत्त्वे सत्कारप्रयोगविशेषेण प्रवेदयामास ।

तदेवं शीलप्रशमप्रतिपक्षसंबाधं गार्हस्थ्यमित्येवमात्मकामा परित्यजन्तीति । लब्धास्वादाः प्रविवेके, न कामेष्वावर्तन्त इति प्रविवेकगुणकथायामप्युपनेयम् ।

इत्ययुत्र-जातकमष्टादशम् ।

---

१९ बिस-जातकम्

प्रविवेकसुखरसज्ञाना विडम्बनेव विहिंसेव च कामा. प्रतिकूला भवन्ति । तद्यथानुश्रूयते—

बोधिसत्त्व किल कस्मिंश्चिन्महति गुणप्रकाशयशसि वाच्यदोषविरहिते ब्राह्मणकुले जन्मपरिग्रहं चकार। तस्य यत्न कनीयास. षडपरे भ्रातरस्तदनुरूप-गुणा स्नेहबहुमानगुणान्नित्यानुगुणा बभूवु., सप्तमी च भगिनी। स कृतश्रमः साङ्गेषु सोपवेदेषु वेदेषु समधिगतविद्यायशा संमतो जगति दैवतवन्मातापितरौ परया भक्त्या परिचरन्नाचार्य इव पितेव तन्भ्रातॄन्विद्यासु विनयन्नयविनयकुशलो गृहमा-वसति स्म। स कालक्रमान्मातापित्रो. कालक्रियया सविग्नहृदय कृत्वा तयोः प्रेतकृत्यानि व्यतीतेषु शोकमयेष्विव केषुचिदेव दिवसेषु तान्भ्रातॄन् सनिपात्योवाच--

एष लोकस्य नियत शोकातिविरस क्रम ।
सह स्थित्वापि सुचिरं मृत्युना यद्वियोज्यते ॥ १ ॥
तत्प्रव्रजितुमिच्छामि श्रेय श्लाघ्येन वर्त्मना ।
पुरा मृत्युरिपुर्हन्ति गृहसरक्तमेव माम् ॥ २ ॥

यत सर्वानेव भवत. सम्बोधयामि। अस्त्यत्र ब्राह्मणकुले धर्मेण यथाधिगता विभवमात्रा। शक्यमनया वर्तितुम्। तत्सर्वैरेव भवद्भि परस्परं स्नेहगौरवाभिमुखैः शीलसमुदाचारेष्वशिथिलादरैर्वेदाध्ययनपरैर्मित्रातिथिस्वजनप्रणयवत्सलैर्धर्मपरायणैर्भूत्व सम्यग्गृहमध्यावस्तव्यम् ।

विनयश्लाघिभिर्नित्यं स्वाध्यायाध्ययनोद्यतै ।
प्रदानाभिरतै सम्यक्परिपाल्यो गृहाश्रम ॥ ३ ॥
एवं हि व स्याद्यशस. समृद्धिर्धर्मस्य चार्थस्य सुखास्पदस्य ।
सुखावगाहश्च परोऽपि लोकस्तदप्रमत्ता गृहमावसेत ॥ ४ ॥

अथास्य भ्रातर· प्रव्रज्यासङ्कीर्तनाद्वियोगाशङ्काव्यथितमनसः शोकाश्रुदुर्दिन-मुखा प्रणम्यैनमूचु --नार्हत्यत्रभवान्पितृवियोगशोकशल्यव्रणमसंरूढमेव नो घट्टयितुम-परेण दु खाभिनिपातक्षारेण ।

अद्यापि तावत्पितृशोकशल्यक्षतानि रोहन्ति न नो मनांसि ।
तत्साध्विमां संहर धीर बुद्धिं मा नः क्षते क्षारमिहोपहार्षीः ॥ ५ ॥
अथाक्षमं वेत्सि गृहानुरागं श्रेयःपथं वा वनवाससौख्यम् ।
अस्माननाथानपहाय गेहे कस्माद्वनं वाञ्छसि गन्तुमेकः ॥ ६ ॥

तद्यात्रभवतो गतिः सास्माकम् । वयमपि प्रव्रजाम इति ।

बोधिसत्त्व उवाच--

अनभ्यासाद्विवेकस्य कामरागानुवर्तिनः ।
प्रपातमिव मन्यन्ते प्रव्रज्यां प्रायशो जनाः ॥ ७ ॥

इति मया निगृह्य नाभिहिता स्थ प्रव्रज्याश्रयं प्रति जानतापि गृहवनवासविशेषम् । तदेतच्चेदभिरुचितं भवतामेव प्रव्रजाम इति । ते सप्तापि भ्रातरो भगिन्यष्टमाः स्फीतं गृहविभवासारमश्रुमुखं च मित्रस्वजनबन्धुवर्गं विहाय तापसप्रव्रज्यया प्रव्रजिताः । तदनुरक्तहृदयश्चैनान्सहाय एको दासी दासश्चानुप्रव्रजिताः ।

तेऽन्यतरस्मिन्महत्यरण्यायतने ज्वलितमिव विकसितकमलवनशोभया विहसदिव च फुल्लकुमुदवनैरनिभृतमधुकरगणममलनीलसलिलं महत्सरः संनिश्रित्य प्रविविक्तमनोज्ञासु च्छायाद्रुमसमुपगूढास्वसंनिकृष्टविनिविष्टासु पृथक्पृथक्पर्णशालासु व्रतनियमपरा ध्यानानुयुक्तमनसो विजह्नुः । पञ्चमे पञ्चमे दिवसे बोधिसत्त्वसमीपं धर्मश्रवणार्थमुपजग्मुः । स चैषां ध्यानोपदेशप्रवृत्तां कामादीनवदर्शिनीं संवेजनीयां प्रविवेकसन्तोषवर्णबहुलां कुहनलपनकौसीद्यादिदोषविगर्हणीमुपशमप्रसादपद्धतिं तां तां धर्म्यां कथां चकार ।

सा चैनान् दासी बहुमानानुरागवशा तथैव परिचचार । सा तस्मात्सरसो बिसान्युद्धृत्य महत्सु पद्मिनीपर्णेषु शुचौ तीरप्रदेशे समान्विन्यस्य च भागान्काष्ठसंघट्टनशब्देन कालं निवेद्यापक्रामति स्म । ततस्तेषामृषीणां कृतजपहोमविधीनां यथावृद्धमेकैकोऽभिगम्य ततो बिसभागमेकैकं यथाक्रममादाय स्वस्यां स्वस्यां पर्णशालायां विधिवत्परिभुज्य ध्यानाभियुक्तमतिर्विजहार । त एवं प्रवृत्ता नैव परस्परं ददृशुरन्यत्र धर्मश्रवणकालात् ।

तेषामेवंविधेन निरवद्येन शीलवृत्तसमुदाचारेण प्रविवेकाभिरत्या ध्यानप्रवणमानसतया च सर्वत्र यशः समुपश्रुत्य शक्रो देवानामिन्द्रस्तत्परीक्षानिमित्तं तत्राभिजगाम । तच्चैषां ध्यानाभिमुखत्वं कुकार्येष्वप्रसङ्गमनुत्कण्ठां प्रशमाभिरामं चावस्थानमवेक्ष्य स्थिरतरगुणसम्भावनस्तत्परीक्षानिमित्तमवहितमना बभूव ।

अनुत्सुको वनान्तेषु वसञ्छमपरायणः ।
आरोपयति साधूनां गुणसम्भावनां हृदि ॥ ८ ॥

अथ द्विपकलभदशनपाण्डुकोमलानि समुद्धृत्य प्रक्षाल्य च बिसानि मरकतहरितप्रभेषु पद्मिनीपत्त्रेषु कमलदलकेसरोपहारालंकृतान्विरच्य्य समान्भागान्काष्ठसंघट्टनशब्देन निवेद्य कालं तेषामृषीणामपसृतायां तस्यां दास्यां बोधिसत्त्वपरीक्षार्थं शक्रो देवानामिन्द्रः प्रथममेव बिसभागमन्तर्धापयामास ।

प्रवर्तने हि दु खस्य तिरस्कारे सुखस्य च।
धैर्यप्रयाम साधूना विस्फुरन्निव गृह्यते ।। ९ ।।

अथ बोधिसत्त्वोऽभिगत प्रथमे बिसभागस्थाने बिसभागविरहितं पद्मिनीपत्रं परिव्याकुलीकृतोपहारमभिसमीक्ष्य गृहीत केनापि मे बिसप्रत्यंश इत्यवधृतमति-रपेतचेत.संक्षोभसंरम्भस्तत एव प्रतिनिवृत्य प्रविश्य पर्णशालाया यथोचितं ध्यान-विधिमारेभे। वैमनस्यपरिहार्थं चेतरेषामृषीणा तमर्थं न निवेदयामास। इतरे त्वस्य भ्रातरो नूनमनेन गृहीत प्रत्यश इति मन्यमाना यथोचितानेव स्वान्स्वाननुक्रमेण बिसभागानादाय यथास्वं पर्णशालासु परिभुज्य ध्यायन्ति स्म। एवं द्वितीये तृतीये चतुर्थे पञ्चमे च दिवसे शक्रस्तस्य तं बिसप्रत्यंशमुपनिदधे। बोधिसत्त्वोऽपि च महासत्त्वस्तथैव नि संक्षोभप्रशान्तचित्तो बभूव।

मन संक्षोभ एवेष्टो मृत्युर्नायु क्षय सताम्।
जीवितार्थेऽपि नायान्ति मन क्षोभमतो बुधा ।। १० ।।

अथापराह्णसमये धर्मश्रवणार्थमृषयस्ते यथोचितं बोधिसत्त्वस्य पर्णशाला समभिगता ददृश्वासश्चैनं कृशतरशरीरं परिक्षामकपोलनयनं परिम्लानवदनशोभम-सम्पूर्णस्वरगाम्भीर्य परिक्षीणमप्यपरिक्षीणधैर्यप्रशमगुणमभिनवेन्दुप्रियदर्शनमुपेत्योप-चारपुरसरं ससम्भ्रमा किमिदमिति कार्श्यनिमित्तमेनमपृच्छन्। तेभ्यो बोधिसत्त्व-स्तमर्थ यथानुभूतं निवेदयामास। अथ ते तापसा परस्परमीदृशमनाचारमसम्भाव-यन्तस्तत्पीडया च समुपजातसंवेगा कष्टं कष्टमित्युक्त्वा व्रीडावनतवदना. समतिष्ठन्त। शक्रप्रभावाच्च समावृतज्ञानगतिविषया कुत इदमिति न निश्चयमुपजग्मु.। अथ बोधिसत्त्वस्यानुजो भ्राता स्वमावेगमात्मविशुद्धि च प्रदर्शयञ्छपथातिशयमिमं चकार—

समृद्धिचिह्नाभरणं स गेहं प्राप्नोतु भार्या च मनोऽभिरामाम्।
समग्रतामेतु च पुत्रपौत्रैर्बिसानि ते ब्राह्मण यो ह्यहार्षीत् ।। ११ ।।

अपर उवाच—

माला स्रजश्चन्दनमंशुकानि बिभ्रद्विभूषाश्च सुताभिमृष्टा।
कामेषु तीव्रा स करोत्वपेक्षा बिसान्यहार्षीद्‌द्विजमुख्य यस्ते ।। १२ ।

अपर उवाच—

कृष्याश्रयावाप्तधन कुटुम्बी प्रमोदमानस्तनयप्रलापै।
वयोऽप्यपश्यन्रमता स गेहे बिसानि यस्ते सकृदप्यहार्षीत् ।। १३ ।।

अपर उवाच—

नराधिपैर्भृत्यविनीतचेष्टैरभ्यर्च्यमानो नतलोलचूडै।
कृत्स्ना मही पातु स राजवृत्त्या लोभादहार्षीत्तव यो बिसानि ।। १४ ।।

अपर उवाच—

पुरोहित. सोऽस्तु नराधिपस्य मन्त्रादिना स्वस्त्ययनेन युक्त।
सत्कारमाप्नोतु तथा च राज्ञस्तवापि यो नाम बिसान्यहार्षीत् ।। १५ ।।

अपर उवाच—

अध्यापकं सम्यगधीतवेदं तपस्विसम्भावनया महत्या।
अर्चन्तु तं जानपदा समेत्य बिसेषु लुब्धो न गुणेषु यस्ते॥ १६॥

सहाय उवाच—

चतुःशतं ग्रामवरं समृद्धं लब्ध्वा नरेन्द्रादुपयातु भोक्तुम्।
अवीतरागो मरणं स चैतु लोभं बिसेष्वप्यजयन्न यस्ते॥ १७॥

दास उवाच—

स ग्रामणीरस्तु सहायमध्ये स्त्रीनृत्तगीतैरुपलाप्यमानः।
मा राजतश्च व्यसनानि लब्ध त्रिसार्थमात्मार्थमशीशमद्य॥ १८॥

भगिन्युवाच—

विद्योतमाना वपुषा श्रिया च पत्नीत्वमानीय नराधिपस्ताम्।
योषित्सहस्राग्रसरी करोतु यस्त्वद्विधस्यापि बिसान्यहार्षीत्॥ १९॥

दास्युवाच—

एकाकिनी सा समतीत्य साधून्स्वादूपभोगे प्रणयं करोतु।
सत्कारलब्धां मुदमुद्वहन्ती बिसान्यपश्यत्तव या न धर्मम्॥ २०॥

अथ तत्र धर्मश्रवणार्थं समागतास्तद्वनाध्युषिता यक्षद्विरदवानरास्तां कथामुपश्रुत्य परां व्रीडां संवेगं चोपजग्मुः। अथ यक्षः आत्मविशुद्धिप्रदर्शनार्थमिति शपथमेषां पुरतश्चकार—

आवासिकः सोऽस्तु महाविहारे कचङ्गलायां नवकर्मिकश्च।
आलोकसन्धिं दिवसैः करोतु यस्त्वय्यपि प्रस्खलितो बिसार्थम्॥ २१॥

हस्त्युवाच—

षड्भिर्दृढैः पाशशतैः स बन्धं प्राप्नोतु रम्याच्च वनाज्जनान्तम्।
तीक्ष्णाङ्कुशाकर्षणजा रुजश्च यस्ते मुनिश्रेष्ठ बिसान्यहार्षीत्॥ २२॥

वानर उवाच—

स पुष्पमाली त्रपुघृष्टकण्ठो यष्ट्या हतः सर्पमुखं परैतु।
वैकक्ष्यबद्धश्च वसेद् गृहेषु लौल्यादहार्षीत्तव यो बिसानि॥ २३॥

अथ बोधिसत्त्वस्तान्सर्वानेवानुनयविनीताक्षरं शान्तिगाम्भीर्यसूचकमित्युवाच—

यो नष्टमित्याह न चास्य नष्टमिष्टान्स कामानधिगम्य कामम्।
उपैतु गेहाश्रित एव मृत्युं भवत्सु यः शङ्कत ईदृशं वा॥ २४॥

अथ शक्रो देवेन्द्रस्तेन तेषां कामोपभोगप्रातिकूल्यसूचकेन शपथातिशयेन समुत्पादितविस्मयबहुमानः स्वेनैव वपुषाभिज्वलता तानृषीनभिगम्य सामर्षवदुवाच—मा तावद्भोः!

यत्प्राप्तिपर्युत्सुकमानसानां सुखार्थिनां नैति मनांसि निद्रा।
यान्प्राप्तुमिच्छन्ति तपःश्रमैश्च तान्केन कामानिति कुत्सयध्वे॥ २५॥

बोधिसत्त्व उवाच—अनन्तादीनवा मार्ष कामाः। संक्षेपतस्तु श्रूयतां यदभिसमीक्ष्य कामान्न प्रशंसन्ति मुनयः।

कामेषु बन्धमुपयाति वधं च लोक
शोकं क्लम भयमनेकविधं च दु खम् ।
कामार्थमेव च महीपतय. पतन्ति
धर्मोपमर्दरभसा नरकं परत्र ॥ २६ ॥
यत्सौहृदानि सहसा विरसीभवन्ति
यन्नीतिशाठ्यमलिनेन पथा प्रयान्ति ।
कीर्त्या वियोगमसुखै परतश्च योगं
यत्प्राप्नुवन्ति ननु कारणमत्र कामा. ॥ २७ ॥

इति हीनविमध्यमोत्तमानामिह चामुत्र च यद्वधाय कामा·।
कुपितान्भुजगानिवात्मकामा मुनयस्तानिति शक्र नाश्रयन्ते ॥ २८ ॥

अथ शक्रो देवानामिन्द्रस्तस्य तद्वचनं युक्तमित्यभिनन्द्य तेन चैतेषामृषीणा माहात्म्येनाभिप्रसादितमनास्तेभ्य स्वमपराधमाविश्चकार ।

गुणसम्भावनाव्यक्तिर्यत्परीक्ष्योपलभ्यते ।
मया विनिर्हितान्यस्मात्परीक्षार्थं बिसानि व ॥ २९ ॥
तत्सनाथ जगद्दिष्ट्या मुनिभिस्तथ्यकीर्तिभि ।
विशुद्धि स्थिरचारित्रे तदेतानि बिसानि ते ॥ ३० ॥

इत्युक्त्वा तानि बिसानि बोधिसत्त्वस्य समुपजहार । अथ बोधिसत्त्वस्तदस्या-समुदाचारधार्ष्ट्यं तेजस्विनिभृतेन वचसा प्रत्यातिदेश--

न वान्धवा नैव वय सहाया न ते नटा नापि विडम्बका स्म ।
कस्मिन्नवष्टभ्य नु देवराज क्रीडापथेनैवमृषीनुपैषि ॥ ३१ ॥

इत्युक्ते शक्रो देवेन्द्र ससम्भ्रमापास्तकुण्डलकिरीटविद्युद्भासुरवदन सबहु-मानमभिप्रणम्यैन क्षमयामास--

उक्तप्रयोजनमिद चापल मम निर्मम ।
पितेवाचार्य इव च क्षन्तुमर्हति तद्भवान् ॥ ३२ ॥

निमीलितज्ञानविलोचनाना स्वभाव एष स्खलितु समेऽपि ।
क्षमा च तत्रात्मवता प्रपत्तुमतोऽप्यदश्चेतसि मा स्म कार्षी ॥ ३३ ॥

इति क्षमयित्वा शक्रस्तत्रैवान्तर्दधे ।

तदेवं प्रविवेकमुखरसज्ञाना विडम्बनेव विहिसेव च कामा प्रतिकूला भवन्ति ।

[तत्रेदं जातकं भगवान्व्याकार्षीत्—

अहं शारद्वतीपुत्रो मौद्गल्यायनकाश्यपो ।
पूर्णानिरुद्धावानन्द इत्यासुर्भ्रातरस्तदा ॥ ३४ ॥
भगिन्युत्पलवर्णासीद्दासी कुब्जोत्तराभवत् ।
चित्रो गृहपतिर्दासो यक्ष सातागिरिस्तदा ॥ ३५ ॥
पारिलेयोऽभवन्नागो मधुदातैव वानर ।
कालोदायी च शक्रोऽभूद्धार्यतामिति जातकम् ॥ ५६ ॥]

इति बिस-जातकमेकोनविंशतितमम् ।

२० श्रेष्ठि-जातकम्

अभूतगुणसंभावना प्रतोदसचोदनेव भवति साधूनामिति गुणसंपादने प्रयतितव्यम् । तद्यथानुश्रूयते—

बोधिसत्त्व किल श्रुतकुलविनयमहानक्षुद्रनिपुणमतिरविषमव्यवहाररतिरनेकशास्त्राभ्यासा.लक्षितवचनसौष्ठव करुणानुवृत्त्या समन्ततो विस्यन्दमानधन समृद्धिर्महाप्रदानैर्महाधनत्वाद् गृहपतिरत्नसमतोऽन्यतमस्य राज्ञ श्रेष्ठी बभूव ।

स प्रकृत्यैव धर्मात्मा श्रुतादिगुणभूषण ।
अभूत्प्रायेण लोकस्य बहुमानैकभाजनम् ॥ १ ॥

अथ कदाचित्तस्मिन्महासत्त्वे राजकुलमभिगते केनचिदेव करणीयेन तस्य श्वश्रूर्दुहितरमवलोकयितु तद्गृहमभिजगाम । कृताभ्यागमनसत्कारा च सकथाप्रस्तावागतं स्वा दुहितरं बोधिसत्त्वभार्या रहसि कुशलपरिप्रश्नपूर्वकं पर्यपृच्छत्—कच्चित्त्वा तात भर्ता नावमन्यते । कच्चिद्वा वेत्ति परिचर्यागुणम् । न वा दुःखशीलतया प्रबाधत इति । सा व्रीडावनतवदना लज्जाऽप्रगल्भ शनकैरुवाच—यादृशोऽयं शीलगुणसमुदाचारेण, प्रव्रजितोऽपि दुर्लभ क इदानी तादृश । अथ सा तस्या माता जरोपहतश्रुतिस्मृतित्वाल्लज्जासंकुचिताक्षरं तनयया तद्वचनमभिधीयमानं न सम्यगुपधारयामास । प्रव्रजितसंकीर्तनात्तु प्रव्रजितो मे जामातेति निश्चयमुपजगाम । सा सस्वरमभिरुदिता स्वा दुहितरमनुशोचन्ती दुःखावेगवशात्परिदेवनपरा बभूव । कीदृशस्तस्य शीलगुणसमुदाचारो य एवमनुरक्त स्वं जनमपहाय प्रव्रजित ? किं वा तस्य प्रव्रज्यया ?

तरुणस्य वपुष्मत सत सुकुमारस्य सुखोचितात्मन ।
क्षितिपाभिमतस्य तस्य वै वनवासे प्रणता मति कथम् ॥ २ ॥

स्वजनादनवाप्य विप्रिय जरया वोपहृता विरूपताम् ।
कथमेकपदे रुज विना विभवोद्गारि गृहं स मुक्तवान् ॥ ३ ॥

विनयाभरणेन धीमता प्रियधर्मेण परानुकम्पिना ।
कथमभ्युपपन्नमीदृश स्वजन निष्करुणत्वचापलम् ॥ ४ ॥

श्रमणद्विजमित्रसंश्रितान्स्वजन दीनजन च मानयन् ।
शुचिशीलधन किमाप्नुयान्न स गेहेषु वने यदीप्सति ॥ ५ ॥

अपराधविवर्जिता त्यजन्ननुकूला सहधर्मचारिणीम् ।
यतिधर्मपर स नेक्षते किमिमं धर्मपथव्यतिक्रमम् ॥ ६ ॥

धिगहो बत दैवदुर्नयाद्यदि भक्त जनमेवमुज्झताम् ।
न घृणापथमेति मानसं यदि वा धर्मलवोऽपि सिध्यति ॥ ७ ॥

अथ सा बोधिसत्त्वस्य पत्नी तेन मातु करुणेनाकृतकेन परिदेवितेन पतिप्रव्रज्याभिसंबन्धेन स्त्रीस्वभावाद् व्यथितहृदया ससम्भ्रमा विषादविक्लवमुखी शोकदुःखाभिनिपातसंक्षोभाद्विस्मृतकथाप्रस्तावसंबन्धा प्रव्रजितो मे भर्तेति मद्व्यवस्थापनार्थमम्बा गृहमिदमभिगता विप्रियश्रवणादिति निश्चयमुपेत्य सपरिदेवितं सस्वरं रुदती मोहमुपजगाम बाला । तदुपश्रुत्य गृहजन परिजनवर्गश्च शोकदुःखावेगादाक्रन्दनं चकार ।

तच्छ्रुत्वा प्रातिवेश्यमित्रस्वजनबन्धुवर्गः संश्रितजनो ब्राह्मणगृहपतयश्च तस्य बृहपतेर-नुरागवशानुगाः प्रायशश्च पौरास्तद्गृहमभिजग्मुः ।

प्रायेण लोकस्य बभूव यस्मात्तुल्यक्रमोऽसौ सुखदुःखयोगे ।
अतोऽस्य लोकोऽप्यनुशिक्षयेव तुल्यक्रमोऽभूत्सुखदुःखयोगे ॥ ८ ॥

अथ बोधिसत्त्वो राजकुलात् स्वभवनसमीपमुपगतः साक्रन्दशब्दं स्वभवन-मवेत्य महतश्च जनकायस्य संनिपातं स्वं पुरुषमन्वादिदेश ज्ञायतां किमेतदिति । स तं वृत्तान्तमुपलभ्य समुपेत्यास्मै निवेदयामास—

उत्सृज्य भवनं स्फीतमार्यः प्रव्रजितः किल ।
इति श्रुत्वा कुतोऽप्येष स्नेहादेवंगतो जनः ॥ ९ ॥

अथ स महासत्त्वः प्रकृत्या शुद्धाशयः प्रत्यादिष्ट इव तेन वचसा समुपजातत्र-ब्रीडसंवेगश्चिन्तामापेदे । भद्रा बत मयि जनस्य संभावना ।

श्लाघनीयामवाप्यैतां गुणसंभावनां जनात् ।
गृहाभिमुख एव स्यां यदि किं मम पौरुषम् ॥ १० ॥
स्याद्दोषभक्तिः प्रथिता मयैवं गुणेष्ववज्ञाविरसा च वृत्तिः ।
यायामतः साधुजने लघुत्वं किं जीवितं स्याच्च तथाविधस्य ॥ ११ ॥
संभावनामस्य जनस्य तस्मात्क्रियागुणेन प्रतिपूजयामि ।
असत्परिक्लेशमयं विमुञ्चंस्तपोवनप्रेमगुणेन गेहम् ॥ १२ ॥

इति विचिन्त्य स महात्मा तत एव प्रतिनिवृत्य राज्ञः प्रतिहारयामास—श्रेष्ठी पुनर्द्रष्टुमिच्छति देवमिति । कृताभ्यनुज्ञश्च प्रविश्य यथोपचारं राजसमीपमुपजगाम । किमिदमिति च राज्ञा पर्यनुयुक्तोऽब्रवीत्—इच्छामि प्रव्रजितुम्, तदभ्यनुज्ञातुमर्हति मां देव इति ।

अथैनं स राजा ससंभ्रमावेगः स्नेहादित्युवाच—

मयि स्थिते बन्धुसुहृद्विशिष्टे त्वं केन दुःखेन वनं प्रयासि ।
यन्नापहर्तुं प्रभुता मम स्याद्धनेन नीत्या बलसंपदा वा ॥ १३ ॥
अर्थो धनैर्यदि गृहाण धनानि मत्तः
पीडा कुतश्चिदथ तां प्रतिषेधयामि ।
मां याचमानमिति बन्धुजनं च हित्वा
किं वा त्वमन्यदभिवीक्ष्य वनं प्रयासि ॥ १४ ॥

इति स महात्मा सस्नेहबहुमानमभिहितो राज्ञा सानुनयमेनमुवाच—

पीडा कुतस्त्वद्भुजसंश्रितानां धनोदयावेक्षणदीनता वा ।
अतो न दुःखेन वनं प्रयामि यमर्थमुद्दिश्य तु तं निबोध ॥ १५ ॥
दीक्षामुपाश्रित इति प्रथितोऽस्मि देव
शोकाश्रुदुर्दिनमुखेन महाजनेन ।
इच्छामि तेन विजनेषु वनेषु वस्तुं
श्रद्धेयतामुपगतोऽस्मि गुणाभिपत्तौ ॥ १६ ॥

राजोवाच—नार्हति भवाञ्जनप्रवादमात्रकेणास्मान् परित्यक्तुम्। न हि भवद्विधाना जनप्रवादसंपादनाभिराध्या गुणविभूतिसंदर्शपादनविराध्या वा।

स्वेच्छाविकल्पग्रथिताश्च तास्ता निरङ्कुशा लोककथा भ्रमन्ति।
कुर्वीत यस्ता हृदयेऽपि तावत्स्यात्मोऽपहास्य किमुत प्रपत्ता॥ १७॥

बोधिसत्त्व उवाच—मा मैवं महाराज। न हि कल्याणो जनप्रवादो नानुविधेयः। पश्यतु देव,

कल्याणधर्मेति यदा नरेन्द्र संभावनामेति मनुष्यधर्मा।
तस्या न हीयेत नर सधर्मा ह्रियापि तावद्धुरमुद्वहेत्ताम्॥ १८॥
संभावनाया गुणभावनाया संदृश्यमानो हि यथा तथा वा।
विशेषतो भाति यश प्रसिद्ध्या स्यात्त्वन्यथा शुष्क इवोदपान॥ १९॥
गुणप्रवादैरयथार्थवृद्धैर्विमर्शपाताकुलितै पतद्भि।
विचूर्णिता कीर्तितनुर्नराणा दु.खेन शक्नोति पुन प्रसर्तुम्॥ २०॥
तद्वर्जनीयान्परिवर्जयन्तं परिग्रहान्विग्रहहेतुभूतान्।
क्रोधोच्छिरस्कानिव कृष्णसर्पान्युक्तोऽसि मा देव न संनिषेद्धुम्॥ २१॥
स्नेहेन भक्तिज्ञतया च काम युक्तो विधिर्भृत्यजने तवायम्।
वित्तेन तु प्रव्रजितस्य किं मे परिग्रहक्लेशपरिग्रहेण॥ २२॥

इत्यनुनीय स महात्मा तं राजानं कृताभ्यनुज्ञस्तेन तत एव वनाय प्रतस्थे। अथैनं सुहृदो ज्ञातय संश्रिताश्चाभिगम्य शोकाश्रुपरिप्लुतनयना पादयो संपरिष्वज्य निवारयितुमीषु। केचिदञ्जलिप्रग्रहपुर सरं मार्गमस्यावृत्य समवातिष्ठन्त। सपरिष्वङ्गसंगतानुनयमपरे गृहाभिमुखमेनं नेतुमीषु। यत्किञ्चनकारिताक्षेपकर्कशाक्षरमन्ये प्रणयादेनमूचु। मित्रस्वजनापेक्षाकारुण्यप्रदर्शनमपरेऽस्य प्रचक्रु। गृहाश्रम एव पुण्यतम इत्येवमन्ये श्रुतियुक्तिसंग्रथितं ग्राहयितुमीहा चक्रिरे। तपोवनवासदु खतासंकीर्तनैः कार्यशेषपरिसमाप्त्या याच्ञया परलोकफलसंदेहकथाभिस्तैस्तैश्च वार्त्ताविशेषैर्निवर्तयितुमेनं व्यायच्छन्त। तस्य तान् प्रव्रज्याश्रयविमुखान् वनगमननिवारणधीरमुखान् नयनजलार्द्रमुखान् सुहृदोऽभिवीक्ष्य व्यक्तमिति चिन्ता बभूव—

सुहृत्प्रतिज्ञे सुहृदि प्रमत्ते न्याय्यं हित रूक्षमपि प्रयोक्तुम्।
रूढ सतामेष हि धर्ममार्ग प्रागेव रुच्यं च हितं च यत्स्यात्॥ २३॥
वनाद् गृहं श्रेय इद त्वमीषा स्वस्थेषु चित्तेषु कथं नु रूढम्।
यन्निर्विशङ्का वनसंश्रयान्मा पापप्रसङ्गादिव वारयन्ति॥ २४॥
मृतो मरिष्यन्नपि वा मनुष्यश्च्युतश्च धर्मादिति रोदितव्यम्।
कया नु बुद्ध्या वनवासकाम मामेव जीवन्तममी रुदन्ति॥ २५॥
मद्विप्रयोगस्त्वथ शोकहेतुर्मया समं किं न वने वसन्ति।
गेहानि चेत्कान्ततराणि मत्त को न्वादरो बाष्पपरिव्ययेन॥ २६॥
अथ त्विदानी स्वजनानुराग. करोति नैषा तपसेऽभ्यनुज्ञाम्।
सामर्थ्यमासीत्कथमस्य नैव व्यूढेष्वनीकेष्वपि तत्र तत्र॥ २७॥

दृष्टावदानो व्यसनोदयेषु बाष्पोद्गमान्मूर्त इवोपलब्ध.।
संरूढमूलोऽपि सुहृत्स्वभाव शाठ्यं प्रयात्यत्र विनानुवृत्त्या ॥ २८ ॥
निवारणार्थानि सगद्गदानि वाक्यानि साश्रूणि च लोचनानि।
प्रणामलोलानि शिरांसि चैषा मानं समानस्य यथा करोति ॥ २९ ॥
स्नेहस्तथैवार्हति कर्तुमेषा श्लाघ्यामनुप्रव्रजनेऽपि बुद्धिम्।
मा भूत्तटानामिव वृत्तमेतद् व्रीडाकर सज्जनमानसानाम् ॥ ३० ॥
छिन्नाणि मित्राणि भवन्त्यवश्यमापद्गतस्यापि सुनिर्गुणस्य।
महाय एकोऽप्यतिदुर्लभस्तु गुणोदितस्यापि वनप्रयाणे ॥ ३१ ॥
ये मे हरन्ति स्म पुरःसरत्वं रणेषु मत्तद्विपसंकटेषु।
नानुव्रजन्त्यद्य वनाय ते मा किंस्वित्स एवास्मि त एव चेमे ॥ ३२ ॥
स्मरामि नैषा विगुणं प्रयातु स्नेहस्य यत्संक्षयकारणं स्यात्।
सुहृज्जनस्यैवमियं स्थितिर्मे कच्चिद्भवेत्स्वस्तिनिमित्ततोऽस्मात् ॥ ३३ ॥
ममैव वा निर्गुणभाव एप नानुव्रजन्त्यद्य वनाय यन्माम्।
गुणावबद्धानि हि मानसानि कस्यास्ति विश्लेषयितु प्रभुत्वम् ॥ ३४ ॥
ये वा प्रकाशानपि गेहदोषान्गुणान्न पश्यन्ति तपोवने वा।
निमीलितज्ञानविलोचनास्तान्किमन्यथाह परितर्कयामि ॥ ३५ ॥
परत्र चैवेह च दुःखहेतून्कामान्विहातु न समुत्सहन्ते।
तपोवन तद्विपरीतमेते त्यजन्ति मा चाद्य धिगस्तु मोहम् ॥ ३६ ॥
यैर्विप्रलब्धा सुहृदो ममैते न यान्ति शान्ति निखिलाश्च लोका।
तपोवनोपार्जितसत्प्रभावस्तानेव दोषान्प्रसभं निहन्मि ॥ ३७ ॥
इति स परिगणय्य निश्चितात्मा प्रणयमयानि सुहृद्विचेष्टितानि।
अनुनयमधुराक्षरैर्वचोभिर्विशदमपास्य तपोवनं जगाम ॥ ३८ ॥

तदेवमभूतगुणसंभावना प्रतोदसंचोदनेव भवति साधूनामिति गुणसंपादने प्रयतितव्यम्। यतो भिक्षुरित्युपशमक इति गुणत सभाव्यमानेन साधुना तद्भाव-साधुभिर्गुणैरभ्यलंकर्तव्य एवात्मा। एव दुर्लभा धर्मप्रतिपत्तिसहाया इत्येवमप्युन्नेयम्।

॥ इति श्रेष्ठि-जातक विंशतितमम् ॥

---

२१ चुड्डबोधि-जातकम्

क्रोधविनयाच्छत्रूनुपशमयति, वर्धयत्येव त्वन्यथा। तद्यथानुश्रूयते—

बोधिसत्त्व किल महासत्त्व कस्मिंश्चिन्महति ब्राह्मणकुले गुणाभ्यासमाहा-त्म्यादतिवृद्धयशसि प्रतिनियतसमृद्धिगुणे राजसत्कृते देवतसंमते लोकस्य जन्म प्रतिलेभे। कालान्तरमत्ययेनाभिवृद्ध कृतसंस्कारकर्माश्रुतगुणाभ्यासादचिरेणैव विद्वत्स-दस्सु प्रकाशनामा बभूव।

कीर्तिर्विद्वत्सदस्स्वेव विदुषा प्रविजृम्भते।
रत्नेष्विव रत्नाना शूराणां समरेष्विव ॥ १ ॥

अथ स महात्मा प्रव्रज्याकृतपरिचयत्वात्पूर्वंजन्मसु स्वभ्यस्तधर्मसंज्ञत्वात्प्रज्ञावदातमतित्वाच्च न गेहे रतिमुपलेभे। स कामान् विग्रहविवादमदवैरस्यप्राचुर्याद्राजचौरोदकदहनविप्रियदायादसाधारणत्वादतृप्तिजनकत्वादनेकदोषायतनत्वाच्च सविषमिवान्नमात्मकाम परित्यज्य संहृतकेशश्मश्रुशोभ काषायविवर्णवासा परित्यक्तगृहवेषविभ्रम प्रव्रज्याविनयनियमश्रियमशिश्रियत्। तदनुरागवशगा चास्य पत्नी केशानवतार्याहार्यविभूषणोद्वहननिर्व्यापारशरीरा स्वरूपगुणशोभाविभूषिता काषायवस्त्रसंवीततनुरनुप्रवव्राज। अथ बोधिसत्त्वस्तपोवनानुगमनव्यवसायमस्या विदित्वा तपोवनाध्यासनायोग्यता च स्त्रीसौकुमार्यस्यावोचदेनाम्—भद्रे दर्शितस्त्वयायमस्मदनुरागस्वभाव। तदलमस्मदनुगमन प्रयत्नेन व्यवसायेन ते। यत्रैव त्वन्या प्रव्रजिना प्रतिवसन्ति तत्र भवत्यास्ताभिरेव सार्धं प्रतिरूपं वस्तु स्यात्। दुरभिसंभवानि ह्यरण्यायतनानि। पश्य—

श्मशानशून्यालयपर्वतेषु वनेषु च व्यालमृगाकुलेषु।
निकेतहीना यतयो वसन्ति यत्रैव चास्त रविरभ्युपैति॥ २॥
ध्यानोद्यमादेकचराश्च नित्य स्त्रीदर्शनादप्यपवृत्तभावा।
निवर्तितु तेन मति कुरुष्व कोऽर्थस्तवानेन परिश्रमेण॥ ३॥

सा नियतमेनमनुगमनकृतनिश्चया बाष्पोपरुध्यमाननयना किंचिदीदृशं प्रत्युवाच—

यदि मे श्रमबुद्धि स्यात्तवानुगमनोत्सवे।
किमित्येव प्रपद्येय दुःख तव च विप्रियम्॥ ४॥
यत्तु नैव समर्थास्मि वर्तितु रहिता त्वया।
इत्याज्ञातिक्रममिम त्व मम क्षन्तुमर्हसि॥ ५॥

इति सा द्विस्त्रिरप्युच्यमाना यदा नेच्छति स्म निवर्तितुम्, ततो बोधिसत्त्व उपेक्षानिभृतमनिरस्या बभूव।

स तयानुगम्यमानश्चक्रवाक इव चक्रवाक्या ग्रामनगरनिगमाननुविचरन् कदाचित्कृतभक्तकृत्य कस्मिंश्चित्प्रविविक्ते श्रीमति नानातरुगहनोपशोभिते घनप्रच्छाये कृतोपकार इव क्वचित्क्वचिद्दिनकरकिरणचन्द्रकैर्नानाकुसुमरजोऽवकीर्णधरणीतले शुचौ वनोद्देशे ध्यानविधिमनुष्ठाय सायाह्नसमये व्युत्थाय समाधे पांसुकूलानि सीव्यति स्म। सापि प्रव्रजिता तस्यैव नातिदूरे वृक्षमूलमुपशोभयमाना देवतेव स्वेन वपुष प्रभावेण विराजमाना तदुपदिष्टेन मनस्कारविधिना ध्यायति स्म।

अथ तत्रत्यो राजा वसन्तकालजनिताभ्यधिककिसलयशोभानि भ्रमद्भ्रमरमधुकरीगणोपकूजितानि प्रमत्तकोकिलकुलकिलकिलानि प्रहसितकमलकुवलयालकृताभिलषणीयजलाशयानि विविधकुसुमसमोदमन्दाधिवासितसुखपवनान्युपवनानि समनुविचरंस्तं देशमुपजगाम।

विचित्रपुष्पस्तबकोज्ज्वलानि कृताङ्गरागाणीव वसन्तलक्ष्म्या।
आप्रवालपुंस्कोकिलबर्हिणानि सरोरुहाकीर्णजलाशयानि॥ ६॥

समुद्भवत्कोमलशाद्वलानि वनानि मत्तभ्रमरारुतानि।
आक्रीडभूतानि मनोभवस्य द्रष्टुं भवत्येव मन प्रहर्षः ॥ ७ ॥

अथ स राजा सविनयमभिगम्य बोधिसत्त्वं कृतप्रतिसमोदनकथस्तत्रैकान्ते न्यषीदत्। स ता प्रव्रजितामतिमनोहरदर्शनामभिवीक्ष्य तस्या रूपशोभया समाक्षिप्यमाणहृदयो नूनमस्येय सहधर्मचारिणीत्यवेत्य लोलस्वभावत्वात्तदपहरणोपायविममर्श।

श्रुतप्रभाव स तपोधनाना शापार्चिष क्रोधहुताशनस्य।
संक्षिप्तधैर्योऽपि मनोभवेन नास्मिन्नवज्ञारभसो बभूव ॥ ८ ॥

तस्य बुद्धिरभवत्—तप प्रभावमस्य ज्ञात्वा शक्यमत्र तद्युक्तं प्रवर्तितं नान्यथा। यद्ययमस्या संरागवक्तव्यमतिर्व्यक्तमस्मिन्न तप प्रभावोऽस्ति। अथ वीतराग स्यान्मन्दापेक्षो वा, ततोऽस्मिन् संभाव्यं तप प्रभावमाहात्म्यम्। इनि विचिन्त्य स राजा तप प्रभावजिज्ञासया बोधिसत्त्वं हितैषिवदुवाच—भो प्रव्रजित, प्रचुरधूर्तसाहसिकपुरुषेऽस्मिल्लोके न युक्तमत्रभवतो निराक्रन्देषु वनेष्वेवं प्रतिरूपयानया सहधर्मचारिण्या सह विचरितुम्। अस्या हि ते कश्चिदपराध्यमानो नियतमस्मानप्युपक्रोशभाजनीकुर्यात्। पश्य,

एवं विविक्तेषु तप कृशं त्वा धर्मेण सार्धं परिभूय कश्चित्।
इमा प्रसह्यापहरेद्यदा ते शोकात्परं किं बत तत्र कुर्या ॥ ९ ॥
रोषप्रसङ्गो हि मन प्रमाथी धर्मोपमर्दाद्यशसश्च हन्ता।
वसत्विय तेन जनान्त एव स्त्रीसंनिकर्षेण च कि यतीनाम् ॥ १० ॥

बोधिसत्त्व उवाच—युक्तमाह महाराज। अपि तु श्रूयता यदेवंगतेऽर्थे प्रपद्येय—

स्यादत्र मे य प्रतिकूलवर्ती दर्पाद्भ्रुवादप्रतिसंख्यया वा।
व्यक्तं न मुच्येत स जीवतो मे धाराघनस्येव घनस्य रेणु ॥ ११ ॥

अथ स राजा तीव्रापेक्षोऽयमस्या तप प्रभावहीन इत्यवज्ञाय तं महासत्त्वं तदपायनिराशङ्क कामरागवशग स्त्रीसंदर्शनाधिकृतान् पुरुषान् समादिदेश—गच्छतैता प्रव्रजितामन्त पुरं प्रवेशयतेति। तदुपश्रुत्य सा प्रव्रजिता व्यालमृगाभिद्रुतेव वनमृगी भयविषादविक्लवमुखी बाष्पोपरुध्यमाननयना गद्गदायमानकण्ठी तत्तदार्तिवशाद्विललाप—

लोकस्य नामार्तिपराजितस्य परायणं भूमिपति पितेव।
स एव यस्य त्वनयावह स्यादाक्रन्दनं कस्य नु तेन कार्यम् ॥ १२ ॥
भ्रष्टाधिकारा बत लोकपाला न सन्ति वा मृत्युवशं गता वा।
न त्रातुमार्तानिति मे मयत्ना धर्मोऽपि मन्ये श्रुतिमात्रमेव ॥ १३ ॥
किं वा सुरैर्मे भगवान् यदेवं मद्भागधेयैर्धृतमौन एव।
परोऽपि तावन्ननु रक्षणीय पापात्मभिर्विप्रतिकृष्यमाण ॥ १४ ॥
नश्येति शापाशनिनाभिमृष्ट स्याद्यस्य शैल· स्मरणीयमूर्ति।
इत्थंगतायामपि तस्य मौनं तथापि जीवामि च मन्दभाग्या ॥ १५ ॥
पापा कृपापात्रतरा न वाहमेवंविधामापदमभ्युपेता।
आर्तेषु कारुण्यमयी प्रवृत्तिस्तपोधनाना किमयं न मार्ग ॥ १६ ॥

शङ्के तवाद्यापि न देव चित्ते निवर्त्यमानास्मि न यन्निवृत्ता ।
तवाप्रियेणापि मयेप्सित यदात्मप्रिय हा तदिद कथ मे ॥ १७ ॥

इति ता प्रव्रजिता करुणविलापाक्रन्दितरुदितमात्रपरायणा ते राजसमादिष्टा पुरुषा यानमारोप्य पश्यत एव तस्य महासत्त्वस्यान्त पुराय निन्यु । बोधिसत्त्वोऽपि प्रतिसंख्यानबलात्प्रतिनुद्य क्रोधबल तथैव पासुकूलानि निर्मक्षोभ प्रशान्तचेता सीव्यति स्म । अथैनं स राजोवाच—

अमर्षरोषाभिनिपातिनाक्षरं तदुच्चकैर्गर्जितमूर्जित त्वया ।
हृता च पश्यन्नपि ता वराननामशक्तिदीनप्रशमोऽस्यवस्थित ॥ १८ ॥
तद्दर्शय स्वा भुजयो रुष वा तेजस्तप सश्रयसभृत वा ।
आत्मप्रमाणग्रहणानभिज्ञो व्यर्थप्रतिज्ञो ह्यधिक न भाति ॥ १९ ॥

बोधिसत्त्व उवाच—अव्यर्थप्रतिज्ञमेव मा विद्धि महाराज ।

योऽभून्ममात्र प्रतिकूलवर्ती विस्पन्दमानोऽपि स मे न मुक्त ।
प्रसह्य नीत प्रशमं मया तु तस्माद्यथार्थैव मम प्रतिज्ञा ॥ २० ॥

अथ स राजा तेन बोधिसत्त्वस्य धैर्यातिशयव्यञ्जकेन प्रशमेन समुत्पादित-तपस्विगुणसंभावनश्चिन्तामापेदे—अन्यदेवानेन ब्राह्मणेनाभिसधाय भाषितम्, तदपरि-ज्ञायास्माभिश्चापलकृतमिदमिति जातप्रत्यवमर्शो बोधिसत्त्वमुवाच—

कोऽन्यस्तवाभूत्प्रतिकूलवर्ती यो विस्फुरन्नेव न ते विमुक्त ।
रेणु समुद्यन्निव तोयदेन कश्चोपनीत प्रशम त्वयात्र ॥ २१ ॥

बोधिसत्त्व उवाच—शृणु महाराज !

जाते न दृश्यते यस्मिन्नजाते साधु दृश्यते ।
अभून्मे स न मुक्तश्च क्रोध स्वाश्रयबाधन ॥ २२ ॥
येन जातेन नन्दन्ति नराणामहितैषिण ।
सोऽभून्मे न विमुक्तश्च क्रोध शात्रवनन्दन. ॥ २३ ॥
उत्पद्यमाने यस्मिंश्च सदर्थ न प्रपद्यते ।
तमन्धीकरणं राजन्नहं क्रोधमशीशमम् ॥ २४ ॥

येनाभिभूत कुशल जहाति प्राप्तादपि भ्रश्यत एव चार्थात् ।
त रोषमुग्रग्रहवैकृताभं स्फुरन्तमेवानयमन्तमन्त ॥ २५ ॥
काष्ठाद्यथाग्नि परिमथ्यमानादुदेति तस्यैव पराभवाय ।
मिथ्याविकल्पै समुदीर्यमाणस्तथा नरस्यात्मवधाय रोष ॥ २६ ॥
दहनमिव विजृम्भमाणरौद्रं शमयति यो हृदयज्वर न रोषम् ।
लघुरयमिति हीयतेऽस्य कीर्ति कुमुदसखीव शशिप्रभा प्रभाते ॥ २७ ॥
परजनदुरितान्यचिन्तयित्वा रिपुमिव पश्यति यस्तु रोषमेव ।
विकसति नियमेन तस्य कीर्ति शशिन इवाभिनवस्य मण्डलश्री ॥ २८ ॥

इयमपरा च रोषस्य महादोषता—

न भात्यलंकारगुणान्वितोऽपि क्रोधाग्निना संहृतवर्णशोभ ।
सरोषशल्ये हृदये च दुखं महार्हशय्याङ्कगतोऽपि शेते ॥ २९ ॥

विस्मृत्य चात्मक्षममिद्धिपक्षं रोषात्प्रयात्येव तदुत्पथेन ।
निहीयते येन यशोऽर्थसिद्ध्या तामिस्रपक्षेन्दुरिवात्मलक्ष्म्या ॥ ३० ॥
रोषेण गच्छत्यनयप्रपातं निवार्यमाणोऽपि सुहृज्जनेन ।
प्रायेण वैरस्य जडत्वमेति हिताहितावेक्षणमन्दबुद्धिः ॥ ३१ ॥
क्रोधाच्च सात्मीकृतपापकर्मा शोचत्यपायेषु समाशतानि ।
अत परं किं रिपवश्च कुर्युस्तीव्रापकारोद्धतमन्यवोऽपि ॥ ३२ ॥
अन्त सपत्न कोपोऽयं तदेव विदित मम ।
तस्यावलेपप्रसर क पुमान् मर्षयिष्यति ॥ ३३ ॥
अतो न मुक्त कोपो मे विस्फुरन्नपि चेतसि ।
इत्यनर्थकरं शत्रु को ह्युपेक्षितुमर्हति ॥ ३४ ॥

अथ स राजा तेन तस्याद्भुतेन प्रशमगुणेन हृदयग्राहकेण च वचसाभिप्रसादितमतिरुवाच—

अनुरूपः शमस्यास्य नवाय वचनक्रमः ।
बहुना तु किमुक्तेन वञ्चितास्त्वददर्शिन ॥ ३५ ॥

इत्यभिप्रशस्यैनमभिसृत्यैवास्य पादयोर्न्यपतत् अत्ययदेशना च चक्रे । ता च प्रव्रजिता क्षमयित्वा व्यवसर्जयत्, परिचारक चात्मान बोधिसत्त्वस्य निर्यातयामास ।

तदेव क्रोधविनयाच्छत्रूनुपशमयति, वर्धयत्येव त्वन्यथा, इति क्रोधविनये यत्नः कार्यः । एवमवैरेण वैराणि शाम्यन्ति, सयमतश्च वैर न चीयते । एव चोभयोरर्थं चरत्यक्रोधन इत्येवमादिषु क्षमानुशमाप्रतिसयुक्तेषु सूत्रेषु वाच्यम् । क्रोधादीनवकथाया तथागतमाहात्म्ये चेति ।

॥ इति क्षुद्रबोधि-जातकमेकविंशतितमम् ॥

---

२२ हंस-जातकम्

विनिपातगतानामपि सता वृत्तं नालमनुगन्तुमसत्पुरुषा, प्रागेव सुगतिस्थानाम् । तद्यथानुश्रूयते—

बोधिसत्त्व किल मानसे महासरसि नैकशतसहस्रसख्यस्य महतो हंसयूथस्याधिपतिर्धृतराष्ट्रो नाम हंसराजो बभूव । तस्य नयानयपरिज्ञाननिपुणमतिर्विप्रकृष्टगोचरस्मृतिप्रभाव श्लाघनीयकुलतिलकभूतो दाक्ष्यदाक्षिण्यविनयभूषण स्थिरशुचिशीलवृत्तचारित्रशूर खेदसहिष्णुरप्रमादी समरवीवधविशारद स्वाम्यनुरागसुमुखः सुमुखो नाम सेनापतिर्बभूव [आर्यानन्दस्थविरस्तेन समयेन] । तौ परस्परप्रेमगुणाश्रयाज्ज्वलिततरप्रभावावाचार्यशिष्यमुख्याविव परिशेष शिष्यगणं पितृज्येष्ठपुत्राविव च श्रेष्ठशेष पुत्रगणं तद्धंसयूथमुभयलोकहितोदयेष्वर्थेषु सम्यग्निवेशयमानौ तत्प्रत्यक्षिणा देवनागयक्षविद्याधरतपस्विना पर विस्मयमुपजह्रतुः ॥

तावासतुर्हंसगणस्य तस्य श्रेय शरीरोद्वहनैककार्यौ ।
नभोगतस्येव विहगमस्य पक्षौ शरीरोद्वहनैककार्यौ ॥ १ ॥

एवं ताभ्या तदनुगृह्यमाणं हंसयूथ जगदिव धर्मार्थविस्तराभ्या परा वृद्धिमवाप। तेन च तत्सर परा शोभा बभार।

कलनूपुरनादेन हंसयूथेन तेन तत्।
पुण्डरीकवनेनेव रेजे मचारिणा सरः॥ २॥
क्वचित्प्रविसृतैर्हंसै· क्वचिद्विषमसंहतै।
छिन्नाभ्रलवचित्रस्य जहार नभस श्रियम्॥ ३॥

अथ तस्य हंसाधिपते सर्वसत्त्वहितसुमुखस्य च सेनापतेर्गुणातिशयप्रभावविस्मितमनस सिद्धर्षिविद्याधरदैवतगणास्तयो कीर्त्याश्रयाभि कथाभिस्तत्र तत्राभिरेमिरे।

उत्तप्तचामीकरसंनिकाशं श्रीमद्वपुर्व्यक्तपदाक्षरा वाक्।
धर्माभिजालो विनयो नयश्च कावप्यमू केवलहंसवेषौ॥ ४॥
गुणप्रकाशैरपमत्सरै सा कीर्तिस्तयोर्दिक्षु वितन्यमाना।
श्रद्धेयतामित्यगमन्नृपाणा सदस्सु यत्प्राभृतवच्चचार॥ ५॥

तेन च समयेन ब्रह्मदत्तो नामान्यतमो वाराणस्या राजा बभूव। स ता हंसाधिपते ससेनाधिपतेर्गुणातिशयाश्रया कथा प्रात्ययिकामात्यद्विजवृद्धै सदसि संस्तूयमानामसकृदुपश्रुत्य तयोर्दर्शन प्रत्यभिवृद्धकौतूहलो नैकशास्त्राभ्यासनिपुणमतीन् सचिवानुवाच—परिमृश्यता तावद्भो प्रसृतनिपुणमतय कश्चिदुपायो येन नस्तौ हंसवर्यौ दर्शनपथमपि तावदुपगच्छेतामिति। अथ तेऽमात्या स्वै स्वैर्मतिप्रभावैरनुसृत्य नीतिपथं राजानमूचु —

सुखाशा देव भूतानि विकर्षन्ति ततस्तत।
सुखहेतुगुणोत्कर्षश्रुतिस्तावानयेद्यत॥ ६॥

तद्यादृशे सरसि तावभिरतरूपावनुश्रूयेते तदुत्कृष्टतरगुणशोभमिह सर कस्मिंश्चिदरण्यप्रदेशे कारयितुमर्हति देव, प्रत्यह च सर्वपक्षिणामभयप्रदानघोषणाम्। अपि नाम कौतूहलोत्पादिन्या सुखहेतुगुणातिशयश्रुत्या ताविहाकृष्येयाताम्। पश्यतु देव,

प्रायेण प्राप्तिविरस सुख देव न गण्यते।
परोक्षत्वात्तु हरन्ति श्रुतिरम्य सुख मन॥ ७॥

अथ स राजा अस्त्वेतदित्यल्पेन कालेन नातिसंनिकृष्ट नगरोपवनस्य मानससरस प्रतिस्पर्धिगुणविभवं पद्मोत्पलकुमुदपुण्डरीकसौगन्धिकतामरसकह्लारसमुपगूढविमलसलिलमतिमनोहर महत्सर कारयामास—

द्रुमै कुसुमसंछन्नैश्चलत्किसलयोज्ज्वलै।
तत्प्रेक्षार्थमिवोत्पन्नै कृततीरपरिग्रहम्॥ ८॥
विहसद्भिरिवाम्भोजैस्तरंगोत्कम्पकम्पिभि.।
विलोभ्यमानाकुलितभ्रमद्भ्रमरसंकुलम्॥ ९॥
ज्योत्स्नासंवाहनोन्निद्रैर्विचित्रकुमुदै क्वचित्।
तरुच्छायापरिच्छिन्नैश्चन्द्रिकाशकलैरिव॥ १०॥

तरंगाङ्गुलिसंक्षिप्तैः कमलोत्पलरेणुभिः ।
अभ्यलंकृततीरान्तं हेमसूत्रैरिव क्वचित् ॥ ११ ॥
चित्रैः पद्मोत्पलदलैस्तत्र तत्र सकेसरैः ।
श्रियं प्रविततां बिभ्रदुपहारमयीमिव ॥ १२ ॥
प्रसन्नस्तिमिताम्बुत्वाद्व्यक्तचित्रवपुर्गुणैः ।
व्योम्नीव परिधावद्भिर्मीनवृन्दैरलंकृतम् ॥ १३ ॥
विच्छिन्नमुक्ताहाराभैः क्वचिद् द्विरदशीकरैः ।
उपलास्फालनोत्कीर्णमूर्मिचूर्णमिवोद्वहत् ॥ १४ ॥
विद्याधरवधूस्नानैर्मदसेकैश्च दन्तिनाम् ।
रजोभिः कुसुमानां च सवासमिव कुत्रचित् ॥ १५ ॥
ताराणां चन्द्रदाराणां सामान्यमिव दर्पणम् ।
मुदितद्विजसंकीर्णं तद्रुतप्रतिनादितम् ॥ १६ ॥

तदेवंविधं सरः कारयित्वा सर्वपक्षिगणस्य चानावृतसुखोपभोग्यमेतद्दत्वा प्रत्यहं सर्वपक्षिणां विश्वासनार्थमित्यभयदानघोषणां कारयामास—

एष पद्मोत्पलदलच्छन्नतोयमिदं सरः ।
ददाति राजा पक्षिभ्यः प्रीत्या साभयदक्षिणम् ॥ १७ ॥

अथ कदाचित्संहृतमेघान्धकारयवनिकासु शरद्गुणोपहृतशोभास्वालोकनक्षमासु दिक्षु प्रबुद्धकमलवनशोभेषु प्रसन्नसलिलमनोहरेषु सरस्सु परं कान्तियौवनमुपगते प्रचेयकिरण इव चन्द्रमसि विविधसस्यसंपद्विभूषणधरायां वसुंधरायां प्रवृत्ते हंसतरुणजनसंपाते मानसात्सरसः शरत्प्रसन्नानि दिगन्तराण्यनुविचरदनुपूर्वेणान्यतमं हंसमिथुनं तस्मादेव हंसयूथात्तस्य राज्ञो विषयमुपजगाम। तत्र च पक्षिगणकोलाहलोन्नादितमनिभृतमधुकरगणं तरंगमालाविचरणकृतव्यापारैः सुखशिशिरैर्मृदुभिरनिलैः समन्ततो विक्षिप्यमाणकमलकुवलयरेणुगन्धं ज्वलदिव विकचैः कमलैर्हसदिव विकसितैः कुमुदैस्तत्सरो ददर्श। तस्य मानससरःसमुचितस्यापि हंसमिथुनस्य तामतिमनोहरां सरसः श्रियमभिवीक्ष्य प्रादुरभूत्—अहो बत तदपि हंसयूथमिहागच्छेदिति।

प्रायेण खलु लोकस्य प्राप्य साधारणं सुखम् ।
स्मृतिः स्नेहानुसारेण पूर्वमेति सुहृज्जनम् ॥ १८ ॥

अथ तत्र तद्धंसमिथुनं यथाकामं विहृत्य प्रवृत्ते जलदसमये विद्युद्विस्फुरितशस्त्रविक्षेपेषु नातिघनविच्छिन्नान्धकाररूपेषु समभिवर्तमानेषु दैत्यानीकेष्विव जलधरवृन्देषु परिपूर्णबर्हकलापशोभेषु प्रसक्तकेकानिनादोत्कृष्टैर्जलधरविजयमिव संराधयत्सु नृत्तप्रवृत्तेषु चित्रेषु बर्हिगणेषु वाचालतामुपगतेषु स्तोकशकुनिषु प्रविचरत्सु कदम्बसर्जार्जुनकेतकीपुष्पगन्धाधिवासितेषु सुखशिशिरेषु काननविनिश्वसितेष्विवानिलेषु मेघदशनपंक्तिष्विवालक्ष्यमाणरूपासु बलाकायुवतिषु गमनौत्सुक्यमृदुनिकूजितेषु प्रयाणव्याकुलेषु हंसयूथेषु तद्धंसमिथुनं मानसमेव सरः प्रत्याजगाम। समुपेत्य च हंसाधिपतिसमीपं प्रस्तुतासु दिग्देशकथासु तं तस्य सरसो गुणविशेषं वर्णयामास-अस्ति देव दक्षिणेन हिमवतो वाराणस्यां ब्रह्मदत्तो नाम नराधिपतिः।

तेनात्यद्भुतरूपशोभमनिर्वर्ण्यगुणसौन्दर्यं महत्सरः पक्षिभ्यः स्वच्छन्दसुखोपभोग्यं दत्तम्। अभयं च प्रत्यहमवघुष्यते। रमन्ते चात्र पक्षिणः स्वगृह इव प्रहीणभयाशङ्काः। तदर्हति देवो व्यतीतासु वर्षासु तत्र गन्तुमिति। तच्छ्रुत्वा सर्व एव ते हंसास्तत्सदर्शनसमुत्सुका बभूवुः।

अथ बोधिसत्त्वः सुमुखं सेनापतिं प्रश्नव्यक्ताकारं प्रतनं ददर्श, कथं पश्यसीति चावोचत्। अथ सुमुखः प्रणम्यैनमुवाच—न प्राप्तं तत्र देवस्य गमनमिति पश्यामि। कुतः? अमूनि तावल्लोभनीयानि मनोहराण्यामिषभूतानि रूपाणि। न च न किंचिदिह परिहीयते। कृतकमधुरोपचारवचनप्रच्छन्नतीक्ष्णदौरात्म्यानि च प्रायेण पेलवघृणानि शठानि मानुषहृदयानि। पश्यतु स्वामी,

वाशितार्थस्वहृदया प्रायेण मृगपक्षिणः।
मनुष्याः पुनरेकीयास्तद्विपर्ययनैपुणाः ॥ १९ ॥
उच्यते नाम मधुरं स्वनुबन्धि निरत्ययम्।
वणिजोऽपि हि कुर्वन्ति लाभसिद्ध्याशया व्ययम् ॥ २० ॥
यतो नैतावता देव विस्रम्भः क्षमते क्वचित्।
कार्यार्थमपि न श्रेयः सात्ययापनयः क्रमः ॥ २१ ॥

यदि त्ववश्यमेव तत्र गन्तव्यम्, गत्वानुभूय च तस्य सरसो गुणविभूतिरस न नस्तत्र चिरं विचरितुं क्षमं निवासाय वा चित्तमभिनामयितुमिति पश्यामि। अथ बोधिसत्त्वः प्राप्तायां विमलचन्द्रनक्षत्रताराविभूषणायां रजन्यां शरदि तेन हंसयूथेन वाराणसीसरःसदर्शनं प्रत्यभिवृद्धकौतूहलेन तदभिगमनार्थं पुनः पुनर्विज्ञाप्यमानस्तेषां हंसानामनुवृत्त्या सुमुखप्रमुखेण महता हंसगणेन परिवृतश्चन्द्रमा इव शरदभ्रवृन्देन तत्राभिजगाम।

दृष्ट्वैव लक्ष्मीं सरसस्तु तस्य तेषां प्रहर्षाकुलविस्मयानाम्।
चित्रप्रकारा रुचिसंनिवेशास्तत्संश्रये तुल्यगुणा बभूवुः ॥ २२ ॥
यन्मानसादभ्यधिकं बभूव तैस्तैरवस्थातिशयैः सरस्तत्।
अतश्चिरं तद्गतमानसानां न मानसे मानसमास तेषाम् ॥ २३ ॥

तत्र ते नामभयघोषणामुपलभ्य स्वच्छन्दतां च पक्षिगणस्य तस्य च सरसो विभूत्या प्रमुदितहृदयास्तत्रोद्यानयात्रामिवानुभवन्तः परां प्रीतिसंपदमुपजग्मुः।

अथ तस्मिन् सरस्यधिकृताः पुरुषास्तेषां हंसानां तत्रागमनं राज्ञे प्रत्यवेदयन्त—यादृशगुणरूपौ देव तौ हंसवर्यावनुश्रूयेते तादृशावेव [हंसवर्यौ] कनकावदातरुचिरपत्रौ तपनीयोज्ज्वलतरवदनचरणशोभावधिकतरप्रमाणौ सुसंस्थितदेहौ नैकहंसशतसहस्रपरिवारौ देवस्य सरः शोभयितुमिवानुप्राप्ताविति। अथ स राजा शाकुनिककर्मणि प्रसिद्धप्रकाशनैपुणं शाकुनिकगणे समन्विष्य तद्ग्रहणार्थं सादरमन्वादिदेश। स तथेति प्रतिश्रुत्य तयोर्हंसयोर्गोचरविहारप्रदेशं सम्यगुपलभ्य तत्र तत्र दृढान्निगूढान् पाशान् न्यदधात्। अथ तेषां हंसानां विश्वासादपायनिराशङ्कानां प्रमोदोद्धतमनसां विचरतां स हंसाधिपतिः पाशेन चरणे न्यबध्यत।

विस्मृतात्ययशङ्काना सूक्ष्मैर्विश्वासनक्रमैः ।
विकरोत्येव विश्रम्भ प्रमादापनयाकर ॥ २४ ॥

अथ बोधिसत्त्वो मा भूदन्यस्यापि कस्यचित्तत्रैवंविधो व्यसनोपनिपात इति रुतविशेषेण सप्रतिभयता सरस प्रकाशयामास। अथ ते (हंसा) हंसाधिपतिबन्धाद्व्यथितहृदया भयविरसव्याकुलविरावा परस्परनिरपेक्षा हतप्रवीरा इव सैनिका दिवं समुत्पेतु । सुमुखस्तु हससेनाधिपतिर्हंसाधिपतिसमीपान्नैव विचचाल।

स्नेहावबद्धानि हि मानसानि
प्राणात्यय स्वं न विचिन्तयन्ति।
प्राणात्ययाद् दु खतरं यदेषा
सुहृज्जनस्य व्यसनार्तिदैन्यम् ॥ २५ ॥

अथैनं बोधिसत्त्व उवाच—

गच्छ गच्छैव सुमुख क्षमं नेह विलम्बितुम् ।
साहाय्यस्यावकाशो हि कस्तवेत्थंगते मयि ॥ २६ ॥

सुमुख उवाच—

नैकान्तिको मृत्युरिह स्थितस्य
न गच्छत स्यादजरामरत्वम् ।
सुखेषु च त्वा समुपास्य नित्य-
मापद्गत मानद केन जह्याम् ॥ २७ ॥
स्वप्राणतन्तुमात्रार्थं त्यजतस्त्वा खगाधिप ।
धिग्वादवृष्ट्यावरण कतमन्मे भविष्यति ॥ २८ ॥
नैष धर्मो महाराज त्यजेय त्वा यदापदि ।
या गतिस्तव सा मह्य रोचते विहगाधिप ॥ २९ ॥

बोधिसत्त्व उवाच—

का नु पाशेन बद्धस्य गतिरन्या महानसात् ।
सा कथ स्वस्थचित्तस्य मुक्तस्याभिमता तव ॥ ३० ॥
पश्यस्येवं कमर्थं वा त्वं ममात्मन एव वा ।
ज्ञातीना वावशेषाणामुभयोर्जीवितक्षये ॥ ३१ ॥
लक्ष्यते च न यत्रार्थस्तमसीव समासमम् ।
तादृशे संत्यजन् प्राणान् कमर्थं द्योतयेद्भवान् ॥ ३२ ॥

सुमुख उवाच—

कथं नु पतता श्रेष्ठ धर्मेऽर्थ न समीक्षसे ।
धर्मो ह्यपचित सम्यगावहत्यर्थमुत्तमम् ॥ ३३ ॥
सोऽहं धर्मं च सपश्यन् धर्माच्चार्थ समुत्थितम् ।
तव मानद भक्त्या च नाभिकाङ्क्षामि जीवितम् ॥ ३४ ॥

बोधिसत्त्व उवाच—

अद्धा धर्मं सतामेष यत्सखा मित्रमापदि ।
न त्यजेज्जीवितस्यापि हेतोर्धर्ममनुस्मरन् ॥ ३५ ॥

तदर्चितस्त्वया धर्मो भक्तिर्मयि च दर्शिता।
याच्ञामन्त्या कुरुष्वेमा गच्छैवानुमतो मया।' ३६ ॥
अपि चैवगते कार्ये यदून सुहृदा मया।
तत्त्वया मतिसपन्न भवेत्परममभृतम् ॥ ३७ ॥
परस्परप्रेमगुणादिति मजल्पतोस्तयो ।
प्रत्यदृश्यत नैपाद साक्षान्मृत्युरिवापतन् ॥ ३८ ॥

अथ तौ हंसवर्यौ निषादमापतन्तमालोक्य तूष्णी बभूवतु । स च तद्धंसयूथं विद्रुतमालोक्य नूनमत्र कश्चिद्बद्ध इति निश्चितमति पाशस्थानान्यनुविचरंस्तौ हंसवर्यौ ददर्श। स तद्रूपशोभया विस्मितमना बद्धाविति मन्यमानस्तत्समापन्नौ पाशावुद्घट्टयामास। अथैक बद्धमबद्धेनेतरेण स्वस्थेनोपास्यमानमवेक्ष्य विस्मिततरहृदय सुमुखमुपेत्योवाच—

अयं पाशेन महता द्विज महतविक्रम ।
व्योम नास्मात्प्रपद्येत मय्यप्यन्तिकमागते ॥ ३९ ॥
अबद्धस्त्वं पुन स्वस्थ मज्जपत्ररथी बली।
कस्मात्प्राप्तेऽपि मय्येव वेगान्न भजसे नभ ॥ ४० ॥

तदुपश्रुत्य सुमुख प्रव्यक्ताक्षरपदविन्यासेन स्वभाववर्णनाधैर्यगुणौजस्विना स्वरेण मानुषी वाचमुवाच—

शक्तिस्थ सन्न गच्छामि यदिदं तत्र कारणम्।
अयं पाशपरिक्लेश विहंग प्राप्तवानिति ॥ ४१ ॥
अय पाशेन महता संयतश्चरणे त्वया।
गुणैरस्य तु बद्धोऽहमतो दृढतरैर्हृदि ॥ ४२ ॥

अथ स नैषाद परमविस्मितमति संहर्षिततनूरुह सुमुखं पुनरुवाच—

त्यक्त्वैनं मद्भयादन्ये दिशो हंसा समाश्रिता ।
त्वं पुनर्नं त्यजस्येन को न्वयं भवतो द्विज ॥ ४३ ॥

सुमुख उवाच—

राजा मम प्राणसम सखा च
सुखस्य दाता विषमस्थितश्च ।
नैवोत्सहे येन विहातुमेनं
स्वजीवितस्याप्यनुरक्षणार्थम् ॥ ४४ ॥

अथ सुमुख प्रसादविस्मयावर्जितमानसं तं नैषादमवेत्य पुनरुवाच—

अप्यस्माकमिय भद्र संभाषा स्यात्सुखोदया।
अप्यस्मान् विसृजन्नद्य बम्यां कीर्तिमवाप्नुया ॥ ४५ ॥

नैषाद उवाच—

नैव ते दु खमिच्छामि न च बद्धो भवान् मया।
स त्वं गच्छ यथाकामं पश्य बन्धूंश्च नन्दय ॥ ४६ ॥

सुमुख उवाच—

नो चेदिच्छसि मे दुःखं तत्कुरुष्व ममार्थनाम् ।
एकेन यदि तुष्टोऽसि तत्त्यजैनं गृहाण माम् ॥ ४७ ॥
तुल्यारोहपरीणाहौ समानौ वयसा च नौ ।
विद्धि निष्क्रय इत्यस्य न तेऽहं लाभहानये ॥ ४८ ॥
तदङ्ग समवेक्षस्व गृद्धिर्भवतु ते मयि ।
मां बध्नातु भवान् पूर्वं पश्चान्मुञ्चेद् द्विजाधिपम् ॥ ४९ ॥
तावानेव च लाभस्ते कृता स्यान्मम चार्थना ।
हंसयूथस्य च प्रीतिर्मैत्री तेन तथैव च ॥ ५० ॥
पश्यन्तु तावद्भवता विमुक्तं हंसाधिपं हंसगणाः प्रतीताः ।
विरोचमानं नभसि प्रसन्ने दैत्येन्द्रनिर्मुक्तमिवोडुराजम् ॥ ५१ ॥

अथ स नैषादः क्रूरताभ्यासकठिनहृदयोऽपि तेन तस्य जीवितनिरपेक्षेण स्वाम्यनुरागश्लाघिना कृतज्ञतागुणौजस्विना धैर्यमाधुर्यालंकृतवचसा समावर्जितहृदयो विस्मयगौरववशात्समानीताञ्जलिः सुमुखमुवाच—साधु साधु महाभाग !

मानुषेष्वप्ययं धर्म आश्चर्यो दैवतेषु वा ।
स्वाम्यर्थं त्यजता प्राणान् यस्त्वयात्र प्रदर्शितः ॥ ५२ ॥
तदेष ते विमुञ्चामि राजानमनुमानयन् ।
को हि प्राणप्रियतरे तवास्मिन् विप्रियं चरेत् ॥ ५३ ॥

इत्युक्त्वा स नैषादस्तस्य नृपतेः संदेशमनादृत्य हंसराजं समनुमानयन् दया-सुमुखं पाशान्मुमोच । अथ सुमुखः सेनापतिर्हंसराजविमोक्षात्परमानन्दितहृदयः प्रीत्यभिस्निग्धमुदीक्षमाणो नैषादमुवाच—

यथा सुहृन्नन्दन नन्दितोऽस्मि त्वयाद्य हंसाधिपतेर्विमोक्षात् ।
एवं सुहृज्ज्ञातिगणेन भद्र शरत्सहस्राणि बहूनि नन्द ॥ ५४ ॥
तन्मा तवायं विफलः श्रमो भूदादाय मां हंसगणाधिपं च ।
स्वस्थावबद्धावधिरोप्य काचमन्तःपुरे दर्शय भूमिपाय ॥ ५५ ॥
असंशयं प्रीतमनाः स राजा हंसाधिपं सानुचरं समीक्ष्य ।
दास्यत्यसंभावितविस्तराणि धनानि ते प्रीतिविवर्धनानि ॥ ५६ ॥

अथ नैषादस्तस्य निर्बन्धात् पश्यतु तावदत्यद्भुतमिदं हंसयुगं स राजेति कृत्वा तौ हंसमुख्यौ काचेनादाय स्वस्थावबद्धौ राज्ञे दर्शयामास ।

उपायनाश्चर्यमिदं द्रष्टुमर्हसि मानद ।
ससेनापतिरानीतः सोऽयं हंसपतिर्मया ॥ ५७ ॥

अथ स राजा प्रहर्षविस्मयापूर्णमतिर्दृष्ट्वा तौ हंसप्रधानौ काञ्चनपुञ्जाविव श्रियाभिज्वलन्मनोहररूपौ तं नैषादमुवाच—

स्वस्थावबद्धावमुकौ विहंगौ भूमिचारिणः ।
तव हस्तमनुप्राप्तौ कथं कथय विस्तरम् ॥ ५८ ॥

इत्युक्ते स नैषाद प्रणम्य राजानमुवाच—

निहिता बहव पाशा मया दारुणदारुणा ।
विहगाक्रीडदेशेषु पल्वलेषु सरस्सु च ॥ ५९ ॥
अथ विस्रम्भनि शङ्को हंसवर्यश्चरन्नयम् ।
परिच्छन्नेन पाशेन चरणे समबध्यत ॥ ६० ॥
अबद्धस्तमुपासीनो मामय समयाचत ।
आत्मानं निष्क्रयं कृत्वा हंसराजस्य जीवितम् ॥ ६१ ॥
विसृजन्मानुषीं वाचं विस्पष्टमधुराक्षराम् ।
स्वजीवितपरित्यागाद्याच्ञासामर्थ्यार्जितक्रमाम् ॥ ६२ ॥
तेनास्य वाक्येन सुपेशलेन स्वाम्यर्थधीरेण च चेष्टितेन ।
तथा प्रसन्नोऽस्मि यथास्य भर्ता मया मम क्रूरतयैव मुक्त ॥ ६३ ॥
अथ विहगपतेरस्य विमोक्षात्मुदितमतिर्बहुधा वदन् प्रियाणि ।
त्वदभिगम इति न्ययोजयन्मा विफलगुरु किल मा मम श्रमो भूत् ॥ ६४ ॥
तदेवमतिधार्मिक खगवराकृति कोऽप्ययसा
ममापि हृदि मार्दवं जनितवान् क्षणेनैव य ।
खगाधिपतिमोक्षणं कृतमनुस्मरन् सत्कृते
महाधिपतिनिनागत स्वयमय न तेऽन्तःपुरम् ॥ ६५ ॥

तदुपश्रुत्य स राजा सप्रमोदविस्मयेन मनसा विविधरत्नप्रभोद्भासुरसुरुचिरपादं पराध्यास्तिरणरचनाभिरामं श्रीमत्सुखोपाश्रयमाटोपमुपहितपादपीठं राजार्ह्यासनयोग्यं काञ्चनमासनं हंसराजाय समादिदेश, अमात्यमुख्याध्यासनयोग्यं च वेत्रासनं सुमुखाय। अथ बोधिसत्त्व काल इदानीं प्रतिसमोदितुमिति नूपुरारावमधुरेण स्वरेण राजानमाबभाषे—

द्युतिकान्तिनिकेतने शरीरे कुशल ते कुशलार्ह कच्चिदस्मिन् ।
अपि धर्मशरीरमव्रणं ते विपुलैरुच्छ्वसितीव वाक्प्रदानैः ॥ ६६ ॥
अपि रक्षणदीक्षित प्रजाना समयानुग्रहविग्रहप्रवृत्त्या ।
अभिवर्धयसे स्वकीर्तिशोभामनुराग जगतो हितोदयं च ॥ ६७ ॥
अपि शुद्धतयोपधास्वसक्तैरनुरक्तैर्निपुणक्रियैरमात्यैः ।
समवेक्षयसे हित प्रजाना न च तत्रासि परोक्षबुद्धिरेव ॥ ६८ ॥
नयविक्रमसंहृतप्रतापैरपि सामन्तनृपै प्रयाच्यमान ।
उपयासि दयानुवृत्तिशोभा न च विश्वासमयीं प्रमादनिद्राम् ॥ ६९ ॥
अपि धर्मसुखार्थनिर्विरोधास्तव चेष्टा नरवीर सज्जनेष्टा ।
वितता इव दिक्षु कीर्तिसिद्ध्या रिपुभिर्निश्वसितैरसत्क्रियन्ते ॥ ७० ॥

अथैनं स नृपति प्रमोदादभिव्यज्यमानेन्द्रियप्रसाद प्रत्युवाच—

अद्य मे कुशल हंस सर्वत्र च भविष्यति ।
चिराभिलषित प्राप्तो यदय सत्समागम ॥ ७१ ॥

त्वयि पाशवशं प्राप्ते प्रहर्षोद्धतचापल ।
कच्चिन्नायमकार्षीत्ते दण्डेनाभिरुजन् रुजम् ॥ ७२ ॥
एव ह्यमीपा जाल्माना पक्षिणा व्यसनोदये ।
प्रहर्षाकुलिता बुद्धिरापतत्येव कल्मषम् ॥ ७३ ॥

बोधिसत्त्व उवाच—

क्षेममासीन्महाराज सत्यामप्येवमापदि ।
न चायं किंचिदस्मासु शत्रुवत्प्रत्यपद्यत ॥ ७४ ॥
अबद्ध बद्धवदय मत्स्नेहात्सुमुख स्थितम् ।
दृष्ट्वाभाषत मामेव सकौतूहलविस्मय ॥ ७५ ॥
सूनृतैरस्य वचनैरथावर्जितमानम ।
मामय व्यमुचत्पाशाद्विनयादनुमानयन् ॥ ७६ ॥
अतश्च सुमुखेनेद हितमस्य समीहितम् ।
इहागमनमस्माक स्यादस्यापि सुखोदयम् ॥ ७७ ॥

नृपतिरुवाच—

आकाङ्क्षिताभिगमयो स्वागत भवतोरिह ।
अतीव प्रीणितश्चास्मि युष्मत्सदर्शनोत्सवात् ॥ ७८ ॥
अय च महतार्थेन नैषादोऽद्य समेष्यति ।
उभयेषा प्रिय कृत्वा महदर्हत्यय प्रियम् ॥ ७९ ॥

इत्युक्त्वा स राजा त नैषाद महता धनविस्तरप्रदानेन ममान्य पुनर्हंसराज-मुवाच—

इम स्वमावासमुपागता युवा विसृज्यता तन्मयि यन्त्रणाव्रतम् ।
प्रयोजन येन यथा तदुच्यता भवत्सहाया हि विभूतयो मम ॥ ८० ॥
अशङ्कितोक्तै प्रणयाक्षरै सुहृत् करोति तुष्टिं विभवस्थितस्य याम् ।
न तद्विधा लम्भयते स ता धनैर्महोपकार प्रणय सुहृत्स्वत ॥ ८१ ॥

अथ स राजा सुमुखसभापणकुतूहलहृदय सविस्मयमभिवीक्ष्य सुमुखमुवाच—

अलब्धगाधा नवसस्तवे जने न यान्ति काम प्रणयप्रगल्भताम् ।
वचस्तु दाक्षिण्यसमाहिताक्षर न ते न जल्पन्त्युपचारशोभरम् ॥ ८२ ॥
सभाषणेनापि यतः कर्तुमर्हति नो भवान् ।
साफल्य प्रणयाशाया प्रीतेश्चोपचयं हृदि ॥ ८३ ॥

इत्युक्ते सुमुखो हससेनापतिर्विनयादभिप्रणम्यैनमुवाच—

महेन्द्रकल्पेन सह त्वया सभाषणोत्सव ।
इति दर्शितसौहार्दे कस्य नातिमनोरथ ॥ ८४ ॥

सभाषमाणे तु नराधिपे च सौहार्दरम्यं विहगाधिपे च ।
तत्सकथामध्यमुपेत्य धाष्ट्यान्निन्वक्रम प्रेष्यजनस्य वक्तुम् ॥ ८५ ॥
न ह्येष मार्गो विनयाभिजातस्तं चैव जानन् कथमभ्युपेयाम् ।
तूष्णी महाराज यत स्थितोऽहं तन्मर्षणीयं यदि मर्षणीयम् ॥ ८६ ॥

इत्युक्ते स राजा सप्रहर्षविस्मयवदनः संराधयन् सुमुखमुवाच—

स्थाने भवद्गुणकथा रमयन्ति लोकं
स्थानेऽस्मि हंसपतिना गमितः सखित्वम् ।
एवंविधं हि विनयं नयसौष्ठवं च
नैवाकृतात्महृदयानि समुद्वहन्ति ॥ ८७ ॥

तदियं प्रस्तुता प्रीतिर्विच्छिद्येत यथा न नः ।
तथैव मयि विस्रम्भः अजर्यं ह्यार्यसंगतम् ॥ ८८ ॥

अथ बोधिसत्त्वस्तस्य राज्ञः परां प्रीतिकामतामवेत्य स्नेहप्रवृत्तिसुमुखतां च संराधयन्नुवाचैनम्—

यत्कृत्यं परमे मित्रे कृतमस्मासु तत्त्वया ।
संस्तवे हि नवेऽप्यस्मिन् स्वमाहात्म्यानुवर्तिना ॥ ८९ ॥

कश्च नाम महाराज नावलम्ब्येत चेतसि ।
समानविधिनानेन यस्त्वयास्मासु दर्शितः ॥ ९० ॥

प्रयोजनं नाम कियत्किमेव वा मदाश्रयं मानद यत्त्वमीक्षसे ।
प्रियातिथित्वं गुणवत्सलस्य ते प्रवृत्तमभ्यासगुणादिति ध्रुवम् ॥ ९१ ॥

न चित्रमेतत्त्वयि वा जितात्मनि प्रजाहितार्थं धृतपार्थिवव्रते ।
तपःसमाधानपरे मुनाविव स्वभाववृत्त्या हि गुणास्त्वयि स्थिताः ॥ ९२ ॥

इति प्रशमासुभगाः सुखा गुणा न दोषदुर्गेषु वसन्ति भूतयः ।
इमां विदित्वा गुणदोषधर्मतां सचेतनः कः स्वहितोत्पथं भजेत् ॥ ९३ ॥

न देशमाप्नोति पराक्रमेण तं न कोशवीर्येण न नीतिसंपदा ।
श्रमव्ययाभ्यां नृपतिर्विनैव यं गुणाभिजातेन पथाधिगच्छति ॥ ९४ ॥

सुराधिपश्रीरपि वीक्षते गुणान् गुणोदितानेव परैति संनतिः ।
गुणेभ्य एव प्रभवन्ति कीर्तयः प्रभावमाहात्म्यमिति श्रितः गुणान् ॥ ९५ ॥

अमर्षदर्पोद्भवकर्कशान्यपि प्ररूढवैरस्थिरमत्सराण्यपि ।
प्रसादयन्त्येव मनांसि विद्विषां शशिप्रकाशाधिककान्तयो गुणाः ॥ ९६ ॥

तदेवमेव क्षितिपाल पालयन् महीं प्रतापानतदृप्तपार्थिवाम् ।
अमन्दशोभैर्विनयादिभिर्गुणैर्गुणानुरागं जगतां प्रबोधय ॥ ९७ ॥

प्रजाहितं कृत्यतमं महीपतेस्तदस्य पन्था ह्युभयत्र भूतये ।
भवेच्च तद्राजनि धर्मवत्सले नृपस्य वृत्तं हि जनोऽनुवर्तते ॥ ९८ ॥

प्रशाधि धर्मेण वसुंधरामतः करोतु रक्षां त्रिदशाधिपश्च ते ।
त्वदन्तिकात्सश्रितभावनादपि स्वयूथ्यदुःखं तु विकर्षतीव माम् ॥ ९९ ॥

अथ स राजा समभिनन्द्य तत्तस्य वचनं सपर्षत्कः समानप्रियवचनप्रयोगपुरःसरं तौ हंसमुख्यौ विससर्ज । अथ बोधिसत्त्वः समुत्पत्य विमलखड्गाभिनीलं शरत्प्रसन्नशोभं गगनतलं प्रतिबिम्बेनेवानुगम्यमानः सुमुखेन हंससेनापतिना समुपेत्य हंसयूथं संदर्शनादेव परेण प्रहर्षेण सयोजयामास ।

कालेन चोपेत्य नृप स हस परानुकम्पाव्यसनी सहंस ।
जगाद धर्म क्षितिपेन तेन प्रत्यर्च्यमानो विनयानतेन ॥ १०० ॥

तदेवं विनिपातगतानामपि सता वृत्त नालमनुगन्तुमसत्पुरुषा प्रागेव सुगतिस्थानामिति। एव कल्याणी वागुभयहितावहा भवतीति कल्याणवचनप्रशंसायामप्युपनेयम्। कल्याणमित्रवर्णेऽपि वाच्यम्, एव कल्याणमित्रवत। कृच्छ्रेऽप्यर्था ससिध्यन्तीति। स्थविरायानन्दपूर्वसभागप्रदर्शने च, एवमय स्थविर सहचरितचरणो बोधिसत्त्वेन चिरकालाभ्यस्तप्रेमबहुमानो भवतीति ।

॥ इति हस-जातक द्वाविशतितमम् ॥

---

२३ महाबोधि-जातकम्

असत्कृतानामपि सत्पुरुषाणा पूर्वोपकारिष्वनुकम्पा न शिथिलीभवति कृतज्ञत्वात् क्षमासात्म्याच्च । तद्यथानुश्रूयते—

बोधिसत्त्वभूत किलाय भगवान् महाबोधिर्नाम परिव्राजको बभूव । स गृहस्थभाव एव परिविदितक्रमव्यायामो लोकाभिमताना विद्यास्थानाना कृतज्ञानकौतूहलश्चित्रासु च कलासु प्रव्रज्याश्रयाल्लोकहितोद्योगाच्च विशेषवत्तर धर्मशास्त्रेष्ववहितमतिस्तेष्वाचार्यक पदमवाप । स कृतपुण्यत्वाज्ज्ञानमाहात्म्याल्लोकज्ञतया प्रतिपत्तिगुणसौष्ठवाच्च यत्र यत्र गच्छति स्म तत्र तत्रैव विदुपा विद्वत्प्रियाणा च राज्ञा ब्राह्मणगृहपतीनामन्यतीर्थिकाना च प्रव्रजितानामभिगमनीयो भावनीयश्च बभूव ।

गुणा हि पुण्याश्रयलब्धदीप्तयो गता प्रियत्व प्रतिपत्तिशोभया ।
अपि द्विषद्भ्य स्वयशोनुरक्षया भवन्ति सत्कारविशेषभागिन ॥ १ ॥

अथ स महात्मा लोकानुग्रहार्थमनुविचरन् ग्रामनगरनिगमजनपदराष्ट्रराजधानीरन्यतमस्य राज्ञो विषयान्तरमुपजगाम। श्रुतगुणविस्तरप्रभावस्तु स राजा तस्यागमन दूरत एवोपलभ्य प्रीतमना रमणीये स्वस्मिन्नुद्यानवनप्रदेशे तस्यावसथ कारयामास। अभ्युद्गमनादिसत्कारपुरःसरं चैनं प्रवेश्य स्वविषय शिष्य इवाचार्यं परिचरणपर्युपासनविधिना समानयामास ।

विभूतिगुणसपन्नमुपेत प्रणयाद् गृहम् ।
गुणप्रियस्य गुणवानुत्सवातिशयोऽतिथि ॥ २ ॥

बोधिसत्त्वोऽपि चैनं श्रुतिहृदयह्लादिनीभिर्धर्म्याभि कथाभि श्रेयोमार्गमनुप्रतिपादयमान प्रत्यहमनुजग्राह ।

अदृष्टभक्तिष्वपि धर्मवत्सला
हितं विवक्षन्ति परानुकम्पिन ।
क एव वाद शुचिभाजनोपमे
हितार्थिनि प्रेमगुणोत्सुके जने ॥ ३ ॥

अथ तस्य राज्ञोऽमात्या लब्धविद्वत्संभावना लब्धसमानाश्च सदस्या. प्रत्यहमभिवर्धमानसत्कारा बोधिसत्त्वस्य गुणसमृद्धिमीर्ष्योपहतबुद्धित्वान्न सेहिरे ।

स्वगुणातिशयोदितैर्यशोभिर्जगदावर्जनदृष्टशक्तियोग ।
रचनागुणमात्रसत्कृतेषु ज्वलयत्येव परेष्वमर्षवह्निम् ॥ ४ ॥

प्रसह्य चैनं शास्त्रकथास्वभिभवितुमशक्ता धर्मप्रमङ्गममृष्यमाणाश्च राजस्तेन तेन क्रमेण राजानं बोधिसत्त्वं प्रति विग्राहयामासु —नार्हति देवो बोधिपरिव्राजके विश्वासमुपगन्तुम् । व्यक्तमय देवस्य गुणप्रियता धर्माभिमुखता चोपलभ्य व्यसनप्रतारणश्लक्ष्णशठमधुरवचन प्रवृत्तिसचारणहेतुभूत कस्यापि प्रत्यर्थिनो राज्ञो निपुण प्रणिधिप्रयोग । तथा हि धर्मात्मको नाम भूत्वा देवमेकान्तेन कारुण्यप्रवृत्ता क्लीबदैन्ये च समनुशास्ति, अर्थकामोपरोधिषु च क्षत्रधर्मबाह्येष्वाशत्रुरनयेषु धर्मसमादानेषु दयानुवृत्त्या च नाम ते कृत्यपक्षम श्वासनविधिनोपगृणीते प्रियसस्तवश्चान्यराजदूतै । न चायमविदितवृत्तान्तो राजशास्त्राणाम् । अत मागङ्कान्यत्र ना हृदयानीति । अथ तस्य राज्ञ पुन पुनर्भेदोपसहित हितमिव वर्तुभिरन्तरमासाद्य बोधिसत्त्वं प्रति परिशङ्कासकोचितस्नेहगौरवप्रसरमन्यादृश चित्तमभवत् ।

पैशुन्यवज्राशनिसनिपाते भीमस्वने चाशनिसनिपाते ।
विस्रम्भवान्मानुषमात्रधैर्य स्यान्निर्विकारो यदि नाम कश्चित् ॥ ५ ॥

अथ स राजा विस्रम्भविरहान्मन्दीभूतप्रेमबहुमानस्तस्मिन् महासत्त्वे न यथापूर्व सत्कारप्रयोगसुमुखो बभूव । बोधिसत्त्वोऽपि शुद्धस्वभावत्वात् बहुकार्यव्यासङ्गा राजान इति न तन्मनसि चकार । तत्समीपवर्तिना तु विनयोपचारशैथिल्यसंदर्शनाद्विरक्तहृदयमवेत्य राजानं समादाय त्रिदण्डकुण्डिकाद्या परिव्राजकभाण्डिका प्रक्रमणसव्यापार समभवत् । तदुपश्रुत्य स राजा सावशेषस्नेहतया दाक्षिण्यविनयानुवृत्त्या चैनमभिगम्य प्रदर्शितसंभ्रमो विनिवर्तयितुकाम इव तमुवाच—

अस्मानकस्मादपहाय कस्माद्गन्तव्य एव प्रणता मतिस्ते ।
व्यलीकशङ्काजनकं नु किंचिद् दृष्टं प्रमादस्खलितं त्वया न ॥ ६ ॥

अथैनं बोधिसत्त्व उवाच—

नाकस्मिकोऽयं गमनोद्यमो मे नामत्क्रियामात्रकरूक्षिकत्वात् ।
अभाजनत्वं तु गतोऽसि शाठ्याद्धर्मस्य नेनाहमितो व्रजामि ॥ ७ ॥

अथास्य सरभसभषितमतिविवृतवदनमभिद्रवन्त वल्लभ श्वान तत्रागतमभिप्रदर्शयन् पुनरुवाच—अय चात्र महाराज अमानुष साक्षिनिर्देशो दृश्यताम् ।

अयं हि पूर्व पटुचाटुकर्मा भूत्वा मयि श्वा भवतोऽनुवृत्त्या ।
आकारगुप्त्यज्ञतया त्विदानी त्वद्भावसूचा भषिते करोति ॥ ८ ॥
त्वत्त श्रुत किंचिदनेन नूनं मदन्तरे भक्तिविपत्तिरूक्षम् ।
अतोऽनुवृत्तं ध्रुवमित्यनेन त्वत्प्रीतिहेतोरनुजीविवृत्तम् ॥ ९ ॥

अथ स राजा तत्प्रत्यादेशाद् व्रीडावनामितवदनस्तेन चास्य मतिनैपुण्येन समावर्जितमतिर्जातसंवेगो नेदानी शाठ्यानुवृत्तिकाल इति बोधिसत्त्वमभिप्रणम्योवाच—

त्वदाश्रया काचिदभूत्कथैषा संप्रस्तुता न सदसि प्रगल्भै ।
उपेक्षिता कार्यवशान्मया च तत्क्षम्यता तिष्ठ च साधु मा गा ॥ १० ॥

बोधिसत्त्व उवाच—नैव खल्वहं महाराज असत्कारप्रकृतत्वादक्षमया वा प्रणुद्यमानो गच्छामि। न त्वयं महाराज अवस्थानकाल इति न तिष्ठामि। पश्यतु भवान्।

विमध्यभावादपि हीनशोभे याया न सत्कारविधौ स्वयं चेत्।
सङ्गादगत्या जडताबलाद्वा नन्वर्धचन्द्राभिनयोत्तर स्याम्॥ ११॥
प्राप्तक्रमोऽयं विधिरत्र तेन यास्यामि नाप्रीत्यभितप्तचित्त।
एकावमानाभिहता हि सत्सु पूर्वोपकारा न समीभवन्ति॥ १२॥
अस्निग्धभावस्तु न पर्युपास्यस्तोयार्थिना शुष्क इवोदपान।
प्रयत्नसाध्यापि ततोऽर्थसिद्धिर्यस्माद्भवेदाकलुषा कृशा च॥ १३॥
प्रसन्न एव त्वभिगम्यरूप शरद्विशुद्धाम्बुमहाह्रदाभ।
सुखार्थिन क्लेशपराङ्मुखस्य लोकप्रसिद्ध स्फुट एप मार्ग॥ १४॥
भक्त्युन्मुखाद्योऽपि पराङ्मुख स्यात्पराङ्मुखे चाभिमुखत्वदीन।
पूर्वोपकारस्मरणालसो वा नराकृतिश्चिन्त्यविनिश्चय स॥ १५॥
असेवना चात्युपसेवना च याच्ञाभियोगाश्च दहन्ति मैत्रीम्।
रक्ष्यं यत प्रीत्यवशेषमेतन्निवासदोषादिति यामि तावत्॥ १६॥

राजोवाच—यद्यवश्यमेव गन्तव्यमिति निश्चितात्रभवतो मति, तत्पुनरपीदानीमिहागमनेनास्माननुग्रहीतुमर्हति भवान्। असेवनादपि हि प्रीतिरनुरक्षितव्यैव। बोधिसत्त्व उवाच—बह्वन्तरायो महाराज बहूपद्रवप्रत्यर्थिकत्वाल्लोकसनिवेश इति न शक्यमेतदवधारणया प्रतिज्ञातुमागमिष्यामीति। सति त्वागमनकारणसाकल्येऽपि नाम पुनर्भवन्तं पश्येम। इत्यनुनीय स महात्मा तं राजानं कृताभ्यनुज्ञासत्कारस्तेन राज्ञा तद्विषयात्प्रचक्राम। स तेन गृहिजनसंस्तवेनाकुलितहृदयोऽन्यतमदरण्यायतनमुपश्रित्य ध्यानाभियुक्तमतिस्तत्र विहरन्नचिरेणैव चत्वारि ध्यानानि पञ्चाभिज्ञा प्रतिलेभे।

तस्य समास्वादितप्रशमसुखरसस्य स्मृतिरनुकम्पानुसारिणी तं राजानं प्रति प्रादुरभूत्—का नु खलु तस्य राज्ञोऽवस्थेति। अथैनं ददर्श तैरमात्यैर्यथाभिनिविष्टानि दृष्टिगतानि प्रति प्रतार्यमाणम्। कश्चिदेनममात्यो दुर्विभाव्यहेतुभिर्निदर्शनैरहेतुवादं प्रति प्रचकर्ष—

क पद्मनालदलकेसरकर्णिकाना
सस्थानवर्णरचनामृदुतादिहेतु।
पत्राणि चित्रयति कोऽत्र पतत्रिणा वा
स्वाभाविकं जगदिदं नियतं तथैव॥ १७॥

अपर ईश्वरकारणमस्मै स्वबुद्धिरुचितमुपवर्णयामास—

नाकस्मिकं भवितुमर्हति सर्वमेत-
दस्त्यत्र सर्वमधि कश्चिदनन्त एक।
स्वेच्छाविशेषनियमाद्य इम विचित्रं
लोक करोति च पुनश्च समीकरोति॥ १८॥

सर्वमिद पूर्वकर्मकृतं सुखासुखम् । न प्रयत्नसामर्थ्यमस्तीत्येवमन्य एनं विग्राहयामास—

एवं करिष्यति कथं नु समानकालं
भिन्नाश्रयान् बहुविधानमिताश्च भावान् ।
सर्व तु पूर्वकृतकर्मनिमित्तमेतत्
सौख्यप्रयत्ननिपुणोऽपि हि दु खमेति ॥ १९ ॥

अपर उच्छेदवादकथाभिरेन कामभोगप्रसङ्ग एव प्रतारयामास—

दारूणि नैकविधवर्णगुणाकृतीनि
कर्मात्मकानि न भवन्ति भवन्ति चैव ।
नष्टानि नैव च यथा पुनरुद्भवन्ति
लोकस्तथायमिति साख्यपरायण स्यात् ॥ २० ॥

अपर एनं क्षत्रविद्यापरिदृष्टेषु नीतिकौटिल्यप्रसङ्गेषु नैर्घृण्यमलिनेषु धर्मविरोधिष्वपि राजधर्मोऽयमिति समनुशशास—

छायाद्रुमेष्विव नरेषु कृताश्रयेषु
तावत्कृतज्ञचरितै स्वयश परीप्सेत् ।
नार्थोऽस्ति यावदुपभोगनयेन तेषा
कृत्ये तु यज्ञ इव ते पशवो नियोज्या ॥ २१ ॥

इति तेऽमात्यास्तं राजानं तेन तेन दृष्टिकृतोन्मार्गेण नेतुमीषु ।

अथ बोधिसत्त्व पापजनसंपर्कवशात्परप्रत्ययनेयबुद्धित्वाच्च दृष्टिकृतप्रपाताभिमुखमवेक्ष्य राजानं तदनुकम्पासमावर्जितहृदयस्तन्निवर्तनोपायं विममर्श ।

गुणाभ्यासेन साधूना कृतं तिष्ठति चेतसि ।
भ्रश्यत्यपकृतं तस्माज्जल पद्मदलादिव ॥ २२ ॥

अथ बोधिसत्त्व इदमत्र प्राप्तकालमिति विनिश्चित्य स्वस्मिन्नाश्रमपदे महान्तं वानरमभिनिर्माय ऋद्धिप्रभावात्तस्य चर्मापनीय शेषमन्तर्धापयामास । स तन्निर्मितं महद्वानरचर्म बिभ्रत्तस्य नृपतेर्भवनद्वारे प्रादुरभूत् । निवेदिताभ्यागमनश्च दौवारिकैर्यथाक्रममायुधीयगुप्तपर्यन्तामामात्यद्विजयोधदूतपौरमुख्याभिकीर्णां विनीतधीरोदात्तवेषजना सामियष्टिभि प्रतीहारैरधिष्ठितप्रद्वाग सिहासनावस्थितनराधिपामनाकुला राजपर्षदमवजगाहे । प्रत्युद्गमनादिविधिना चातिथिजनोपचारेण प्रतिपूज्यमान कृतप्रतिसंमोदनकथासत्कारासनाभिनिर्हारश्च तेन राज्ञा कौतूहलानुवृत्त्या वानरचर्मप्रतिलम्भं प्रत्यनुयुक्त —केनेदमार्याय वानरचर्मोपनयता महतानुग्रहेणात्मा संयोजित इति ।

बोधिसत्त्व उवाच—मयैवेदं महाराज स्वयमधिगतं नान्येन केनचिदुपहृतम् । कुशतृणमात्रास्तीर्णाया हि पृथिव्या स्वभावकठिनाया निषण्णेन स्वपता वा प्रतप्यमानशरीरेण न सुखं धर्मविधिरनुष्ठीयते । अयं च मयाश्रमपदे महान् वानरो दृष्ट । तस्य मे बुद्धिरभवत्—उपपन्नं बत मे धर्मसाधनमिदमस्य वानरस्य चर्म । शक्यमत्र निषण्णेन स्वपता वा परार्ध्यास्तरणास्तीर्णेभ्यो राजशयनेभ्योऽपि निवृत्तस्पृहेण स्वधर्म-

विधिरनुष्ठातुमिति मया तस्येदं चर्म प्रगृहीतम्। स च प्रशमित इति। तच्छ्रुत्वा स राजा दाक्षिण्यविनयानुवृत्त्या न बोधिसत्त्वं किंचित्प्रत्युवाच। सव्रीडहृदयस्तु किंचिद-वाङ्मुखो बभूव।

अथ तेऽमात्या पूर्वमपि तस्मिन् महासत्त्वे मामर्षहृदया लब्धवचनावकाश-त्वात्प्रविकसितवदना राजानमुदीक्ष्य बोधिसत्त्वमुपदर्शयन्त ऊचु—अहो भगवतो धर्मानुरागैकरसा मति। अहो धैर्यम्। अहो व्यवसायसाधुसामर्थ्यम्। आश्रमपदम-भिगत एव महान्नाम वानर एकाकिना तप क्षामशरीरेण प्रशमित इत्याश्चर्यम्। सर्वथा तप सिद्धिरस्तु। अथैनानसंरब्ध एव बोधिसत्त्व प्रत्युवाच—नार्हन्त्यत्रभवन्त स्ववादशोभानिरपेक्षमित्यस्मान् विगर्हितुम्। न ह्ययं क्रमो विद्वद्यश समुद्भावयितुम्। पश्यन्त्वत्रभवन्त—

स्ववादघ्नेन वचसा य परान् विजुगुप्सते।
स खल्वात्मवधेनेव परस्याकीर्तिमिच्छति॥ २३॥

इति स महात्मा तानमात्यान् सामान्येनोपालभ्य प्रत्येकश॰ पुनरुपालब्धुकाम-स्तमहेतुवादिनमामन्त्र्योवाच—

स्वाभाविकं जगदिति प्रविकत्थसे त्वं
तत्त्वं च तद्यदि विकुत्सयसे किमस्मान्।
शाखामृगे निधनमापतिते स्वभावात्
पापं कुतो मम यत सुहतो मयायम्॥ २४॥
अथ पापमस्ति मम तस्य वधान्ननु हेतुतस्तदिति सिद्धमिदम्।
तदहेतुवादमिदमुत्सृज वा वद वात्र यत्तव न युक्तमिव॥ २५॥
यदि पद्मनालरचनादि च यत्तदहेतुक ननु सदैव भवेत्।
सलिलादिबीजकृतमेव तु तत् सति तत्र सभवति न ह्यसति॥ २६॥

अपि चायुष्मन्, सम्यगुपधार्य तावत्,

न हेतुरस्तीति वदन् सहेतुक ननु प्रतिज्ञा स्वयमेव हापयेत्।
अथापि हेतुप्रणयालसो भवेत् प्रतिज्ञया केवलयास्य किं भवेत्॥ २७॥
एकत्र क्वचिदनवेक्ष्य यश्च हेतु तेनैव प्रवदति सर्वहेत्वभावम्।
प्रत्यक्षं ननु तदवेत्य हेतुसारं तद्द्वेषी भवति विरोधदुष्टवाक्य॥ २८॥
न लक्ष्यते यदि कुहचिच्च कारणं कथं नु तद् दृढमसदेव भाषसे।
न दृश्यते सदपि हि कारणान्तराद्दिनात्यये विमलमिवार्कमण्डलम्॥ २९॥

ननु च भो,

सुखार्थमिष्टान् विषयान् प्रपद्यसे निषेवितुं नेच्छसि तद्विरोधिन।
नृपस्य सेवां च करोषि तत्कृते न हेतुरस्तीति च नाम भाषसे॥ ३०॥
तदेवमपि चेद्भावाननुपश्यस्यहेतुकान्।
अहेतोर्वानरवधे सिद्धे किं मा विगर्हसे॥ ३१॥

इति स महात्मा तमहेतुवादिनं विशदैर्हेतुभिर्निष्प्रतिभं कृत्वा तमीश्वरकार-

णिकमामन्त्र्योवाच—आयुष्मानप्यस्मान् नार्हत्येव विगर्हितुम् । ईश्वर सर्वस्य हि ते कारणमभिमत । पश्य—

कुरुते यदि सर्वमीश्वरो ननु तेनैव हत स वानर. ।
तव केयममैत्रचित्तता परदोषान् मयि यन्निषिञ्चसि ॥ ३२ ॥
अथ वानरवीरवैशसं न कृत तेन दयानुरोधिना ।
बृहदित्यवघुष्यते कथ जगत कारणमीश्वरस्त्वया ॥ ३३ ॥

अपि च भद्र सर्वमीश्वरकृतमिति पश्यत —

ईश्वरे प्रसादाशा का स्तुतिप्रणामाद्यै ।
स स्वयं स्वयभूस्ते यत्करोति तत्कर्म ॥ ३४ ॥
त्वत्कृताथ यदीज्या न स्वसौ तदकर्ता ।
आत्मनो हि विभूत्या य करोति स कर्ता ॥ ३५ ॥
ईश्वर कुरुते चेत्पापकान्यखिलानि ।
तत्र भक्तिनिवेश क गुण नु समीक्ष्य ॥ ३६ ॥
तान्यधर्मभयाद्वा यद्यय न करोति ।
तेन वक्तुमयुक्त सर्वमीश्वरसृष्टम् ॥ ३७ ॥
तस्य चेश्वरता स्याद्धर्मत परतो वा ।
धर्मतो यदि न प्रागीश्वर स ततोऽभूत् ॥ ३८ ॥
दासतैव च सा स्याद्या क्रियेत परेण ।
स्यादथापि न हेतु कस्य नेश्वरता स्यात् ॥ ३९ ॥

एवमपि तु गते भक्तिरागादविगणितयुक्तायुक्तस्य —

यदि कारणमीश्वर एव विभुर्जगतो निखिलस्य तवाभिमत ।
ननु नार्हसि मय्यधिरोपयितुं विहित विभुना कपिराजवधम् ॥ ४० ॥

इति स महात्मा तमीश्वरकारणिक सुश्लिष्टैर्हेतुभिर्मूकतामिवोपनीय त पूर्वकर्मकृतवादिनमामन्त्रणासौष्ठवेनाभिमुखीकृत्योवाच—भवानप्यस्मान्न शोभते विकुत्सयमान । सर्व हि ते पूर्वकर्मकृतमित्यभिमान । तेन च त्वा ब्रवीमि—

स्यात्सर्वमेव यदि पूर्वकृतप्रभावा-
च्छाखामृग. सुहत एव मयैष तस्मात् ।
दग्धे हि पूर्वकृतकर्मदवाग्निनास्मिन्
पापं किमत्र मम येन विगर्हसे माम् ॥ ४१ ॥

अथास्ति पापं मम वानरं घ्नत कृत मया तर्हि न पूर्वकर्मणा ।
यदीष्यते कर्म च कर्महेतुकं न कश्चिदेव सति मोक्षमेष्यति ॥ ४२ ॥
भवेच्च सौख्यं यदि दु खहेतुषु स्थितस्य दु ख सुखसाधनेषु वा ।
अतोऽनुमीयेत सुखासुख ध्रुव प्रवर्तते पूर्वकृतैकहेतुकम् ॥ ४३ ॥
न दृष्टमेव च यत सुखासुख न पूर्वकर्मैकमतोऽस्य कारणम् ।
भवेदभावश्च नवस्य कर्मणस्तदप्रसिद्धौ च पुरातनं कुत ॥ ४४ ॥

पूर्वकर्मकृत सर्वमथैवमपि मन्यसे।
वानरस्य वध कस्मान्मत्कृत परिकल्प्यते ॥ ४५ ॥

इति स महात्मा निरनुयोज्यैर्हेतुभिस्तस्य मानव्रतमिवोपदिश्य तमुच्छेदवादि स्मितपूर्वकमुवाच—आयुष्मन कोऽयमत्यादरोऽस्मद्विगर्हाया यदि तत्त्वमुच्छेदवा मन्यसे ?

लोक परो यदि न कश्चन कि विवर्ज्य
पापं शुभ प्रति च कि बहुमानमोह ।
स्वच्छन्दरम्यचरितोऽत्र विचक्षण स्या-
देवं गते सुहृत एव च वानरोऽयम् ॥ ४६ ॥

जनवादभयादथाशुभ परिवर्ज्य शुभमार्गसश्रयात् ।
स्ववच प्रतिलोमचेष्टितैर्जनवादानपि नातियात्ययम् ॥ ४७ ॥

स्वकृतान्तपथागत सुख न समाप्नोति च लोकशङ्कया ।
इति निष्फलवादविभ्रम परमोऽयं ननु बालिशाधम ॥ ४८ ॥

यदपि च भवानाह—

दारूणि नैकविधवर्णगुणाकृतीनि
कर्मात्मकानि न भवन्ति भवन्ति चैव ।
नष्टानि नैव च यथा पुनरुद्भवन्ति
लोकस्तथायमिति कोऽत्र च नाम हेतु ॥ ४९ ॥

उच्छेदवादवात्सल्यं स्यादेवमपि ते यदि ।
विगर्हणीय किं हन्ता वानरस्य नरस्य वा ॥ ५० ॥

इति स महासत्त्वस्तमुच्छेदवादिन विस्पष्टशोभेनोत्तरक्रमेण तूष्णीभावपरायण कृत्वा तं क्षत्रविद्याविदग्धममात्यमुवाच—भवानप्यस्मान् कस्मादिति विकुत्सयते यदि न्याय्यमर्थशास्त्रपरिदृष्ट विधि मन्यसे ?

अनुष्ठेय हि तत्रेष्टमर्थार्थ साध्वसाधु वा ।
अथोद्धृत्य किलात्मानमर्थैर्धर्म करिष्यते ॥ ५१ ॥

अतस्त्वा ब्रवीमि—

प्रयोजनं प्राप्य न चेदवेक्ष्य स्निग्धेषु बन्धुष्वपि साधुवृत्तम् ।
हते मया चर्मणि वानरेऽस्मिन् का शास्त्रदृष्टेऽपि नये विगर्हा ॥ ५२ ॥
दयावियोगादथ गर्हणीय कर्मेदृश दु खफल च दृष्टम् ।
यत्राभ्यनुज्ञातमिदं न तन्न्ते प्रपद्यसे केन मुखेन तत्त्वम् ॥ ५३ ॥
इयं विभूतिश्च नयस्य यत्र तत्रानय कीदृशविभ्रम स्यात् ।
अहो प्रगल्भै· परिभूय लोकमुन्नीयते शास्त्रपथैरधर्मः ॥ ५४ ॥
अदृष्टमेवाथ तवैतदिष्ट शास्त्रे किल स्पष्टपथोपदिष्टम् ।
शास्त्रप्रसिद्धेन नयेन गच्छन् न गर्हणीयोऽस्मि कपेर्वधेन ॥ ५५ ॥

इति स महात्मा जितपर्षत्कान् परिचितप्रागल्भ्यानपि च तानमात्यान् प्रसह्याभिभूय समावर्जितहृदया च सराजिका पर्षदमवेत्य तेषा वानरवधहृल्लेखविनयनार्थं

राजानमाबभाषे—नैव च खल्वहं महाराज प्राणिनं वानरं हतवान्। निर्माणविधिरयम्। निर्मितस्य हि वानरस्येदं चर्म मया गृहीतमस्यैव कथाक्रमस्य प्रस्तावार्थम्। तदलं मामन्यथा प्रतिग्रहीतुम्। इत्युक्त्वा तमृद्ध्याभिसंस्कारं प्रतिसंहृत्य परया च मात्रया-भिप्रसादितमानसं राजानं सपर्यङ्कमवेत्योवाच—

संपश्यन् हेतुतः सिद्धिं स्वतन्त्रः परलोकवित्।
साधुप्रतिज्ञः सघृणः प्राणिनं को हनिष्यति॥ ५६॥

पश्य महाराज,

अहेतुवादी परतन्त्रदृष्टिरनास्तिकः क्षत्रनयानुगो वा।
कुर्यान्न यन्नाम यशोऽनवार्यं नत्न्यायवादी कथमभ्युपेयात्॥ ५७॥
दृष्टिर्नरश्रेष्ठ शुभाशुभा वा समागकर्मप्रतिपत्तिहेतुः।
दृष्ट्यन्वयं हि प्रविकल्प्य तत्तद्वाग्भिः क्रियाभिश्च विदर्शयन्ति॥ ५८॥
सद्दृष्टिरस्माच्च निषेवितव्या त्याज्या त्वसद्दृष्टिरनर्थवृष्टिः।
लभ्यश्च सत्संश्रयिणा क्रमोऽयमसज्जनाद्दूरचरेण भूत्वा॥ ५९॥
असंयता संयतवेषधारिणश्चरन्ति कामं भुवि भिक्षुराक्षसाः।
विनिर्दहन्त खलु बालिशं जनं कुदृष्टिभिर्दृष्टिविषा इवोरगाः॥ ६०॥
अहेतुवादादिविरुक्षवाशिनः शृगालवत्तत्त्व विशेषलक्षणम्।
अतो न नानर्हति सेवितुं बुधश्चरेत्तदर्थं तु पराक्रमे मतिः॥ ६१॥
लोके विरूढयशसापि तु नैव कार्या कार्यार्थमप्यसदृशेन जनेन मैत्री।
हेमन्तदुर्दिनसमागमदूषितो हि सौभाग्यहानिमुपयाति निशाकरोऽपि॥ ६२॥
तद्वर्जनाद् गुणविवर्जयितुर्जनस्य ससेवनाच्च गुणसेवनपण्डितस्य।
स्वां कीर्तिमुज्ज्वलय संजनयन् प्रजानां दोषानुरागविलयं गुणसौहृदं च॥ ६३॥

त्वयि च चरति धर्मं भूयसायं नृलोकः
सुचरितसुमुखः स्यात्स्वर्गमार्गप्रतिष्ठः।
जगदिदमनुपाल्य चैवमभ्युद्यमस्ते
विनयरुचिरमार्गं धर्ममस्माद्भजस्व॥ ६४॥
शीलं विशोधय समर्जय दातृकीर्तिं
मैत्रं मनः कुरु जने स्वजने यथैव।
धर्मेण पालय महीं चिरमप्रमादा-
देवं समेष्यसि सुखं त्रिदिवं यशश्च॥ ६५॥
कृषिप्रधानान् पशुपालनोद्यतान्
महीरुहान् पुष्पफलान्वितानिव।
अपालयज्ञानपदान् बलिप्रदान्
नृपो हि सर्वौषधिभिर्विरुध्यते॥ ६६॥
विचित्रपण्यक्रयविक्रयाश्रयं
वणिग्जनं पौरजनं तथा नृप।

न पाति य शुल्कपथोपकारिण
विरोधमायाति स कोशसपदा ।। ६७ ।।
अदृष्टदोपं युधि दृष्टविक्रम
तथा वल य प्रथितास्त्रकौशलम् ।
विमानयेद् भूपतिरध्युपेक्षया
ध्रुव विरुद्ध स रणे जयश्रिया ।। ६८ ।।
तथैव शीलश्रुतयोगसाधुषु प्रकाशमाहात्म्यगुणेपु साधुषु ।
चरन्नवज्ञामलिनेन वर्त्मना नराधिप स्वर्गसुखैर्विरुध्यते ।। ६९ ।।
द्रुमाद्यथाम प्रचिनोति य फल स हन्ति बीजं न रसं च विन्दति ।
अधर्म्यमेव बलिमुद्धरन्नृप क्षिणोति देशं न च तेन नन्दति ।। ७० ।।
यथा तु संपूर्णगुणो महीरुह फलोदय पाकवशात्प्रयच्छति ।
तथैव देश क्षितिपाभिरक्षितो युनक्ति धर्मार्थसुखैर्नराधिपम् ।। ७१ ।।
हितानमात्यान्निपुणार्थदर्शिन शुचीनि मित्राणि जनं स्वमेव च ।
बधान चेतस्सु तदिष्टया गिरा धनैश्च संमाननयोपपादितै ।। ७२ ।।
तस्माद्धर्म त्व पुरस्कृत्य नित्य श्रेय प्राप्तौ युक्तचेता प्रजानाम् ।
रागद्वेपोन्मुक्तया दण्डनीत्या रक्षँल्लोकानात्मनो रक्ष लोकान् ।। ७३ ।।

इति स महात्मा तं राजानं दृष्टिकृतकापथाद्विवेच्य समवतार्य च सन्मार्गं सपर्षत्कं तत एव गगनतलं समुत्पत्य प्राञ्जलिना तेन जनेन सबहुमानप्रणतेन प्रत्यर्च्यमानस्तदेवारण्यायतनं प्रतिजगाम ।

तदेवमसत्कृतानामपि सत्पुरुपाणा पूर्वोपकारिष्वनुकम्पा न शिथिलीभवति कृतज्ञत्वात्क्षमामात्म्याच्च । इति नासत्कारमात्रकेण पूर्वकृतं विस्मर्तव्यम् । एवं स भगवाननभिसंबुद्धोऽपि परवादानभिभूय सत्त्वविनय कृतवानिति बुद्धवर्णेऽपि वाच्यम् । एवं मिथ्यादृष्टिरननुयोगक्षमानुपाश्रयत्वादसेव्या चेति मिथ्यादृष्टिविगर्हायामप्युपनेयम् । विपर्ययेण सम्यग्दृष्टिप्रशंसायामिति ।

।। इति महाबोधि-जातक त्रयोविंशतितमम् ।

---

२४ महाकपि-जातकम

नात्मदु खेन तथा सन्त मनप्यन्ते यथापकारिणा कुशलपक्षहान्या । तद्यथानुश्रूयते—

बोधिसत्त्व किल श्रीमति हिमवत्पार्श्वे विविधधातुरुचिरचित्राङ्गरागे नीलकौशेयप्रावारकृतोत्तरासङ्ग इव वनगहनलक्ष्म्या प्रयत्नरचितैरिवानेकवर्णसंस्थानविकल्पैर्वैषम्यभक्तिचित्रैर्विभूषिततटान्तदेशे प्रविसृतनैकप्रस्रवणजले गम्भीरकन्दरान्तरप्रपातसंकुले पटुतरमधुकरनिनादे मनोज्ञमारुतोपवीज्यमानविचित्रपुष्पफलपादपे विद्याधराक्रीडभूते महाकाय कपिरेकचरो बभूव । तदवस्थमपि चैनमपरिलुप्तधर्मसंज्ञं कृतज्ञमक्षुद्रस्वभावं धृत्या महत्या समन्वितमनुरागवशादिव करुणा नैव मुमोच ।

सकानना साद्रिवरा ससागरा गता विनाशं शतशो वसुंधरा ।
युगान्तकाले सलिलानलानिलैर्न बोधिसत्त्वस्य महाकृपालुता ॥ १ ॥

अथ स महात्मा तापस इव वनतरुपर्णफलमात्रवृत्तिरनुकम्पमानस्तेन तेन विधिना गोचरपतितान् प्राणिनस्तमरण्यप्रदेशमध्यावसति स्म ।

अथान्यतमः पुरुषो गां प्रनष्टामन्वेषितुं कृतोद्योगः समन्ततोऽनुविचरन् मार्गात्प्रनष्टो दिग्भागसंमूढमतिः परिभ्रमंस्तं देशमुपजगाम । स क्षुत्पिपासाघर्मश्रमपरिम्लानतनुर्दौर्मनस्यवह्निना चान्तः प्रदीप्यमानो विषादातिभारादिवान्यतमस्मिन् वृक्षमूले निषण्णो ददर्श परिपाकवशाद्विच्युतानि परिपिञ्जराणि कतिचित्तिन्दुकीफलानि । स तान्यास्वाद्य क्षुत्परिक्षामतया परमस्वादूनि मत्वा तत्प्रभवान्वेषणप्रत्यभिवृद्धोत्साहः समन्ततोऽनुविलोकयन् ददर्श प्रपाततटान्तविरूढं परिपक्वफलानमितपिञ्जराग्रशाखं तिन्दुकीवृक्षम् । स तत्फलतृष्णयाकृष्यमाणस्तं गिरितटमधिरुह्य तस्य तिन्दुकीवृक्षस्य फलिनीं शाखां प्रपाताभिनतामध्यारुरोह फललोभेन चास्याः प्रान्तमुपजगाम ।

शाखाथ सा तस्य महीरुहस्य भारातियोगान्नमिता कृशत्वात् ।
परश्वधेनेव निकृत्तमूला सशब्दभङ्गं सहसा पपात ॥ २ ॥

स तया सार्धं महति गिरिदुर्गे समन्ततः शैलभित्तिपरिक्षिप्ते कूप इव न्यपतत् । पर्णसंचयगुणात्त्वस्य गाम्भीर्याच्च सलिलस्य न किंचिदङ्गमभज्यत । स तस्मादुत्तीर्य सलिलात्समन्ततः परिसर्पन्न कुतश्चिदुत्तरणमार्गं ददर्श । स निष्प्रतीकारं मर्तव्यमिह मया नचिरादिति विस्रस्यमानजीविताशः शोकाश्रुपरिषिक्तदीनवदनस्तीव्रेण दौर्मनस्यशल्येन प्रतुद्यमानः कातरहृदयस्तत्तदातिवशाद् विललाप ।

कान्तारे दुर्गेऽस्मिञ्जनसंपातरहिते निपतितं माम् ।
यत्नादपि परिमृगयन् मृत्योरन्यः क इव पश्येत् ॥ ३ ॥
बन्धुजनमित्रवर्जितमेकनिपातीकृतं मशकसंघैः ।
अवपाताननमग्नं मृगमिव कोऽभ्युद्धरिष्यति माम् ॥ ४ ॥
उद्यानकाननविमानसरिद्विचित्रं
तारावकीर्णमणिरत्नविराजिताभ्रम् ।
तामिस्रपक्षरजनीव घनान्धकारा
कष्टं जगन्मम तिरस्कुरुतेऽन्तरात्रिः ॥ ५ ॥

इति स पुरुषस्तत्तद्विलपंस्तेन सलिलेन तैश्च सहनिपतितैस्तिन्दुकफलैर्वर्तयमानः कतिचिद्दिनानि तत्रावसत् ।

अथ स महाकपिराहारहेतोस्तद्वनमनुविचरन्नाहूयमान इव मारुताकम्पिताभिस्तस्य तिन्दुकीवृक्षस्याग्रशाखाभिस्तं प्रदेशमभिजगाम । अभिरुह्य चैनं तत्प्रपातमवलोकयन् ददर्श तं पुरुषं क्षुत्परिक्षामनयनवदनं परिपाण्डुकृशदीनगात्रं पर्युत्सुकं तत्र विचेष्टमानम् । स तस्य परिद्यूनतया समावर्जितानुकम्पो महाकपिर्निक्षिप्ताहारव्यापारस्तं पुरुषं प्रततं वीक्षमाणो मानुषीं वाचमुवाच—

मानुषाणामगम्येऽस्मिन् प्रपाते परिवर्तसे ।
वक्तुमर्हसि तत्साधु को भवानिह वा कुत ॥ ६ ॥

अथ स पुरुषस्त महाकपिमार्ततया समभिप्रणम्योद्वीक्षमाण साञ्जलिरुवाच—

मानुषोऽस्मि महाभाग प्रनष्टो विचरन् वने ।
फलार्थी पादपादस्मादिमामापदमागमम् ॥ ७ ॥
तत्सुहृद्बन्धुहीनस्य प्राप्तस्य व्यसन महत् ।
नाथ वानरयूथाना ममापि शरणं भव ॥ ८ ॥

तच्छ्रुत्वा स महासत्त्व परा करुणामुपजगाम ।

आपद्गतो बन्धुसुहृद्विहीन कृताञ्जलिर्दीनमुदीक्षमाण ।
करोति शत्रूनपि सानुकम्पानाकम्पयत्येव तु सानुकम्पान् ॥ ९ ॥

अथैनं बोधिसत्त्व करुणायमाणस्तत्कालदुर्लभेन स्निग्धेन वचसा समाश्वासयामास—

प्रपातसक्षिप्तपराक्रमोऽहमबान्धवो वेति कृथा शुचं मा ।
यद्बन्धुकृत्यं तव किंचिदत्र कर्तास्मि तत्सर्वमलं भयेन ॥ १० ॥

इति स महासत्त्वस्त पुरुषमाश्वास्य ततश्चास्मै तिन्दुकान्यपराणि च फलानि समुपहृत्य तदुद्धरणयोग्यया पुरुषभारगुर्व्या शिलयान्यत्र योग्या चकार । ततश्चात्मनो बलप्रमाणमवगम्य शक्तोऽहमेनमेतस्मात्प्रपातादुद्धर्तुमिति निश्चितमतिरवतीर्य प्रपातं करुणया परिचोद्यमानस्तं पुरुषमुवाच—

एहि पृष्ठं ममारुह्य सुलग्नोऽस्तु भवान् मयि ।
यावदभ्युद्धरामि त्वा स्वदेहात्सारमेव च ॥ ११ ॥
असारस्य शरीरस्य सारो ह्येष मत सताम् ।
यत्परेषा हितार्थेषु साधनीक्रियते बुधै ॥ १२ ॥

स तथेति प्रतिश्रुत्याभिप्रणम्य चैनमध्यारुरोह ।

अथाभिरूढ स नरेण तेन भारातियोगेन विहन्यमान ।
सत्त्वप्रकर्षादविपन्नधैर्य परेण दु खेन तमुज्जहार ॥ १३ ॥
उद्धृत्य चैनं परमप्रतीत खेदात्परिव्याकुलखेलगामी ।
शिलातलं तोयधराभिनीलं विश्रामहेतो शयनीचकार ॥ १४ ॥

अथ बोधिसत्त्व शुद्धस्वभावतया कृतोपकारत्वाच्च तस्मात्पुरुषादपायनिराशङ्को विस्रम्भादेनमुवाच—

अव्याहतव्यालमृगप्रवेशे वनप्रदेशेऽत्र समन्तमार्गे ।
खेदप्रसुप्तं सहसा निहन्ति कश्चित्पुरा मा स्वहितोदयं च ॥ १५ ॥
यतो भवान् दिक्षु विकीर्णचक्षु करोतु रक्षा मम चात्मनश्च ।
दृढं श्रमेणास्मि परीतमूर्तिस्ततस्वप्तुमिच्छामि मुहूर्तमात्रम् ॥ १६ ॥

अथ स मिथ्याविनयप्रगल्भ —स्वपितु भवान् यथाकामं सुखप्रबोधाय, स्थितोऽहं त्वत्संरक्षणायेत्यस्मै प्रतिशुश्राव । अथ स पुरुषस्तस्मिन् महासत्त्वे श्रमबलान्निद्रावशमुपगते चिन्तामशिवामापेदे—

मूलैः प्रयत्नातिशयाधिगम्यैर्वन्यैर्यदृच्छाधिगतैः फलैर्वा ।
एवं परिक्षीणतनो कथं स्याद्यात्रापि तावत्कुत एव पुष्टिः ॥ १७ ॥
इदं च कान्तारममुप्रतारं कथं तरिष्यामि बलेन हीनः ।
पर्याप्तरूपं त्विदमस्य मांसं कान्तारदुर्गोत्तरणाय मे स्यात् ॥ १८ ॥
कृतोपकारोऽपि च भक्ष्य एव निसर्गयोग्यः न हि तादृशोऽस्य ।
आपत्प्रसिद्धश्च किलैप धर्मः पाथेयतामित्युपनेय एप ॥ १९ ॥
यावच्च विस्रम्भसुखप्रसुप्तस्तावन्मया शक्यमयं निहन्तुम् ।
इमं हि युद्धाभिमुखं समेत्य सिंहोऽपि सम्भाव्यपराजयः स्यात् ॥ २० ॥

तन्नायं विलम्बितुं मे काल इति विनिश्चित्य स दुरात्मा लोभदोषव्यामोहितमतिरकृतज्ञो विपन्नधर्मसंज्ञः प्रनष्टकारुण्यसौम्यस्वभावः परिदुर्बलोऽप्यकार्यातिरागात्महती शिलामुद्यम्य तस्य महाकपेः शिरसि मुमोच ।

शिलाथ सा दुर्बलविह्वलेन कार्यातिरागात्त्वरितेन तेन ।
अत्यन्तनिद्रोपगमाय मुक्ता निद्राप्रवासाय कपेर्बभूव ॥ २१ ॥
सर्वात्मना सा न समाससाद मूर्धानमस्मान्न विनिष्पिपेष ।
कोट्येकदेशेन तु तं रुजन्ती शिलातले मार्गनिवत्पपात ॥ २२ ॥
शिलाभिघातादवभिन्नमूर्धा वेगादवप्लुत्य च बोधिसत्त्वः ।
केनाहतोऽस्मीति ददर्श नान्यं तमेव तु ह्रीतमुखं ददर्श ॥ २३ ॥
वैलक्ष्यपीतप्रभमप्रगल्भं विषाददैन्यात्परिभिन्नवर्णम् ।
त्रासोदयादागतकण्ठशोषं स्वेदार्द्रमुद्वीक्षितुमप्यशक्तम् ॥ २४ ॥

अथ स महाकपिरस्यैव तत्कर्मेति निश्चितमतिः स्वमभिघातदुःखमचिन्तयित्वा तेन तस्यात्महितनिरपेक्षेणातिकष्टेन कर्मणा समुपजातसंवेगकारुण्यः परित्यक्तक्रोधसंरम्भदोषः सबाष्पनयनस्तं पुरुषमवेक्ष्य समनुशोचन्नुवाच—

मानुषेण सता भद्र त्वयेदं कृतमीदृशम् ।
कथं नाम व्यवसितं प्रारब्धं कथमेव वा ॥ २५ ॥
मदभिद्रोहसंरब्धं त्वं नामापतितं परम् ।
विनिवारणशौटीरविक्रमो रोद्धुमर्हसि ॥ २६ ॥
दुष्करं कृतवानस्मीत्यभून्मानोन्नतिर्मम ।
त्वयापविद्धा सा दूरमतिदुष्करकारिणा ॥ २७ ॥
परलोकादिवानीतो मृत्योर्वक्त्रान्तरादिव ।
प्रपातादुद्धृतोऽन्यस्मादन्यत्र पतितो ह्यसि ॥ २८ ॥
धिगहो बत दुर्वृत्तमज्ञानमतिदारुणम् ।
यत्पातयति दुःखेषु सुखाशाकृपणं जगत् ॥ २९ ॥
पातितो दुर्गतावात्मा क्षिप्तः शोकानलो मयि ।
निमीलिता यशोलक्ष्मीर्गुणमैत्री विरोधिता ॥ ३० ॥
गत्वा धिग्वादलक्षत्वं हता विश्वसनीयता ।
का नु खल्वर्थनिष्पत्तिरेवमाकाङ्क्षिता त्वया ॥ ३१ ॥

दुनोति मा नैव तथा त्वियं रुजा
यथैतदेवात्र मन क्षिणोति माम् ।
गतोऽस्मि पापे तव यन्निमित्तता
न चाहमेनस्तदपोहितुं प्रभु ॥ ३२ ॥
सदृश्यमानवपुरेव तु पार्श्वतो मा
तत्साध्वनुव्रज दृढं ह्यसि शङ्कनीय ।
यावद्बहुप्रतिभयाद्गहनादितस्त्वा
ग्रामान्तपद्धतिमनुप्रतिपादयामि ॥ ३३ ॥
एकाकिनं क्षामशरीरकं त्वा मार्गानभिज्ञं हि वने भ्रमन्तम् ।
कश्चित्समासाद्य पुरा करोति त्वत्पीडनाद्व्यर्थपरिश्रम माम् ॥ ३४ ॥

इति स महात्मा त पुरुषमनुशोचञ्जनान्तमानीय प्रतिपाद्य चैनं तन्मार्ग पुनरुवाच—

प्राप्तो जनान्तमसि कान्त वनान्तमेतन्
कान्तारदुर्गभयमुत्सृज गच्छ साधु ।
पाप च कर्म परिवर्जयितु यतेथा
दु खो हि तस्य नियमेन विपाककाल ॥ ३५ ॥

इति स महाकपिस्त पुरुषमनुकम्पया शिष्यमिवानुशिष्य तमेव वनप्रदेशं प्रतिजगाम ।

अथ स पुरुषस्तदतिकष्ट पाप कृत्वा पश्चात्तापवह्निना सम्प्रदीप्यमानचेता महता कुष्ठव्याधिना रूपान्तरमुपनीत किलासचित्रच्छवि प्रभिद्यमानव्रणविस्रवार्द्रगात्र परमदुर्गन्धशरीरः सद्य समपद्यत । स य य देशमभिजगाम ततस्तत एवैनमति-बीभत्सविकृतनरदर्शन मानुष इत्यश्रद्धेयरूपं भिन्नदीनस्वरमभिवीक्ष्य पुरुषा साक्षादय पाप्मेति मन्यमाना समुद्यतलोष्टदण्डा निर्भर्त्सनपरुषवचस प्रवासयामासु । अथैन-मन्यतमो राजा मृगयामनुविचरन् प्रेतमिवारण्ये परिभ्रमन्त प्रक्षीणमलिनवसन नातिप्रच्छन्नकौपीनमतिदुर्दर्शनमभिवीक्ष्य समाध्वसकौतूहल पप्रच्छ—

विरूपिततनु कुष्ठै किलासशबलच्छवि ।
पाण्डु कृशतनुर्दीनो रजोरूक्षशिरोरुह ॥ ३६ ॥
कस्त्व प्रेत पिशाचो वा मूर्त पाप्माथ पूतन ।
अनेकरोगसंघात कतमो वासि यक्ष्मणाम् ॥ ३७ ॥

स त दीनेन कण्ठेन समभिप्रणमन्नुवाच—मानुषोऽस्मि महाराज, नामानुष इति । तत्कथमिमामवस्थामनुप्राप्तोऽसीति च पर्यनुयुक्तो राज्ञा तदस्मै स्व दुश्चरितमा-विष्कृत्योवाच—

मित्रद्रोहस्य तस्येदं पुष्प तावदुपस्थितम् ।
अत कष्टतर व्यक्तं फलमन्यद्भविष्यति ॥ ३८ ॥
तस्मान्मित्रेष्वभिद्रोहं शत्रुवद् द्रष्टुमर्हसि ।
भावस्निग्धमवेक्षस्व भावस्निग्धं सुहृज्जनम् ॥ ३९ ॥

मित्रेष्वमित्रचरितं परिगृह्य वृत्त-
मेवविधा ममुपयान्ति दशामिहैव ।
लोभादिदोषमलिनीकृतमानमाना
मित्रद्रुहा गतिरत परतोऽनुमेया ॥ ४० ॥

वात्सल्यसौम्यहृदयस्तु सुहृत्सु कीर्ति
विश्वासभावमुपकारसुखं च तेभ्य. ।
प्राप्नोति सततिगुण मनस प्रहर्ष
दुर्धर्षता च रिपुभिस्त्रिदशालय च ॥ ४१ ॥

इम विदित्वा नृप मित्रपक्षे प्रभावसिद्धी सदसत्प्रवृत्त्यो ।
भजस्व मार्ग सुजनाभिपन्न तेन प्रयानननुयाति भूति ॥ ४२ ॥

तदेव नात्मदु खेन तथा सन्त सतप्यन्ते यथापकारिणा कुशलपक्षहान्या । इति तथागतमाहात्म्ये वाच्यम् । सत्कृत्य धर्मश्रवणे क्षान्तिकथाया मित्रानभिद्रोहे पापकर्मादीनवप्रदर्शने चेति ।

इति महाकपि-जातक चतुर्विंशतितमम् ।

---

२५ शरभ-जातकम्

जिघासुमप्यापद्गतमनुकम्पन्त एव महाकारुणिका नोपेक्षन्ते । तद्यथानुश्रूयते—

बोधिसत्त्व किलान्यतमस्मिन्नरण्यवनप्रदेशे निर्मानुषसपातनीरवे विविधमृगकुलाधिवासे तृणगहननिमग्नमूलवृक्षक्षुपबहुले पथिकयानवाहनचरणैरविन्यस्तमार्गसीमान्तलेखे सलिलमार्गवल्मीकश्वभ्रविषमभूभागे बलजववर्णसत्त्वसपन्न संहननवत्कायोपपन्न शरभो मृगो बभूव । स कारुण्याभ्यासादनभिद्रुग्धचित्त सत्त्वेषु तृणपर्णसलिलमात्रवृत्ति सतोषगुणादरण्यवासनिरतमति प्रविवेककाम इव योगी तमरण्यप्रदेशमभ्यलंचकार ।

मृगाकृतिर्मानुषधीरचेतास्तपस्विवत्प्राणिषु सानुकम्प ।
चचार तस्मिन् स वने विविक्ते योगीव सतुष्टमतिस्तृणाग्रै ॥ १ ॥

अथ कदाचिदन्यतमो राजा तस्य विषयस्याधिपतिस्तुरगवराधिरूढ सज्यचापबाणव्यग्रपाणिर्मृगेष्वस्त्रकौशलमात्मनो जिज्ञासमान सरागवशाज्जवेन मृगाननुपतन्नुत्तमजवेन वाजिना दूरादपसृतहस्त्यश्वरथपदातिकायस्त प्रदेशमुपजगाम । दूरादेव चालोक्य त महासत्त्व हन्तुमुत्पतितनिश्चय समुत्कृष्टनिशितसायको यतः स महात्मा तेन तुरगवरं सचोदयामास । अथ बोधिसत्त्व समालोक्यैव तुरगवरगतं सायुधमभिपतन्तं तं राजान शक्तिमानपि प्रत्यवस्थातुं निवृत्तसाहससंरम्भत्वात्परेण जवातिशयेन समुत्पपात । सोऽनुगम्यमानस्तेन तुरंगमेणानुमार्गागतं महच्छ्वभ्रं गोष्पदमिव जवेन लङ्घयित्वा प्रदुद्राव । अथ तुरगवरस्तेनैव मार्गेण त शरभमनुपतन्नुत्तमेन जवप्रमाणेन तच्छ्वभ्रमासाद्य लङ्घयितुमनध्यवसितमति सहसा व्यतिष्ठत ।

अथाश्वपृष्ठादुद्गीर्ण सायुध स महीपति. ।
पपात महति श्वभ्रे दैत्ययोध इवोदधौ ॥ २ ॥

निबद्धचक्षु शरभे स तस्मिन् सल्लक्षयामास न तं प्रपातम् ।
विस्रम्भदोषाच्चलितासनोऽथ द्रुताश्ववेगोपरमात्पपात ॥ ३ ॥

अथ बोधिसत्त्वस्तुरगखुरशब्दप्रशमात्कि नु खलु प्रतिनिवृत्त स्यादयं राजेति समुत्पन्नवितर्क पश्चादावर्जितवदन ममालोकयन् ददर्श तमश्वमनारोहकं तस्मिन् प्रपातोद्देशेऽवस्थितम् । तस्य बुद्धिरभवत्—नियतमत्र प्रपाते निपतितः स राजा । न ह्यत्र किंचिद्विश्रमहेतो संश्रयणीयरूप घनप्रच्छायं वृक्षमूलमस्ति नीलोत्पलदलनील-विमलसलिलमवगाहयोग्यं वा सर । न चैव व्यालमृगानुविचरितमरण्यवनमवगाढेन यत्र क्वचिदुपसृज्य तुरगवर विश्रम्यते मृगया वानुष्ठीयते । न चात्र किंचित्तृणगहन-मपि तद्विधं यत्र निलीन स्यात् । तद्व्यक्तमत्र श्वभ्रे निपतितेन तेन राज्ञा भवितव्य-मिति । तत स महात्मा निश्चयमुपेत्य वधकेऽपि तस्मिन् परा करुणामुपजगाम ।

अद्यैव चित्रध्वजभूषणेन विभ्राजमानावरणायुधेन ।
रथाश्वपत्तिद्विरदाकुलेन वादित्रचित्रध्वनिना बलेन ॥ ४ ॥
कृतानुयात्रो रुचिरातपत्र परिस्फुरच्चामरहारशोभ ।
देवेन्द्रवत्प्राञ्जलिभिर्जनौघैरभ्यर्चितो राजसुखान्यवाप्य ॥ ५ ॥
अद्यैव मग्नो महति प्रपाते निपातवेगादभिरुग्णगात्र ।
मूर्छान्वित शोकपरायणो वा कष्ट बत क्लेशमयं प्रपन्न ॥ ६ ॥
किणाङ्कितानीव मनासि दुःखैर्न हीनवर्गस्य तथा व्यथन्ते ।
अदृष्टदुःखान्यतिसौकुमार्याद्यथोत्तमाना व्यसनागमेषु ॥ ७ ॥

न चायमत शक्ष्यति स्वयमुत्तर्तुम् । यद्यपि सावशेषप्राणस्तन्नायमुपेक्षितुं युक्तमिति वितर्कयन् स महात्मा करुणया समाकृष्यमाणहृदयस्त प्रपाततटान्त-मुपजगाम । ददर्श चैन तत्र रेणुसंसर्गान्मृदितचारबाणशोभं व्याकुलितोष्णीष-वसनसंनाह प्रपातपतननिघातसंजनिताभिर्वेदनाभिरापीड्यमानहृदयमापतितवैतान्यं विचेष्टमानम् ।

दृष्ट्वाथ त तत्र विचेष्टमान नराधिप बाष्पपरीतनेत्र ।
कृपावशाद्विस्मृतशत्रुसंज्ञस्तद्दुःखसामान्यमुपाजगाम ॥ ८ ॥
उवाच चैनं विनयाभिजातमुद्भावयन् साधुजनस्वभावम् ।
आश्वासयन् स्पष्टपदेन साम्ना शिष्टोपचारेण मनोहरेण ॥ ९ ॥
कच्चिन्महाराज न पीडितोऽसि प्रपातपातालमिद प्रपन्न ।
कच्चिन्न ते विक्षतमत्र गात्र कच्चिद्रुजस्ते तनुता गच्छन्ति ॥ १० ॥
नामानुषश्चास्मि मनुष्यवर्य मृगोऽप्यहं त्वद्विषयान्तवासी ।
वृद्धस्त्वदीयेन तृणोदकेन विस्रम्भमित्यर्हसि मय्युपेतुम् ॥ ११ ॥
प्रपातपातादधृतिं च मा गा शक्तोऽहमुद्धर्तुमितो भवन्तम् ।
विस्रम्भितव्यं मयि मन्यसे चेत्तत्क्षिप्रमाज्ञापय यावदैमि ॥ १२ ॥

अथ स राजा तेन तस्याद्भुतेनाभिव्याहारेण विस्मयावर्जितहृदय संजाय-मानव्रीडो नियतमिति चिन्तामापेदे—

दृष्टावदाने द्विपति का नामास्य दया मयि।
मम त्विप्रतिपत्तिश्च केयमस्मिन्ननागसि ॥ १३ ॥
अहो मधुरतीक्ष्णेन प्रत्यादिष्टोऽस्मि कर्मणा।
अहमेव मृगो गौर्वा कोऽप्ययं शरभाकृति ॥ १४ ॥

तदर्हत्ययं प्रणयप्रतिग्रहसपूजनमिनि विनिश्चित्यैनमुवाच -

वारबाणावृतमिद गात्र मे नातिविक्षतम्।
प्रपातनिष्पेषकृता सह्या एव च मे रुज ॥ १५ ॥
प्रपातपतनक्लेशान्न त्वह पीडि स्तथा।
इति कल्याणहृदये त्वयि प्रस्खलनाद्यथा ॥ १६ ॥
आकृतिप्रत्ययाद्यच्च दृष्टोऽसि मृगवन्मया।
अविज्ञाय स्वभाव ते तच्च मा हृदये कृथा. ॥ १७ ॥

अथ शरभस्तस्य राज्ञ प्रीतिसूचकेन तेनाभिव्याहारेणानुमतमुद्धरणमवेत्य पुरुषभारगुर्व्या शिलया तदुद्धरणयोग्या कृत्वा विदितात्मवलप्रमाणस्त नृपतिमुद्धर्तुं व्यवसितमतिरवतीर्य त प्रपातं सविनयमभिगम्योवाच—

मद्गात्रसंस्पर्शमिमं मुहूर्त कार्यानुरोधात्त्वमनुक्षमस्व।
यावत्करोमि स्वहिताभिपत्त्या प्रीतिप्रमादाभिमुख मुखं ते ॥ १८ ॥

तदारोहतु मत्पृष्ठ महाराज सुलग्नश्च मयि भवत्विति। स तथेति प्रतिश्रुत्यैनमश्ववदारुरोह।

तत समभ्युन्नतपूर्वकायस्तेनाधिरूढ स नराधिपेन।
समुत्पतन्नुत्तमसत्त्ववेग· खे तोरणव्यालकवद् बभासे ॥ १९ ॥
उद्धृत्य दुर्गादथ तं नरेन्द्रं प्रीत समानीय तुरंगमेण।
निवेद्य चास्मै स्वपुराय मार्ग वनप्रयाणाभिमुखो बभूव ॥ २० ॥

अथ स राजा कृतज्ञत्वात्तेन तस्य विनयमधुरेणोपचारेण समावर्तितहृदय· संपरिष्वज्य शरभमुवाच—

प्राणा अमी मे शरभ त्वदीया प्रागेव यत्रास्ति मम प्रभुत्वम्।
तदर्हसि द्रष्टुमिदं पुरं मे सत्या रुचौ तत्र च तेऽस्तु वास ॥ २१ ॥
व्याधाभिकीर्णे सभये वनेऽस्मिन् शीतोष्णवर्षाद्युपसर्गदु खे।
हित्वा भवन्त मम नन्वयुक्तमेकस्य गेहाभिमुखस्य गन्तुम् ॥ २२ ॥

तदेहि गच्छाव इति। अथैन बोधिसत्त्व सविनयमधुरोपचार सराधयन् प्रत्युवाच—

भवद्विधेष्वेव मनुष्यवर्य युक्त क्रमोऽयं गुणवत्सलेषु।
अभ्यासयोगेन हि सज्जनस्य स्वभावतामेव गुणा व्रजन्ति ॥ २३ ॥
अनुग्रहीतव्यमवैषि यत्तु वनोचितं मा भवनाश्रयेण।
तेनालमन्यद्धि सुखं नराणामन्यादृश जात्युचित मृगाणाम् ॥ २४ ॥
चिकीर्षित ते यदि मत्प्रियं तु व्याधव्रत वीर विमुञ्च तस्मात्।
तिर्यक्स्वभावाज्जडचेतनेषु कृपैव शोच्येषु मृगेषु युक्ता ॥ २५ ॥

सुखाश्रये दु खविनोदने च समानचित्तानवगच्छ सत्त्वान् ।
इत्यात्मन स्यादनभीप्सित यन्न तत्परेष्वाचरितु क्षमं ते ॥ २६ ॥
कीर्तिक्षयं साधुजनाद्विगर्हां दु.खं च पापप्रभव विदित्वा ।
पाप द्विषत्पक्षमिवोद्धरस्व नोपेक्षितु व्याधिरिव क्षमं ते ॥ २७ ॥
लक्ष्मीनिकेतं यदपाश्रयेण प्राप्तोऽसि लोकाभिमतं नृपत्वम् ।
तान्येव पुण्यानि विवर्धयेथा न कर्शनीयो ह्युपकारिपक्ष ॥ २८ ॥
कालोपचारसुभगैर्विपुलै प्रदानै
शीलेन साधुजनसंगतनिश्चयेन ।
भूतेषु चात्मनि यथा हितबुद्धिसिद्ध्या
पुण्यानि सचिनु यश सुखसाधनानि ॥ २९ ॥

इति स महात्मा तं राजानं दृढं सापरायिकेष्वर्थेष्वनुगृह्य सप्रतिगृहीतवचनस्तेन राज्ञा सबहुमानमभिवीक्ष्यमाणस्तमेव वनान्तं प्रविवेश ।

तदेवं जिघांसुमप्यापद्गतमनुकम्पन्त एव महाकारुणिका नोपेक्षन्त इति करुणावर्णेऽपि वाच्यम् । तथागतमाहात्म्ये सत्कृत्य धर्मश्रवणे । अवैरेण वैरप्रशमननिदर्शने च क्षान्तिकथायामप्युपनेयम् । एवं तिर्यग्गतानामपि महात्मना वधकेष्वपि सानुक्रोशा प्रवृत्तिर्दृष्टा । को मनुष्यभूत प्रव्रजितप्रतिज्ञो वा सत्त्वेष्वनुक्रोशविकल शोभेतेति प्राणिषु सानुक्रोशेनार्येण भवितव्यम् ।

इति शरभ-जातक पञ्चविंशतितमम् ।

---

२६ रुरु-जातकम्

परदु खमेव दु खं साधूनाम् । तद्धि न सहन्ते नात्मदु खम् । तद्यथानुश्रूयते—

बोधिसत्त्व किल सालबकुलपियालहिन्तालतमालनक्तमालविदुलनिचुलक्षुपबहुले शिंशपातिनिशशमीपलाशशाककुशवंशशरवणगहने कदम्बसर्जार्जुनधवखदिरकुटजनिचिते विविधवल्लीप्रतानावगुण्ठितबहुतरुविटपे रुरुपृषतसृमरचमरगजगवयमहिषहरिणन्यङ्कुवराहद्वीपितरक्षुव्याघ्रवृकसिंहर्क्षादिमृगविचरिते मनुष्यसंपातविरहिते महत्यरण्यवनप्रदेशे तप्तकाञ्चनोज्ज्वलवर्ण सुकुमाररोमा नानाविधपद्मरागेन्द्रनीलमरकतवैडूर्यरुचिरवर्णबिन्दुविद्योतितविचित्रगात्रः स्निग्धाभिनीलविमलविपुलनयनो मणिमयैरिवापरुषप्रभैर्विषाणक्षुरप्रदेशै परमदर्शनीयरूपो रत्नाकर इव पादचारी रुरुमृगो बभूव । स जानान स्वस्य वपुषोऽतिलोभनीयता तनुकारुण्यता च जनस्य निर्जनसंपातेषु वनगहनेष्वभिरेमे, पटुविज्ञानत्वाच्च तत्र तत्र व्याधजनविरचितानि यन्त्रकूटवागुरापाशावपातलेपकाष्ठनिवापभोजनानि सम्यक् परिहरन्ननुगामिनं च मृगसार्थमवबोधयन्नाचार्य इव पितेव च मृगाणामाधिपत्यं चकार ।

रूपविज्ञानसपत्ति क्रियासौष्ठवसंस्कृता ।
स्वहितान्वेषिणि जने कुत्र नाम न पूज्यते ॥ १ ॥

अथ स कदाचिन्महात्मा तस्मिन् वनगहने वासोपगतस्तत्समीपवाहिन्या नवाम्बुपूर्णया महावेगया नद्या ह्रियमाणस्य पुरुषस्याक्रन्दितशब्दं शुश्राव ।

ह्रियमाणमनाथमप्लवं सरितोदीर्णजलौघवेगया ।
अभिधावत दीनवत्सला कृपणं तारयितु जवेन माम् ॥ २ ॥
न विलम्बितुमत्र शक्यते श्रमदोपादविधेयबाहुना ।
न च गाधमवाप्यते क्वचित्तदयं मा समयोऽभिधावितुम् ॥ ३ ॥

अथ बोधिसत्त्वस्तेन तस्य करुणेनाक्रन्दितशब्देन हृदीव समभिहन्यमानो मा भैर्मा भैरिति जन्मशताभ्यस्तां भयविषाददैन्यश्रमापनोदिनीमाम्रेडिताभिनिष्पीडित-स्पष्टपदामुच्चैर्मानुषी वाचं विसृजस्तस्माद्वनगहनाद्विनिष्पपात । दूरत एव च त पुरुषमिष्टमिवोपायनमानीयमानं सलिलौघेन ददर्श ।

ततस्तदुत्तारणनिश्चितात्मा स्वं प्राणसंदेहमचिन्तयित्वा ।
स ता नदी भीमरया जगाहे विक्षोभयन् वीर इवारिसेनाम् ॥ ४ ॥
आवृत्य मार्ग वपुषाथ तस्य मामाश्रयस्वेति तमभ्युवाच ।
त्रासातुरत्वाच्छ्रमविह्वलाङ्ग. स पृष्ठमेवाधिरुरोह तस्य ॥ ५ ॥
संसाद्यमानोऽपि नरेण तेन विवर्त्यमानोऽपि नदीरयेण ।
सत्त्वोच्छ्रयादस्खलितोरुवीर्यः कूलं ययौ तस्य मनोनुकूलम् ॥ ६ ॥

प्रापय्य तीरमथ तं पुरुष परेण
प्रीत्युद्गमेन विनिवर्तितखेददु खम् ।
स्वेनोष्मणा समपनीय च शीतमस्य
गच्छेति तं स विससर्ज निवेद्य मार्गम् ॥ ७ ॥

अथ स पुरुष. स्निग्धबान्धवसुहृज्जनदुर्लभेन तेन तस्याद्भुतेनाभ्युपपत्तिसौमुख्येन समावर्जितहृदयस्तया चास्य रूपशोभया समुत्थाप्यमानविस्मयबहुमान· प्रणम्यैनं तत्तत्प्रियमुवाच—

आ बाल्यात्संभृतस्नेह. सुहृद्बान्धव एव वा ।
नालं कर्तुमिदं कर्म मदर्थे यत्कृतं त्वया ॥ ८ ॥
त्वदीयास्तदिमे प्राणास्त्वदर्थे यदि नाम मे ।
स्वल्पेऽपि विनियुज्येरन् स मे स्यादत्यनुग्रहः ॥ ९ ॥
तदाज्ञासंप्रदानेन कर्तुमर्हस्यनुग्रहम् ।
विनियोगक्षमत्वं मे भवान् यत्रावगच्छति ॥ १० ॥

अथैनं बोधिसत्त्व संराधयन् प्रत्युवाच—
न चित्ररूपा सुजने कृतज्ञता निसर्गसिद्धैव हि तस्य सा स्थिति ।
जगत्तु दृष्ट्वा समुदीर्णविक्रियं कृतज्ञताप्यद्य गुणेषु गण्यते ॥ ११ ॥

यतस्त्वा ब्रवीमि कृतमिदमनुस्मरता भवता नायमर्थ कस्मैचिन्निवेद्यः—ईदृशेनास्मि सत्त्वविशेषेणोत्तारित इति । आमिषभूतमतिलोभनीयमिदं हि मे रूपम् । पश्य । तनुघृणानि बहुलौल्यादनिभृतानि च प्रायेण मानुषहृदयानि ।

तदात्मनि गुणाश्चैव मा च रक्षितुमर्हसि।
न हि मित्रेष्वभिद्रोह क्वचिद्भवति भूतये ।। १२ ।।

मा चैवमुच्यमानो मन्युप्रणयविरसं हृदयं कार्षी.। मृगा हि वयमनभ्यस्तमानुषोपचारशाठ्या। अपि च।

तत्कृतं वञ्चनादक्षैर्मिथ्याविनयपण्डितैः।
येन भावविनीतोऽपि जन साशङ्कमीक्ष्यते ।। १३ ।।

तदेतत्प्रियं भवता सपाद्यमानमिच्छामीति। स तथेति प्रतिश्रुत्य प्रणम्य प्रदक्षिणीकृत्य च तं महासत्त्व स्वगृहमभ्याजगाम।

तेन खलु समयेन तत्रान्यतमस्य राज्ञो देवी सत्यस्वप्ना बभूव। सा य यमातिशयिक स्वप्न ददर्श, स तथैवाभवत्। सा कदाचिन्निद्रावशमुपगता प्रत्यूषसमये स्वप्नं पश्यति स्म सर्वरत्नसमाहारमिव श्रिया ज्वलन्तं सिंहासनस्थं रुरुमृगं सराजिकया पर्षदा परिवृतं विस्पष्टाक्षरपदन्यासेन मानुषेण वचसा धर्म देशयन्तम्। विस्मयाक्षिप्तहृदया च भर्तु प्रबोधपटहध्वनिना सह सा व्यबुध्यत। यथाप्रस्ताव च समुपेत्य राजान लब्धप्रसरप्रणयसमाना—

सा विस्मयोत्फुल्लतरेक्षणश्री प्रीत्या समुत्कम्पिकपोलशोभा।
उपायनेनेव नृपं ददर्श तेनाद्भुतस्वप्ननिवेदनेन ।। १४ ।।

निवेद्य च तं स्वप्नातिशयं राज्ञे सादरं पुनरुवाच—

तत्साधु तावत्क्रियता मृगस्य तस्योपलम्भं प्रति देव यत्न।
अन्त पुरं रत्नमृगेण तेन तारामृगेणेव नभो विराजेत् ।। १५ ।।

अथ स राजा दृष्टप्रत्ययस्तस्या स्वप्नदर्शनस्य प्रतिगृह्य तद्वचनं तत्प्रियकाम्यया रत्नमृगाधिगमलोभाच्च तस्य मृगस्यान्वेषणार्थ सर्व व्याधगणं समादिदेश। प्रत्यहं च पुरवरे घोषणामिति कारयामास—

हेमच्छविर्मणिशतैरिव चित्रगात्र
ख्यातो मृगः श्रुतिषु दृष्टचरश्च कैश्चित्।
यस्तं प्रदर्शयति तस्य ददाति राजा
ग्रामोत्तमं परिदशा रुचिरा स्त्रियश्च ।। १६ ।।

अथ स पुरुषस्ता घोषणा पुन. पुनरुपश्रुत्य—

दारिद्र्यदुःखगणनापरिखिन्नचेता
स्मृत्वा च तं रुरुमृगस्य महोपकारम्।
लोभेन तेन च कृतेन विकृष्यमाणो
दोलायमानहृदयो विममर्श तत्तत् ।। १७ ।।

किं नु खलु करोमि? गुणं पश्याम्युत धनसमृद्धिम्? कृतमनुपालयाम्युत कुटुम्बतन्त्रम्? परलोकमुद्भावयाम्यथेमम्? सद्वृत्तमनुगच्छाम्युताहो लोकवृत्तम्? श्रियमनुगच्छाम्युताहोस्वित्साधुदयिता श्रियम्? तदात्वं पश्याम्युतायतिमिति। अथास्य लोभाकुलितमतेरेवमभूत्—शक्यमधिगतविपुलधनसमृद्धिना स्वजनमित्रातिथिप्रणयि-

जनसंमाननपरेण सुखान्यनुभवता परोऽपि लोकः संपादयितुम्¹। इति निश्चितमतिर्विस्मृत्य तं रुरुमृगस्योपकारं समुपेत्य राजानमुवाच—अहं देव तं मृगवरमधिवासं चास्य जानामि। तदाज्ञापय कस्मै प्रदर्शयाम्येनमिति। तच्छ्रुत्वा स राजा प्रमुदितमना—ममैवैनं भद्र प्रदर्शयेत्युक्त्वा मृगयाप्रयाणानुरूपं वेषमास्थाय महता बलकायेन परिवृतः पुरवरान्निर्गम्य तेन पुरुषेणादेश्यमानमार्गस्तं नदीतीरमुपजगाम। परिक्षिप्य च तद्वनगहनं समग्रेण बलकायेन धन्वी हस्तावापी व्यवर्मिताप्तपुरुषपरिवृतः स राजा तेनैव पुरुषेणादेश्यमानमार्गस्तद्वनगहनमनुप्रविवेश। अथ स पुरुषस्तं रुरुमृगं विश्वस्तस्थितमालोक्य प्रदर्शयामास राज्ञे—अयमयं देव स मृगवरः। पश्यत्वेनं देव, प्रयत्नश्च भवत्विति।

तस्योन्नामयतो बाहुं मृगसंदर्शनादरात्।
प्रकोष्ठान्न्यपतत्पाणिर्विनिकृत्त इवासिना॥ १८॥

आमाद्य वस्तूनि हि तादृशानि क्रियाविशेषैरभिसंस्कृतानि।
लब्धप्रयामाणि विपक्षमान्द्यात्कर्माणि सद्यः फलतां व्रजन्ति॥ १९॥

अथ स राजा तत्प्रदर्शितेन मार्गेण रुरुसंदर्शनकुतूहले नयने विचिक्षेप।

वनेऽथ तस्मिन्नवमेघनीले ज्वलत्तनुं रत्ननिधानलक्ष्म्या।
गुणैरुरुं तं स रुरुं ददर्श शातह्रदं वह्निमिवाभ्रकक्षे॥ २०॥

तद्रूपशोभाहृतमानसोऽथ स भूमिपस्तद्ग्रहणातिलोभात्।
कृत्वा धनुर्बाणविदष्टमौर्वि बिभित्सया चैनमुपारुरोह॥ २१॥

अथ बोधिसत्त्वः समन्ततो जनकोलाहलमुपश्रुत्य व्यक्तं समन्तात्परिवृत्तोऽस्मीति निश्चितमतिर्व्यद्धुकाममुपारूढं चावेत्य राजानं नायमपयानकाल इति विदित्वा विशदपदाक्षरेण मानुषेण वचसा राजानमाबभाषे—

तिष्ठ तावन्महाराज मा मा व्यात्सीर्नरर्षभ।
कौतूहलमिदं तावद्विनोदयितुमर्हसि॥ २२॥

अस्मिन्निर्जनसंपाते निरतं गहने वने।
असावत्र मृगोऽस्तीति को नु ते मा न्यवेदयत्॥ २३॥

अथ स राजा तस्याद्भुतेन मानुषेणाभिव्याहारेण भृशतरमावर्जितहृदयस्तमस्मै पुरुषं शराग्रेण निर्दिदेश—अयमस्यात्यद्भुतस्य नो दर्शयितेति। अथ बोधिसत्त्वस्तं पुरुषं प्रत्यभिज्ञाय विगर्हमाण उवाच—कष्टं भोः।

सत्य एव प्रवादोऽयमुदकौघगतं किल।
दार्वेव वरमुद्धर्तुं नाकृतज्ञमतिं जनम्॥ २४॥

परिश्रमस्य तस्येयमीदृशी प्रत्युपक्रिया।
आत्मनोऽपि न दृष्टोऽयं हितस्यापनयः कथम्॥ २५॥

अथ स राजा किं नु खल्वयमेवं विजुगुप्सत इति समुत्पन्नकौतूहलः सावेगस्तं रुरुमुवाच—

अनिर्भिन्नार्थगम्भीरमनारभ्यविगर्हितम्।
त्वदिदं समुपश्रुत्य साकम्पमिव मे मनः॥ २६॥

मृगातिशय तद्ब्रूहि कमारभ्येति भाषसे ।
मनुष्यममनुष्यं वा पक्षिण मृगमेव वा ।। २७ ।।

बोधिसत्त्व उवाच—

नायं विगर्हादर एव राजन् कुत्सार्हमेतत्त्ववगम्य कर्म ।
नायं पुन कर्तुमिति व्यवस्येत्तीक्ष्णाक्षरं तेन मयैवमुक्तम् ।। २८ ।।
को हि क्षते क्षारमिवावसिञ्चेद् रूक्षाक्षरं विस्खलितेषु वाक्यम् ।
प्रिये तु पुत्रेऽपि चिकित्सकस्य प्रवर्तते व्याधिवशाच्चिकित्सा ।। २९ ।।
यमुह्यमानं सलिलेन हारिणा कृपावशादभ्युपपन्नवाहनम् ।
ततो भयं मा नृवरेदमागतं न खल्वसत्सगतमस्ति भूतये ।। ३० ।।

अथ स राजा तं पुरुषं तीक्ष्णया दृष्ट्या निर्भर्त्सनरूक्षमवेक्ष्योवाच—सत्यमरे रे पुरा त्वमनेनैवमापन्नोऽभ्युद्धृत इति ? अथ स पुरुष समापतितभयविषादस्वेद-वैवर्ण्यदैन्यो ह्रीमन्द सत्यमित्यवोचत् । अथ स राजा धिक् त्वामित्येनमवभर्त्सयन् धनुषि शरं संधायाब्रवीत्—मा तावद्भो !

एवंविधेनापि परिश्रमेण मृदूकृत यस्य न नाम चेत ।
तुल्याकृतीनामयशोध्वजेन किं जीवतानेन नराधमेन ।। ३१ ।।

इत्युक्त्वा मुष्टिमाबध्य तद्वधार्थं धनु प्रचकर्ष । अथ बोधिसत्त्व करुणया महत्या समुपरुध्यमानहृदयस्तदन्तरा स्थित्वा राजानमुवाच—अलमलं महाराज हतं हत्वा ।

यदेव लोभद्विषत प्रतारणा विगर्हितामप्ययमभ्युपेयिवान् ।
हतस्तदेवेह यश परिक्षयाद् ध्रुवं परत्रापि च धर्मसक्षयात् ।। ३२ ।।
असह्यदु खोदयपीतमानसा पतन्ति चैव व्यसनेषु मानुषा ।
प्रलोभ्यमाना फलसम्पदाशया पतगमूर्खा इव दीपशोभया ।। ३३ ।।
अत कृपामत्र कुरुष्व मा रुष यदीप्सित चैवमनेन किंचन ।
कुरुष्व तेनैनमवन्ध्यसाहसं स्थितं त्वदाज्ञाप्रवण हि मे शिर ।। ३४ ।।

अथ स राजा तेन तस्यापकारिण्यपि सदयत्वेनाकृतकेन च तत्प्रत्युपकारादरेण परमविस्मितमतिर्जातप्रसाद सबहुमानमुदीक्षमाणस्तं रुरुवरमुवाच—साधु साधु महाभाग !

प्रत्यक्षोग्रापकारेऽपि दया यस्येयमीदृशी ।
गुणतो मानुषस्त्वं हि वयमाकृतिमानुषा ।। ३५ ।।
येनानुकम्प्यस्तु तवैष जाल्मो हेतुश्च न सज्जनदर्शनस्य ।
ददामि तेनेप्सितमर्थमस्मै राज्ये तवास्मिंश्च यथेष्टचारम् ।। ३६ ।।

रुरुरुवाच—प्रतिगृहीतोऽयं मयावन्ध्यो महाराजप्रसाद । तदाज्ञापय यावदिह संगमनप्रयोजनेन तवोपयोगं गच्छाम इति । अथ स राजा तं रुरुं गुरुमिव रथवर-मारोप्य महता सत्कारेण पुरवर प्रवेश्य कृतातिथिसत्कारं महति सिंहासने निवेश्य समुत्साह्यमान सान्त पुरोऽमात्यगणपरिवृत प्रीतिबहुमानसौम्यमुदीक्षमाणो धर्मं पप्रच्छ—

धर्मं प्रति मनुष्याणां बहुधा बुद्धयो गताः ।
निश्चयस्तव धर्मे तु यथा तं वक्तुमर्हसि ॥ ३७ ॥

अथ बोधिसत्त्वस्तस्य राज्ञः सपर्षत्कस्य स्फुटमधुरचित्राक्षरेण वचसा धर्मं देशयामास—

दया सत्त्वेषु मन्येऽहं धर्मं संक्षेपतो नृप ।
हिंसास्तेयनिवृत्त्यादिप्रभेदं विविधक्रियम् ॥ ३८ ॥

पश्य महाराज,

आत्मनीव दया स्याच्चेत्स्वजने वा यथा जने ।
कस्य नाम भवेच्चित्तमधर्मप्रणयाशिवम् ॥ ३९ ॥
दयावियोगात्तु जनः परमामेति विक्रियाम् ।
मनोवाक्कायविस्पन्दैः स्वजनेऽपि जने यथा ॥ ४० ॥
धर्मार्थी न त्यजेदस्माद् दयामिष्टफलोदयाम् ।
सुवृष्टिरिव सस्यानि गुणान् सा हि प्रसूयते ॥ ४१ ॥
दयाक्रान्तं चित्तं न भवति परद्रोहरभसं
शुचौ तस्मिन् वाणी व्रजति विकृतिं नैव च तनुः ।
विवृद्धा तस्यैवं परहितरुचिः प्रीत्यनुसृतान्
प्रदानक्षान्त्यादीञ्जनयति गुणान् कीर्त्यनुगुणान् ॥ ४२ ॥
दयालुर्नोद्वेगं जनयति परेषामुपशमाद्
दयावान् विश्वास्यो भवति जगतां बान्धव इव ।
न संरम्भक्षोभः प्रभवति दयाधीरहृदये
न कोपाग्निश्चित्ते ज्वलति हि दयातोयशिशिरे ॥ ४३ ॥
संक्षेपेण दयामतः स्थिरतया पश्यन्ति धर्मं बुधाः
को नामास्ति गुणः स साधुदयितो यो नानुयातो दयाम् ।
तस्मात्पुत्र इवात्मनीव च दयां नीत्वा प्रकर्षं जने
सद्वृत्तेन हरन्मनांसि जगतां राजत्वमुद्भावय ॥ ४४ ॥

अथ स राजा समभिनन्द्य तत्तस्य वचनं सपौरजानपदो धर्मपरायणो बभूव । अभयं च सर्वमृगपक्षिणां दत्तवान् ।

तदेवं परदुःखमेव दुःखं साधूनाम् । तद्धि न सहन्ते नात्मदुःखमिति । करुणावर्णेऽपि वाच्यम् । सज्जनमाहात्म्ये खलजनकुत्सायामप्युपनेयमिति ।

॥ इति रुरु-जातकं षड्विंशतितमम् ॥

---

२७. महाकपि-जातकम्

द्विषतामपि मानसान्यावर्जयन्ति सद्वृत्तानुवर्तिनः । तद्यथानुश्रूयते—

बोधिसत्त्वः किल श्रीमति हिमवत्कुक्षौ विविधरसवीर्यविपाकगुणैर्बहुभिरोषधिविशेषैः परिगृहीतभूमिभागे नानाविधपुष्पफलपल्लवपत्रविटपरचनैर्महीरुहशतैराकीर्णे

स्फटिकदलामलसलिलप्रस्रवणे विविधपक्षिगणनादनादिते वानरयूथाधिपतिर्बभूव। तदवस्थमपि चैनं त्यागकारुण्याभ्यासात्प्रतिपक्षमेवाविरोधितानीर्ष्यामात्सर्यक्रौर्याणि नोपजग्मु। स तत्र महान्तं न्यग्रोधपादप पर्वतशिखरमिव व्योमोल्लिखन्तमधिपतिमिव तस्य वनस्य मेघसघातमिव प्रत्यन्धकारविटपमाकीर्णपर्णतया तालफलाधिकतर-प्रमाणै परमस्वादुभिर्मनोज्ञवर्णगन्धै फलविशेषैरानम्यमानशाखं निश्रित्य विजहार।

तिर्यग्गतानामपि भाग्यशेषं सता भवत्येव सुखाश्रयाय।
कर्तव्यसबन्धि सुहृज्जनाना विदेशगानामिव वित्तशेषम् ॥ १ ॥

तस्य तु वनस्पतेरेका शाखा तत्समीपगा निम्नगामभि प्रणताभवत्। अथ बोधिसत्त्वो दीर्घदर्शित्वात्तद्वानरयूथ समनुशशास—अस्या न्यग्रोधशाखायामफलाया-मकृताया न व केनचिदन्यत फलमुपभोक्तव्यमिति।

अथ कदाचित्तस्या शाखाया पिपीलिकाभि पर्णपुटावच्छादित तरुणत्वान्ना-तिमहदेकं फल न ते वानरा ददृशु। तत्क्रमेणाभिवर्धमानं वर्णगन्धरसमार्दवोपपन्नं परिपाकवशाच्छिथिलबन्धन तस्या नद्या निपपात। अनुपूर्वेण वाह्यमान नदीस्रोतसाऽ-न्यतमस्य राज्ञ सान्त पुरस्य तस्या नद्या सलिलक्रीडामनुभवतो जालकरण्डकपार्श्वे व्यासज्यत।

तत्स्नानमाल्यासववासगन्ध सश्लेषसंपिण्डितमङ्गनानाम्।
विसर्पिणा स्वेन तिरश्चकार घ्राणाभिरामेण गुणोदयेन ॥ २ ॥
तद्गन्धमत्ता क्षणमङ्गनास्ता दीर्घीकृतोच्छ्वासविकुञ्चिताक्ष्य।
भूत्वाथ कौतूहलचञ्चलानि विचिक्षिपुर्दिक्षु विलोचनानि ॥ ३ ॥

कौतूहलप्रसृतलोलतरनयनास्तु ता योषितस्तन्न्यग्रोधफलं परिपक्वताल-फलाधिकतरप्रमाणं जालकरण्डकपार्श्वतो विलग्नमवेक्ष्य किमिदमिति तदावर्जित-नयना समपद्यन्त सह राज्ञा। अथ स राजा तत्फलमानाय्य प्रात्ययिकवैद्यजनपरिदृष्टं स्वयमास्वादयामास।

अद्भुतेन रसेनाथ नृपस्तस्य विसिष्मिये।
अद्भुतेन रसेनेव प्रयोगगुणहारिणा ॥ ४ ॥
अपूर्ववर्णगन्धाभ्या तस्याकलितविस्मय।
ययौ तद्रससंरागात्परा विस्मयविक्रियाम् ॥ ५ ॥

अथ तस्य राज्ञ स्वादुरसभोजनसमुचितस्यापि तद्रसमरागवशगस्यैतद भवत्—

यो नाम नामूनि फलानि भुङ्क्ते स कानि राज्यस्य फलानि भुङ्क्ते।
यस्यान्नमेतत्तु स एव राजा विनैव राजत्वपरिश्रमेण ॥ ६ ॥

स तत्प्रभवान्वेषणकृतमति स्वबुद्ध्या विममर्श-व्यक्तमयं तरुवर इतो नातिदूरे नदीतीरसनिविष्टश्च यस्येदं फलम्। तथा ह्यनुपहतवर्णगन्धरसमदीर्घकाल-सलिलसंपर्कादपरिक्षतमजर्जरं च यत शक्यमस्य प्रभवोऽधिगन्तुमिति निश्चयमुपेत्य तद्रसतृष्णया आकृष्यमाणो विरम्य जलक्रीडाया सम्यक् पुरवरे स्वे-रक्षाविधानं संदिश्य यात्रासज्जेन महता बलकायेन परिवृतस्ता नदीमनुससार। क्रमेण चोत्सादयन्

सश्वापदगणानि वनगहनानि समनुभवन्श्चित्राणि रम्यान्तराणि पश्यन्नकृत्रिमरमणीय-शोभानि वनान्तराणि संत्रासयन् पटहरवितैर्वन्यान्मृगान् मानुषजनदुर्गमं तस्य वनस्पते समीपमुपजगाम।

तं मेघवृन्दमिव तोयभरावसन्नभामन्नशैलमपि शैलवदीक्ष्यमाणम्।
दूराद्ददर्श नृपतिः स वनस्पतीन्द्रमुल्लोक्यमानमधिराजमिवान्यवृक्षैः ॥ ७॥

परिपक्वसहकारफलसुरभितरेण च निर्हारिणा अतिमनोज्ञेन गन्धेन प्रत्युद्गत इव तस्य पादपस्य अयं स वनस्पतिरिति निश्चयमुपजगाम। समुपेत्य चैनं ददर्श तत्फलोपभोगव्यापृतैरनेकवानरशतैराकीर्णविटपम्।

अथ स राजा समभिलषितार्थविप्रलोपिनस्तान् वानरान् प्रत्यभिक्रुद्धमतिः— हत हतैतान्। विध्वंसयत विनाशयत सर्वान् वानरजाल्मानिति सपरुषाक्षरं स्वान् पुरुषानादिदेश। अथ ते राजपुरुषाः सज्यचापबाणव्यग्रकराग्रा वानरावभर्त्सन-मुखराः समुद्यतलोष्टदण्डशस्त्राश्चापरे परदुर्गमिवाभिरोद्धुकामास्तं वनस्पतिमभि-सस्रुः। अथ बोधिसत्त्वस्तुमुलं तद्राजबलमनिलजवाकलितमिवार्णवजलमनिभृतकल-कलारावमभिपतदालोक्याशनिवर्षणेव समन्ततो विकीर्यमाणं तरुवर शरलोष्ट-दण्डशस्त्रवर्षेण भयविरसविरावमात्रपरायणं च विकृतदीनमुखमुन्मुखं वानरगण-मवेक्ष्य महत्या करुणया समाक्रम्यमाणचेतास्त्यक्तविषाददैन्यसंत्रासः समाश्वास्य तद्वानरयूथं तत्परित्राणव्यवसितमतिरभिरुह्य तस्य वनस्पतेः शिखरं तत्समासन्नं गिरितटं लङ्घयितुमियेष। अथानेकप्रस्कन्दनक्रमप्राप्यमपि तं गिरितटं स महासत्त्वः स्ववीर्यातिशयात्खग इवाधिरुरोह।

द्वाभ्यामपि लङ्घनक्रमाभ्यां गम्यं नैव तदन्यवानराणाम्।
वेगेन यदन्तरं तरस्वी प्रततारात्पमिवैकविक्रमेण ॥ ८॥

कृपयाभिविवर्धितः स तस्य व्यवसाय पटुतां जगाम शौर्यात्।
स च यत्नविशेषमस्य चक्रे मनसैवाथ जगाम यत्नतैक्ष्ण्यात् ॥ ९॥

अधिरुह्य च गिरेरुच्चतरं तटप्रदेशं तदन्तरालाधिकप्रमाणया महत्या विरूढयाऽ-शिथिलमूलया दृढया वेत्रलतया गाढमाबध्य चरणौ पुनस्तं वनस्पतिं प्रचस्कन्द। विप्रकृष्टत्वात्तु तस्यान्तरालस्य चरणबन्धनव्याकुलत्वाच्च स महासत्त्वः कथंचित्तस्य वनस्पतेरग्रशाखां कराभ्यां समाससाद।

ततः समालम्ब्य दृढं स शाखामातत्य तां वेत्रलतां च यत्नात्।
स्वसंज्ञया यूथमथादिदेश द्रुमादतः शीघ्रमभिप्रयायात् ॥ १०॥

अथ ते वानरा भयातुरत्वादपयानमार्गमासाद्य चपलतरगतयस्तदाक्रमण-निर्विशङ्कास्तया स्वस्त्यपचक्रमुः।

भयातुरैस्तस्य तु वानरैस्तैराक्रम्यमाणं चरणैः प्रसक्तम्।
गात्रं ययौ स्वैः पिशितैर्वियोगं न त्वेव धैर्यातिशयेन चेतः ॥ ११॥

तद्दृष्ट्वा स राजा ते च राजपुरुषाः परां विस्मयवक्तव्यतामुपजग्मुः।

एवंविधा विक्रमबुद्धिसम्पदात्मानपेक्षा च दया परेषु।
आश्चर्यबुद्धिं जनयेच्छ्रुतापि प्रत्यक्षतः किं पुनरीक्ष्यमाणा ॥ १२॥

अथ स राजा तान् पुरुपान् समादिदेश—भयाद्भ्रान्तवानरगणचरणक्षोभित-क्षतशरीरश्चिरमेकक्रमावस्थानाच्च दृढ परिश्रान्तो व्यक्तमय वानराधिपति. न चायमत शक्ष्यति स्वयमात्मानं संहर्तुम्. तच्छीघ्रमस्याध पटवितानं वितत्य वेत्रलतेय च न्यग्रोधशाखा शराभ्या युगपत्प्रच्छिद्येतामिति । ते तथा चक्रु । अथैनं स राजा शनकैर्वितानादवतार्य मूर्छया व्रणवेदनाक्लमोपजातया समाक्रम्यमाणचेतसं मृदुनि शयनीये संवेशयामास । सद्य क्षतप्रशमनयोग्यैश्च सर्पिरादिभिरस्य व्रणान्यभ्यज्य मन्दीभूतपरिश्रमं समाश्वस्तमेनमभ्युपगम्य स राजा सकौतूहलविस्मयबहुमान कुशलपरिप्रश्नपूर्वकमुवाच—

गत्वा स्वयं संक्रमताममीषा स्वजीविते त्यक्तदयेन भूत्वा ।
समुद्धृता ये कपयस्त्वयेमे को नु त्वमेषा तव वा क एते ॥ १३ ॥
श्रोतु वयं चेदिदमर्हरूपास्तत्तावदाचक्ष्व कपिप्रधान ।
न ह्यल्पसौहार्दनिबन्धनानामेवं मनासि प्रतरन्ति कर्तुम् ॥ १४ ॥

अथ बोधिसत्त्वस्तस्य राज्ञस्तदभ्युपपत्तिसौमुख्यं प्रतिपूजयन्नात्मनिवेदनमनुगुणेन क्रमेण चकार—

एभिर्मदाज्ञाप्रतिपत्तिदक्षैरारोपितो मय्यधिपत्वभार ।
पुत्रेष्विवैतेष्ववबद्धहार्दस्तं वोढुमेवाहमभिप्रपन्न ॥ १५ ॥
इयं महाराज समं ममैभि संबन्धजातिश्चिरकालरूढा ।
समानजातित्वमयी च मैत्री ज्ञातेयजाता सहवासयोगात् ॥ १६ ॥

तच्छ्रुत्वा स राजा परं विस्मयमुपेत्य पुनरेनमुवाच—

अधिपार्थममात्यादि न तदर्थं महीपति ।
इति कस्मात्स्वभृत्यार्थमात्मान त्यक्तवान् भवान् ॥ १७ ॥

बोधिसत्त्व उवाच—काममेवं प्रवृत्ता, महाराज, राजनीति । दुरनुवर्त्या तु मा प्रतिभाति ।

असंस्तुतस्याप्यविषह्यतीव्रमुपेक्षितुं दु·खमतीव दु खम् ।
प्रागेव भक्त्युन्मुखमानसस्य गतस्य बन्धुप्रियता जनस्य ॥ १८ ॥
इदं च दृष्ट्वा व्यसनार्तिदैन्यं शाखामृगान् प्रत्यभिवर्धमानम् ।
स्वकार्यचिन्तावसरोपरोधि प्रादुद्रुवन्मा सहसैव दु खम् ॥ १९ ॥
आनम्यमानानि धनूंषि दृष्ट्वा विनिष्पतद्दीप्तशिलीमुखानि ।
भीमस्वनज्यान्यविचिन्त्य वेगादस्मात्तरो शैलमिम गतोऽस्मि ॥ २० ॥
वैशेषिकत्रासपरीतचित्तैराकृष्यमाणोऽहमथ स्वयूथ्यै ।
आलक्षितायामगुणा सुमूला स्वपादयोर्वेत्रलता निबध्य ॥ २१ ॥
प्रास्कन्दमस्मात्पुनरेव शैलादिमं द्रुम तारयितुं स्वयूथ्यान् ।
तत कराभ्या समवाप्तमस्य प्रसारित पाणिमिवाग्रशाखाम् ॥ २२ ॥
समाततांङ्गं लतया तया च शाखाग्रहस्तेन च पादपस्य ।
अमी मदध्याक्रमणे विशङ्का निश्चित्य मा स्वस्ति गता स्वयूथ्या. ॥ २३॥

अथ स राजा प्रामोद्यजात तस्यामप्यवस्थाया त मह'सत्त्वमवेक्ष्य पर विस्मयमुद्वहन् पुनरेनमुवाच—

परिभूयात्मन सोख्य परव्यसनमापतत् ।
इत्यात्मनि समारोप्य प्राप्त को भवता गुण ॥ २४ ॥

बोधिसत्त्व उवाच—

कामं शरीर क्षितिप क्षत मे मन परस्वास्थ्यमुपागतं तु ।
अकारि येषा चिरमाधिपत्य तेषा मया र्तिविनिवर्तितेति ॥ २५ ॥
जित्वाहवे विद्विपत सदर्पान् गात्रेष्वलकारवदुद्वहन्ति ।
वीरा यथा विक्रमचिह्नशोभा प्रीत्या तथेमा रुजमुद्वहामि ॥ २६ ॥
प्रणामसत्कारपुरःसरस्य भक्तिप्रयुक्तस्य समानजात्यै ।
ऐश्वर्यलब्धस्य सुखक्रमस्य सप्राप्तमानृण्यमिदं मयाद्य ॥ २७ ॥
तन्मा तपत्येष न दु खयोग सुहृद्वियोग सुखविप्लवो वा ।
क्रमेण चानेन समभ्युपेतो महोत्सवाभ्यागम एष मृत्यु. ॥ २८ ॥
पूर्वोपकारानृणतात्मतुष्टि ननापशान्तिर्विमल यशश्च ।
पूजा नृपान्निर्भयता च मृत्यो कृतज्ञभावाद् ग्रहण च सत्सु ॥ २९ ॥
एते गुणा. सद्गुणवासवृक्ष प्राप्ता मयैतद् व्यसन प्रपद्य ।
एषा विपक्षास्तु समभ्युपैति दयाविहीनो नृपति श्रितेषु ॥ ३० ॥
गुणैर्विहीनस्य विपन्नकीर्तेर्दोषोदयैरावसथीकृतस्य ।
गतिर्भवेत्तस्य च नाम कान्या ज्वालाकुलेभ्यो नरकानलेभ्य. ॥ ३१ ॥
तद्दर्शितोऽय गुणदोषयोस्ते मया प्रभाव प्रथितप्रभाव ।
धर्मेण तस्मादनुशाधि राज्यं स्त्रीचञ्चलप्रेमगुणा हि लक्ष्मी ॥ ३२ ॥
युग्यं बलं जानपदानमात्यान् पौराननाथाञ्छ्रमणान् द्विजातीन् ।
सर्वान् सुखेन प्रयतेत योक्तुं हितानुकूलेन पितेव राजा ॥ ३३ ॥
एवं हि धर्मार्थयश समृद्धि स्यात्ते सुखायेह परत्र चैव ।
प्रजानुकम्पार्जितया त्वमस्माद्राजर्षिलक्ष्म्या नरराज राज ॥ ३४ ॥
इति नृपमनुशिष्य शिष्यवद् बहुमतवाक्प्रयतेन तेन स ।
रुगभिभवनसंहृतक्रिया तनुमपहाय ययौ त्रिविष्टपम् ॥ ३५ ॥

तदेवं द्विषतामपि मनास्यावर्जयन्ति सद्वृत्तानुवर्तिन , इति लोकं समावर्जयितुकामेन सद्वृत्तानुवर्तिना भवितव्यम् । न समर्थास्तथा स्वार्थमपि प्रतिपत्तुं सत्त्वा यथा परार्थं प्रतिपन्नवान् स भगवानिति तथागतवर्णेऽपि वाच्यम् । सत्कृत्य धर्मश्रवणे करुणावर्णे राजाववादे च । एवं राज्ञा प्रजासु दयापन्नेन भवितव्यम् । कृतज्ञकथायामप्युपनेयम् । एवं कृतज्ञा सन्तो भवन्तीति ।

॥ इति महाकपि-जातक सप्तविंशतितमम् ॥

---

२८. क्षान्ति-जातकम्

सात्मीभूतक्षमाणा प्रतिसंख्यानमहता नाविपह्यं नाम किंचिदस्ति। तद्यथानुश्रूयते—

बोधिसत्त्व किलानेकदोपव्यसनोपसृष्टमर्थकामप्रधानत्वादनोपशमिकं रागद्वेषमोहामर्षसरम्भमदमानमात्सर्यादिदोषरजसामापातं पातनं ह्रीधर्मपरिग्रहस्यायतन लोभासद्ग्राहस्य कुकार्यसबाधत्वात्कृशावकाशं धर्मस्यावेत्य गृहवासं परिग्रहविषयपरिवर्जनाच्च तद्दोषविवेकसुखा प्रव्रज्यामनुपश्यन् शीलश्रुतप्रशमविनयनियतमानसस्तापसो बभूव। तमस्खलितममादानं क्षान्तिवर्णवादिन तदनुरूपधर्माख्यानक्रम व्यतीत्य स्वे नामगोत्रे क्षान्तिवादिनमित्येव लोक स्वबुद्धिपूर्वकं सजज्ञे।

ऐश्वर्यविद्यातपसा समृद्धिर्लब्धप्रयामश्च कलासु सङ्ग।
शरीरवाक्चेष्टितविक्रियाश्च नामापर सजनयन्ति पुसाम्॥ १॥
जानन् स तु क्षान्तिगुणप्रभावं तेनात्मवल्लोकमलकरिष्यन्।
चकार यत्क्षान्तिकथा प्रसक्त तत्क्षान्तिवादीति ततो विजज्ञे॥ २॥
स्वभावभूता महती क्षमा च परापकारेष्वविकारधीरा।
तदर्थयुक्ताश्च कथाविशेपा कीर्त्या मुनि न प्रथयाबभूवु॥ ३।

अथ स महात्मा प्रविविक्तरमणीयं समर्तुसुलभपुष्पफल पद्मोत्पलालंकृतविमलसलिलाशयमुद्यानरम्यशोभं वनप्रदेशमध्यासनात्तपोवनमङ्गल्यतामानिनाय।

निवसन्ति हि यत्रैव सन्त सद्गुणभूषणा।
तन्मङ्गल्य मनोज्ञ च तत्तीर्थं तत्तपोवनम्॥ ४॥

स तत्र बहुमन्यमानस्तदध्युषितैर्दैवताविशेषैरभिगम्यमानश्च श्रेयोभिलाषिणा गुणवत्सलेन जनेन क्षान्तिप्रतिसंयुक्ताभि श्रुतिहृदयह्लादिनीभिर्धर्म्याभि कथाभिस्तस्य जनकायस्य परमनुग्रहं चकार।

अथ कदाचित्ततस्त्यो राजा ग्रीष्मकालप्रभावादभिलषणीयतरा सलिलक्रीडा प्रति समुत्सुकमतिरुद्यानगुणातिशयनिकेतभूत त वनप्रदेश सान्त.पुर समभिजगाम।

स तद्वन नन्दनरम्यशोभमाकीर्णमन्त पुरसुन्दरीभि।
अलंचकारेव चरन् विलासी विभूतिमत्या ललितानुवृत्त्या॥ ५॥
विमानदेशेषु लतागृहेषु पुष्पप्रहासेषु महीरुहेषु।
तोयेषु चोन्मीलितपङ्कजेषु रेमे स्वभावातिशयैर्वधूनाम्॥ ६॥
माल्यासवस्नानविलेपनाना संमोदगन्धाकुलितैर्द्विरेफै।
ददर्श कासाचिदुपोह्यमाना जातस्मितत्रासविलासशोभा॥ ७॥
प्रत्यग्रशोभैरपि कर्णपूरै पर्याप्तमाल्यैरपि मूर्धजैश्च।
तृप्तिर्यथासीत्कुसुमैर्न तासा तथैव नासा ललितैर्नृपस्य॥ ८॥
विमानदेशेषु विषज्यमाना विलम्बमाना कमलाकरेषु।
ददर्श राजा भ्रमरायमाणा पुष्पद्रुमेषु प्रमदाक्षिमालाः॥ ९॥
मदप्रगल्भान्यपि कोकिलाना रुतानि नृत्यानि च बर्हिणानाम्।
द्विरेफगीतानि च नाभिरेजुस्तत्राङ्गनाजल्पितनृत्तगीतै॥ १०॥

पयोदधीरस्तनितैर्मृदङ्गैरुदीर्णकेकास्ततबर्हचक्राः ।
नटा इव स्वेन कलागुणेन चक्रुर्मयूराः क्षितिपस्य सेवाम् ॥ ११ ॥

स तत्र सान्तःपुर उद्यानवनविहारसुखं प्रकाममनुभूय क्रीडाप्रसङ्गपरिखेदान्मदपरिष्वङ्गाच्च श्रीमति वितानप्रदेशे महार्हशयनीयवरगतो निद्रावशमुपजगाम । अथ ता योषितः प्रस्तावान्तरगतमवेत्य राजानं वनशोभाभिराक्षिप्यमाणहृदयास्तद्दर्शनाविवृता यथाप्रीतिकृतसंकथाः समाकुलभूषणनिनादसंमिश्रकलप्रलापाः समन्ततः प्रसस्रुः ।

ताश्छत्रवालव्यजनासनाद्यैः प्रेष्याभिवृताः काञ्चनभक्तिचित्रैः ।
ऐश्वर्यविह्नैरनुगम्यमानाः श्रियः स्वयं नार्य इव प्रविचेरुः ॥ १२ ॥
ताः प्राप्य रूपाणि महीरुहाणां पुष्पाणि चारूणि च पल्लवानि ।
प्रेष्य प्रयत्नानतिपत्य लोभादातेभिरे स्वेन पराक्रमेण ॥ १३ ॥
मार्गोपलब्धान् कुसुमाभिरामान् गुल्मांश्चलत्पल्लविनश्च वृक्षान् ।
पर्याप्तपुष्पाभरणस्रजोऽपि लोभादनालुप्य न ता व्यतीयुः ॥ १४ ॥

अथ ता वनरपगीयनयाक्षिप्यमाणहृदया राजयोगितस्तद्वनमनुविचरन्त्यः क्षान्तिवादिन आश्रमपदमुपजग्मुः । विदितनपःप्रभावमाहात्म्यास्तु तस्य मुनेः स्त्रीजनाधिकृता राज्ञो वाल्लभ्याद् दुरासदत्वाच्च तासां नैनास्तनो वारयितुं प्रसेहिरे । अभिसंस्कारमणीयतरया चाश्रमपदश्रिया समाकृष्यमाणा इव ता योषितः प्रविश्याश्रमपदं ददृशुस्तत्र तं मुनिवरं प्रशमसौम्यदर्शनमतिगाम्भीर्यातिशयाद् दुरासदमभिज्वलन्तमिव तपःश्रिया ध्यानाभियोगादुदारविषयसंनिकर्षेऽप्यक्षुभितेन्द्रियत्वेनैभृत्यशोभं साक्षाद्धर्ममिव मङ्गल्यं पुण्यदर्शनं वृक्षमूले बद्धासनमासीनम् ।

अथ ता राजस्त्रियस्तस्य तपस्तेजसाक्रान्तसत्त्वाः संदर्शनादेव त्यक्तविभ्रमविलासौद्धत्या विनयनिभृतमभिगम्यैनं पर्युपासांचक्रिरे । स तासां स्वागतादिप्रियवचनपुरःसरमतिथिजनमनोहरमुपचारविधिं प्रवर्त्य तत्परिप्रश्नोपपादितप्रस्तावाभिः स्त्रीजनसुखग्रहणार्थाभिर्दृष्टान्तवतीभिः कथाभिर्धर्मातिथ्यमासां चकार ।

अगर्हितां जातिमवाप्य मानुषीमनूनभावं पटुभिस्तथेन्द्रियैः ।
अवश्यमृत्युर्न करोति यः शुभं प्रमादभाक्प्रत्यहमेष वञ्च्यते ॥ १५ ॥
कुलेन रूपेण वयोगुणेन वा बलप्रकर्षेण धनोदयेन वा ।
परत्र नाप्नोति सुखानि कश्चन प्रदानशीलादिगुणैरसंस्कृतः ॥ १६ ॥
कुलादिहीनोऽपि हि पापनिःस्पृहः प्रदानशीलादिगुणाभिपत्तिमान् ।
परत्र सौख्यैरभिसार्यते ध्रुवं घनागमे सिन्धुजलैरिवार्णवः ॥ १७ ॥
कुलस्य रूपस्य वयोगुणस्य वा बलप्रकर्षस्य धनोच्छ्रयस्य वा ।
इहाप्यलंकारविधिर्गुणादरः समृद्धिसूचैव तु हेममालिका ॥ १८ ॥
अलंक्रियन्ते कुसुमैर्महीरुहास्तडिद्गुणैस्तोयविलम्बिनो घनाः ।
सरांसि मत्तभ्रमरैः सरोरुहैर्गुणैर्विशेषाधिगतैस्तु देहिनः ॥ १९ ॥
अरोगतायुर्धनरूपजातिभिर्निकृष्टमध्योत्तमभेदचित्रता ।
जनस्य चेयं न खलु स्वभावतः पराश्रयाद्वा त्रिविधा तु कर्मणः ॥ २० ॥

अवेत्य चैवं नियता जगत्स्थितिं चलं विनाशप्रवणं च जीवितम् ।
जहीत पापानि शुभक्रमाशयादय हि पन्था यशसे सुखाय च ॥ २१ ॥
मन प्रदोषस्तु परात्मनोर्हितं विनिर्दहन्नग्निरिव प्रवर्तते ।
अत प्रयत्नेन स पापभीरुणा जनेन वर्ज्यं प्रतिपक्षसश्रयात् ॥ २२ ॥
यथा समेत्य ज्वलितोऽपि पावकस्तटान्तसंसक्तजला महानदीम् ।
प्रशान्तिमायाति मनोज्वलस्तथा श्रितस्य लोकद्वितयक्षमा क्षमाम् ॥ २३ ॥

इति क्षान्त्या पापं परिहरति तद्धेत्वभिभवा-
दतश्चायं वैरं न जनयति मैत्र्याश्रयबलात् ।
प्रिय पूज्यश्चास्माद्भवति सुखभागेव च तत
प्रयात्यन्ते च द्या स्वगृहमिव पुण्याश्रयगुणात् ॥ २४ ॥

अपि च भवत्य क्षान्तिर्नामैषा—

शुभस्वभावातिशय प्रसिद्ध पुण्येन कीर्त्या च परा विवृद्धि ।
अतोयसंपर्ककृता विशुद्धिस्तैस्तैर्गुणौघैश्च परा समृद्धि ॥ २५ ॥
परोपरोधेषु सदानभिज्ञा व्यवस्थिति सत्त्ववता मनोज्ञा ।
गुणाभिनिर्वर्तितचारुसंज्ञा क्षमेति लोकार्थकरी कृपाज्ञा ॥ २६ ॥
अलक्रिया शक्तिसमन्विताना तपोधनाना बलसपदग्र्या ।
व्यापाददावानलवारिधारा प्रेत्येह च क्षान्तिरनर्थशान्ति ॥ २७ ॥
क्षमामये वर्मणि सज्जनाना विकुण्ठिता दुर्जनवाक्यबाणा· ।
प्राय· प्रशंसाकुसुमत्वमेत्य तत्कीर्तिमालावयवा भवन्ति ॥ २८ ॥
हन्तीति या धर्मविपक्षमाया प्राहु सुखा चैव विमोक्षमायाम् ।
तस्मान्न कुर्यात्क इव क्षमाया प्रयत्नमेकान्तहितक्षमायाम् ॥ २९ ॥

इति स महात्मा तासा धर्मातिथ्यं चकार। अथ स राजा निद्राक्लमविनोदनात्प्रतिविबुद्ध सावशेषमदगुरुनयनो मदनानुवृत्त्या कुत्र देव्य इति शयनपालिका सभ्रूक्षेप पर्यपृच्छत्। एता देव वनान्तराण्युपशोभयमानास्तद्विभूति पश्यन्तीति चोपलभ्य शयनपालिकाभ्य स राजा देवीजनस्य विस्रम्भनिर्यन्त्रणहसितकथितद्रवविचेष्टितदर्शनोत्सुकमतिरुत्थाय शयनाद्युवतिधृतच्छत्रव्यजनोत्तरीयखड्ग सकञ्चुकैर्वेत्रदण्डपाणिभिरन्त पुरावचरै कृतानुयात्रस्तद्वनमनुविचचार। स तत्र युवतिजनानैभृत्यविरचिता विविधकुसुमस्तबकपल्लवनिकरपद्धति ताम्बूलरसरागविचित्रामनुसरस्तदाश्रमपदमभिजगाम। दृष्ट्वैव तु स राजा क्षान्तिवादिनं तमृषिवर देवीजनपरिवृतं पूर्ववैरानुशयदोषान्मदपरिभ्रमितस्मृतित्वादीर्ष्यापराभूतमतित्वाच्च पर कोपमुपजगाम। प्रतिसंख्यानबलवैकल्याच्च भ्रष्टविनयोपचारसौष्ठव संरम्भपाप्माभिभवादापतितस्वेदवैवर्ण्यवेपथुर्भ्रूभङ्गजिह्मविवृत्तस्थिराभिताम्रनयनो विरक्तकान्तिलावण्यशोभ प्रचलत्कनकवलयो परिमृद्नन् साङ्गुलिविभूषणौ पाणी तमृषिवरमधिक्षिपंस्तत्तदुवाच। हंहो—

अस्मत्तेज खलीकृत्य पश्यन्नन्त पुराणि न ।
मुनिवेषप्रतिच्छन्न कोऽय वैतंसिकायते ॥ ३० ॥

तच्छ्रुत्वा वर्षवरा ससंभ्रमावेगा राजानमूचु —देव मा मैवम्। चिरकालसंभृतव्रतनियमतपोभावितात्मा मुनिरयं क्षान्तिवादी नामेति। उपहताध्याशयत्वात्तु स राजा तत्तेषा वचनमप्रतिगृह्णन्नुवाच—कष्ट भो !

चिरात्प्रभृति लोकोऽयमेवमेतेन वञ्च्यते।
कुहनाजिह्मभावेन तापसाकुम्भसात्मना ॥ ३१ ॥

तदयमस्य तापसनेपथ्यावच्छादितं मायाशाठ्यसभृत कुहकस्वभावं प्रकाशयामीत्युक्त्वा प्रतिहारीहस्तादसिमादाय हन्तुमुत्पतितनिश्चयस्तमृषिवरं सपत्नवदभिजगाम। अथ ता देव्य परिजननिवेदिताभ्यागमनमालोक्य राजान क्रोधसक्षिप्तसौम्यभावं वितानीभूतहृदया ससंभ्रमावेगचञ्चलनयना. समुत्थायाभिवाद्य च तमृषिवर समुद्यताञ्जलिकुड्मला शरन्नलिन्य इव समुद्गतैकपङ्कजाननमुकुला राजानमभिजग्मु ।

तत्तासा समुदाचारलीलाविनयसौष्ठवम्।
न तस्य शमयामास क्रोधाग्निज्वलितं मन ॥ ३२ ॥

लब्धतरप्राणप्रसरास्तु ता देव्य ससंरम्भविकारसमुदाचाररूक्षक्रम सायुधमभिपतन्त तमुदीक्ष्य राजानं तमृषिवरं प्रति विवर्तिताभिनिविष्टदृष्टि ममावृण्वत्य ऊचु —देव मा मा खलु साहसं कार्षी। क्षान्तिवादी भगवानयमिति। प्रदुष्टभावात्तु स राजा समावर्जितभावा नूनमनेनेमा इति सुष्ठुतरं कोपमुपेत्य स्फुटतरं भ्रूभङ्गैरसूयासमावेशतीक्ष्णैस्तिर्यगवेक्षितैस्तत्तासा प्रणयप्रागल्भ्यमवभर्त्स्यं सरोषमवेक्षमाण स्त्रीजनाधिकृताञ्छिर कम्पादाकम्पमानकुण्डलमुकुटविटपस्ता योपितोऽभिवीक्षमाण उवाच—

वदत्येव क्षमामेष न त्वेना प्रतिपद्यते।
तथा हि योषित्संपर्कतृष्णा न क्षान्तवानयम् ॥ ३३ ॥

वागन्यथान्यैव शरीरचेष्टा दुष्टाशयं मानसमन्यथैव।
तपोवने कोऽयमसंयतात्मा दम्भव्रताडम्बरधीरमास्ते ॥ ३४ ॥

अथ ता देव्यस्तस्मिन् राजनि क्रोधसंरम्भकर्कशहृदये प्रत्याहतप्रणया. प्रजानानाश्च तस्य राज्ञश्चण्डता दुरनुनेयता च वैमनस्यदैन्याक्रान्तमनस स्त्रीजनाधिकृतैर्भयविषादव्याकुलितैर्हस्तसंज्ञाभिरपसार्यमाणा व्रीडावनतवदनास्तमृषिवर्यं समनुशोचन्त्यस्ततोऽपचक्रमु ।

अस्मन्निमित्तमपराधविवर्जितेऽपि
दान्ते तपस्विनि गुणप्रथितेऽप्यमुष्मिन्।
को वेत्ति कामपि विवृत्य विकारलीला
केनापि यास्यति पथा क्षितिपस्य रोष ॥ ३५ ॥

क्षितीशवृत्तिं प्रतिलब्धकीर्तिं तनुं मुनेरस्य तपस्तनुं च।
अमून्यनागासि च नो मनासि तुल्यं हि हन्यादपि नाम राजा ॥ ३६ ॥

इति तासु देवीष्वनुशोचितविनिश्वसितमात्रपरायणास्वपयातासु स राजा तमृषिवर संतर्जयन् रोषवशान्निष्कृष्य खड्गं स्वयमेव च्छेत्तुमुपचक्रमे। निर्विकारधीरमसंभ्रान्तस्वस्थचेष्टितं च तं महासत्त्वमासाद्यमानमप्यवेक्ष्य सरम्भितरमेनमुवाच—

दाण्डाजिनिकतानेन प्रकर्षं गमिता यथा।
उद्वहन् कपटाटोपं मुनिवन्मामपीक्षते ॥ ३७ ॥

अथ बोधिसत्त्व क्षान्तिपरिचयादविचलितधृतिस्तेनासत्कारप्रयोगेण तं राजानं रोषसंरम्भविरूपचेष्टितं भ्रष्टविनयोपचारश्रियं विस्मृतात्महिताहितपथमागतविस्मय क्षणमभिवीक्ष्य करुणायमान समनुनेष्यन्नियतमीदृश किंचिदुवाच—

भाग्यापराधजनितोऽप्यपमानयो ।
संदृश्यते जगति तेन न मेऽत्र चिन्ता।
दुःखं तु मे यदुचिताभिगतेषु वृत्ति-
र्वाचापि न त्वयि मया क्रियते यथार्हम् ॥ ३८ ॥

अपि च महाराज,

असत्प्रवृत्तान् पथि संनियोक्ष्यता भवद्विधाना जगदर्थकारिणाम्।
न युक्तरूपं सहसा प्रवर्तितु विमर्शमार्गोऽप्यनुगम्यता यत ॥ ३९ ॥
अयुक्तवत्साध्वपि किंचिदीक्ष्यते प्रकाशतेऽसाध्वपि किंचिदन्यथा।
न कार्यतत्त्वं सहसैव लक्ष्यते विमर्शमप्राप्य विशेषहेतुभि । ४० ॥
विमृश्य कार्यं त्ववगम्य तत्त्वत प्रपद्य धर्मेण च नीतिवर्त्मना।
महान्ति धर्मार्थसुखानि साधयञ्जनस्य तैरेव न हीयते नृप ॥ ४१ ॥
विनीय तस्मादतिचापलान्मति यशस्यमेवार्हसि कर्म सेवितुम्।
अभिप्रथन्ते ह्यभिलक्षितात्मनामदृष्टपूर्वाश्चरितेष्वतिक्रमा. ॥ ४२ ॥
तपोवने त्वद्भुजवीर्यरक्षिते परेण यन्नाम कृतं न मर्षये।
हितक्रमोन्माथि यदार्यगर्हितं स्वयं महीनाथ कथं व्यवस्यसि ॥ ४३ ॥
स्त्रियोऽभियाता यदि ते ममाश्रम यदृच्छयान्त पुररक्षिभि सह।
व्यतिक्रमस्तत्र च नो भवेत्कियान् रुषा यदेव गमितोऽसि विक्रियाम् ॥ ४४ ॥
अथाप्ययं स्यादपराध एव मे क्षमा तु शोभेत तथापि ते नृप।
क्षमा हि शक्तस्य परं विभूषण गुणानुरक्षानिपुणत्वसूचनात् ॥ ४५ ॥
कपोललोलद्युतिनीलकुण्डले न मौलिरत्नद्युतय पृथग्विधा।
तथाभ्यलंकर्तुमल नृपान्यथा क्षमेति नैनामवमन्तुमर्हसि ॥ ४६ ॥
त्यजाक्षमा नित्यमसंश्रयक्षमा क्षमामिवारक्षितुमर्हसि क्षमाम्।
तपोधनेष्वभ्युदिता हि वृत्तय क्षितीश्वराणा बहुमानपेशला. ॥ ४७ ॥

इत्यनुनीयमानोऽपि स राजा तेन मुनिवरेणानार्जवोपहतमतिस्तमन्यथैवाभि-शङ्कमान पुनरुवाच—

न तापसच्छद्म बिभर्ति चेद्भवान्
स्थितोऽसि वा स्वे नियमव्रते यदि।
क्षमोपदेशव्यपदेशसंगतं
किमर्थमस्मादभय प्रयाचसे ॥ ४८ ॥

बोधिसत्त्व उवाच—श्रूयता महाराज यदर्थोऽय मम प्रयत्न ।

अनागसं प्रव्रजितमवधीद् ब्राह्मणं नृप ।
इति ते मत्कृते मा भूद्यशो वाच्यविजर्जरम् ॥ ४९ ॥
मर्तव्यमिति भूतानामय नैयमिको विधि ।
इति मे न भय तस्मात्स्व वृत्त चानुपश्यत ॥ ५० ॥
सुखोदर्कस्य धर्मस्य पीडा मा भूत्तथैव तु ।
क्षमामित्यवद तुभ्यं श्रेयोभिगमनक्षमाम् ॥ ५१ ॥
गुणानामाकरत्वाच्च दोषाणा च निवारणात् ।
प्राभृतातिशयप्रीत्या कथयामि क्षमामहम् ॥ ५२ ॥

अथ स राजा सूनृतान्यपि तान्यनादृत्य तस्य मुनेर्वचनकुसुमानि सासूय तमृषिवरमुवाच—द्रक्ष्याम इदानीं ते क्षान्त्यनुरागमित्युक्त्वा निवारणार्थमीषदभिप्रसारितमभ्युच्छ्रितप्रतनुदीर्घाङ्गुलि तस्य मुनेर्दक्षिणं पाणि निशितेनासिना कमलमिव नालदेशाद् व्ययोजयत् ।

छिन्नेऽग्रहस्तेऽपि तु तस्य नासीद्-
दु खं तथा क्षान्तिदृढव्रतस्य।
सुखोचितस्याप्रतिकारघोर
छेत्तुर्यथागामि समीक्ष्य दु खम् ॥ ५३ ॥

अथ बोधिसत्त्व कष्टमतिक्रान्तोऽयं स्वहितमर्यादामपात्रीभूतोऽनुनयस्येति वैद्यप्रत्याख्यातमातुरमिवैन समनुशोचंस्तूष्णीबभूव । अथैनं स राजा सतर्जयन् पुनरुवाच—

एव चाच्छिद्यमानस्य नाशमेष्यति ते तनु ।
मुञ्च दम्भव्रतं चेदं खलबुद्धिप्रलम्भनम् ॥ ५४ ॥

बोधिसत्त्वस्त्वनुनयाक्षममेन विदित्वाय च नामास्य निर्बन्ध इति नैनं किंचिदुवाच । अथ स राजा तस्य महात्मनो द्वितीयं पाणिमुभौ बाहू कर्णनासं चरणौ तथैव निचकर्त ।

पतति तु निशितेऽप्यसौ शरीरे न मुनिवर. स शुशोच नो चुकोप ।
परिविदितशरीरयन्त्रनिष्ठ परिचितया च जने क्षमानुवृत्त्या ॥ ५५ ॥
गात्रच्छेदेऽप्यक्षतक्षान्तिधीरं चित्तं तस्य प्रेक्षमाणस्य साधो. ।
नासीद् दु ख प्रीतियोगान्नृपं तु भ्रष्टं धर्माद्वीक्ष्य संतापमाप ॥ ५६ ॥
प्रतिसंख्यानमहता न तथा करुणात्मनाम् ।
बाधते दु खमुत्पन्नं परानेव यथाश्रितम् ॥ ५७ ॥
घोरं तु तत्कर्म नृप स कृत्वा सद्यो ज्वरेणानुगतोऽग्निनेव ।
विनिर्गतश्चोपवनान्तदेशाद् गा चावदीर्णां सहसा विवेश ॥ ५८ ॥

निमग्ने तु तस्मिन् राजनि भीमशब्दमवदीर्णाया वह्निज्वालाकुलाया समुद्भूते महति कोलाहले समन्तत प्रक्षुभिते व्याकुले राजकुले तस्य राज्ञोऽमात्या जानानास्तस्य मुनेस्तपप्रभावमाहात्म्य तत्कृतं च राज्ञो धरणीतलनिमज्जनं मन्यमानाः

पुरायमृषिवरस्तस्य राज्ञो दोषात्सर्वमिदं जनपदं निर्दहतीति जातभयाशङ्का समभिगम्य तमृषिवरमभिप्रणम्य क्षमयमाणा कृताञ्जलयो विज्ञापयामासु —

इमामवस्थां गमितोऽसि येन नृपेण मोहादतिचापलेन ।
शापानलस्येन्धनतां स एव प्रयातु ते मा पुरमस्य धाक्षी ॥ ५९ ॥
स्त्रीबालवृद्धातुरविप्रदीनाननागसो नार्हसि दग्धुमत्र ।
तत्साधु देशं क्षितिपस्य तस्य स्वं चैव धर्मं गुणपक्ष रक्ष ॥ ६० ॥

अथैतान् बोधिसत्त्वः समाश्वासयन्नुवाच - मा भैष्ट आयुष्मन्त ।

सपाणिपादमसिना कर्णनासमनागसः ।
छिन्नवान् योऽपि तावन्मे वने निवसतः सतः ॥ ६१ ॥
कथं तस्यापि दुःखाय चिन्तयेदपि मद्विध ।
चिर जीवत्वसो राजा मा चैन पापमागमत् ॥ ६२ ॥
मरणव्याधिदुःखार्ते लोभद्वेषवशीकृते ।
दग्धे दुश्चरितै शोच्ये क कोप कर्तुमर्हति ॥ ६३ ।
स्यात्लभ्यरूपस्तु यदि क्रमोऽयं मय्येव पच्येत तदस्य पापम् ।
दुःखानुबन्धो हि सुखोचिताना भवत्यदीर्घोऽप्यविषह्यतीक्ष्ण ॥ ६४ ॥
त्रातु न शक्यस्तु मया यदेवं विनिर्दहन्नात्महित स राजा ।
उत्सृज्य तामात्मगतामशक्ति राज्ञे करिष्यामि किमित्यसूयाम् ॥ ६५ ॥
ऋतेऽपि राज्ञो मरणादिदुःख जातेन सर्वेण निषेवितव्यम् ।
जन्मैव तेनात्र न मर्षणीय तन्नास्ति चेत्कि च कुतश्च दुःखम् ॥ ६६ ॥
कल्पाननल्पान् बहुधा विनष्ट शरीरकं जन्मपरंपरासु ।
जह्या कथं तत्प्रलये तितिक्षा तृणस्य हेतोरिव रत्नजातम् ॥ ६७ ॥
वने वसन् प्रव्रजितप्रतिज्ञ क्षमाभिधायी नचिरान्मरिष्यन् ।
किमक्षमायाः प्रणयं करिष्ये तद्भद्रं मा स्वस्ति च वोऽस्तु यात ॥ ६८ ।
इति स मुनिवरोऽनुशिष्य तान् सममुपनीय च साधुशिष्यताम् ।
अविचलितधृति क्षमाश्रगात्समधिरुरोह दिव क्षमाश्रयात् ॥ ६९ ॥

तदेवं सात्मीभूतक्षमाणां प्रतिसंख्यानमहतां नाविषह्य नामास्तीति क्षान्तिगुणसंवर्णने मुनिमुपनीय वाच्यम् । चापलाक्षान्तिदोषनिदर्शने राजानमुपनीय कामादीनवकथायामपि वाच्यम्—एवं कामहेतोर्दुश्चरितमासेव्य विनिपातभागिनो भवन्तीति । संपदामनित्यतासंदर्शने चेति ।

॥ इति क्षान्ति-जातकमष्टाविंशतितमम् ॥

— —

२९. ब्रह्म-जातकम्

मिथ्यादृष्टिपरमाण्यवद्यानीति विशेषानुकम्प्या सतां दृष्टिव्यसनगता । तद्यथानुश्रूयते—

बोधिसत्त्व किलायं भगवान् ध्यानाभ्यासोपचितस्य कुशलस्य कर्मणो

विपाकप्रभावाद् ब्रह्मलोके जन्म प्रतिलेभे। तस्य तन्महदपि ध्यानविशेषाधिगतं ब्राह्मं सुखं पूर्वजन्मसु कारुण्यपरिचयान्नैव परहितकरणव्यापारनिरुत्सुकं मनश्चकार।

विषयसुखेनापि परां प्रमादवक्तव्यतां व्रजन्ति लोकः।
ध्यानसुखैरपि तु सतां न तिरस्क्रियते परहितेच्छा॥ १॥

अथ कदाचित्स महात्मा करुणाश्रयभूतं विविधदुःखव्यसनशतोपसृष्टमुत्क्लिष्ट-व्यापादविहिंसाकामधातुं कामधातुं व्यवलोकयन् ददर्श विदेहराजमङ्गदिन्नं नाम कुमित्रसंपर्कदोषादसन्मनस्कारपरिचयाच्च मिथ्यादृष्टिगहने परिभ्रमन्तम्। नास्ति परलोकः, कुतः शुभाशुभानां कर्मणां विपाक इत्येवं स निश्चयमुपेत्य प्रशान्तधर्मक्रियो-त्सुक्यः प्रदानशीलादिसुकृतप्रतिपत्तिविमुखः संरूढारिभवबुद्धिर्धार्मिकेष्वश्रद्धारूक्षमति-र्धर्मशास्त्रेषु परिहासचित्तः परलोककथासु शिथिलविनयोपचारगौरवबहुमानः श्रमण-ब्राह्मणेषु कामसुखपरायणो बभूव।

शुभाशुभं कर्म सुखासुखोदयं ध्रुवं परत्रेति विरूढनिश्चयः।
अपास्य पापं यतते शुभाश्रयो यदृच्छयाश्रद्धतया तु गम्यते॥ २॥

अथ स महात्मा देवर्षिस्तस्य राज्ञस्तेन दृष्टिव्यसनोपनिपातेनापायिकेन लोका-नर्थाकरभूतेन समावर्जितानुकम्पस्तस्य राज्ञो विषयसुखाकलितमतेः श्रीमति प्रविविक्ते विमानदेशेऽवतिष्ठमानस्याभिज्वलन् ब्रह्मलोकात्पुरस्तात्समवततार।

अथ स राजा तमग्निस्कन्धमिव ज्वलन्तं विद्युत्समूहमिव चावभासमानं दिन-करकिरणसंघातमिव च परया दीप्त्या विरोचमानमभिवीक्ष्य तत्तेजसाभिभूतमतिः ससंभ्रमं प्राञ्जलिरेनं प्रत्युत्थाय सबहुमानमुदीक्षमाण इत्युवाच—

करोति ते भूरिव संपरिग्रहं नभोऽपि पद्मोपमपाद पादयोः।
विभासि सौरीमिव चोद्वहन् प्रभां विलोचनानन्दनरूप को भवान्॥ ३॥

बोधिसत्त्व उवाच—

जित्वा दृप्तौ शात्रवमुख्याविव संख्ये
रागद्वेषौ चित्तसमादानबलेन।
ब्राह्मं लोकं येऽभिगता भूमिप तेषां
देवर्षीणामन्यतमं मा त्वमवेहि॥ ४॥

इत्युक्ते स राजा स्वागतादिप्रियवचनपुरःसरं पाद्यार्घ्यसत्कारमस्मै समुपहृत्य सविस्मयमेनमभिवीक्षमाण उवाच—आश्चर्यरूपः खलु ते महर्षे ऋद्धिप्रभावः।

प्रासादभित्तिष्वविपज्यमानश्चङ्क्रम्यसे व्योम्नि यथैव भूमौ।
शतह्रदोन्मेषसमृद्धदीप्ते प्रचक्ष्व तत्केन तवेयमृद्धिः॥ ५॥

बोधिसत्त्व उवाच—

ध्यानस्य शीलस्य च निर्मलस्य वरस्य चैवेन्द्रियसंवरस्य।
सात्मीकृतस्यान्यभवेषु राजन्नेवंप्रकारा फलसिद्धिरेषा॥ ६॥

राजोवाच—किं सत्यमेवेदमस्ति परलोक इति? ब्रह्मोवाच-आम्। अस्ति महाराज परलोकः। राजोवाच-कथं पुनरिदं मार्ष शक्यमस्माभिरपि श्रद्धातुं स्यात्?

बोधिसत्त्व उवाच-स्थूलमेतन्महाराज प्रत्यक्षादिप्रमाणयुक्तिग्राह्यमाप्तजननिर्दशितक्रमं परीक्षाक्रमगम्यं च। पश्यतु भवान्।

चन्द्रार्कनक्षत्रविभूषणा द्यौस्तिर्यग्विकल्पाश्च बहुप्रकाराः।
प्रत्यक्षरूपः परलोक एष मा तेऽत्र संदेहजडा मतिर्भूत् ॥ ७ ॥
जातिस्मराः सन्ति च तत्र तत्र ध्यानाभियोगात्स्मृतिपाटवाच्च।
अतोऽपि लोकः परतोऽनुमेयः साक्ष्यं च नन्वत्र कृतं मयैव ॥ ८ ॥
यद्बुद्धिपूर्वैव च बुद्धिसिद्धिर्लोकः परोऽस्तीति ततोऽप्यवेहि।
आद्या हि या गर्भगतस्य बुद्धिः सानन्तरं पूर्वकजन्मबुद्धेः ॥ ९ ॥
ज्ञेयावबोधं च वदन्ति बुद्धिं जन्मादिबुद्धेर्विषयोऽस्ति तस्मात्।
न चैहिकोऽसौ नयनाद्यभावात्सिद्धौ यदीयस्तु परः स लोकः ॥ १० ॥
पित्र्यं स्वभावं व्यतिरिच्य दृष्टः शीलादिभेदश्च यतः प्रजानाम्।
नाकस्मिकस्यास्ति च यत्प्रसिद्धिर्जात्यन्तराभ्यासमयः स तस्मात् ॥ ११ ॥
पटुत्वहीनेऽपि मतिप्रभावे जडप्रकारेष्वपि चेन्द्रियेषु।
विनोपदेशात्प्रतिपद्यते यत्प्रसूतमात्रः स्तनपानयत्नम् ॥ १२ ॥
आहारयोग्यासु कृतश्रमत्वं तद्दर्शयत्यस्य भवान्तरेषु।
अभ्यासिसिद्धिर्हि पटूकरोति शिक्षागणं कर्मसु तेषु तेषु ॥ १३ ॥

तत्र चेत्परलोकसंप्रत्ययापरिचयात्स्यादियमाशङ्का भवतः—

यत्संकुचन्ति विकसन्ति च पङ्कजानि
कामं तदन्यभवचेष्टितसिद्धिरेषा।
नो चेत्तदिष्टमथ किं स्तनपानयत्नं
जात्यन्तरीयकपरिश्रमजं करोषि ॥ १४ ॥

सा चाशङ्का नानुविधेया नियमानियमदर्शनात्प्रयत्नानुपपत्त्युपपत्तिभ्यां च।

दृष्टो हि कालनियमः कमलप्रबोधे
संमीलने च न पुनः स्तनपानयत्ने।
यत्नश्च नास्ति कमले स्तनपे तु दृष्टः
सूर्यप्रभाव इति पद्मविकासहेतुः ॥ १५ ॥

तदेवं महाराज सम्यगुपपरीक्षमाणेन शक्यमेतच्छ्रद्धातुम्—अस्ति परलोक इति। अथ स राजा मिथ्यादृष्टिपरिग्रहाभिनिविष्टबुद्धित्वादुपचितपापत्वाच्च तां परलोककथां श्रुत्वा असुखायमान उवाच—भो महर्षे,

लोकः परो यदि न बालविभीषिकैषा
ग्राह्यं मयैतदिति वा यदि मन्यसे त्वम्।
तेनेह नः प्रदिश निष्कशतानि पञ्च
तत्ते सहस्रमहमन्यभवे प्रदास्ये ॥ १६ ॥

अथ बोधिसत्त्वस्तदस्य प्रागल्भ्यपरिचयनिर्विशङ्कं मिथ्यादृष्टिविषोद्गारभूतमसमुदाचारवचनं युक्तेनैव क्रमेण प्रत्युवाच—

इहापि तावद्धनसंपदर्थिन प्रयुञ्जते नैव धनं दुरात्मनि।
न घस्मरे नानिपुणे न चालसे गत हि यत्तत्र तदन्तमेति तत् ॥ १७ ॥
यमेव पश्यन्ति तु सम्यपत्रपं शमाभिजात व्यवहारनैपुणम्।
ऋण प्रयच्छन्ति रहोऽपि तद्विधे तदर्पणं ह्यभ्युदयावहं धनम् ॥ १८ ॥
क्रमश्च तावद्विध एव गम्यतामृणप्रयोगे नृप पारलौकिके।
त्वयि त्वसद्दर्शनदुष्टचेष्टिते धनप्रयोगस्य गतिर्न विद्यते ॥ १९ ॥
कुदृष्टिदोषप्रभवैर्हि दारुणैर्निपातित त्वा नरके स्वकर्मभि ।
विचेतस निष्कसहस्रकारणाद्रुजातुर क प्रतिचोदयेत्तत ॥ २० ॥
न तत्र चन्द्रार्ककरैर्दिगङ्गना विभान्ति सक्षिप्तनमोऽवगुण्ठना ।
न चैव तारागणभूपण नभ सर प्रबुद्धै कुमुदैरिवेक्ष्यते ॥ २१ ॥
परत्र यस्मिन्निवसन्ति नास्तिका घन तमस्तत्र हिमश्च मारुत ।
करोति योऽस्थीन्यपि दारयन् रुज तमात्मवान् क प्रविशेद्धनेप्सया ॥ २२ ॥
घनान्धकारे पटुधूमदुर्दिने भ्रमन्ति केचिन्नरकोदरे चिरम्।
स्ववध्रचीरप्रविकर्षणातुरा परस्परप्रस्खलनार्तनादिन ॥ २३ ॥
विशीर्यमाणैश्चरणैर्मुहुर्मुहुर्ज्वलत्कुकूले नरके तथापरे।
दिश प्रधावन्ति तदुन्मुमुक्षया न चान्तमायान्त्यशुभस्य नायुष ॥ २४ ॥
आतक्ष्य तक्षाण इवापरेषा गात्राणि रौद्रा विनियम्य याम्या ।
निस्तक्षणुवन्त्येव शिताग्रशस्त्रा सार्द्रेषु दारुष्विव लब्धहर्षा ॥ २५ ॥
समुत्कृत्तसर्वत्वचो वेदनार्ता विमासीकृता केचिदप्यस्थिशेषा ।
न चायान्ति नाशं धृता दुष्कृतै स्वैस्तथा चापरे खण्डशश्छिद्यमाना. ॥ २६ ॥
ज्वलितपृथुखलीनपूर्णवक्त्रा स्थिरदहनासु महीष्वयोमयीषु।
ज्वलनकपिलयोक्त्रतोत्रवश्याश्चिरमपरे ज्वलतो रथान् वहन्ति ॥ २७ ॥

सघातपर्वतसमागमपिष्टदेहा
केचित्तदाक्रमणचूर्णितमूर्तयोऽपि।
दु खे महत्यविकलेऽपि च नो म्रियन्ते
यावत्परिक्षयमुपैति न कर्म पापम् ॥ २८ ॥

द्रोणीषु केचिज्ज्वलनोज्ज्वलासु लौहैर्महद्भिर्मुसलैर्ज्वलद्भि ।
समानि पञ्चापि समाशतानि सचूर्ण्यमाना विसृजन्ति नासून् ॥ २९ ॥
तीक्ष्णायसज्वलितकण्टककर्कशेषु तप्तेषु विद्रुमनिभेष्वपरे द्रुमेषु।
पाट्यन्त ऊर्ध्वमध एव च कृष्यमाणा क्रूरै रवैरपुरुषै पुरुषैर्यमस्य ॥ ३० ॥
ज्वलितेषु तप्ततपनीयनिभेष्वङ्गारराशिषु महत्स्वपरे ।
उपभुञ्जते स्वचरितस्य फलं विस्पन्दितारसितमात्रबला ॥ ३१ ॥

केचित्तीक्ष्णै शङ्कुशतैराततजिह्वा
ज्वालामालादीप्ततरायां वसुधायाम्।
रारट्यन्ते तीव्ररुजाविष्टशरीरा
प्रत्याय्यन्ते ते च तदानी परलोकम् ॥ ३२ ॥

आवेष्ट्यन्ते लोहपट्टैर्ज्वलद्भिर्निष्क्काथ्यन्ते लोहकुम्भीष्वथान्ये ।
केचित्तीक्ष्णै शस्त्रवर्षै क्षताङ्गा निस्त्वङ्मासा व्यालसधै क्रियन्ते ॥ ३३ ॥
केचित्क्लान्ता वह्निसंस्पर्शतीक्ष्ण क्षार तोयं वैतरण्या विशन्ति ।
संशीर्यन्ते यत्र मासानि तेषा नो तु प्राणा दुष्कृतैर्धार्यमाणा ॥ ३४ ॥
अशुचिकुणपमभ्युपेयिवासो ह्रदमिव दाहपरिश्रमार्तचित्ता ।
अतुलमनुभवन्ति तत्र दु ख क्रिमिशतजर्जरितास्थिभि शरीरै ॥ ३५ ॥
ज्वलनपरिगता ज्वलच्छरीरा श्चिरमपरेऽनुभवन्ति दाहदु खम् ।
ज्वलनपरिगतायतप्रकाशा स्वकृतधृता न च भस्मसाद्भवन्ति ॥ ३६ ॥
पाट्यन्ते क्रकचैर्ज्वलद्भिरपरे केचिन्निशातै क्षुरै
केचिन्मुद्गरवेगपिष्टशिरस कूजन्ति शोकातुरा ।
पच्यन्ते पृथुशूलभिन्नवपुष केचिद्विधूमेऽनले
पाय्यन्ते ज्वलिताग्निवर्णमपरे लोह रसन्तो रसम् ॥ ३७ ॥
अपरे श्वभिर्भृशबलै शबलैरभिपत्य तीक्ष्णदशनैर्दशने ।
परिलुप्तमासतनवस्तनव प्रपतन्ति दीनविरुता विरुता ॥ ३८ ॥
एवप्रकारमसुख निरयेषु घोरं
प्राप्तो भविष्यति (भवान्) स्वकृतप्रणुन्न ।
शोकातुर श्रमविषादपरीतचित्त
याचेद्दण क इव नाम तदा भवन्तम् ॥ ३९ ॥
लौहीषु दुर्जनकलेवरसंकुलासु
कुम्भीष्वभिज्वलितवह्निदुरासदासु ।
प्रक्वाथवेगवशग विवशं भ्रमन्तं
याचेद्दणं क इव नाम तदा भवन्तम् ॥ ४० ॥
यच्चायसज्वलितकीलनिबद्धदेह
निर्धूमवह्निकपिले वसुधातले वा ।
निर्दह्यमानवपुष करुण रुदन्तं
याचेद्दण क इव नाम तदा भवन्तम् ॥ ४१ ॥
प्राप्त पराभव त दु खानि महान्ति कस्तदानुभवन्तम् ।
याचेद्दणं भवन्त प्रतिवचनमपि प्रदातुमप्रभवन्तम् ॥ ४२ ॥
विशस्यमान हिममारुतेन वा निकूजितव्येऽपि विपन्नविक्रमम् ।
विदार्यमाण भृशमार्तिनादिन परत्र कस्त्वार्हति याचितु धनम् ॥ ४३ ॥
विहिंस्यमान पुरुषैर्यमस्य वा विचेष्टमान ज्वलितेऽथवानले ।
श्वायसैर्व्याहृतमासशोणित परत्र कस्त्वा धनयाच्ञया तुदेत् ॥ ४४ ॥
वधविकर्तनताडनपाटनैर्दहनतक्षणपेषणभेदनै ।
विशसनैर्विविधैश्च सदातुर कथमृण प्रतिदास्यसि मे तदा ॥ ४५ ॥

अथ स राजा, ता निरयकथामतिभीषणा समुपश्रुत्य जातसवेगस्त्यक्तमिथ्यादृष्ट्यनुरागो लब्धसंप्रत्यय परलोके, तमृषिवर प्रणम्योवाच—

निशम्य तावन्नरकेषु यातना भयादिद विद्रवतीव मे मन ।
कथं भविष्यामि न ता समेयिवान् वितर्कवह्निर्दहतीव मा पुन. ॥ ४६ ॥
मया ह्यसद्दर्शननष्टचेतसा कुवर्त्मना यातमदीर्घदर्शिना ।
तदत्र मे साधुगतिर्गतिर्भवान् परायणं त्वं शरण च मे मुने ॥ ४७ ॥
यथैव मे दृष्टितमस्त्वयोद्धृतं दिवाकरेणेव समुद्यता तम ।
तथैव मार्ग त्वमृषे प्रचक्ष्व मे भजेय येनाहमितो न दुर्गतिम् ॥ ४८ ॥

अथैनं बोधिसत्त्व संविग्नमानसमृजूभूतदृष्टि धर्मप्रतिपत्तिपात्रभूतमवेक्ष्य पितेव पुत्रमाचार्य इव च शिष्यमनुकम्पमान इति समनुशशास —

सुशिष्यवृत्त्या श्रमणद्विजेषु पूर्वं गुणप्रेम यथा विचक्रु ।
नृपा स्ववृत्त्या च दया प्रजासु कीर्तिक्षम स त्रिदिवस्य पन्था ॥ ४९ ॥
अधर्ममस्माद् भृशदुर्जय जयन् कदर्यभाव च दुरुत्तर तरन् ।
उपैहि रत्नातिशयोज्ज्वल ज्वलन् दिवस्पते काञ्चनगोपुर पुरम् ॥ ५० ॥
मनस्यसद्दर्शनसस्तुतेऽस्तु ते रुचिस्थिरं सज्जनसमत मतम् ।
जहीहि त बालिशरञ्जनैर्जनै प्रवेदितोऽधर्मविनिश्चयश्च य ॥ ५१ ॥
त्वया हि सद्दर्शनसाधुनाधुना नरेन्द्र वृत्तेन यियासता सता ।
यदैव चित्ते गुणरूक्षता क्षता तदैव ते मार्गकृतास्पदं पदम् ॥ ५२ ॥
कुरुष्व तस्माद् गुणसाधन धनं शिवा च लोके स्वहितोदया दयाम् ।
स्थिर च शीलेन्द्रियसंवरं वरं परत्र हि स्यादशिवं न तेन ते ॥ ५३ ॥
स्वपुण्यलक्ष्म्या नृप दीप्तयाप्तया सुकृत्सु शुक्लत्वमनोज्ञयाज्ञया ।
चरात्मनोऽर्थप्रतिसहितं हितं जगद्व्यथा कीर्तिमनोहरं हरन् ॥ ५४ ॥
त्वमत्र सन्मानससारथी रथी स्व एव देहो गुणसूरथो रथ ।
अरूक्षताक्षो दमदानचक्रवान् समन्वित पुण्यमनीषयेषया ॥ ५५ ॥
यतेन्द्रियाश्व स्मृतिरश्मिसंपदा मतिप्रतोद श्रुतिविस्तरायुध ।
ह्र्युपस्कर संनतिचारुकूबर क्षमायुगो दाक्षगतिर्धृतिस्थिर ॥ ५६ ॥
असद्वच सयमनादकूजनो मनोज्ञवाङ् मन्द्रगभीरनिस्वन. ।
अमुक्तसंधिर्नियमाविखण्डनादसत्क्रियाजिह्मविवर्जनार्जव ॥ ५७ ॥
अनेन यानेन यश पताकिना दयानुयात्रेण शमोच्चकेतुना ।
चरन् परात्मार्थममोहभास्वता न जातु राजन्निरयं गमिष्यसि ॥ ५८ ॥

इति स महात्मा तस्य राज्ञस्तदसद्दर्शनान्धकारं भास्वरैर्वचनकिरणैर्व्यवधूय प्रकाश्य चास्मै सुगतिमार्गं तत्रैवान्तर्दधे। अथ स राजा समुपलब्धपरलोकवृत्तान्ततत्त्व प्रतिलब्धसम्यग्दर्शनचेता सामात्यपौरजानपदो दानदमसंयमपरायणो बभूव।

तदेवं मिथ्यादृष्टिपरमाण्यवद्यानीति विशेषेणानुकम्प्या सता दृष्टिव्यसनगता । एवं सद्धर्मश्रवणं परिपूर्णा श्रद्धा परिपूरयतीत्येवमप्युपनेयम्। एवं परतो धर्मश्रवणं सम्यग्दृष्ट्युत्पादप्रत्ययो भवतीत्येवमप्युपनेयम्। एवमासादनामपि सन्त-

स्तद्धितोपदेशेन प्रतिनुदन्ति क्षमापरिचयान्न पारुष्येणेति सत्प्रशंसायां क्षमावर्णेऽपि वाच्यम्। संवेगादेवमाशु श्रेयोभिमुखता भवतीति सवेगकथायामपि वाच्यमिति।

॥ इति ब्रह्म-जातकमेकोनत्रिंशत्तमम् ॥

———

३० हस्ति-जातकम्

परहितोदर्कं दुःखमपि साधवो लाभमिव बहु मन्यन्ते। तद्यथानुश्रूयते—

बोधिसत्त्वः किल अन्यतमस्मिन् नागवने पुष्पफलपल्लवालक्षितशिखरैरलंकृत इव तत्र तरुवरतरुणैर्विविधवीरुत्तरुतृणपिहितभूमिभागे वनरामणीयकनिबद्धहृदयैरनुत्कण्ठितमध्यास्यमान इव पर्वतस्थलैराश्रयभूते वनचराणां गम्भीरविपुलसलिलाशयसनाथे महता निर्वृक्षक्षुपसलिलेन कान्तारेण समन्ततस्तिरस्कृतजनान्ते महाकाय एकचरो हस्ती बभूव।

स तत्र तरुपर्णेन बिसेन सलिलेन च।
अभिरेमे तपस्वीव संतोषेण शमेन च ॥ १ ॥

अथ कदाचित्स महासत्त्वस्तस्य वनस्य पर्यन्ते विचरन् यतस्तत्कान्तारं ततो जनशब्दमुपशुश्राव। तस्य चिन्ता प्रादुरभूत्-किं नु खल्विदम्? न तावदनेन प्रदेशेन कश्चिद्देशान्तरगामी मार्गोऽस्ति। एवं महत्कान्तारं च व्यतीत्य मृगयापि न युज्यते प्रागेव महासमारम्भपरिखेदमस्मत्सयूथ्यग्रहणम्।

व्यक्तं त्वेते परिभ्रष्टा मार्गाद्वा मूढदैशिका।
निर्वासिता वा क्रुद्धेन राज्ञा स्वेनानयेन वा ॥ २ ॥
तथा ह्ययमनोजस्को नष्टहर्षोद्धवद्रव।
केवलार्तिबल शब्द श्रूयते रुदतामिव ॥ ३ ॥

तज्ज्ञास्यामि तावदेनमिति स महासत्त्व करुणया समाकृष्यमाणो यत स जननिर्घोषो बभूव तत. प्रससार। विस्पष्टतरविलापं च विषाददैन्यविरस तमाक्रन्दितशब्दमुपश्रृण्वन् कारुण्यपर्युत्सुकमना स महात्मा द्रुततर ततोऽभ्यगच्छत्। निर्गम्य च तस्माद्वनगहनान्निर्वृक्षक्षुपत्वात्तस्य देशस्य दूर एवावलोकयन् ददर्श सप्तमात्राणि पुरुषशतानि क्षुत्तर्षपरिश्रममन्दानि तद्वनमभिमुखानि प्रार्थयमानानि। तेऽपि च पुरुषास्तं महासत्त्वं ददृशुर्जङ्गममिव हिमगिरिशिखरं नीहारपुञ्जमिव शरद्बलाहकमिव पवनबलावर्जितमभिमुखमायान्तम्। दृष्ट्वा च विषाददैन्यपरीता हन्तेदानीं नष्टा वयमिति भयग्रस्तमनसोऽपि क्षुत्तर्षपरिश्रमविहतोत्साहा नापयानप्रयत्नपरा बभूवु।

ते विषादपरीतत्वात्क्षुत्तर्षश्रमविह्वला।
नापयानसमुद्योगं भयेऽपि प्रतिपेदिरे ॥ ४ ॥

अथ बोधिसत्त्वो भीतानवेत्यैतान्-मा भैष्ट, भैष्ट न वो भयमस्ति मत्त इति समुच्छ्रितेन स्निग्धाभिताम्रपृथुपुष्करेण करेण समाश्वासयन्नभिगम्य करुणायमाण पप्रच्छ—केऽत्रभवन्त? केन चेमा दशामनुप्राप्ता स्थ?

रज सूर्यांशुसंपर्काद्विवर्णाकृतय कृशा।
शोकक्लमार्ताः के यूयमिह चाभिगताः कुत ॥ ५ ॥

अथ ते पुरुषास्तस्य तेन मानुपेणाभिव्याहारेणाभयप्रदानाभिव्यञ्जकेन चाभ्युपपत्तिसौमुख्येन प्रत्यागतहृदया समभिप्रणम्यैनमूचु —

कोपोत्पातानिलेनेह क्षिप्ता क्षितिपतेर्वयम् ।
पश्यता शोकदीनाना बन्धूना द्विरदाधिप ॥ ६ ॥
अस्ति नो भाग्यशेषस्तु लक्ष्मीश्चाभिमुखी ध्रुवम् ।
सुहृद्वन्धुविशिष्टेन यद् दृष्टा भवता वयम् ॥ ७ ॥
निस्तीर्णामापद चेमा विद्मस्त्वद्दर्शनोत्सवात् ।
स्वप्नेऽपि त्वद्विध दृष्ट्वा को हि नापदमुत्तरेत् ॥ ८ ॥

अथैनान् स द्विरदवर उवाच—अथ कियन्तोऽत्रभवन्त इति ? मनुष्या ऊचु.—

सहस्रमेतद्वसुधाधिपेन त्यक्त नृणामत्र मनोज्ञगात्र ।
अदृष्टदु खा बहवस्ततस्तु क्षुत्तर्षशोकाभिभवाद्विनष्टा ॥ ९ ॥
एतानि तु स्युर्द्विरदप्रधान सप्तावशेषाणि नृणा शतानि ।
निमज्जता मृत्युमुखे तु येषा मूर्तस्त्वमाश्वास इवाभ्युपेत ॥ १० ॥

तच्छ्रुत्वा तस्य महासत्त्वस्य कारुण्यपरिचयादश्रूणि प्रावर्तन्त । समनुशोचंश्चेनान्नियतमीदृशं किंचिदुवाच – कष्टं भो !

घृणाविमुक्ता बत निर्व्यपत्रपा नृपस्य बुद्धि परलोकनिर्व्यथा ।
अहो तडिच्चञ्चलया नृपश्रिया हृतेन्द्रियाणा स्वहितानवेक्षिता ॥ ११ ॥
अवैति मन्ये न स मृत्युमग्रत शृणोति पापस्य न वा दुरन्तताम् ।
अहो बतानाथतमा नराधिपा विमर्शमान्द्याद्वचनक्षमा न ये ॥ १२ ॥
देहस्यैकस्य नामार्थे रोगभूतस्य नाशिन ।
इद सत्त्वेषु नैर्घृण्यं धिगहो बत मूढताम् ॥ १३ ॥

अथ तस्य द्विरदपतेस्तान् पुरुषान् करुणास्निग्धमवेक्षमाणस्य चिन्ता प्रादुरभूत्– एवममी क्षुत्तर्षश्रमपीडिता परिदुर्बलशरीरा निरुदकमप्रच्छायमनेकयोजनायाम कान्तारमपथ्यादना कथं व्यतियास्यन्ति ? नागवनेऽपि च कि तदस्ति येनैषामेकाहमपि तावदपरिक्लेशेन वार्ता स्यात् ? शक्येयु पुनरेते मदीयानि मासानि पाथेयतामुपनीय दृतिभिरिव च ममान्त्रै सलिलमादाय कान्तारमेतन्निस्तरितुं नान्यथा ।

करोमि तदिदं देहं बहुरोगशताश्रयम् ।
एषा दु खपरीतानामापदुत्तरणप्लवम् ॥ १४ ॥
स्वर्गमोक्षसुखप्राप्तिसमर्थ जन्म मानुषम् ।
दुर्लभं च तदेतेषा मैव विलयमागमत् ॥ १५ ॥
स्वगोचरस्थस्य ममाभ्युपेता धर्मेण चेमेऽतिथयो भवन्ति ।
आपद्गता बन्धुविवर्जिताश्च मया विशेषेण यतोऽनुकम्प्या ॥ १६ ॥
चिरस्य तावद्वहुरोगभाजनं सदातुरत्वाद्विविधश्रमाश्रय ।
शरीरसंज्ञोऽयमनर्थविस्तर परार्थकृत्ये विनियोगमेष्यति ॥ १७ ॥

अथैनमन्ये क्षुत्तर्षश्रमधर्मदु खातुरशरीरा कृताञ्जलय साश्रुनयना समभिप्रणम्यार्ततया हस्तसंज्ञाभि पानीयमयाचन्त ।

त्वं नो बन्धुरबन्धूना त्वं गति शरणं च नः।
यथा वेत्सि महाभाग तथा नस्त्रातुमर्हसि ॥ १८ ॥

इत्येनमन्ये सकरुणमूचुः। अपरे त्वेनं धीरतरमनस सलिलप्रदेश कान्तारदुर्गोत्तारणाय च मार्गं पप्रच्छु.—

जलाशय शीतजला सरिद्वा यद्यत्र वा नैर्झरमस्ति तोयम्।
छायाद्रुम शाद्वलमण्डलं वा तन्नो द्विपानामधिप प्रचक्ष्व ॥ १९ ॥
कान्तारं शक्यमेतच्च निस्तर्तुं मन्यसे व्रत ।
अनुकम्पा पुरस्कृत्य ता दिशं साधु निर्दिश ॥ २० ॥

सबहुलानि हि दिनान्यत्र न कान्तारे परिभ्रमताम्। तदर्हसि न स्वामिन्निस्तारयितुमिति।

अथ स महात्मा तै करुणै प्रयाचितैस्तेषा भृशतरमाक्लेदितहृदयो यतस्तत्कान्तारं शक्यं निस्तर्तु बभूव, तत एषा पर्वतस्थलं संदर्शयन्नभ्युच्छ्रितेन भुजगवरभोगपीवरेण करेणोवाच—अस्य पर्वतस्थलस्याधस्तात्पद्मोत्पलालंकृतविमलसलिलमस्ति महत्सर। तदनेन मार्गेण गच्छत। तत्र च व्यपनीतघर्मतर्षक्लमास्तस्यैव नातिदूरेऽस्मात्पर्वतस्थलात्पतितस्य हस्तिन शरीरं द्रक्ष्यथ। तस्य मासानि पाथेयतामानीय दृतिभिरिव तस्यान्त्रै सलिलमुपगृह्यानयैव दिशा यातव्यम्। एवमल्पकृच्छ्रेण कान्तारमिदं व्यतियास्यथ। इति स महात्मा तान् पुरुषान् समाश्वासनपूर्वकं तत प्रस्थाप्य ततो द्रुततरमन्येन मार्गेण तद्गिरिशिखरमारुह्य तस्य जनकायस्य निस्तारणापेक्षया स्वशरीरं ततो मुमुक्षुर्नियतमिति प्रणिधिमुपबृंहयामास—

नायं प्रयत्न सुगतिं ममाप्तुं नैकातपत्रा मनुजेन्द्रलक्ष्मीम्।
सुखप्रकर्षैकरसा न च द्या ब्राह्मी श्रियं नैव न मोक्षसौख्यम् ॥ ११ ॥
यत्त्वस्ति पुण्य मम किंचिदेवं कान्तारमग्नं जनमुज्जिहीर्षो ।
संसारकान्तारगतस्य तेन लोकस्य निस्तारयिता भवेयम् ॥ २२ ॥

इति विनिश्चित्य स महात्मा प्रमोदादगणितप्रपातनिष्पेषमरणदु खं स्वशरीरं तस्माद् गिरितटाद्यथोद्देशं मुमोच—

रेजे तत स निपतञ्छरदीव मेघ
पर्यस्तबिम्ब इव चास्तगिरे शशाङ्क ।
तार्क्ष्यस्य पक्षपवनोग्रजवापविद्धं
शृङ्ग गिरेरिव च तस्य हिमोत्तरीयम् ॥ २३ ॥
आकम्पयन्नथ धरा धरणीधराश्च
मारस्य च प्रभुमदाध्युषितं च चेत ।
निर्घातपिण्डितरवं निपपात भूमावावर्जयन् वनलता वनदेवताश्च ॥ २४ ॥
असंशय तद्वनसंश्रयास्तदा मनस्सु विस्फारितविस्मया सुरा ।
विचिक्षिपुर्व्योम्नि मुदोत्तनूरुहा, समुच्छ्रितैकाङ्गुलिपल्लवान् भुजान् ॥ २५ ॥

सुगन्धिभिश्चन्दनचूर्णरञ्जितै   प्रसक्तमन्ये   कुसुमैरवाकिरन् ।
अतान्तवै   काञ्चनभक्तिराजितैस्तमुत्तरीयैरपरे   विभूषणै ॥ २६ ॥
स्तवै   प्रसादग्रथितैस्तथापरे   समुद्यतैश्चाञ्जलिपद्मकुड्मलैः ।
शिरोभिरावर्जितचारुमौलिभिर्नमस्क्रियाभिश्च   तमभ्यपूजयन् ॥ २७ ॥
सुगन्धिना   पुष्परजोविकर्षणात्तरंगमालारचनेन   वायुना ।
तमव्यजन्   केचिदथाम्बरेऽपरे   वितानमस्योपदधुर्घनैर्घनै ॥ २८ ॥
तमर्चितुं भक्तिवशेन केचन व्यरासयन् द्या सुरदुन्दुभिस्वनैः ।
अकालजै   पुष्पफलै. सपल्लवैर्व्यभूषयंस्तत्र   तरूनथापरे ॥ २९ ॥
दिश शरत्कान्तिमयी दधु· श्रिय रवे करा प्राशुतरा इवाभवन् ।
मुदाभिगन्तु तमिवास चार्णव कुतूहलोत्कम्पितवीचिविभ्रम ॥ ३० ॥

अथ ते पुरुषाः क्रमेण तत्सर समुपेत्य तस्मिन् विनीतघर्मतर्षक्लमा यथाकथितं तेन महात्मना तदविदूरे हस्तिशरीरं नचिरमृत ददृशु । तेषा बुद्धिरभवत्—अहो यथायं सदृशस्तस्य द्विरदपतेर्हस्ती ।

भ्राता नु तस्यैष महाद्विपस्य स्याद् बान्धवो वान्यतमः सुतो वा ।
तस्यैव खल्वस्य सिताद्रिशोभ संचूर्णितस्यापि विभाति रूपम् ॥ ३१ ॥
कुमुदश्रीरिवैकस्था ज्योत्स्ना पुञ्जीकृतेव च ।
छायेव खलु तस्येयमादर्शतलसंश्रिता ॥ ३२ ॥

अथ तत्रैकेषा निपुणतरमनुपश्यता बुद्धिरभवत्—यथा पश्याम. स एव खल्वयं दिग्वारणेन्द्रप्रतिस्पर्धिरूपातिशय. कुञ्जरवर आपद्गतानामबन्धुसुहृदामस्माकं निस्तारणापेक्षया गिरितटादस्मान्निपतित इति ।

य स निर्घातवदभूत्कम्पयन्निव मेदिनीम् ।
व्यक्तमस्यैव पतत स चास्माभिर्ध्वनि श्रुत ॥ ३३ ॥
एतद्वपुः खलु तदेव मृणालगौर
चन्द्रांशुशुक्लतनुजं तनुबिन्दुचित्रम् ।
कूर्मोपमा सितनखाश्चरणास्त एते
वंश. स एव च धनुर्मधुरानतोऽयम् ॥ ३४ ॥
तदेव चेदं मदराजिराजितं सुगन्धिवाय्वायतपीनमाननम् ।
समुन्नतं श्रीमदनर्पिताङ्कुशं शिरस्तदेतच्च बृहच्छिरोधरम् ॥ ३५ ॥
विषाणयुग्मं तदिदं मधुप्रभं सदर्पचिह्नं तटरेणुनारुणम् ।
आदेशयन् मार्गमिमं च येन न. स एष दीर्घाङ्गुलिपुष्कर कर ॥ ३६ ॥

आश्चर्यमत्यद्भुतरूपं बत खल्विदम् ।

अदृष्टपूर्वान्वयशीलभक्तिषु क्षतेषु भाग्यैरपरिश्रुतेष्वपि ।
सुहृत्त्वमस्मासु बतेदमीदृशं सुहृत्सु वा बन्धुषु वास्य कीदृशम् ॥ ३७ ॥

सर्वथा नमोऽस्त्वस्मै महाभागाय ।

आपत्परीतान् भयशोकदीनानस्मद्विधानभ्युपपद्यमान ।
कोऽप्येष मन्ये द्विरदावभास सिषत्सतामुद्वहतीव वृत्तम् ॥ ३८ ॥

क्व शिक्षितोऽसावतिभद्रतामिमामुपासित को न्वमुना गुरुर्वने ।
न रूपशोभा रमते विना गुणैर्जनो यदित्याह तदेतदीक्ष्यते ॥ ३९ ॥
अहो स्वभावातिशयस्य संपदा विदर्शितानेन यथार्हभद्रता ।
हिमाद्रिशोभेन मृतोऽपि खल्वयं कृतात्मतुष्टिर्हसतीव वर्ष्मणा ॥ ४० ॥

तत्क इदानीमस्य स्निग्धबान्धवसुहृत्प्रतिविशिष्टवात्सल्यस्यैवमभ्युपपत्तिसुमुखस्य स्वैः प्राणैरप्यस्मदर्थमुपकर्तुमभिप्रवृत्तस्यातिसाधुवृत्तस्य मासमुपभोक्तुं शक्ष्यति ? युक्तं त्वस्माभि पूजाविधिपूर्वकमग्निसत्कारेणास्यानृण्यमुपगन्तुमिति । अथ तान् बन्धुव्यसन इव शोकानुवृत्तिप्रवणहृदयान् साश्रुनयनान् गद्गदायमानकण्ठानवेक्ष्य कार्यान्तरमवेक्षमाणा धीरतरमनस ऊचुरन्ये—न खल्वेवमस्माभिरयं द्विरदवर संपूजित सत्कृतो वा स्यात् । अभिप्रायसंपादनेन त्वयमस्माभिर्युक्त. पूजयितुमिति पश्याम ।

अस्मन्निस्तारणापेक्षी स ह्यसंस्तुतबान्धव ।
शरीरं त्यक्तवानेवमिष्टमिष्टतरातिथि ॥ ४१ ॥
अभिप्रायमतस्त्वस्य युक्तं समनुवर्तितुम् ।
अन्यथा हि भवेद्व्यर्थो ननु तस्यायमुद्यम. ॥ ४२ ॥
स्नेहादुद्यतमातिथ्यं सर्वस्वं तेन खल्विदम् ।
अप्रतिग्रहणाद्व्यर्था कुर्यात्को न्वस्य सत्क्रियाम् ॥ ४३ ॥
गुरोरिव यतस्तस्य वचस सप्रतिग्रहात् ।
सत्क्रिया कर्तुमर्हाम क्षेममात्मन एव च ॥ ४४ ॥
निस्तीर्य चेदं व्यसनं समग्रै प्रत्येकशो वा पुनरस्य पूजा ।
करिष्यते नागवरस्य सर्व बन्धोरतीतस्य यथैव कृत्यम् ॥ ४५ ॥

अथ ते पुरुषा कान्तारनिस्तारणापेक्षया तस्य द्विरदपतेरभिप्रायमनुस्मरन्तस्तद्वचनमप्रतिक्षिप्य तस्य महासत्त्वस्य मासान्यादाय दृतिभिरिव च तदन्त्रै सलिलं तत्प्रदर्शितया दिशा स्वस्ति तस्मात्कान्ताराद्विनिर्ययु ।

तदेवं परिहितोदर्क दु खमपि साधवो लाभमिव बहु मन्यन्ते, इति साधुजनप्रशंसाया वाच्यम् । तथागतवर्णेऽपि, सत्कृत्य धर्मश्रवणे च भद्रप्रकृतिनिष्पादनवर्णेऽपि वाच्यम्—एवं भद्रा प्रकृतिरभ्यस्ता जन्मान्तरेष्वनुवर्तत इति । त्यागपरिचयगुणनिदर्शनेऽपि वाच्यम्—एवं द्रव्यत्यागपरिचयादात्मस्नेहपरित्यागमप्यकृच्छ्रेण करोतीति । यच्चोक्तं भगवता परिनिर्वाणसमये समुपस्थितेषु दिव्यकुसुमवादित्रादिषु—न खलु पुनरानन्द एतावता तथागत सत्कृतो भवतीति, तच्चैवं निदर्शयितव्यम् । एवमभिप्रायसंपादनात्पूजा कृता भवति न गन्धमाल्याद्यभिहारेणेति ।

॥ इति हस्ति-जातक त्रिंशत्तमम् ॥

---

३१ सुतसोम-जातकम्

श्रेय समाधत्ते यथातथाप्युपनतः सत्संगम इति सज्जनापाश्रयेण श्रेयोऽर्थिना भवितव्यम् । तद्यथानुश्रूयते—

बोधिसत्त्वभूत किलायं भगवान् यश प्रकाशवंशे गुणपरिग्रहप्रसङ्गात्सात्मीभूतप्रजानुरागे प्रतापानतदृप्तसामन्ते श्रीमति कौरव्यराजकुले जन्म प्रतिलेभे। तस्य गुणशतकिरणमालिन सोमप्रियदर्शनस्य सुतस्य सुतसोम इत्येव पिता नाम चक्रे। स शुक्लपक्षचन्द्रमा इव प्रतिदिनमभिवर्धमानकान्तिलावण्य कालक्रमादवाप्य साङ्गेषु सोपवेदेषु च वेदेषु वैचक्षण्यं दृष्टक्रम सोत्तरकलाना कलाना लोक्याना लोकप्रेमबहुमाननिकेतभूत सम्यगभ्युपपत्तिसौमुख्यादभिवर्धमानादरात्परिपालननियमाच्च बन्धुरिव गुणाना बभूव।

शीलश्रुतत्यागदयादमाना तेज क्षमाधीधृतिसंनतीनाम्।
अनुन्नतिह्रीमतिकान्तिकीर्तिदाक्षिण्यमेधाबलशुक्लतानाम् ॥ १ ॥
तेषा च तेषा स गुणोदयानामलंकृतानामिव यौवनेन।
विशुद्धतौदार्यमनोहराणा चन्द्र कलानामिव संश्रयोऽभूत् ॥ २ ॥

अतश्चैनं स राजा लोकपरिपालनसामर्थ्यादक्षुद्रभद्रप्रकृतित्वाच्च यौवराज्यविभूत्या संयोजयामास।

विद्वत्तया त्वासुरतीव तस्य प्रियाणि धर्म्याणि सुभाषितानि।
आनर्च पूजातिशयैरतस्तं सुभाषितैरेनमुपागमद्य ॥ ३ ॥

अथ कदाचित्स महात्मा कुसुममासप्रभावविरचितकिसलयलक्ष्मीमाधुर्याणि प्रविकसत्कुसुममनोज्ञप्रहसितानि प्रविनतनवशाद्वलकुथास्तरणसनाथधरणीतलानि कमलोत्पलदलास्तीर्णनिर्मलनीलसलिलानि भ्रमद्भ्रमरमधुकरीगणोपगीतान्यनिभृतपरभृतबर्हिगणानि मृदुसुरभिशिशिरसुखपवनानि मन प्रसादोद्भावनानि नगरोपवनान्यनुविचरन् अन्यतममुद्यानवनं नातिमहता बलकायेन परिवृत क्रीडार्थमुपनिर्जगाम।

स तत्र पुंस्कोकिलनादिते वने मनोहरोद्यानविमानभूषिते।
चचार पुष्पानतचित्रपादपे प्रियासहाय सुकृतीव नन्दने ॥ ४ ॥
गीतस्वनैर्मधुरतूर्यरवानुविद्धै-
नृत्यैश्च हावचतुरैर्ललिताङ्गहारै।
स्त्रीणा मदोपहृतया च विलासलक्ष्म्या
रेमे स तत्र वनचारुतया तया च ॥ ५ ॥

तत्रस्थं चैनमन्यतम सुभाषिताख्यायी ब्राह्मण समभिजगाम। कृतोपचारसत्कारश्च तद्रूपशोभापहृतमनास्तत्रोपविवेश। इति स महासत्त्वो यौवनानुवृत्त्या पुण्यसमृद्धिप्रभावोपनतं क्रीडाविधिमनुभवंस्तदागमनादुत्पन्नबहुमान एव तस्मिन् ब्राह्मणे सुभाषितश्रवणादनवाप्तागमनफले सहसैवोत्पतितं गीतवादित्रस्वनोपरोधि क्रीडाप्रसङ्गजनितप्रहर्षोपहन्तृ प्रमदाजनभयविषादजननं कोलाहलमुपश्रुत्य ज्ञायता किमेतदिति सादरमन्तपुरावचरान् समादिदेश। अथास्य दौवारिका भयविषाददीनवदना. ससंभ्रमं द्रुततरमुपेत्य न्यवेदयन्त—एष स देव पुरुषाद कल्माषपाद सौदास साक्षादिवान्तको नरशतकदनकरणपरिचयाद्राक्षसाधिकक्रूरतरमतिरतिमानुषबलवीर्यदर्पो रक्ष प्रतिभयरौद्रमूर्तिर्मूर्तिमानिव जगत्संत्रास इत एवाभिवर्तते।

विद्रुतं च नस्तत्संत्रासग्रस्तधैर्यमुद्भ्रान्तरथतुरगद्विरदव्याकुलयोधं बलम्। यत प्रतियत्नो भवतु देव, प्राप्तकालं वा सम्प्रधार्यतामिति।

अथ सुतसोमो जानानोऽपि तानुवाच—भो क एष सौदासो नाम? ते तं प्रोचु—किमेतद्देवस्य न विदित यथा सुदासो नाम राजा बभूव। स मृगयानिर्गतोऽश्वेनापहृतो वनगहनमनुप्रविष्ट. सिंह्या सार्धं योगमगमत्। आपन्नसत्त्वा च सा सिंही संवृत्ता। कालान्तरेण च कुमारं प्रसुषुवे। स वनचरैर्गृहीत· सुदासायोपनीत। अपुत्रोऽहमिति च कृत्वा सुदासेन संवर्धित। पितरि च सुरपुरमुपगते स्वं राज्य प्रतिलेभे। स मातृदोषादामिषेष्वभिसक्त। इदमिदं रसवरं मासमिति स मानुषं मासमास्वाद्य स्वपौरानेव च हत्वा हत्वा भक्षयितुमुपचक्रमे। अथ पौरास्तद्वधायोद्योगं चक्रु.। यतोऽसौ भीत सौदासो नररुधिरपिशितबलिभुग्भ्यो भूतेभ्य उपशुश्राव—अस्मात्संकटान्मुक्तोऽहं राज्ञा कुमारशतेन भूतयज्ञ करिष्यामीति। सोऽय तस्मात्सकटान्मुक्तः। प्रसह्य प्रसह्य चानेन राजकुमारापहरणं कृतम्। सोऽय देवमप्यपहर्तुमायात। श्रुत्वा देव प्रमाणमिति।

अथ स बोधिसत्त्व पूर्वमेव विदितशीलदोषविभ्रम सौदासस्य कारुण्यात्तच्चिकित्सावहितमतिराशंसमानश्चात्मनि तच्छीलविकृतप्रशमनसामर्थ्य प्रियाख्यान इव च सौदासाभियाननिवेदने प्रीति प्रतिसंवेदयन्नियतमित्युवाच—

राज्याच्च्युतेऽस्मिन्नरमासलोभादुन्मादवक्तव्य इवास्वतन्त्रे।
त्यक्तस्वधर्मे हतपुण्यकीर्तौ शोच्या दशामित्यनुवर्तमाने॥ ६॥
को विक्रमस्यात्र ममावकाश एवंगताद्वा भयसंभ्रमस्य।
अयत्नसंरम्भपराक्रमेण पाप्मानमस्य प्रसभ निहन्मि॥ ७॥
गत्वापि यो नाम मयानुकम्प्यो मद्गोचरं स स्वयमभ्युपेत।
युक्तं मयातिथ्यमतोऽस्य कर्तुमेवं हि सन्तोऽतिथिषु प्रवृत्ता॥ ८॥

तद्यथाधिकारमत्रावहिता भवन्तु भवन्त। इति स तानन्त पुरावचराननुशिष्य विषादविपुलतरपारिप्लवाक्षमागद्गदविलुलितकण्ठं मार्गावरणसोद्यममाश्वासनपूर्वकं विनिवर्त्य युवतिजनं यतस्तत्कोलाहलं तत· प्रससार। दृष्ट्वैव च व्यायताबद्धमलिनवसनपरिकरं वल्कलपट्टविनियतं रेणुपरुषप्रलम्बव्याकुलशिरोरुहे प्ररूढश्मश्रुजालावनद्धान्धकारवदनं रोषसंरम्भव्यावृत्तरौद्रनयनमुद्यतासिचर्माणं सौदासं विद्रवदनुपतन्तं राजबलं विगतभयसाध्वस समाजुहाव—अयमहमरे सुतसोम। इत एव निवर्तस्व। किमनेन कृपणजनकदनकरणप्रसङ्गेनेति। तत्समाह्वानशब्दाकलितदर्पस्तु सौदास. सिंह इव ततो न्यवर्तत। निरावरणप्रहरणमेकाकिनं प्रकृतिसौम्यदर्शनमभिवीक्ष्य च बोधिसत्त्वमहमपि त्वामेव मृगयामीत्युक्त्वा निर्विशङ्क. सहसा संरम्भद्रुततरमभिसृत्यैनं स्कन्धमारोप्य प्रदुद्राव। बोधिसत्त्वोऽपि चैनं संरम्भदर्पोद्धतमानसं ससंभ्रमाकुलितमतिं राजबलविद्रावणादुपरूढप्रहर्षावलेप साभिशङ्कमवेत्य नायमस्यानुशिष्टिकाल इत्युपेक्षाचक्रे। सौदासोऽप्यभिमतार्थप्रसिद्ध्या परमिव लाभमधिगम्य प्रमुदितमना स्वमावासदुर्गं प्रविवेश।

हतपुरुषकलेवराकुलं रुधिरसमुक्षितरौद्रभूतलम् ।
पुरुषमिव रुपावभर्त्सयत्स्फुटदहनैरशिवै. शिवारुतै ॥ ९ ॥
गृध्रध्वाङ्क्षाध्यासनरूक्षारुणपर्णै
कीर्णं वृक्षैर्नैकचिताधूमविवर्णै. ।
रक्ष प्रेतानर्तनबीभत्समशान्तं
दूराद् दृष्ट त्रासजडै सार्थिकनेत्रै ॥ १० ॥

समवतार्यं च तत्र बोधिसत्त्व तद्रूपसपदा विनिबध्यमाननयन प्रततं वीक्षमाणो विशश्राम । अथ बोधिसत्त्वस्य सुभाषितोपायनाभिगतं ब्राह्मणमकृतसत्कारं तदुद्यान-विनिवर्तनप्रतीक्षिणमाशावबद्धहृदयमनुस्मृत्य चिन्ता प्रादुरभूत्—कष्ट भो !

सुभाषितोपायनवानाशया दूरमागत ।
स मा हृतमुपश्रुत्य विप्र किं नु करिष्यति ॥ ११ ॥
आशाविघाताग्निपरीतचेता वैतान्यतीव्रेण परिश्रमेण ।
विनिश्वसिष्यत्यनुशोच्य वा मा स्वभाग्यनिन्दा प्रतिपत्स्यते वा ॥ १२ ॥

इति विचिन्तयतस्तस्य महासत्त्वस्य तदीयदु खाभितप्तमनस कारुण्यपरिचयाद-श्रूणि प्रावर्तन्त । अथ सौदास. साश्रुनयनमभिवीक्ष्य बोधिसत्त्वं समभिप्रहसन्नुवाच—मा तावद्भो !

धीर इत्यसि विख्यातस्तैस्तैश्च बहुभिर्गुणै ।
अथ चास्मद्वश प्राप्य त्वमप्यश्रूणि मुञ्चसि ॥ १३ ॥

सुष्ठु खल्विदमुच्यते—

आपत्सु विफलं धैर्य शोके श्रुतमपार्थकम् ।
न हि तद्विद्यते भूतमाहतं यन्न कम्पते ॥ १४ ॥ इति ।

तत्सत्यं तावद् ब्रूहि—

प्राणान् प्रियानथ धन सुखसाधनं वा
बन्धून्नराधिपतितामथवानुशोचन् ।
पुत्रप्रियं पितरमश्रुमुखान् सुतान् वा
स्मृत्वेति साश्रुनयनत्वमुपागतोऽसि ॥ १५ ॥

बोधिसत्त्व उवाच—

न प्राणान् पितरौ न चैव तनयान् बन्धून्न दारान्न च
नैवैश्वर्यसुखानि संस्मृतवतो बाष्पोद्गमोऽयं मम ।
आशावास्तु सुभाषितैरभिगत श्रुत्वा हृत मा द्विजो
नैराश्येन स दह्यते ध्रुवमिति स्मृत्वास्मि सास्रेक्षण ॥ १६ ॥
तस्माद्विसर्जयितुमर्हसि तस्य याव-
दाशाविघातमथितं हृदयं द्विजस्य ।
संमाननाम्बुपरिषेकनवीकरोमि
तस्मात्सुभाषितमधूनि च सबिभर्मि ॥ १७ ॥

प्राप्यैवमानृण्यमहं द्विजस्य गन्तास्मि भूयोऽनृणता तवापि ।
इहागमात्प्रीतिकृतक्षणाभ्यां निरीक्ष्यमाणो भवदीक्षणाभ्याम् ॥ १८ ॥
मा चापयातव्यनयोऽयमस्येत्येवं विशङ्काकुलमानसो भूः ।
अन्यो हि मार्गो नृप मद्विधानामन्यादृशस्त्वन्यजनाभिपन्नः ॥ १९ ॥

सौदास उवाच—

इदं त्वया ह्यादृतमुच्यमानं श्रद्धेयतां नैव कथंचिदेति ।
को नाम मृत्योर्वदनाद्विमुक्तः स्वस्थः स्थितस्तत्पुनरभ्युपेयात् ॥ २० ॥
दुरुत्तरं मृत्युभयं व्यतीत्य सुखे स्थितः श्रीमति वेश्मनि स्वे ।
किं नाम तत्कारणमस्ति येन त्वं मत्समीपं पुनरभ्युपेयाः ॥ २१ ॥

बोधिसत्त्व उवाच—कथमेवं महदपि ममागमनकारणमत्रभवान्नावबुध्यते ? ननु मया प्रतिपन्नमागमिष्यामीति । तदलं मा खलजनसमतयैवं परिशङ्कितुम् । सुतसोमः खल्वहम् ।

लोभेन मृत्योश्च भयेन सत्यं सत्यं यदेके तृणवत्त्यजन्ति ।
सतां तु सत्यं वसु जीवितं च कृच्छ्रेऽप्यतस्तन्न परित्यजन्ति ॥ २२ ॥
न जीवितं यत्सुखमैहिकं वा सत्याच्च्युतं रक्षति दुर्गतिभ्यः ।
सत्यं विजह्यादिति कस्तदर्थं यच्चाकरः स्तुतियशः सुखानाम् ॥ २३ ॥
सदृश्यमानव्यभिचारमार्गे त्वदृष्टकल्याणपराक्रमे वा ।
श्रद्धेयता नैति शुभं तथा च किं वीक्ष्य शङ्का तव मय्यपीति ॥ २४ ॥

त्वत्तो भयं यदि च नाम ममाभविष्यत्
सङ्गः सुखेषु करुणाविकलं मनो वा ।
विख्यातरौद्रचरितं ननु वीरमानी
त्वामुद्यतप्रहरणावरणोऽभ्युपैष्यम् ॥ २५ ॥
त्वत्संस्तवस्त्वयमभीप्सित एव मे स्यात्
तस्य द्विजस्य सफलश्रमतां विधाय ।
एष्याम्यहं पुनरपि स्वयमन्तिकं ते
नास्मद्विधा हि वितथां गिरमुद्गिरन्ति ॥ २६ ॥

अथ सौदासस्तद् बोधिसत्त्ववचनं विकल्पितमिवामृष्यमाणश्चिन्तामापेदे—सुष्ठु खल्वयं सत्यवादितया च धार्मिकतया च विकत्थते । तत्पश्यामि तावदस्य सत्यानुरागं धर्मप्रियतां च । किं च तावन्ममानेन नष्टेनापि स्यात् ? अस्ति हि मे स्वभुजवीर्यप्रतापाद्वशीकृतं शतमात्रं क्षत्रियकुमाराणाम् । तैर्यथोपयाचितं भूतयज्ञं करिष्यामीति विचिन्त्य बोधिसत्त्वमुवाच—तेन हि गच्छ । द्रक्ष्यामस्ते सत्यप्रतिज्ञतां धार्मिकतां च ।

गत्वा कृत्वा च तस्य त्वं द्विजस्य यदभीप्सितम् ।
शीघ्रमायाहि यावत्ते चितां सज्जीकरोम्यहम् ॥ २७ ॥

अथ बोधिसत्त्वस्तथेत्यस्मै प्रतिश्रुत्य स्वभवनमभिगतः प्रतिनन्द्यमानः स्वेन जनेन तमाहूय ब्राह्मणं तस्माद् गाथाचतुष्टयं शुश्राव । तच्छ्रुत्वा सुभाषिताभिप्रसादित-

मना स महासत्त्व. सराधयन् प्रियवचनसत्कारपुरःसरं साहस्त्रिकी गाथा कृत्वा समभिलषितेनार्थेन तं ब्राह्मणं प्रतिपूजयामास। अथैन तस्य पिता अस्थानातिव्यय-निवारणोद्यतमति प्रस्तावक्रमागत सानुनयमित्युवाच—तात सुभाषितप्रतिपूजने साधु मात्रा ज्ञातुमर्हसि। महाजन खलु ते भर्तव्य, कोशसंपदपेक्षिणी च राजश्री। अतश्च त्वा ब्रवीमि—

शतेन संपूजयितु मुभाषितं पर प्रमाणं न ततः पर क्षमम्।
अतिप्रदातुर्हि कियच्चिरं भवेद्धनेश्वरस्यापि धनेश्वरद्युति ॥ २८ ॥
समर्थमर्थ परम हि साधन न तद्विरोधेन यतश्चरेत्प्रियम्।
नराधिप श्रीर्न हि कोशमपदा विवर्जितं वेशवधूरिवेक्षते ॥ २९ ॥

बोधिसत्त्व उवाच—

अर्घप्रमाणं यदि नाम कर्तु शक्यं भवेद्देव सुभाषितानाम्।
व्यक्तं न ते वाच्यपथं व्रजेय तन्निष्क्रयं राज्यमपि प्रयच्छन् ॥ ३० ॥
श्रुत्वैव यन्नाम मन प्रसाद श्रेयोऽनुराग. स्थिरता च याति।
प्रज्ञा विवृद्ध्या वितमस्कता च क्रय्यं ननु स्यादपि तत्स्वमासै ॥ ३१ ॥

दीप श्रुतं मोहतम प्रमाथी चौराद्यहार्य परम धन च।
संमोहशत्रुव्यथनाय शस्त्रं नयोपदेष्टा परमश्च मन्त्री ॥ ३२ ॥
आपद्गतस्याप्यविकारि मित्रमपीडनी शोकरुजश्चिकित्सा।
बल महद्दोषबलावमर्दि पर निधानं यशस श्रियश्च ॥ ३३ ॥
सत्सगमे प्राभृतशीभरस्य सभासु विद्वज्जनरञ्जनस्य।
परप्रवादद्युतिभास्करस्य स्पर्धावता कीर्तिमदापहस्य ॥ ३४ ॥
प्रसन्ननेत्राननवर्णरागैरसंस्कृतैरप्यतिहर्षलब्धै।
संराधनव्यग्रकराग्रदेशैर्विख्याप्यमानातिशयक्रमस्य ॥ ३५ ॥
विस्पष्टहेत्वर्थनिदर्शनस्य विचित्रशास्त्रागमपेशलस्य।
माधुर्यसस्कारमनोहरत्वादक्लिष्टमाल्यप्रकरोपमस्य ॥ ३६ ॥
विनीतदीप्तप्रतिभोज्ज्वलस्य प्रसह्य कीर्तिप्रतिबोधनस्य।
वाक्सौष्ठवस्यापि विशेषहेतुर्योगात्प्रसन्नार्थगति श्रुतश्री. ॥ ३७ ॥
श्रुत्वा च वैरोधिकदोषमुक्तं त्रिवगमार्ग समुपाश्रयन्ते।
श्रुतानुसारप्रतिपत्तिसारास्तरन्त्यकृच्छ्रेण च जन्मदुर्गम् ॥ ३८ ॥
गुणैरनेकैरिति विश्रुतानि प्राप्तान्यहं प्राभृतवच्छ्रुतानि।
शक्त· कथं नाम न पूजयेयमाज्ञा कथं वा तव लङ्घयेयम् ॥ ३९ ॥
यास्यामि सौदाससमीपमस्मादर्थो न मे राज्यपरिश्रमेण।
निवृत्तसंकेतगुणोपमर्दे लभ्यश्च यो दोषपथानुवृत्त्या ॥ ४० ॥

अथैन पिता स्नेहात्समुत्पतितसंभ्रम सादरमुवाच—तवैव खलु तात हिता-वेक्षिणा मयैवमभिहितम्। तदलमत्र ते मन्युवशमनुभवितुम्। द्विषन्तस्ते सौदासवशं गमिष्यन्ति। अथापि प्रतिज्ञात त्वया तत्समीपोपगमनम्, अत सत्यानुरक्षी तत्सपाद-यितुमिच्छसि, तदपि ते नाहमनुज्ञास्यामि। अपातकं हि स्वप्राणपरिरक्षानिमित्तं

गुरुजनार्थं चानृतमार्गो वेदविहित इति। तत्परिहारश्रमेण तव कोऽर्थः ? अर्थकामाभ्यां च विरोधिदृष्टं धर्मसंश्रयमनयमिति व्यसनमिति च राज्ञां प्रचक्षते नीतिकुशलाः। तदलमनेनास्मन्मनस्तापिना स्वार्थनिरपेक्षेण ते निर्बन्धेन। अथाप्ययशस्यं मार्ष धर्मविरोधि चेति प्रतिज्ञाविसंवादनमनुचितत्वान्न व्यवस्यति ते मतिः, एवमपीदं त्वद्विमोक्षणार्थं समुद्युक्तं सज्जमेव नो हस्त्यश्वरथपत्तिकायं सपन्नमनुरक्तं कृतास्त्रशूर-पुरुषमनेकसमरनीराजितं महन्महौघभीमं बलम्। तदनेन परिवृतः समभिगम्यैनं वशमानय, अन्तकवशं वा प्रापय। एवमव्यर्थप्रतिज्ञता संपादिता स्यादात्मरक्षा चेति।

बोधिसत्त्व उवाच—नोत्सहे देव अन्यथा प्रतिज्ञातुमन्यथा कर्तुं शोच्येषु वा व्यसनपङ्कनिमग्नेषु नरकाभिमुखेषु सुहृत्सु स्वजनपरित्यक्तेष्वनाथेषु च तद्विधेषु प्रहर्तुम्।

अपि च,

दुष्करं पुरुषादोऽसावुदारं चाकरोन्मयि।
मद्वचःप्रत्ययाद्यो मां व्यसृजद्वशमागतम्॥ ४१॥
लब्धं तत्कारणाच्चेदं मया तात सुभाषितम्।
उपकारी विशेषेण सोऽनुकम्प्यो मया यतः॥ ४२॥

अलं चात्र देवस्य मदत्ययाशङ्कया। का हि तस्य शक्तिरस्ति मामेवमभिगतं विहिंसितुमिति। एवमनुनीय स महात्मा पितरं विनिवारणसोद्यमं च विनिवर्त्य प्रणयिजनमनुरक्तं च बलकायमेकाकी विगतभयदैन्यः सत्यानुरक्षी लोकहितार्थं सौदासमभिविनेष्यस्तन्निकेतमभिजगाम।

दूरादेवावलोक्य सौदासस्तं महासत्त्वमतिविस्मयादभिवृद्धबहुमानप्रसादश्चि-राभ्यासविरूढक्रूरतामलिनमतिरपि व्यक्तमिति चिन्तामापेदे—अहहहह!

आश्चर्याणां बताश्चर्यमद्भुतानां तथाद्भुतम्।
सत्यौदार्यं नृपस्येदमतिमानुषदैवतम्॥ ४३॥
मृत्युरौद्रस्वभावं मां विनीतभयसंभ्रमः।
इति स्वयमुपेतोऽयं ही धैर्यं साधु सत्यता॥ ४४॥
स्थाने खल्वस्य विख्यातं सत्यवादितया यशः।
इति प्राणान् स्वराज्यं च सत्यार्थं योऽयमत्यजत्॥ ४५॥

अथ बोधिसत्त्वः समभिगम्यैनं विस्मयबहुमानावर्जितमानसमुवाच—

प्राप्तं सुभाषितधनं प्रतिपूजितोऽर्थी
प्रीतिं मनश्च गमितं भवतः प्रभावात्।
प्राप्तस्तदस्म्ययमशान यथेप्सितं मां
यज्ञाय वा मम पशुव्रतमादिश त्वम्॥ ४६॥

सौदास उवाच—

नात्येति कालो मम खादितुं त्वां धूमाकुला तावदियं चितापि।
विधूमपक्वं पिशितं च हृद्यं शृणुमस्तदेतानि सुभाषितानि॥ ४७॥

बोधिसत्त्व उवाच कातनार्थं इत्थंगतस्य सुभाषितश्रवणेन ?
इमामवस्थामुदरस्य हेतो। प्राप्तोऽपि संत्यक्तघृण प्रजासु।
इमाश्च धर्म प्रवदन्ति गाथा समेत्य धर्मेण यतो न धर्म ॥ ४८ ॥
रक्षोविकृतवृत्तस्य सत्यक्तार्यपथस्य ते
नास्ति सत्यं कुतो धर्म कि श्रुतेन करिष्यमि ॥ ४९ ॥
अथ सोदासस्तामवसादनानमृष्यमाण प्रत्युवाच--मा तावद्भो !
कोऽसौ नृप कथय यो न समुद्यतास्त्र
क्रीडावने वनमृगीदयितान्निहन्ति।
तद्वन्निहन्मि मनुजान् यदि वृत्तिहेतो-
रार्तनिक किल ततोऽस्मि न ते मृगघ्ना ॥५०॥
बोधिसत्त्व उवाच--
धर्मे स्थिता न खलु तेऽपि नमन्ति येषा
भीतद्रुतेष्वपि मृगेषु शरासनानि।
तेभ्योऽपि निन्द्यतम एव नराशनस्तु
जात्युच्छ्रिता हि पुरुषा न च भक्षणीया ॥५१॥
अथ सोदास परिकर्कशाक्षरमप्यभिधीयमानो बोधिसत्त्वेन तन्मैत्रीगुणप्रभावादभिभूतरौद्रस्वभाव. सुखायमान एव तद्वचनमभिप्रहसन्नुवाच-भो सुतसोम !
मुक्तो मया नाम समेत्य गेह समन्ततो राज्यविभूतिरम्यम्।
यन्मत्समीपं पुनरागतस्त्वं न नीतिमार्गे कुशलोऽसि तस्मात् ॥५२॥
बोधिसत्त्व उवाच—नेतदस्ति। अहमेव तु कुशलो नीतिमार्गे यदेनं न प्रतिपत्तुमिच्छामि।
यं नाम प्रतिपन्नस्य धर्मादेकान्तिकी च्युति ।
न तु प्रसिद्धि सौख्यस्य तत्र कि नाम कौशलम् ॥ ५३ ॥
कि च भूयः,
ये नीतिमार्गप्रतिपत्तिधीरा प्रायेण ते प्रेत्य पतन्त्यपायान्।
अपास्य जिह्मानिति नीतिमार्गान् सत्यानुरक्षी पुनरागतोऽस्मि ॥ ५४ ॥
अतश्च नीतौ कुशलोऽहमेव त्यक्त्वानृत योऽभिरतोऽस्मि सत्ये।
न तत्सुनीतं हि वदन्ति तज्ज्ञा यत्रानुवध्नन्ति यश सुखार्था ॥ ५५ ॥
सौदास उवाच--
प्राणान् प्रियान् स्वजनमश्रुमुख च हित्वा
राज्याश्रयाणि च सुखानि मनोहराणि।
कामर्थसिद्धिमनुपश्यसि सत्यवाक्ये
तद्रक्षणार्थमपि मा यदुपागतोऽसि ॥ ५६ ॥
बोधिसत्त्व उवाच—बहव सत्यवचनाश्रया गुणातिशया। संक्षेपस्तु श्रूयताम्—
माल्यश्रियं हृद्यतयातिशेते सर्वान् रसान् स्वादुतया च सत्यम्।
श्रमादृते पुण्यगुणप्रसिद्ध्या तपासि तीर्थाभिगमश्रमाश्च ॥ ५७ ॥

कीर्तेर्जगद्व्याप्तिकृतक्षणाया मार्गस्त्रिलोकाक्रमणाय सत्यम् ।
द्वारं प्रवेशाय सुरालयस्य संसारदुर्गोत्तरणाय सेतु ॥ ५८ ॥

अथ सौदास साधु युक्तमित्यभिप्रणम्यैन सविस्मयमभिवीक्षमाण पुनरुवाच—

अन्ये नरा मद्वशगा भवन्ति दैन्यार्पणात्स्नसविलुप्तधैर्या ।
संत्यज्यसे त्वं तु न धैर्यलक्ष्म्या मन्ये न ते मृत्युभयं नरेन्द्र ॥ ५९ ॥

बोधिसत्त्व उवाच—

महतापि प्रयत्नेन यच्छक्यं नातिवर्तितुम् ।
प्रतीकारासमर्थेन भयक्लैब्येन तत्र किम् ॥ ६० ॥

इति परिगणितलोकस्थितयोऽपि तु कापुरुषा
पापप्रसङ्गादनुतप्यमाना शुभेषु कर्मस्वकृतश्रमाश्च ।
आशङ्कमाना परलोकदु ख मर्तव्यसत्रासजडा भवन्ति ॥ ६१ ॥
तदेव कर्तु न तु सस्मरामि भवेद्यतो मे मनसोऽनुताप ।
सात्मीकृतं कर्म च शुक्लमस्माद्धर्मस्थित को मरणाद्बिभीयात् ॥ ६२ ॥
न च स्मराम्यर्थिजनोपयानं यन्न प्रहर्षाय ममार्थिना वा ।
इति प्रदानै समवाप्ततुष्टिर्धर्मे स्थित को मरणाद्बिभीयात् ॥ ६३ ॥
चिरं विचिन्त्यापि च नैव पापे मन पदन्यासमपि स्मरामि ।
विशोधितस्वर्गपथोऽहमेवं मृत्यो किमर्थ भयमभ्युपेयाम् ॥ ६४ ॥

विप्रेषु बन्धुषु सुहृत्सु समाश्रितेषु
दीने जने यतिषु चाश्रमभूषणेषु ।
न्यस्त मया बहु धनं ददता यथार्ह
कृत्यं च यस्य यदभूत्तदकारि तस्य ॥ ६५ ॥
श्रीमन्ति कीर्तनशतानि निवेशितानि
सत्राजिराश्रमपदानि सभा प्रपाश्च ।
मृत्योर्न मे भयमतस्तदवाप्ततुष्ट-
र्यज्ञाय तत्समुपकल्पय भुङ्क्ष्व वा माम् ॥ ६६ ॥

तदुपश्रुत्य सौदास प्रसादाश्रुव्याप्तनयन समुद्भिद्यमानरोमाञ्चपिटको विस्मृत-पापस्वभावतामिस्र सबहुमानमवेक्ष्य बोधिसत्त्वमुवाच—शान्त पापम् ।

अद्याद्विष स खलु हालहल प्रजान-
न्नाशीविषं प्रकुपितं ज्वलदायसं वा ।
मूर्धापि तस्य शतधा हृदयं च यायाद्
यस्त्वद्विधस्य नृपपुगव पापमिच्छेत् ॥ ६७ ॥

तदर्हति भवास्तान्यपि मे सुभाषितानि वक्तुम् । अनेन हि ते वचनकुसुम-वर्षेणाभिप्रसादितमनस सुष्टुतरमभिवृद्धं च तेषु मे कौतूहलम् । अपि च भो ।

दृष्ट्वा मे चरितच्छायावैरूप्यं धर्मदर्पणे ।
अपि नामागतावेगं स्यान्मे धर्मोत्सुकं मन ॥ ६८ ॥

अथैनं बोधिसत्त्व पात्रीकृताशयं धर्मश्रवणप्रवणमानसमवेत्योवाच—तेन हि धर्मार्थिना तदनुरूपसमुदाचारसौष्ठवेन धर्मं श्रोतुं युक्तम्। पश्य।

नीचैस्तरासनस्थानाद्विबोध्य विनयश्रियम्।
प्रीत्यर्पिताभ्यां चक्षुर्भ्यां वाङ्मध्वास्वादयन्निव ॥ ६९ ॥
गौरवावर्जितैकाग्रप्रसन्नामलमानस ।
सत्कृत्य धर्मं शृणुयाद्भिषग्वाक्यमिवातुर ॥ ७० ॥

अथ सौदास स्वेनोत्तरीयेण समास्तीर्योच्चैस्तर शिलातल तत्र चाधिरोप्य बोधिसत्त्वं स्वयमनास्तरितायामुपविश्य भूमौ बोधिसत्त्वस्य पुरस्तादाननोद्वीक्षण-व्यापृतनिरीक्षणरतं महासत्त्वमुवाच-ब्रूहीदानीं मार्पति। अथ बोधिसत्त्वो नवाम्भो-धरनिनदमधुरेण गम्भीरेणापूरयन्निव तद्वन व्यापिना स्वरेणोवाच—

यदृच्छयाप्युपानीतं सकृत्सज्जनसंगतम्।
भवत्यचलमत्यन्त नाभ्यासक्रममीक्षते ॥ ७१ ॥

तदुपश्रुत्य सौदास साधु साध्विति स्वशिर प्रकम्प्याङ्गुलीविक्षेपं बोधिसत्त्व-मुवाच—ततस्तत ?

अथ बोधिसत्त्वो द्वितीया गाथामुदाजहार—

न सज्जनाद् दूरचर क्वचिद्भवेद्भजेत साधून् विनयक्रमानुग ।
स्पृशन्त्ययत्नेन हि तत्समीपग विसर्पिणस्तद्गुणपुष्परेणव ॥ ७२ ॥

सौदास उवाच—

सुभाषितान्यर्चयता साधो सर्वात्मना त्वया।
स्थाने खलु नियुक्तोऽर्थ स्थाने नावेक्षित श्रम ॥ ७३ ॥

ततस्तत ? बोधिसत्त्व उवाच—

रथा नृपाणा मणिहेमभूषणा व्रजन्ति देहाश्च जराविरूपताम्।
सता तु धर्मं न जराभिवर्तते स्थिरानुरागा हि गुणेषु साधव ॥ ७४ ॥

अमृतवर्ष खल्विदम्। अहो सर्तर्पिता स्म । ततस्तत ? बोधिसत्त्व उवाच—

नभश्च दूरे वसुधातलाच्च पारादवार च महार्णवस्य।
अस्ताचलेन्द्रादुदयस्ततोऽपि धर्मं सता दूरतरेऽसता च ॥ ७५ ॥

अथ सौदास प्रसादविस्मयाभ्यामावर्जितप्रेमबहुमानो बोधिसत्त्वमुवाच—

चित्राभिधानातिशयोज्ज्वलार्था गाथास्त्वदेता मधुरा निशम्य।
आनन्दितस्तत्प्रतिपूजनार्थं वरानहं ते चतुरो ददामि ॥ ७६ ॥

तद् वृणीष्व यद्यन्मत्तोऽभिकाङ्क्षसीति। अथैनं बोधिसत्त्व सविस्मयबहुमान उवाच—कस्त्वं वरप्रदानस्य ?

यस्यास्ति नात्मन्यपि ते प्रभुत्वमकार्यसरागपराजितस्य।
स त्वं वरं दास्यसि कं परस्मै शुभप्रवृत्तेरपवृत्तभाव ॥ ७७ ॥
अहं च देहीति वर वदेयं मनश्च दित्साथिशिलं तव स्यात्।
तमत्ययं क सघृणोऽभ्युपेयाद्देतावदेवालमल यतो न ॥ ७८ ॥

अथ सौदास किंचिद् व्रीडावनतवदनो बोधिसत्त्वमुवाच-अलमत्रभवतो मामेव विशङ्कितुम्।

प्राणानपि परित्यज्य दास्याम्येतानह वरान्।
विस्रब्धं तद् वृणीष्व त्वं यद्यदिच्छसि भूमिप ॥ ७९ ॥

बोधिसत्त्व उवाच-तेन हि

सत्यव्रतो भव विसर्जय सत्त्वहिंसा बन्दीकृतं जनमशेषमिमं विमुञ्च।
अद्या न चैव नरवीर मनुष्यमासमेतान् वराननवराश्चतुर प्रयच्छ ॥ ८० ॥

सौदास उवाच—

ददामि पूर्वान् भवते वरांस्त्रीनन्यं चतुर्थं तु वरं वृणीष्व।
अवेषि किं न त्वमिद यथाहमीशो विरन्तुं न मनुष्यमासात् ॥ ८१ ॥

बोधिसत्त्व उवाच—हन्त तवैतत्सवृत्तम्। ननूक्त मया कस्त्वं वरप्रदानस्येति? अपि च भो?

सत्यव्रतत्वं च कथ स्यादहिंसकता च ते।
अपरित्यजतो राजन् मनुष्यपिशिताशिताम् ॥ ८२ ॥

आह—

ननूक्तं भवता पूर्वं दास्याम्येतानहं वरान्।
प्राणानपि परित्यज्य तदिदं जायतेऽन्यथा ॥ ८३ ॥
अहिंसकत्वं च कुतो मासार्थं ते घ्नतो नरान्।
सत्येवं कतमे दत्ता भवता स्युर्वरास्त्रय ॥ ८४ ॥

सौदास उवाच—

त्यक्त्वा राज्यं वने क्लेशो यस्य हेतोर्धृतो मया।
हतो धर्म क्षता कीर्तिस्त्यक्ष्यामि तदह कथम् ॥ ८५ ॥

बोधिसत्त्व उवाच—अत एव तद्भवास्त्यक्तुमर्हति।

धर्मादर्थात्सुखात्कीर्तेर्भ्रष्टो यस्य कृते भवान्।
अनर्थायतन तादृक्कथं न त्यक्तुमर्हसि ॥ ८६ ॥
दत्तानुशयिता चेयमनौदार्यहते जने।
नीचता सा कथं नाम त्वामप्यभिभवेदिति ॥ ८७ ॥

तदलं ते पाप्मानमेवानुभ्रमितुम्। अवबोद्धुमर्हस्यात्मानम्। सोदास खल्वत्रभवान्।

वैद्येक्षितानि कुशलैरुपकल्पितानि
ग्राम्याण्यनूपजलजान्यथ जाङ्गलानि।
मासानि सन्ति कुरु तैर्हृदयस्य तुष्टिं
निन्दावहाद्विरम साधु मनुष्यमासात् ॥ ८८ ॥
तूर्यस्वनान् सजलतोयदनादधीरान्
गीतस्वनं च निशि राज्यसुखं च तत्तत्।
बन्धून् सुतान् परिजन च मनोनुकूलं
हित्वा कथं नु रमसेऽत्र वने विविक्ते ॥ ८९ ॥

चित्तस्य नार्हसि नरेन्द्र वशेन गन्तुं
धर्मार्थयोरनुपरोधपथं भजस्व ।
एको नृपान् युधि विजित्य समस्तसैन्यान्
मा चित्तविग्रहविधौ परिकातरो भू ॥ ९० ॥

लोक परोऽपि मनुजाधिप नन्ववेक्ष्य-
स्तस्मात्प्रियं यदहित च न तन्निषेव्यम् ।
यत्स्यात्तु कीर्त्यनुप-ोधि मनोज्ञमार्गं
तद्विप्रिय सदपि भेषजवद्भजस्व ॥ ९१ ॥

अथ सौदास· प्रसादाश्रुव्याप्तनयनो गद्गदायमानकण्ठ समभिसृत्यैव बोधिसत्त्वं पादयो संपरिष्वज्योवाच—

गुणकुसुमरजोभि पुण्यगन्धै समन्ता-
ज्जगदिदमवकीर्ण कारणे त्वद्यशोभि ।
इति विचरति पापे मृत्युदूतोग्रवृत्तौ
त्वमिव हि क इवान्य सानुकम्पो मयि स्यात् । ९२ ॥

शास्ता गुरुश्च मम दैवतमेव च त्व
मूर्ध्ना वचास्यहममूनि तवार्चयामि ।
भोक्ष्ये न चैव सुतसोम मनुष्यमास
यन्मा यथा वदसि तच्च तथा करिष्ये ॥ ९३ ॥

नृपात्मजा यज्ञनिमित्तमाहृता मया च ये बन्धनखेदपीडिता ।
हतत्विष शोकपरीतमानसास्तत्रेहि मुञ्चाव सहैव तानपि ॥ ९४ ॥

अथ बोधिसत्त्वस्तथेत्यस्मै प्रतिश्रुत्य यत्र ते नृपसुतास्तेनावरुद्धास्तत्रैवाभिजगाम । दृष्ट्वैव च ते नृपसुता सुतसोम हन्त मुक्ता वयमिति पर हर्षमुपजग्मु ।

विरेजिरे ते सुतसोमदर्शनान्नरेन्द्रपुत्रा स्फुटहासकान्तय ।
शरन्मुखे चन्द्रकरोपबृंहिता विजृम्भमाणा कुमुदाकरा इव ॥ ९५ ॥

अथैनानभिगम्य बोधिसत्त्व समाश्वासयन् प्रियवचनपुर.सरं च प्रतिसंमोद्य सौदासस्याद्रोहाय शपथं कारयित्वा बन्धनाद्विमुच्य सार्धं सौदासेन तैश्च नृपतिपुत्रैरनुगम्यमान स्वं राज्यमुपेत्य यथार्हंकृतसत्कारास्तान् राजपुत्रान् सौदासं च स्वेषु स्वेषु राज्येषु प्रतिष्ठापयामास ।

तदेवं श्रेय समाधत्ते यथातथाप्युपनत सत्संगम इति श्रेयोऽर्थिना सज्जनसमाश्रयेण भवितव्यम् । एवमसंस्तुतहृतपूर्वजन्मस्वप्युपकारपरत्वाद् बुद्धो भगवानिति तथागतवर्णेऽपि वाच्यम् । एव सद्धर्मश्रवण दोषापचयाय गुणसमाधानाय च भवतीति सद्धर्मश्रवणेऽपि वाच्यम् । श्रुतप्रशंसायामपि वाच्यम्—एवमनेकानुशंस श्रुतमिति । सत्यकथायामपि वाच्यम्--एवं सज्जनेष्ट पुण्यकीर्त्याकर सत्यवचनमित्येव स्वप्राणसुखैश्वर्यनिरपेक्षा सत्यमनुरक्षन्ति सत्पुरुषा इति । सत्यप्रशंसायामप्युपनेयं करुणावर्णेऽपि चेति ।

॥ इतिसुतसोम-जातकमेकत्रिंशत्तमम् ॥

———

३२ अयोगृह-जातकम्

राजलक्ष्मीरपि श्रेयोमार्गं नावृणोति संविग्नमानसानामिति संवेगपरिचय कार्यं । तद्यथानुश्रूयते—

बोधिसत्त्वभूत किलाय भगवान् व्याधिजरामरणप्रियविप्रयोगादिव्यसनशतोपनिपातं दुःखितमनाथमत्राणमपरिणायक लोकमवेक्ष्य करुणया समुत्साह्यमानस्तत्परित्राणव्यवसितमतिरतिसाधुस्वभावस्तत्तत्संपादयमानो विमुखस्यासस्तुतस्यापि च लोकस्य हित सुखविशेष च कदाचिदन्यतमस्मिन् राजकुले प्रजानुरागसौमुख्यादस्खलिताभिवृद्ध्या च समृद्ध्या समानतदृप्तसामन्तया चाभिव्यज्यमानमहाभाग्ये विनयश्लाघिनि जन्म प्रतिलेभ । स जायमान एव तद्राजकुलं तत्समानसुखदुःखं च पुरवरं परयाभ्युदयश्रिया संयोजयामास ।

प्रतिग्रहव्याकुलतुष्टविप्र मदोद्धताभ्युज्ज्वलवेषभृत्यम् ।
अनेकतूर्यस्वनपूर्णकूजमानन्दनृत्तानयवृत्तभावम् ॥ १ ॥
संसक्तगीतद्रवहासनादं परस्पराश्लेषविवृद्धहर्षम् ।
नरैः प्रियाख्यानकदानतुष्टैराशास्यमानाभ्युदयं नृपस्य ॥ २ ॥
विघट्टितद्वारविमुक्तबन्धनं समुच्छ्रिताग्रध्वजचित्रचत्वरम् ।
विचूर्णपुष्पासवसिक्तभूतलं बभार रम्या पुरमुत्सवश्रियम् ॥ ३ ॥
महागृहेभ्य प्रविकीर्यमाणैर्हिरण्यवस्त्राभरणादिवर्षैः ।
लोकं तदा व्याप्तुमिवोद्यता श्रीरुन्मत्तगङ्गाललितं चकार ॥ ४ ॥

तेन च समयेन तस्य राज्ञो जाता जाता कुमारा म्रियन्ते स्म । स तं विधिममानुषकृतमिति मन्यमानस्तस्य तनयस्य रक्षार्थं मणिकाञ्चनरजतभक्तिचित्रे श्रीमति सर्वायसे प्रसूतिभवने भूतविद्यापरिदृष्टेन वेदविहितेन च क्रमेण विहितरक्षोघ्नप्रतीकारे समुचितैश्च कौतुकमङ्गलैः कृतस्वस्त्ययनपरिग्रहे जातकर्मादिसंस्कारविधिं संवर्धनं च कारयामास । तमपि च महासत्त्वं सत्त्वसंपत्तेः पुण्योपचयप्रभावात्सुसंविहितत्वाच्च रक्षाया नामानुषाः प्रसेहिरे । स कालक्रमादवाप्तसंस्कारकर्मा श्रुताभिजनाचारमहद्भ्यो लब्धविद्यायश समानेभ्य प्रशमविनयमेधागुणावर्जितेभ्यो गुरुभ्य समधिगतानेकविद्य प्रत्यहमापूर्यमाणमूर्तिर्यौवनकान्त्या निसर्गसिद्धेन च विनयानुरागेण पर प्रेमास्पदं स्वजनस्य जनस्य च बभूव ।

असंस्तुतमसंबन्धं दूरस्थमपि सज्जनम् ।
जनोऽन्वेति सुहृत्प्रीत्या गुणश्रीस्तत्र कारणम् ॥ ५ ॥
हासभूतेन नभस शरद्विकचरश्मिना ।
संबन्धसिद्धिर्लोकस्य का हि चन्द्रमसा सह ॥ ६ ॥

अथ स महासत्त्व पुण्यप्रभावसुखोपनतैर्दिव्यकल्पैरनल्पैरपि च विषयैरुपलाल्यमान स्नेहबहुमानसुमुखेन च पित्रा विश्वासनिर्विशङ्कं दृश्यमान कदाचित्स्वस्मिन् पुरवरे प्रविततरमणीयशोभां कालक्रमोपनतां कौमुदीविभूतिं दिदृक्षु कृताभ्यनुज्ञ पित्रा काञ्चनमणिरजतभक्तिचित्रालंकारं समुच्छ्रितनानाविधरागप्रचलितोज्ज्वलपताकध्वजं हैमभाण्डाभ्यलंकृतविनीतचतुरतुरगं दक्षदाक्षिण्यनिपुणशुचिविनीतधीर-

सारथि चित्रोज्ज्वलवेषप्रहरणावरणानुयात्रं रथवरमधिरुह्य मनोज्ञतूर्यस्वनपुर सरस्तत्पुरवरमनुविचरंस्तद्दर्शनाक्षिप्तहृदयस्य कौतूहललोलचक्षुष स्तुतिसभाजनाञ्जलिप्रग्रहप्रणामाशीर्वचनप्रयोगसव्यापारस्योत्सवरम्यतरवेषरचनस्य पौरजानपदस्य समुदयशोभामालोक्य लब्धप्रहर्षावकाशोऽपि मनसि कृतसवेगपरिचयत्वात्पूर्वजन्मसु स्मृतिं प्रतिलेभे ।

कृपणा बत लोकस्य चलत्वविरसा स्थिति ।
यदियं कौमुदीलक्ष्मी स्मर्तव्यैव भविष्यति ॥ ७ ॥
एवंविधाया च जगत्प्रवृत्तावहो यथा निर्भयता जनानाम् ।
यन्मृत्युनाधिष्ठितसर्वमार्गा नि संभ्रमा हर्षमनुभ्रमन्ति ॥ ८ ॥
अवार्यवीर्येष्वरिषु स्थितेषु जिघासया व्याधिजरान्तकेषु ।
अवश्यगम्ये परलोकदुर्गे हर्षावकाशोऽत्र सचेतस क ॥ ९ ॥
स्वनानुकृत्येव महार्णवाना सरम्भरौद्राणि जलानि कृत्वा ।
मेघास्तडिद्भासुरहेममाला संभूय भूयो विलयं व्रजन्ति ॥ १० ॥
तटै समं तद्विनिबद्धमूलान् हृत्वा तरूँल्लब्धजवै पयोभि ।
भवन्ति भूय सरित क्रमेण शोकोपतापादिव दीनरूपा ॥ ११ ॥
हृत्वापि शृङ्गाणि महीधराणा वेगेन वृन्दानि च तोयदानाम् ।
विघूर्ण्य चोद्वर्त्य च सागराम्भ प्रयाति नाश पवनप्रभाव ॥ १२ ॥
दीप्तोद्धतार्चिर्विकसत्स्फुलिङ्ग संक्षिप्य कक्षं क्षयमेति वह्नि ।
क्रमेण शोभाश्च वनान्तराणामुद्यन्ति भूयश्च तिरोभवन्ति ॥ १३ ॥
क संप्रयोगो न वियोगनिष्ठ काः संपदो या न विपत्परैति ।
जगत्प्रवृत्ताविति चञ्चलायामप्रत्यवेक्ष्यैव जनस्य हर्ष ॥ १४ ॥

इति स परिगणयन् महात्मा संवेगाद्व्यावृत्तप्रमोदोद्भवेन मनसा रमणीयेष्वपि पुरवरविभूषार्थमभिप्रसारिषु लोकचित्रेष्वविषज्यमानबुद्धि क्रमेण स्वभवनमनुप्राप्तमेवात्मानमपश्यत् । तदभिवृद्धसवेगश्च विषयसुखेष्वनास्थो धर्म एक शरणमिति तत्प्रतिपत्तिनिश्चितमतिर्यथाप्रस्तावमभिगम्य राजानं कृताञ्जलिस्तपोवनगमनायानुज्ञामयाचत—

प्रव्रज्यासंश्रयात्कर्तुमिच्छामि हितमात्मन ।
कृता तत्राभ्यनुज्ञा च त्वयानुग्रहपद्धतिम् ॥ १५ ॥

तच्छ्रुत्वा प्रियतनय स तस्य राजा दिग्धेन द्विरद इवेषुणाभिविद्ध ।
गम्भीरोऽप्युदधिरिवानिलावधूतस्तच्छोकव्यथितमना समाचकम्पे ॥ १६ ॥

निवारयिष्यन्नथ तं स राजा स्नेहात्परिष्वज्य सबाष्पकण्ठ ।
उवाच कस्मात्सहसैव तात सत्यक्तुमस्मान् मतिमित्यकार्षी ॥ १७ ॥
त्वदप्रियेणात्मविनाशहेतु केनायमित्याकलित कृतान्त ।
शोकाश्रुपर्याकुललोचनानि भवन्तु कस्य स्वजनाननानि ॥ १८ ॥
अथापि किंचित्परिशङ्कित वा मयि व्यलीकं समुपश्रुत वा ।
तद्ब्रूहि यावद्विरमामि तस्मात्पश्यामि न त्वात्मनि किंचिदीदृक् ॥ १९ ॥

बोधिसत्त्व उवाच—

इत्यभिस्नेहसुमुखे व्यलीकं नाम किं त्वयि।
विप्रियेण समर्थः स्यान्मामासादयितुं च कः ॥ २० ॥

अथ किं तर्हि न परित्यक्तुमिच्छसीति चाभिहितः साश्रुनयनेन राज्ञा स महासत्त्वस्तमुवाच—मृत्युभयात्। पश्यतु देव,

यामेव रात्रिं प्रथमामुपैति गर्भे निवासं नरवीर लोकः।
ततःप्रभृत्यस्खलितप्रयाणः स प्रत्यहं मृत्युसमीपमेति ॥ २१ ॥
नीतौ सुयुक्तोऽपि बले स्थितोऽपि नात्येति कश्चिन्मरणं जरां वा।
उपद्रुतं सर्वमितीदमाभ्यां धर्मार्थिमस्माद्वनमाश्रयिष्ये ॥ २२ ॥
व्यूढान्युदीर्णनरवाजिरथद्विपानि सैन्यानि दर्परभसाः क्षितिपा जयन्ति।
जेतुं कृतान्तरिपुमेकमपि त्वशक्तास्तन्मे मतिर्भवति धर्ममभिप्रपत्तुम् ॥ २३ ॥
हृष्टाश्वकुञ्जरपदातिरथैरनीकैर्गुप्ता विमोक्षमुपयान्ति नृपा द्विषद्भ्यः।
सार्धं बलैरतिबलस्य तु मृत्युशत्रोर्मन्त्राटयोऽपि विवशा वशमभ्युपेताः ॥ २४ ॥

सञ्चूर्ण्य दन्तमुसलैः पुरगोपुराणि
मत्ता द्विपा युधि रथाश्च नरान् द्विपांश्च।
नैवान्तकं प्रतिमुखाभिगतं नुदन्ति
वप्रान्तलब्धविजयैरपि तैर्विषाणैः ॥ २५ ॥

दृढचित्रवर्मकवचावरणान् युधि दारयन्त्यपि विदूरचरान्।
इषुभिस्तदस्त्रकुशला द्विषतश्चिरवैरिणं न तु कृतान्तमरिम् ॥ २६ ॥
सिंहा विकर्तनकरैर्नखरैर्द्विपानां कुम्भाग्रमग्नशिखरैः प्रशमय्य तेजः।
भित्त्वैव च श्रुतमनांसि रवैः परेषां मृत्युं समेत्य हतदर्पबलाः स्वपन्ति ॥ २७ ॥
दोषानुरूपं प्रणयन्ति दण्डं कृतापराधेषु नृपाः परेषु।
महापराधे यदि मृत्युशत्रौ न दण्डनीतिप्रवणा भवन्ति ॥ २८ ॥
नृपाश्च सामादिभिरप्युपायैः कृतापराधं वशमानयन्ति।
रौद्रश्चिराभ्यासदृढावलेपो मृत्युः पुनर्नानुनयादिसाध्यः ॥ २९ ॥

क्रोधानलज्वलितघोरविषाग्निगर्भै-
र्दंष्ट्राङ्कुरैरभिदशन्ति नरान् भुजंगाः।
दंष्टव्ययत्नविधुरास्तु भवन्ति मृत्यौ
वध्येऽपि नित्यमपकारविधानदक्षे ॥ ३० ॥
दष्टस्य कोपरभसैरपि पन्नगैश्च
मन्त्रैर्विषं प्रशमयन्त्यगदैश्च वैद्याः।
आशीविषस्त्वतिविषोऽयमरिष्टदंष्ट्रो
मन्त्रागदादिभिरसाध्यबलः कृतान्तः ॥ ३१ ॥
पक्षानिलैर्ललितमीनकुलं व्युदस्य
मेघौघभीमरसितं जलमर्णवेभ्यः।

सर्पान् हरन्ति विततग्रहणा सुपर्णा
मृत्यु पुन प्रमथितु न तथोत्सहन्ते ॥ ३२ ॥
भीतद्रुतानपि जवातिशयेन जित्वा
ससाद्य चैकभुजवज्रविलासवृत्त्या ।
व्याघ्रा पिबन्ति रुधिराणि वने मृगाणा
नैवप्रवृत्तिपटवस्तु भवन्ति मृत्यौ ॥ ३३ ॥
दंष्ट्राकरालमपि नाम मृग समेत्य
वैयाघ्रमाननमुपैति पुनर्विमोक्षम् ।
मृत्योर्मुखं तु पृथुरोगजरार्तिदंष्ट्र
प्राप्तस्य कस्य च पुन शिवतातिरस्ति ॥ ३४ ॥
पिबन्ति नृणा विकृतोग्रविग्रहा
सहौजसायूषि दृढग्रहा ग्रहा ।
भवन्ति तु प्रस्तुतमृत्युविग्रहा
विपन्नदर्पोत्कटतापरिग्रहा ॥ ३५ ॥
पूजारतद्रोहकृतेऽभ्युपेतान् ग्रहान्नियच्छन्ति स सिद्धविद्या ।
तपोबलस्वस्त्ययनौषधैश्च मृत्युग्रहस्त्वप्रतिवार्य एव ॥ ३६ ॥
मायाविधिज्ञाश्च महासमाजे जनस्य चक्षूषि विमोहयन्ति ।
कोऽपि प्रभावस्त्वयमन्तकस्य यद्भ्राम्यते तैरपि नास्य चक्षु ॥ ३७ ॥
हत्वा विषाणि च तपोबलसिद्धमन्त्रा
व्याधीन्नृणामुपशमय्य च वैद्यवर्या ।
धन्वन्तरिप्रभृतयोऽपि गता विनाशं
धर्माय मे नमति तेन मतिर्वनान्ते ॥ ३८ ॥
आविर्भवन्ति च पुनश्च तिरोभवन्ति
गच्छन्ति वानिलपथेन मही विशन्ति ।
विद्याधरा विविधमन्त्रबलप्रभावा
मृत्यु समेत्य तु भवन्ति हतप्रभावा ॥ ३९ ॥
दृप्तानपि प्रतिनुदन्त्यसुरान् सुरेन्द्रा दृप्तानपि प्रतिनुदन्त्यसुरा सुराश्च ।
मानाधिरूढमतिभि समुदीर्णसैन्यैस्ते संहतैरपि तु मृत्युरजय्य एव ॥ ४० ॥
इमामवेत्याप्रतिवार्यरौद्रता कृतान्तशत्रोर्भवने न मे मतिः ।
न मन्युना स्नेहपरिक्षयेण वा प्रयामि धर्माय तु निश्चितो वनम् ॥ ४१ ॥

राजोवाच—अथ वने तव क आश्वास एवमप्रतिक्रिये मृत्युभये सति धर्मपरिग्रहे च ।

किं त्वा वने न समुपैष्यति मृत्युशत्रु
धर्मे स्थिता किमृषयो न वने विनष्टा ।
सर्वत्र नाम नियत क्रम एष तत्र
कोऽर्थो विहाय भवनं वनसंश्रयेण । ४२ ॥

बोधिसत्त्व उवाच—

काम स्थितेषु भवने च वने च मृत्यु-
धर्मात्मकेषु विगुणेषु च तुल्यवृत्ति ।
धर्मात्मना भवति न त्वनुतापहेतु-
र्धर्मश्च नाम वन एव सुख प्रपत्तुम् ॥ ४३ ॥

पश्यतु देव·,

प्रमादमदकन्दर्पलोभद्वेषास्पदे गृहे ।
तद्विरुद्धस्य धर्मस्य कोऽवकाशपरिग्रह· ॥ ४४ ॥

विकृष्यमाणो बहुभि कुकर्मभि परिग्रहोपार्जनरक्षणाकुल ।
अशान्तचेता व्यसनोदयागमै कदा गृहस्थ शममार्गमेष्यति ॥ ४५ ॥

वने तु संत्यक्तकुकार्यविस्तर परिग्रहक्लेशविवर्जित सुखी ।
शमैककार्य परितुष्टमानस सुख च धर्म च यशासि चार्छति ॥ ४६ ॥

धर्मश्च रक्षति नरं न धन बल वा
धर्म सुखाय महते न विभूतिसिद्धि ।
धर्मात्मनश्च मुदमेव करोति मृत्यु
र्न ह्यस्ति दुर्गतिभय निरतस्य धर्मे ॥ ४७ ॥

क्रियाविशेषश्च यथा व्यवस्थित शुभस्य पापस्य च भिन्नलक्षण ।
तथा विपाकोऽप्यशुभस्य दुर्गतिश्चित्तस्य धर्मस्य सुखाश्रया गति ॥ ४८ ॥

इत्यनुनीय स महात्मा पितरं कृताभ्यनुज्ञ पित्रा तृणवदपास्य राज्यलक्ष्मी तपोवनाश्रयं चकार । तत्र च ध्यानान्यप्रमाणानि चोत्पाद्य तेषु च प्रतिष्ठाप्य लोकं ब्रह्मलोकमधिरुरोह ।

तदेवं सविग्नमनसा राजलक्ष्मीरपि श्रयोमार्ग नावृणोतीति सवेगपरिचय कार्यं । मरणसंज्ञावर्णेऽपि वाच्यम्—एवमाशुमरणसज्ञा सवेगाय भवतीति । तथा मरणानुस्मृतिवर्णेऽनित्यताकथायामप्युपनेयम्—एवमनित्या सर्वसस्कारा इति । तथा सर्वलोकेऽनभिरतिसज्ञायाम्—एवमनाश्वासिक सस्कृतमिति । एवमत्राणोऽयमसहायश्च लोक इत्येवमपि वाच्यम् । एवं वने धम सुख प्रतिपत्तु न गेह इत्येवमप्युन्नेयम् ।

॥ इति श्रयोगृह-जातक द्वात्रिशत्तमम् ॥

---

३३ महिष-जातकम्

सति क्षन्तव्ये क्षमा स्यान्नासतीत्यपकारिणमपि साधवो लाभमिव बहु मन्यन्ते । तद्यथानुश्रूयते—

बोधिसत्त्व किलान्यतमस्मिन्नरण्यप्रदेशे पङ्कसपर्कात्परुषवपुर्नीलमेघविच्छेद इव पादचारी वनमहिषवृषो बभूव । स तस्या दुर्लभधर्मसंज्ञाया संमोहबहुलायामपि तिर्यग्गतौ वर्तमान पटुविज्ञानत्वान्न धर्मचर्यानिरुद्योगमतिर्बभूव ।

चिरानुवृत्त्येव निबद्धभावा न तं कदाचित्करुणा मुमोच ।
कोऽपि प्रभाव स तु कर्मणो वा तस्यैव वा यत्स तथा बभूव ॥ १ ॥

अतश्च नूनं भगवानवोचदचिन्त्यता कर्मविपाकयुक्ते ।
कृपात्मक सन्नपि यत्स भेजे तिर्यग्गति तत्र च धर्मसंज्ञाम् ॥ २ ॥
विना न कर्मास्ति गतिप्रबन्ध शुभं न चानिष्टविपाकमस्ति ।
स धर्मसज्ञीपि तु कमनेशास्तास्तान् समासाद्य तथा तथासीत् ॥ ३ ॥

अथान्यतमो दुष्टवानरस्तस्य कालान्तराभिव्यक्ता प्रकृतिभद्रता दयानुवृत्त्या च विगतक्रोधसरम्भतामवेत्य नास्माद्भयमस्तीति त महासत्त्व तेन तेन विहिंसाक्रमेण भृशतरमबाधत ।

दयामृदुषु दुर्जन पटुतरावलेपोद्धव
परा व्रजति विक्रिया न हि भयं तत पश्यति ॥ ४ ॥
यतस्तु भयशङ्कया सुकृशयापि सस्पृश्यते
विनीत इव नीचकैश्चरति तत्र शान्तोद्धव ॥ ४ ॥

स कदाचित्तस्य महासत्त्वस्य विस्रब्धप्रसुप्तस्य निद्रावशाद्वा प्रचलायत सहसैवोपरि निपतति स्म । द्रुममिव कदाचिदेनमधिरुह्य भृशं सचालयामास । क्षुधितस्यापि कदाचिदस्य मार्गमावृत्य व्यतिष्ठत । काष्ठेनाप्येनमेकदा श्रवणयोर्घट्टयामास । सलिलावगाहनसमुत्सुकस्याप्यस्य कदाचिच्छिर समभिरुह्य पाणिभ्या नयने समाववे । अप्येनमधिरुह्य समुद्यतदण्ड प्रसह्यैव वाहयन् यमस्य लीलामनुचकार । बोधिसत्त्वोऽपि महासत्त्व सर्व तदस्याविनयचेष्टितमुपकारमिव मन्यमानो नि संक्षोभसंरम्भमन्युर्मर्षयामास ।

स्वभाव एव पापाना विनयोन्मार्गसंश्रय ।
अभ्यासात्तत्र च सतामुपकार इव क्षमा ॥ ५ ॥

अथ किलान्यतमो यक्षस्तस्य परिभवममृष्यमाणो भाव वा जिज्ञासमानस्तस्य महासत्त्वस्य तेन दुष्टकपिना वाह्यमान तं महिषवृषभ मार्गे स्थित्वेदमुवाच— मा तावद्भो ! कि परिक्रीतोऽस्यनेन दुष्टकपिना ? अथ द्यूते पराजित ? उताहो भयमस्मात्किंचिदाशङ्कसे ? उताहो बलमात्मगत नावैषि यदेवमनेन परिभूय वाह्यसे ? ननु भो !

वेगाविद्ध त्वद्विषाणाग्रवज्रं वज्र भिन्द्याद्वज्रवद्वा नगेन्द्रान् ।
पादाश्चेमे रोषसंरम्भमुक्ता मज्जेयुस्ते पङ्कवच्छैलपृष्ठे । ६ ॥
इद च शैलोपमसहतस्थिरं समग्रशोभं बलसपदा वपु ।
स्वभावसौजस्कनिरीक्षितेर्जित दुरासद केसरिणोऽपि ते भवेत् ॥ ७ ॥
मथान धृत्वा तदिमं क्षुरेण वा विषाणकोट्या मदमस्य वोद्धर ।
किमस्य जाल्मस्य कपेरशक्तवत्प्रबाधनादु खमिद तितिक्षसे ॥ ८ ॥
असज्जन कुत्र यथा चिकित्स्यते गुणानुवृत्त्या सुखशीलसौम्यया ।
कटूष्णरूक्षाक्षि हि यत्र सिद्धये कफात्मको रोग इव प्रसर्पति ॥ ९ ॥

अथ बोधिसत्त्वस्त यक्षमवेक्षमाण क्षमापक्षपतितमरूक्षाक्षरमित्युवाच—

अवैम्येन चल नूनं सदा चाविनये रतम् ।
अत एव मया त्वस्य युक्तं मर्षयितु ननु ॥ १० ॥

प्रतिकर्तुमशक्तस्य क्षमा का हि बलीयसि ।
विनयाचारधीरेषु क्षन्तव्यं किं च साधुषु ॥ ११ ॥
शक्त एव तितिक्षते दुर्बलस्खलितं यत ।
वरं परिभवस्तस्मान्न गुणाना पराभव ॥ १२ ॥
असत्क्रिया हीनबलाच्च नाम निर्देशकाल परमो गुणानाम् ।
गुणप्रियस्तत्र किमित्यपेक्ष्य स्वधैर्यभेदाय पराक्रमेत ॥ १३ ॥
नित्यं क्षमायाश्च ननु क्षमाया काल परायत्ततया दुराप ।
परेण तस्मिन्नुपपादिते च तत्रैव कोपप्रणयक्रम क. ॥ १४ ॥
स्वा धर्मपीडामविचिन्त्य योऽयं मत्पापशुद्ध्यर्थमिव प्रवृत्त ।
न चेत्क्षमामप्यहमत्र कुर्यामन्य कृतघ्नो बत कीदृश स्यात् ॥ १५ ॥

यक्ष उवाच—तेन हि न त्वमस्या कदाचित्प्रबाधनाया मोक्ष्यसे—

गुणेष्वबहुमानस्य दुर्जनस्याविनीतताम् ।
क्षमानैभृत्यमत्यक्त्वा क सकोचयितुं प्रभु ॥ १६ ॥

बोधिसत्त्व उवाच—

परस्य पीडाप्रणयेन यत्सुखं निवारणं स्यादसुखोदयस्य वा ।
सुखार्थिनस्तन्न निषेवितुं क्षम न तद्विपाको हि सुखप्रसिद्धये ॥ १७ ॥
क्षमाश्रयादेवमसो मयार्थत. प्रबोध्यमानो यदि नावगच्छति ।
निवारयिष्यन्ति त एनमुत्पथादमर्षिणो यानयमभ्युपैष्यति ॥ १८ ॥
असत्क्रिया प्राप्य च तद्विधाज्जनान्न मादृशेऽप्येवमसौ करिष्यति ।
न लब्धदोषो हि पुनस्तथाचरेदतश्च मुक्तिर्मम सा भविष्यति ॥ १९ ॥

अथ यक्षस्त महासत्त्व प्रमादविस्मयबहुमानावर्जितमति साधु साध्विति सशिर प्रकम्पाङ्गुलिविक्षेपमभिसराध्य तत्तत्प्रियमुवाच –

कुतस्तिरश्चामियमीदृशी स्थितिर्गुणेष्वमौ चादरविस्तर कुत ।
कयापि बुद्ध्या त्विदमास्थितो वपुस्तपोवने कोऽपि भवास्तपस्यति ॥ २० ॥

इत्येनमभिप्रशस्य त चास्य दुष्टवानर पृष्ठादवधूय समादिश्य चास्य रक्षाविधानं तत्रैवान्तर्दधे ।

तदेवं सति क्षन्तव्ये क्षमा स्यान्नासतीत्यपकारिणमपि साधवो लाभमिव बहु मन्यन्ते इति क्षान्तिकथाया वाच्यम् । एवं तिर्यग्गताना बोधिसत्त्वाना प्रतिसख्यानसौष्ठव दृष्टम् । को नाम मनुष्यभूत प्रव्रजितप्रतिज्ञो वा तद्विकल शोभेत ? इत्येवमपि वाच्यम् । तथागतवर्णे सत्कृत्य धर्मश्रवणे चेति ।

॥ इति महिषजातक त्रयस्त्रिंशत्तमम् ॥

---

३४ शतपत्र-जातकम्

प्रोत्साह्यमानोऽपि साधुर्नाल पापे प्रवर्तितुमनभ्यासात् । तद्यथानुश्रूयते—

बोधिसत्त्व किलान्यतमस्मिन् वनप्रदेशे नानाविधरागरुचिराचत्रपत्र शतपत्रो बभूव । करुणापरिचयाच्च तदवस्थोऽपि न प्राणिहिंसाकलुषा शतपत्रवृत्तिमनुववर्त ।

बालै प्रवालै स महीरुहाणा पुष्पाधिवासैर्मधुभिश्च हृद्यै ।
फलैश्च नानारसगन्धवर्णै सतोषवृत्ति बिभराचकार ॥ १ ॥
धर्मं परेभ्य प्रवदन् यथार्हमार्तान् यथाशक्ति समुद्धरंश्च ।
निवारयंश्चाविनयादनार्यानुद्भावयामास परार्थचर्याम् ॥ २ ॥

इति परिपाल्यमानस्तेन महासत्त्वेन तस्मिन् वनप्रदेशे सत्त्वकाय साचार्यक इव बन्धुमानिव सवैद्य इव राजन्वानिव सुखमभ्यवर्धत ।

दयामहत्त्वात्परिपाल्यमानो वृद्धि यथासौ गुणतो जगाम ।
स सत्त्वकायोऽपि तथैव तेन सरक्ष्यमाणो गुणवृद्धिमाप ॥ ३ ॥

अथ कदाचित्स महासत्त्व सत्त्वानुकम्पया वनान्तराणि समनुविचरंस्तीव्रवेदनाभिभवाद्विचेष्टमानं दिग्धविद्धमिवान्यतमस्मिन् वनप्रदेशे रेणुसंपर्कव्याकुलमलिनकेसरसटं सिंहं ददर्श। समभिगम्य चैन करुणया परिचोद्यमान पप्रच्छ - किमिदं मृगराज ? बाढ खल्वकल्यशरीरं त्वा पश्यामि ।

द्विपेषु दर्पातिरसानुवृत्त्या जवप्रसङ्गादथवा मृगेषु ।
कृत तवास्वास्थ्यमिदं श्रमेण व्याधेर्नुणा वा रुजया कयाचित् ॥ ४ ॥
तद् ब्रूहि वाच्यं मयि चेदिदं ते यदेव वा कृत्यमिहोच्यता तत् ।
ममास्ति या मित्रगता च शक्तिस्तत्साध्यसौख्यस्य भवान् सुखी च ॥ ५ ॥

सिह उवाच – साधो पक्षिवर ! न मे श्रमजातमिदमस्वास्थ्यं रुजया व्याधेर्नुणा वा । इद त्वस्थिशकल गलान्तरे विलग्न शल्यमिव मा भृशं दुनोति । न ह्येनच्छक्नोम्यभ्यवहर्तुमुद्गरितुं वा । तदेष काल सुहृदाम् । यथेदानी जानासि, तथा मा सुखिनं कुरुष्वेति ।

अथ बोधिसत्त्व पटुविज्ञानत्वाद्विचिन्त्य शल्योद्धरणोपायं तद्वदनविष्कम्भप्रमाणं काष्ठमादाय त सिंहमुवाच–या ते शक्तिस्तया सम्यक् तावत्स्वमुख निर्व्यादेहीति । स तथा चकार । अथ बोधिसत्त्वस्तदस्य काष्ठ दन्तपाल्योरन्तरे सम्यग्निवेश्य प्रविश्य चास्य गलमूलं तत्तिर्यगवस्थितमस्थिशकलं वदनाग्रेणाभिहत्यैकस्मिन् प्रदेशे समुत्पादितशैथिल्यमितरस्मिन् परिगृह्य पर्यन्ते विचकर्ष । निर्गच्छन्नेव तत्तस्य वदनविष्कम्भणकाष्ठ निपातयामास ।

सुदृष्टकर्मा निपुणोऽपि शल्यहृन्न तत्प्रयत्नादपि शल्यमुद्धरेत् ।
यदुज्जहारानभियोगसिद्धया स मेधया जन्मशतानुबद्धया ॥ ६ ॥
उद्धृत्य शल्येन सहैव तस्य दु ख च तत्सजनिता शुचं च ।
प्रीत· स शल्योद्धरणाद्यथासीत् प्रीत सशल्योद्धरणात्तथासीत् ॥ ७ ॥

धर्मता ह्येषा सज्जनस्य ।

प्रसाध्य सौख्यं व्यसनं निवर्त्य वा सहापि दु खेन परस्य सज्जन ।
उपैति ता प्रीतिविशेषसपद न या स्वसौख्येषु सुखागतेष्वपि ॥ ८ ॥

इति स महासत्त्वस्तस्य तद्दु खमुपशमय्य प्रीतहृदयस्तमामन्त्र्य सिंहं प्रतिनन्दितस्तेन यथेष्टं जगाम ।

अथ स कदाचित्प्रविततरुचिरचित्रपत्र शतपत्र. परिभ्रमन् किंचित्क्वचित्

तद्विधमाहारजातमनासाद्य क्षुदग्निपरिगततनुस्तमेव सिंहमचिरहतस्य हरिणतरुणस्य मासमुपभुञ्जान तद्रुधिरानुरञ्जितवदननखरकेसराग्रं संध्याप्रभासमालब्ध शरन्मेघविच्छेदमिव ददर्श।

कृतोपकारोऽपि तु न प्रसेहे वक्तु स याच्ञाविरसाक्षर तम्।
विशारदस्यापि हि तस्य लज्जा तत्कालमौनव्रतमादिदेश॥ ९॥
कार्यानुरोधात्तु तथापि तस्य चक्षुष्पथे ह्रीविधुर चचार।
स चानुपश्यन्नपि तं दुरात्मा निमन्त्रणामप्यकरोन्न तस्य॥ १०॥
शिलातले बीजमिव प्रकीर्णं हुतं च शान्तोष्मणि भस्मपुञ्जे।
समप्रकारं फलयोगकाले कृत कृतघ्ने विदुले च पुष्पम्॥ ११॥

अथ बोधिसत्त्वो नूनमयं मा न प्रत्यभिजानीत इति निर्विशङ्कतर समभिगम्यैनमर्थिवृत्त्या प्रयुक्तयुक्ताशीर्वाद सविभागमयाचत—

पथ्यमस्तु मृगेन्द्राय विक्रमार्जितवृत्तये।
अर्थिसमानमिच्छामि त्वद्यश पुण्यसाधनम्॥ १२॥

इत्याशीर्वादमधुरमप्युच्यमानोऽथ सिंह क्रौर्यमात्सर्यपरिचयादनुचितार्यवृत्ति कोपाग्निदीप्तयातिपिङ्गलया दिधक्षन्निव विवर्तितया दृष्ट्या बोधिसत्त्वमीक्षमाण उवाच—मा तावद्भो।

दयाक्लैब्यं न यो वेद खादन् विस्फुरतो मृगान्।
प्रविश्य तस्य मे वक्त्र यज्जीवसि न तद्बहु॥ १३॥
मा पुन परिभूयैवमासादयसि याच्ञया।
जीवितेन नु खिन्नोऽसि पर लोकं दिदृक्षसे॥ १४॥

अथ बोधिसत्त्वस्तेन तस्य रूक्षाक्षरक्रमेण प्रत्याख्यानवचसा समुपजातव्रीडस्तत्रैव नभ समुत्पपात। पक्षिणो वयमित्यर्थंत पक्षविस्फारणशब्देनैनमुक्त्वा प्रचक्राम।

अथान्यतमा वनदेवता तस्य तमसत्कारमसहमाना धैर्यप्रयामजिज्ञासया वा समुत्पत्य त महासत्त्वमुवाच—पक्षिवर, कस्मादिममसत्कारमस्य दुरात्मन कृतोपकार सन् संविद्यमानाया शक्तावपि मर्षयसि? कोऽर्थ कृतघ्नेनानेनैवमुपेक्षितेन?

शक्तस्त्वमस्य नयने वदनाभिघाताद्
विस्फूर्जित प्रमथितु बलशालिनोऽपि।
दंष्ट्रान्तरस्थमपि चामिषमस्य हर्तुं
तन्मृष्यते किमयमस्य बलावलेप॥ १५॥

अथ बोधिसत्त्वस्तथाप्यसत्कारविप्रकृत प्रोत्साह्यमानोऽपि तया वनदेवतया स्वा प्रकृतिभद्रता प्रदर्शयन्नुवाच—अलमलमनेन क्रमेण। नैष मार्गोऽस्मद्विधानाम्।

आर्ते प्रवृत्ति साधूना कृपया न तु लिप्सया।
तामवैतु परो मा वा तत्र कोपस्य को विधि॥ १६॥
वञ्चना सा च तस्यैव यन्न वेत्ति कृतं पर।
को हि प्रत्युपकारार्थी तस्य भूय करिष्यति॥ १७॥

उपकर्ता तु धर्मेण परतस्तत्फलेन च ।
योगमायाति नियमादिहापि यशस. श्रिया ॥ १८ ॥
कृतश्चेद्धर्म इत्येव कस्तत्रानुशय पुन ।
अथ प्रत्युपकारार्थमृणदानं न तत्कृतम् ॥ १९ ॥

उपकृतं किल वेत्ति न मे परस्तदपकारमिति प्रकरोति य ।
ननु विशोध्य गुणै स यशस्तनुं द्विरदवृत्तिमभिप्रतिपद्यते ॥ २० ॥
न वेत्ति चेदुपकृतमातुर· परो न योक्ष्यतेऽपि स गुणकान्तया श्रिया ।
सचेतस पुनरथ को भवेत्क्रमः समुच्छ्रित प्रमथितुमात्मनो यशः ॥ २१ ॥

इदं त्वत्र मे युक्तरूपं प्रतिभाति—

यस्मिन् साधूपचीर्णेऽपि मित्रधर्मो न लक्ष्यते ।
अनिष्ठुरमसंरब्धमपयायाच्छनैस्तत. ॥ २२ ॥

अथ सा देवता तत्सुभाषितप्रसादितमना साधु साध्विति पुनरुक्तमभिप्रशस्य तत्तत्प्रियमुवाच—

ऋते जटावल्कलधारणश्रमाद्भवानृषिस्त्वं विदितार्यतिर्यति ।
न वेषमात्रं हि मुनित्वसिद्धये गुणैरुपेतस्त्विह तत्त्वतो मुनिः ॥ २३ ॥

इत्यभिलक्ष्य प्रतिपूज्यैनं तत्रैवान्तर्दधे ।

तदेवं प्रोत्साह्यमानोऽपि साधुर्नालं पापे प्रवर्तितुमनभ्यासादिति सज्जनप्रशंसाया वाच्यम् । एवं क्षान्तिकथायामप्युपनेयम्—एवं क्षमापरिचयान्न वैरबहुलो भवति, नावद्यबहुलौ बहुजनप्रियो मनोज्ञश्चेति । एवं प्रतिसंख्यानबहुला स्वा गुणशोभामनुरक्षन्ति पण्डिता इति प्रतिसंख्यानवर्णे वाच्यम् । तथागतमाहात्म्ये च भद्रप्रकृत्यभ्यासवर्णे च—एवं भद्रप्रकृतिरभ्यस्ता तिर्यग्गतानामपि न निवर्तत इति ।

॥ इति शतपत्र-जातक चतुस्त्रिंशत्तमम् ॥

॥ कृतिरियमार्यशूरपादानाम् ॥